विश्व निर्धनता की चुनौती

11.A.2 X 8

गुन्नार मिर्डल

X(Y:4)
15266

9626

विश्व निर्धनता की चुनौती

गुन्नार मिर्डल

विश्व निर्धनता की चुनौती

हिन्दी सम्पादन
महेन्द्र भारद्वाज

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली : पटना

विषय-क्रम

निवेदन

प्रोफेसर गुन्नार मिर्डल की रचनाओं में एक ऐसे महान विद्रोही का स्वर सर्वत्र सुनायी पड़ता है, जिसने आर्थिक अनुसन्धान में पूर्वाग्रह और अवसरवादिता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठा रखा है। पर यही गुन्नार मिर्डल एक व्यक्ति के रूप में बालकों-जैसा सरल और निश्छल हो सकता है, इस बात का परिचय मुझे उनसे फरवरी 1973 में अपनी पहली भेंट के समय मिला। प्रोफेसर मिर्डल की रचनाओं से मेरा लम्बे अर्से से घनिष्ठ परिचय था और उनसे पत्र-सम्पर्क भी। पर मैं उस व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर पाया था जो अशोक होटल के कक्ष में उस समय मेरे सामने विराजमान था। मुलाकात का यह सिलसिला कई दिनों तक चला और उनसे कई घण्टों के वार्त्तालाप में विकास के मानवीय पहलू, आर्थिक विकास और सामाजिक सुधारों के पारस्परिक सम्बन्ध और एक-दूसरे पर इनकी निर्भरता, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता, ऊपर से क्रान्ति और नीचे से जन-सामान्य के दबाव, कृषि के पुनर्गठन और इसकी समस्याओं तथा विकास में शिक्षा के महत्त्व आदि विषयों पर चर्चा हुई, जिसका प्रकाशन योजना आयोग के मुखपत्र 'योजना' में तीन किस्तों में हुआ।

इन लम्बी वार्त्ताओं में मैंने जो प्रश्न उठाये उनका उन्होंने जिस सहजता और संवेदनशीलता से उत्तर दिया उससे प्रकट होता था कि यह व्यक्ति किस सीमा तक कम-विकसित देशों, विशेषकर भारत की समस्याओं से स्वयं को सम्बद्ध अनुभव करता है। मैंने उनके भीतर भारत के विकास के लिए जो छटपटाहट और व्यग्रता देखी वह मेरे लिए एक अत्यन्त दुर्लभ अनुभव था। भारत के विकास और आर्थिक उन्नति के सन्दर्भ में भारत के लोगों की जिम्मेदारी का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि आपके देशवासियों को यह संकल्प लेना चाहिए कि हम अमीर नहीं बनना चाहते, ईमानदार बनना चाहते हैं। बस यह संकल्प ले लेने के बाद कोई भी समस्या समाधान से परे नहीं रह जायेगी। उन्हें भारत के लोगों की क्षमता में अटूट विश्वास है और वे स्वयं को भारत का एक निष्ठावान मित्र और हितैषी बताने में बड़े गर्व का अनुभव करते हैं। उन्होंने कहा कि भारत में मेरा हृदय खो गया है और मैं आपके देश की नियति से स्वयं को व्यक्तिगत रूप से जुड़ा हुआ अनुभव करता हूँ। एक वैज्ञानिक के नाते भविष्य कथन में अनास्था रखने वाले प्रोफेसर मिर्डल की बातों से मुझे प्रतिपल यह विश्वास प्रकट होता हुआ दिखायी पड़ा कि भारत का भविष्य उज्ज्वल है, पर इस भविष्य के निर्माण के लिए भारत के लोगों को स्वयं मूलतः अपने प्रयासों से आगे बढ़ना होगा।

उनके वृहद् अध्ययन का भी यही निचोड़ है। वे सम्भवतः पहले अर्थशास्त्री हैं, जिन्होंने कम-विकसित देशों की समस्याओं का, विशेषकर भारत की समस्याओं का विस्तार से अध्ययन करने के वाद कहा कि यह देश पश्चिम के तरीकों से कभी विकास नहीं कर सकते। उन्होंने दूसरे महायुद्ध के वाद के आर्थिक दृष्टिकोण को उपनिवेशी सिद्धान्त की तरह ही पूर्वाग्रहग्रस्त बताया। उन्होंने भौतिक विकास से कहीं अधिक व्यक्ति के हित और उन्नति को महत्त्व दिया।

विवेकपूर्ण, तर्कसम्मत और आमूल परिवर्तनवादी सुधारों में प्रोफेसर मिर्डल सवसे अधिक महत्त्व भूमि-सुधार की समस्या को देते हैं। उन्होंने कहा कि यद्यपि इसका निहित स्वार्थों द्वारा प्रवल विरोध होगा, पर सच्चे अर्थों में भूमि-सुधार लागू करने के अलावा भारत के सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि भूमि-सुधार से ही खाद्य समस्या, तथा गाँवों में अल्प-रोजगारी और वेरोजगारी की समस्या को सुलझाया जा सकता है। इसके अलावा गाँव के लोगों, विशेषकर भूमिहीन खेत मजदूरों का शहरों की ओर भागना, और इसके परिणाम-स्वरूप शहरों की गन्दी बस्तियों की वाढ़ को भी रोका जा सकता है।

तर्कसम्मत आचरण प्रोफेसर मिर्डल के लिए केवल कथनी तक ही सीमित नहीं है, यह बात भारतीय भाषाओं की लिपि क्या हो, इस पर विचार के समय प्रकट हुई। मैंने प्रोफेसर मिर्डल का ध्यान उनके इस आशय के वक्तव्यों की ओर आकृष्ट किया था कि वे भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि अपनाने की वात क्यों कहते हैं। मेरा तर्क था कि देवनागरी लिपि के स्थान पर हिन्दी के लिए रोमन लिपि का प्रयोग पूरी तरह अवैज्ञानिक होगा। उनके शंका उठाने पर मैंने स्वयं उनके नाम के उच्चारण का उदाहरण देते हुए कहा कि रोमन लिपि में जिस रूप में आपका नाम लिखा जाता है, उसके कारण हमारे देश में भिन्न रूपों में इसका उच्चारण होता है, पर देवनागरी लिपि में लिखे जाने पर इसका केवल एक ही उच्चारण हो सकता है। तर्कसम्मत आचरण के हामी प्रोफसर मिर्डल ने इस बात को स्वीकार किया और कहा कि आपको इस बात का उल्लेख मेरी पुस्तक 'दि चैलेंज आफ़ वर्ल्ड पावर्टी' के हिन्दी संस्करण के आरम्भ में अवश्य करना चाहिए।

प्रोफेसर मिर्डल अपनी रचनाओं के हिन्दी में प्रकाशन के प्रति अत्यन्त उत्साहित थे। वे चाहते थे कि उनके विचार इस देश के लोगों तक स्वयं उनकी अपनी भाषा में पहुँचें। मैं आशा करता हूँ कि मिर्डल साहित्य का हिन्दी में प्रकाशन, प्रस्तुत पुस्तक जिसकी पहली कड़ी है, हमारे देशवासियों के मन में वांछित सुधारों के लिए आवश्यक चेतना जाग्रत करेगी।

—महेन्द्र भारद्वाज

प्राक्कथन

सन् 1964 की सर्दियों में उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों के जॉन्स होपकिन्स स्कूल ने क्रिस्टियन ए० हर्टर भाषणमाला समारम्भ करने का निश्चय किया, जिसका उद्देश्य उस विख्यात अमरीकी को यथासम्भव श्रद्धांजलि अर्पित करना था, जिसने लगभग बीस वर्ष पहले इस स्कूल की स्थापना की थी। स्कूलों के प्रबन्धकों को आशा थी कि हमारा भाषणमंच, जो देश की राजधानी में है, उच्चकोटि की विशेषज्ञता-प्राप्त व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण प्रकट करने और कुछ ऐसे बुनियादी सवालों पर गहराई से विचार का अवसर देगा, जो तेजी से बदल रहे संसार में संयुक्त राज्य अमरीका के समक्ष मौजूद हैं।

सन् 1969 की भाषणमाला के लिए इस स्कूल के संकाय ने स्वीडन के विख्यात विद्वान् और समाजसेवी, डॉक्टर गुन्नार मिर्डल को आमन्त्रण दिया, जिन्होंने हाल में तीन खण्डों में विभाजित अपना विराट् ग्रन्थ **एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी ऑफ नेशन्स** प्रकाशित किया था। डॉक्टर मिर्डल ने तुरन्त हमारा निमन्त्रण इस विचार से स्वीकार कर लिया कि उनके भाषण एशियन ड्रामा का तर्कसंगत परिणाम बन सकते हैं। तदनुसार, मार्च, 1969 में उन्होंने उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों के जॉन्स होपकिन्स स्कूल में 'समृद्ध और निर्धन देश : 1970 से आरम्भ दशक में विकास की नीति' शीर्षक से तीन भाषण किये।

यह पुस्तक इन्हीं भाषणों का विकसित रूप है। जैसाकि शीर्षक से प्रकट होता है, मूल विषय वही है, लेकिन अन्य अनेक नये विषय इसमें जोड़ दिये गये हैं और मूल भाषणों के अलावा पर्याप्त मात्रा में नयी सामग्री भी दी गयी है। इसके परिणामस्वरूप नीति-सम्बन्धी निर्णयों की एक पुस्तक तयार हुई, जो विकसित और विकासशील दोनों देशों के लिए वास्तविक महत्त्व और दिलचस्पी की होगी।

1970 से आरम्भ दशक में पदार्पण करते समय अन्य समस्याओं के अलावा दो सबसे बड़ी समस्याएँ हमारे सामने मौजूद हैं : (1) विश्व समुदाय किस प्रकार ऐसे संघर्षों से बच सकता है, जो खुल्लमखुल्ला परमाणु युद्ध का रूप धारण कर सकते हैं; और (2) हम किस प्रकार विश्व-साधनों का प्रयोग करें कि मानवता गरीबी की तात्कालिक चुनौती का सामना कर सके और फिर बेहतर वस्तुओं की ओर आगे बढ़ सके।

कटु सत्य यह है कि हम इनमें से किसी भी मोर्चे पर अधिक प्रगति नहीं कर सके हैं। आर्थिक क्षेत्र में, बहुत अधिक बातचीत चली है, लेकिन विकास कार्यों के लिए प्रायः पर्याप्त पूंजी उपलब्ध नहीं हुई और इसी प्रकार प्रायः पर्याप्त प्रभावशाली कार्रवाई का भी अभाव रहा। दस वर्ष पहले संयुक्त राष्ट्र ने 1960 से आरम्भ दशक को विकास-दशक घोषित किया था। इसके बाद के वर्षों में

नवोदित देशों में विकास की गति धीमी हुई है और पश्चिम के देश विदेशों को सहायता देने के प्रति निरन्तर कम उत्साह दिखाते रहे हैं।

इन दो उत्साह तोड़ डालनेवाली प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 1970 से आरम्भ दशक को भी दूसरा विकास-दशक घोषित किया। केवल समय ही बता सकेगा कि यह दूसरा महाभियान पहले अभियान से अधिक सफल सिद्ध होगा या नहीं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि इतिहास के इस विशेष दौर में, जब अतीत की गलतियों से सबक सीखने का प्रत्येक प्रयास किया जायेगा, गुन्नार मिर्डल के विवेकपूर्ण शब्द सिद्धान्तकारों और विकास के क्षेत्र में व्यावहारिक कार्य करनेवालों, दोनों के लिए स्वागत-योग्य होने चाहिएँ।

दूसरी नजर डालने पर हो सकता है उनके सुझाव स्वागत-योग्य न लगें—यद्यपि इन्हें सहायक अवश्य सिद्ध होना चाहिए—क्योंकि वे बड़े स्पष्ट शब्दों में पश्चिम के सहायता देनेवाले देशों और नवोदित देशों, दोनों को यह स्मरण दिलाते हैं कि यदि विश्व के विकास-सम्बन्धी लक्ष्यों को पूरा करना है, तो उन दोनों को कठिन प्रयास करना होगा। वे विदेशी सहायता की आवश्यकता को घटाकर नहीं दर्शाते, बल्कि बारम्बार इस बात पर जोर देते हैं कि विकासशील देशों को स्वयं अपने लिए कितना कुछ करना चाहिए और यह कार्य तेजी से तथा प्रभावशाली ढंग से करना कितने तात्कालिक महत्त्व का है। वे लिखते हैं कि "विकसित देशों से सहायता, यद्यपि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, लेकिन कम-विकसित देशों में विकास को सम्भव और तेज़ बनाने के लिए जितना कुछ होना आवश्यक है, उसका वह एक छोटा-सा हिस्सा ही है। इस सहायता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात स्वयं इन देशों के भीतर आवश्यक सामाजिक तथा आर्थिक सुधार हैं।"

डॉक्टर मिर्डल ने अपनी दूरदर्शिता के लिए संसार-भर में ख्याति प्राप्त की है, जो उचित ही है। 1944 में, उन्होंने अपनी पुस्तक 'ऐन अमेरिकन डीलेमा : दि नीग्रो प्राब्लम एण्ड मॉडर्न डेमोक्रेसी' में उन अनेक कठिनाइयों और समस्याओं की बड़े सटीक ढंग से भविष्यवाणी की थी जो इस देश के समक्ष 1960 के बाद के वर्षों में जातीय सम्बन्धों के क्षेत्र में उत्पन्न हुई हैं। वह पुस्तक अपने समय से कम से कम 15 वर्ष आगे थी। प्रस्तुत पुस्तक भी सम्भवतः इतने ही समय आगे होगी। व्यक्तिगत रूप से मुझे तो संसार की बुराइयों का उनका निदान तर्कसंगत और ठोस दिखायी पड़ता है। लेकिन इन बुराइयों को दूर करने के लिए उन्होंने जो सुझाव दिये हैं, उनमें से कुछ उस समय तक सम्भवतः स्वीकार-योग्य नहीं लगेंगे, जब तक समय परम्पराओं, गर्व, पूर्वाग्रहों और व्यवहारों को गरीब और अमीर दोनों देशों में समान रूप से बदल नहीं डालता। इसके बावजूद यह संसार के हित में ही होगा कि वह उनके विचारों पर गौर करे, जो अनेक वर्षों के व्यावहारिक अनुभव और सतर्क अध्ययन का सार हैं।

वस्तुतः, इस प्रकार के नीति सम्बन्धी निर्णयों का अध्ययन करने के लिए गुन्नार मिर्डल से बेहतर स्थिति में अन्य कोई व्यक्ति नहीं है। जब पहली बार उनसे मेरी भेंट हुई, वे एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी के रूप में काम कर रहे थे और संयुक्त राष्ट्र संघ के यूरोप सम्बन्धी आर्थिक आयोग की गतिविधियों का उतनी सूझ-बूझ और उत्साह से संचालन कर रहे थे, जो तत्कालीन परिस्थितियों में सम्भव था। एक युवक के रूप में उन्होंने स्टाकहोम विश्वविद्यालय में कानून

और अर्थशास्त्र का अध्ययन किया, जहाँ 34 वर्ष की उम्र में वे राजनीतिक अर्थ-शास्त्र और सार्वजनिक वित्त के प्रोफेसर के पद पर आसीन हुए। आगे चलकर उन्होंने स्वीडन के वाणिज्य मन्त्री और स्वीडन की संसद् के सदस्य के रूप में भी काम किया। इस पृष्ठभूमि के कारण वे सिद्धान्तकार और नीति-निर्माता के बीच की खाई को पाटने की प्रशंसनीय स्थिति में हैं। वे सिद्धान्त को अनुभव और व्यवहार की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने तथा कल के संसार के बारे में सार्थक सुझाव देने की भी स्थिति में हैं।

भविष्य की सम्भावनाओं का मूल्यांकन करते समय, लेखक बड़ी सावधानी से आशावाद और निराशावाद दोनों ही खतरनाक मतों से अपने-आपको बचाता है। वह न तो एक पोलियाण्ड्रा है और न ही एक कैसाण्ड्रा। जैसाकि उसने अपने एक आरम्भिक अध्याय में कहा भी है, "निराशावाद की तरह आशावाद का भी पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अलावा अन्य कोई अर्थ नहीं होता।" अतः एक विद्यार्थी को जिस बात का अन्वेषण करना चाहिए वह है, यथार्थवाद, चाहे वह इस अन्वेषण में स्वयं अपने व्यवसाय अथवा पेशे के उस समय प्रचलित विचारों के संघर्ष में ही क्यों न आ खड़ा हो।"

यह सचमुच बड़ी ठोस सलाह है। यह हमारे जैसे लोकतन्त्र में विशेष रूप से ठोस है, जहाँ शासन विदेशी सहायता जैसे कार्यक्रमों को 'आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण बताकर' संसद् की अनुमति प्राप्त करने का प्रयास करता है। सामान्यतया, सफलता की सम्भावना का एक बेबाक मूल्यांकन पर्याप्त नहीं होता। विदेशी सहायता की विशेषताओं को बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया जाता है और उससे सम्बन्धित समस्याओं की जटिलताओं को घटाकर दिखाया जाता है। इसका शुद्ध परिणाम यह होता है कि अक्सर उपलब्धियाँ अपेक्षा से बहुत कम होती हैं, विश्वसनीयता में कमी उत्पन्न होती है और संसद् के कुछ सदस्यों का विदेशी सहायता के प्रति मोहभंग हो जाता है। इस स्थिति में आवश्यकता से अधिक आशावादी दृष्टिकोण के खतरे स्पष्ट हो जाते हैं। विदेशी सहायता और आर्थिक विकास जटिलताओं और समस्याओं से परिपूर्ण हैं और यदि हम अपने वांछित लक्ष्यों को पूरा करना चाहते हैं, तो हमें इन तथ्यों को स्पष्ट रूप से समझना होगा।

फिर भी, हम सब इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि 1970 के दशक में प्रवेश करते समय संसार के समक्ष जो चुनौती मौजूद है, वह बहुत बड़ी है। इस चुनौती का सामना करने के लिए दोहरे जवाब की आवश्यकता है: (1) नवोदित देशों की समस्याओं के प्रति कहीं अधिक चिन्ता का भाव और समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए समृद्ध देशों में पर्याप्त त्याग करने की कहीं अधिक तत्परता; और (2) विकासशील देशों में वास्तविक प्रगति के लिए आवश्यक दूरगामी आर्थिक और सामाजिक सुधार लागू करने के प्रति पहले से कहीं अधिक तत्परता। मुझे आशा है कि यह पुस्तक दोनों पक्षों को अपने पारस्परिक उत्तरदायित्वों को अधिक बेहतर ढंग से समझने में सहायता देगी।

वाशिंगटन, डी० सी०,
4 जुलाई, 1969

फ्रांसिस ओ० विलकॉक्स
डीन, उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों का
जॉन्स होपकिन्स विश्वविद्यालय स्कूल

भूमिका

जब मैं अपनी पहली पुस्तक, एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी आफ नेशन्स की योजना बना रहा था, मैंने अनुभव किया कि इसका समापन नीति सम्बन्धी एक अध्याय में होना चाहिए। यह सच है कि मैं सदा मूल्य सम्बन्धी प्रकट मान्यताओं के आधार पर काम करता हूँ, जो इस पुस्तक के सम्बन्ध में आधुनिकीकरण के आदर्श ही हैं, अत: मैं अनेक अध्यायों और अनुभागों में नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकाल सकता था, और ये निष्कर्ष उन तथ्यों के आधार पर निकाले जाते, जिन्हें मैं समझता था कि मैं तथ्यों और यथार्थ सम्बन्धों के आधार पर प्रमाणित कर चुका हूँ। लेकिन उस पुस्तक में इस बात का विस्तार से विवेचन नहीं हुआ कि कम-विकसित देशों के विकास को सम्भव बनाने और तेज करने के लिए कम-विकसित देशों और विकसित देशों को क्या प्रमुख नीतियाँ अपनानी चाहिए।

लेकिन मैंने देखा और मेरे मन में यह बात पत्रकार सम्मेलनों और भेंट के समय पूछे गये सवालों तथा अनेक समीक्षाओं में चर्चित मुद्दों से आयी कि ये सब प्रश्न वस्तुत: एशियन ड्रामा के उस आठवें भाग से सम्बन्धित हैं, जो उसमें नहीं है और जिसमें नीति सम्बन्धी वे प्रमुख निष्कर्ष होने चाहिए थे, जिन्हें मैं अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप निकालना चाहता था। सार्वजनिक दिलचस्पी के इस प्रकार व्यावहारिक परिवर्तन को प्रशंसा के भाव से देखते हुए और इस कारण से कि मैंने नीति सम्बन्धी निष्कर्षों पर अपने निश्चित विचार निर्धारित कर लिये हैं और इस कारण से भी कि मैं बहुत ठोस बुद्धि का आदमी हूँ, मैंने बड़ी प्रसन्नता से इन प्रश्नों के उत्तर दिये। पर कभी-कभी मुझे गलत समझा गया।

अत: मुझे इस बात का पूरा ज्ञान है कि एशियन ड्रामा को अक्सर इस गलत रूप में समझा गया कि इसमें कम-विकसित देशों को उनके विकास के प्रयासों में सहायता पहुँचाने की कोई चिन्ता न करने के पक्ष में तर्क दिये गये हैं और यह एक ऐसी बात थी, जिसने पश्चिम के देशों के कट्टरपंथियों और विशेषकर प्रतिक्रियावादियों को प्रसन्नता पहुँचाई। मैंने यह भी देखा कि मेरे कुछ उदारतावादी मित्र भी, जो इसी प्रकार मेरे तर्कों के निष्कर्षों के बारे में भ्रांतिग्रस्त थे, अपने सद्भाव के कारण मेरी पुस्तक को सामान्य सावधानी और सूझ-बूझ से नहीं पढ़ सके। मैं समझता हूँ कि कम-विकसित देशों में मेरे विचारों को बेहतर समझा गया।

जब मुझे उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों के जॉन्स होपकिन्स विश्वविद्यालय स्कूल ने तीन भाषण करने का निमन्त्रण दिया और यह बात भी स्पष्ट हुई कि इन भाषणों का विस्तार कर इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा सकता है, तो मुझे इस निमन्त्रण को स्वीकार करने और अपनी पहली पुस्तक के उस आठवें

अध्याय पर विचार करने के अवसर से प्रसन्नता हुई, जो उसमें मौजूद नहीं था।

एशियन ड्रामा में मैं इस तथ्य पर जोर देने के लिए उत्सुक रहा था कि मेरे अध्ययन का विषय दक्षिण एशिया में रहने वाली लगभग एक-तिहाई मानवता से ही है। दक्षिण एशिया के देशों से मेरा अभिप्राय सोवियत संघ और चीन के दक्षिण में स्थित, पश्चिम में पाकिस्तान से लेकर पूर्व में भूतपूर्व फ्रांसीसी हिन्दचीन के देशों से था, जिनमें इण्डोनेशिया और फिलीपीन भी शामिल हैं।[1] इससे भी अधिक यह विश्लेषण उन दो देशों—भारत और पाकिस्तान पर केन्द्रित था, जो ब्रिटिश भारत के विभाजन के वाद वने। इसका कारण इस उपक्षेत्र के लोगों की विशाल आवादी ही नहीं था, वल्कि यह तथ्य भी था कि विकास सम्वन्धी आँकड़े और अन्य सामग्री इन देशों में वहुत बड़ी मात्रा में उपलव्ध है और उसे बेहतर ढंग से व्यवस्थित किया गया है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि वहाँ विकास की समस्याओं पर लम्वे अरसे से विचार चल रहा है और यह विचार परिष्कार के एक ऊँचे स्तर पर जारी है। यह अन्तिम तथ्य अधिक निर्णायक था, क्योंकि मेरे अध्ययन का लक्ष्य समस्याओं से था और इसमें इस क्षेत्र की तत्कालीन परिस्थितियों का विस्तृत सर्वेक्षण करने का कोई इरादा नहीं था।

अव जवकि मैं उस अध्ययन के आधार पर नीति सम्वन्धी प्रमुख निष्कर्ष निकालने जा रहा हूँ, मैं सवसे पहले दक्षिण एशिया और विशेषकर भारत और पाकिस्तान के वारे में ही विचार करता रहूँगा। लेकिन इस संक्षिप्त पुस्तक में नीति सम्वन्धी समस्याओं का अनुशीलन यथासम्भव सामान्य होगा, अतः यह प्रायः समस्त कम-विकसित संसार के लिए प्रासंगिक होगा।

लेकिन इस पुस्तक में मैं अपने विश्लेषण को केवल गैर-कम्युनिस्ट देशों तक ही सीमित रखूँगा। हो सकता है कि इसे पूरी तरह अच्छे विचारों से प्रेरित निर्णय न समझा जाये। वस्तुतः कम-विकसित कम्युनिस्ट देशों के समक्ष भी वैसी ही समस्याएँ मौजूद हैं जैसी अन्य कम-विकसित देशों के समक्ष। लेकिन अनेक दृष्टियों से वे बुनियादी तौर पर भिन्न तरीके से इन समस्याओं का सामना करते हैं। इसके अलावा कम-विकसित देशों को सहायता पहुँचाने के लिए विकसित कम्युनिस्ट देशों और गैर-कम्युनिस्ट देशों के बीच सहयोग, यद्यपि उचित और तर्कसंगत है, पर अभी भी यह बहुत आरम्भिक चरण में है। इस पुस्तक में कम्युनिस्ट संसार पर विचार न करने का प्रमुख कारण, वस्तुतः व्यावहारिक है, ताकि इस पुस्तक के आकार को सीमित रखा जा सके।

एशियन ड्रामा की ही एक अगली कड़ी होने के कारण, यह पुस्तक एक दृष्टि से एशियन ड्रामा की निर्देशिका है और नीति सम्बन्धी दृष्टिकोण से इसे उसका संक्षेप भी कहा जा सकता है। अतः मैं अनेक समस्याओं के अधिक व्यापक अनुशीलन और साहित्य के स्रोतों के रूप में एशियन ड्रामा का अनेक वार उल्लेख करने को स्वयं को स्वतन्त्र समझूँगा। जहाँ कहीं किसी दृष्टिकोण अथवा मुद्दे को

---

1. इस पुस्तक में दक्षिण एशिया और जिन अन्य क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है, उनकी परिभाषा के लिए देखिए एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी ऑफ नेशन्स (एलेन लेन दि पेनगुइन प्रेस एण्ड पेनगुइन बुक्स, 1968), अध्याय-1, अनुभाग-1, पृष्ठ 41

अधिक विस्तार से समझाने की आवश्यकता होगी, इसी औचित्य के आधार पर, मैं अपनी अन्य पूर्व-प्रकाशित पुस्तकों का उल्लेख भी उचित मानूंगा। प्रस्तुत पुस्तक में जब कभी उपयुक्त सन्दर्भ-ग्रन्थों के उल्लेख के विना अन्य लेखकों के उद्धरण दिये जायेंगे, तो इसका यही अभिप्राय होगा कि सम्बन्धित सन्दर्भ-ग्रन्थों का उल्लेख पाद-टिप्पणियों में उल्लिखित एशियन ड्रामा के अनुभागों में हो चुका है। अब क्योंकि पाद-टिप्पणियों का सम्बन्ध प्राय: पूरी तरह से एशियन ड्रामा से है, यह आशा की जाती है कि पुस्तक के मूल पाठ में बार-बार पाद-टिप्पणियों की संख्या का उल्लेख सामान्य पाठक को दिक्कत में नहीं डालेगा। सामान्य पाठक से इन पाद-टिप्पणियों की उपेक्षा कर देने का अनुरोध किया जाता है।

यह एक राजनीतिक पुस्तक है और इस कारण से, मेरे दर्शन के अनुसार, केवल विशेषज्ञों, अधिकारियों और पेशेवर राजनीतिज्ञों को ही लक्ष्य मानकर नहीं, बल्कि सम्बन्धित विषय में दिलचस्पी रखनेवाले सामान्य लोगों को ध्यान में रखकर भी लिखी जानी चाहिए। अत: मैंने अपने सन्देश को यथासम्भव प्रत्यक्ष और सरल बनाने का भरपूर प्रयास किया है। यद्यपि यह कार्य करने में मैंने अपने इस इरादे का त्याग नहीं किया कि नीति सम्बन्धी मेरी सिफारिशें तथ्यों और प्रकट रूप से वर्णित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का तर्कसंगत निष्कर्ष मानी जायें। मैंने कोई राजनीतिक अथवा राजनयिक सतर्कताएँ नहीं बरती हैं, बल्कि यथासम्भव स्पष्टता से अपनी बात कहने का प्रयास किया है। मैं जॉन केनेथ गालब्रैथ के 1969 के उस वक्तव्य को अपने आदर्श वाक्य के रूप में सामने रख सकता हूँ, जो उन्होंने 'अमेरिकन्स फार डेमोक्रेटिक एक्शन' नामक संगठन के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त करते समय अपने भाषण में कहा था :

"हम कृतसंकल्प हैं कि उदारतावादी राजनीति में पूर्वाग्रह से मुक्ति से एक नया मानक कायम होगा—आज से यह केवल गर्व का ही विषय न होगा, बल्कि एक आवश्यकता भी होगी कि हम केवल वही बातें कहें जो हम सोचते हैं और इन बातों को उसी रूप में कहें जिस रूप में इन्हें देखते हैं। आवश्यकता हुई तो हम ऐसे लोगों का विरोध करेंगे, जो अन्य दृष्टियों से योग्य हैं, लेकिन राजनीतिक शब्दाडम्बर के आदी हैं। जहाँ कहीं हमें यह सन्देह होगा कि कथनी और करनी के बीच बड़ा अन्तर है, हम अपना विरोध प्रकट करेंगे।"

इस पुस्तक का उपशीर्षक बड़ा नाटकीय लग सकता है। लेकिन इस उपशीर्षक में 'एक' शब्द का भी उल्लेख किया गया है और उस पर जोर देने की आवश्यकता है। मैं इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सजग हूँ कि आगामी पृष्ठों में जिन समस्याओं पर विचार होगा, उनके बारे में मतैक्य जैसी कोई बात नहीं है। पाठक निरन्तर इस बात को ध्यान में रख सके, अत: मैंने तथ्यों और नीतियों के बारे में अपने विचारों को उत्तम पुरुष में व्यक्त किया है।

उप-शीर्षक से संयुक्त राज्य अमरीका के गरीबी विरोधी कार्यक्रम का विचार हो आना उचित ही है। इस बात में सन्देह नहीं है कि कम-विकसित देशों में गरीबी की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और संयुक्त राज्य अमरीका में गरीबी की

समस्याओं के बीच घनिष्ठ समानता है और उन तरीकों के मध्य भी जिन से ये दोनों प्रकार की समस्याएँ जनमानस में दिखायी पड़ी हैं, और नीति सम्बन्धी निर्णयों के आधार पर इन पर विचार और कार्रवाई हुई है। आरम्भ में, इन दोनों प्रकार की समस्याओं ने उस प्रक्रिया के माध्यम से जनता की चेतना और राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्व का स्थान ग्रहण किया, जिसे मैं वौद्धिक और नैतिक परिशोधन कहता हूँ।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह परिशोधन दूसरे महायुद्ध के तुरन्त वाद हुआ और इसके वाद जो महान् राजनीतिक परिवर्तन हुए, वे भी इसका कारण वने। संयुक्त राज्य अमरीका में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कष्ट भोग रहे लोगों के समुदाय के प्रति जागृति और चेतना तथा इस सम्वन्ध में कुछ करने की आवश्यकता 1950 से आरम्भ दशक के अन्त और 1960 के बाद के आरम्भिक वर्षों तक अनुभव नहीं की गयी। अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालयों ने आँकड़ों का जो व्यापक अध्ययन किया, उसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस परिशोधन के कार्य और कारण दोनों का काम किया। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में आँकड़ों सम्बन्धी अनुसन्धान, पुस्तकों, भाषणों और सम्मेलनों ने इसे जन्म दिया।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का सम्वन्ध है, 1960 से आरम्भ दशक को राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी के प्रस्ताव पर 'विकास दशक' घोषित किया गया। यह घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के सर्वसम्मत निर्णय से की गयी। और संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति लिंडन बी० जॉन्सन ने 1964 के आरम्भ में 'गरीबी के विरुद्ध विना शर्त युद्ध' की घोषणा की और आगे चलकर 'महान् समाज' की परिकल्पना जनता के समक्ष रखी। दूसरे महायुद्ध के वाद से पिछड़े हुए देशों को गरीबी के गर्त से निकालने की ऐसी ही करुण घोषणाएँ अक्सर की जाती रहीं।

जैसाकि इस पुस्तक में संकेत किया जायेगा, इन दोनों प्रकार की समस्याओं के बीच बहुत बड़ी बुनियादी समानताएँ हैं। यथार्थ दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसे जन-समुदाय हैं, जो स्थानिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अधिकांश अमरीकियों से विल्कुल अलग-थलग हैं, जबकि अधिकांश अमरीकी बहुत आरामदेह परिस्थितियों में रहते हैं। अतः अमरीका के समक्ष विकास सम्बन्धी जो समस्याएं हैं, वे अनेक तरीकों से कम-विकसित देशों जैसी ही हैं। पर महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं, जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि संयुक्त राज्य अमरीका में सचमुच गरीब लोग बहुत छोटे अल्पमत में हैं, कम-विकसित देशों में इनका वहुमत है और इसी प्रकार पूरे संसार में भी गरीब लोगों की संख्या अमीर लोगों से वहुत बड़ी है।

अन्य समानताएँ भी हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में गरीवी विरोधी कार्यक्रम को आरम्भ से ही बहुत मामूली समझा गया और स्थिति में सुधार के लिए जिन सुधारों की आवश्यकता थी और जैसी भावुक घोषणाएँ की गयी थीं, गरीबी समाप्त करने का कार्यक्रम उसके अनुरूप नहीं था। यह योजना के अनुसार संचालित नहीं था। यह सचमुच कृत्रिम वन गया और इसका संचालन कुशलता से नहीं हुआ। फिर भी यह आशा करना सम्भव था कि यह भविष्य में घटने वाली किसी वड़ी घटना का समारम्भ था और आगे चलकर इसे व्यापक और

यथार्थवादी आयोजन के निश्चित ढाँचे में दृढ़ और समन्वित कर दिया जायेगा। यह तथ्य स्वयं प्रकट है कि विश्वव्यापी गरीबी विरोधी कार्यक्रम के रूप में हमारे समक्ष जो भी कार्यक्रम था, वह उन्हीं खामियों से आज भी ग्रस्त है, जिनसे पहले ग्रस्त था, यद्यपि ये खामियाँ कुछ बढ़ी ही हैं, और इस तथ्य का इस पुस्तक में और स्पष्टता से विवेचन किया जायेगा।

संयुक्त राज्य अमरीका में हाल के वर्षों में गरीबी सम्बन्धी बौद्धिक और नैतिक परिशोधन ने अनेक शक्तियों के प्रभाव के कारण अपनी गतिशीलता खो दी है, जिनमें विएतनाम युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में फँसते जाने का तथ्य भी शामिल है। इस युद्ध ने अमरीका के लोगों और विशेषकर वाशिंगटन में बैठे उनके शासकों के ध्यान को पूरी तरह अपने ऊपर ही केन्द्रित कर लिया है। इसने उपलब्ध वित्तीय साधनों को भी आत्मसात् कर लिया है और इसका एक प्रभाव स्वदेश में मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुआ है। एक ऐसे युद्ध के अधिक गहरे मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी हैं, जिसे अनेक अमरीकी संयुक्त राज्य अमरीका के शेष संसार से अपने सम्बन्धों के प्रति गलत दृष्टिकोण पर आधारित मानने के साथ-साथ गैर-कानूनी, क्रूरतापूर्ण और अनैतिक भी मानते हैं। कुछ अन्य लोगों ने, युद्ध के प्रति इस निरन्तर बढ़ते विरोध के समक्ष, स्वयं अपने देश के अभावग्रस्त लोगों के प्रति भी अपने हृदय को और अधिक कठोर बना लिया है।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय गरीबी विरोधी कार्यक्रमों का सम्बन्ध है, हमने 1960 से आरम्भ दशक में यह देखा है कि अनेक समृद्ध देशों में और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में एक समानान्तर आन्दोलन ने कम-विकसित देशों की सहायता करने की लोगों की तत्परता में कमी की है। इस बीच इन देशों का वास्तविक विकास व्यापक रूप से धीमा हुआ है। ये दो अन्तिम प्रवृत्तियाँ वस्तुतः इस पुस्तक का प्रमुख विषय हैं।

अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं, जो समानताओं को कम तर्कसम्मत बनाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा राजनीतिक और प्रशासनिक ढाँचा है, जो भारी-भरकम और केन्द्र और अन्य स्थानों पर निहित स्वार्थों से ग्रस्त होने के बावजूद यथार्थवादी आयोजन को सम्भव बना सकता था, इस आयोजन को उद्देश्यपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से लागू करने का प्रयास कर सकता था—यदि यह करने की इच्छा मौजूद होती। जहाँ तक पूरे विश्व का सम्बन्ध है, कोई एक सरकार नहीं है। अतः इसके निर्णयों को लागू करनेवाला कोई एकीकृत प्रशासन भी नहीं है। और जहाँ तक मेरी नज़र जाती है, ऐसे किसी प्रशासन और सरकार की सम्भावना भी दिखायी नहीं पड़ती।

हमारे युग के अन्तर-सरकार संगठन एक बहूद्देशीय पृष्ठभूमि और बहुमुखी परिस्थितियों में राष्ट्रीय राजनय के संचालन के सहमति-प्राप्त साँचे-भर हैं। फिर भी विभिन्न सरकारों की सहमति को सम्भव बनाकर ये अपना महत्त्व प्रकट कर सकते हैं। इसके अलावा, इनमें से कुछ संगठन इस स्थिति में भी हैं कि उनके सचिवालय, अध्ययन करने के अलावा, पहल कर सकते हैं और विभिन्न देशों की सरकारों के बीच जो सहमति होती है, उसे लागू करने का माध्यम बन सकते हैं।

कम-विकसित देशों को मिलनेवाली सहायता के आयोजन और समन्वय की खामियों के लिए अन्तर-सरकार संगठनों को केवल आंशिक रूप से ही दोष दिया जा सकता है और विभिन्न देशों द्वारा स्वयं अपनी ओर से सहायता देने की प्रवृत्ति में हाल में जो स्थिरता और कमी आयी है, उसके लिए तो इन्हें और भी कम दोष दिया जा सकता है। यह कमी विकसित देशों की राष्ट्रीय आय की तुलना में सहायता की निरन्तर घटती हुई राशि के रूप में हुई है। वस्तुत: इन संगठनों के सचिवालय, उन सीमाओं के भीतर काम करते हुए और सम्बन्धित सरकारों की भर्त्सना का लक्ष्य बने विना, विकसित और कम-विकसित देशों के बीच निरन्तर बढ़ती हुई खाई का ही नहीं, बल्कि अधिक मात्रा में सहायता देने का भी प्रचार कर रहे हैं। वे सहायता के इस आयोजन की कुछ रूपरेखाएँ भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वयं अपनी सहायता सम्बन्धी गतिविधियों में वे समन्वय के एक सम्मानित स्तर पर पहुँच जाने में भी सफल हुए हैं। इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास वैंक' तथा 'खाद्य और कृषि संगठन' के बीच व्यावहारिक सहयोग के परिणामस्वरूप 'खाद्य और कृषि संगठन' उससे कहीं अधिक बड़ी राशि दे सका है, जितनी वह स्वयं अपने बजट से देने की वात सोच सकता था।

लेकिन अन्तर-सरकार संगठनों के माध्यम से जो सहायता वितरित की जाती है, वह उस सहायता का एक वहुत छोटा-सा हिस्सा है जो आज भी अधिकांशतया—लगभग 90 प्रतिशत—विकसित देशों की राष्ट्रीय सरकारें स्वयं अपने आप प्रत्यक्ष रूप से देती हैं। इतना ही नहीं, जैसाकि इस पुस्तक में जोर देकर उल्लेख किया जायेगा, दोनों प्रकार के विकसित देशों से मिलनेवाली सहायता, यद्यपि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, पर उसका एक वेहद छोटा हिस्सा है, जो पिछड़े हुए देशों के विकास को सम्भव बनाने और उसे तेज करने के लिए मिलनी चाहिए। इस सहायता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात स्वयं इन देशों के भीतर सामाजिक और आर्थिक सुधार हैं, जिनकी अत्यन्त अपेक्षा और आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अध्ययन संस्था,
स्टॉकहोम विश्वविद्यालय
1 अक्तूबर, 1969

गुन्नार मिर्डल

भाग एक

अध्याय : 1
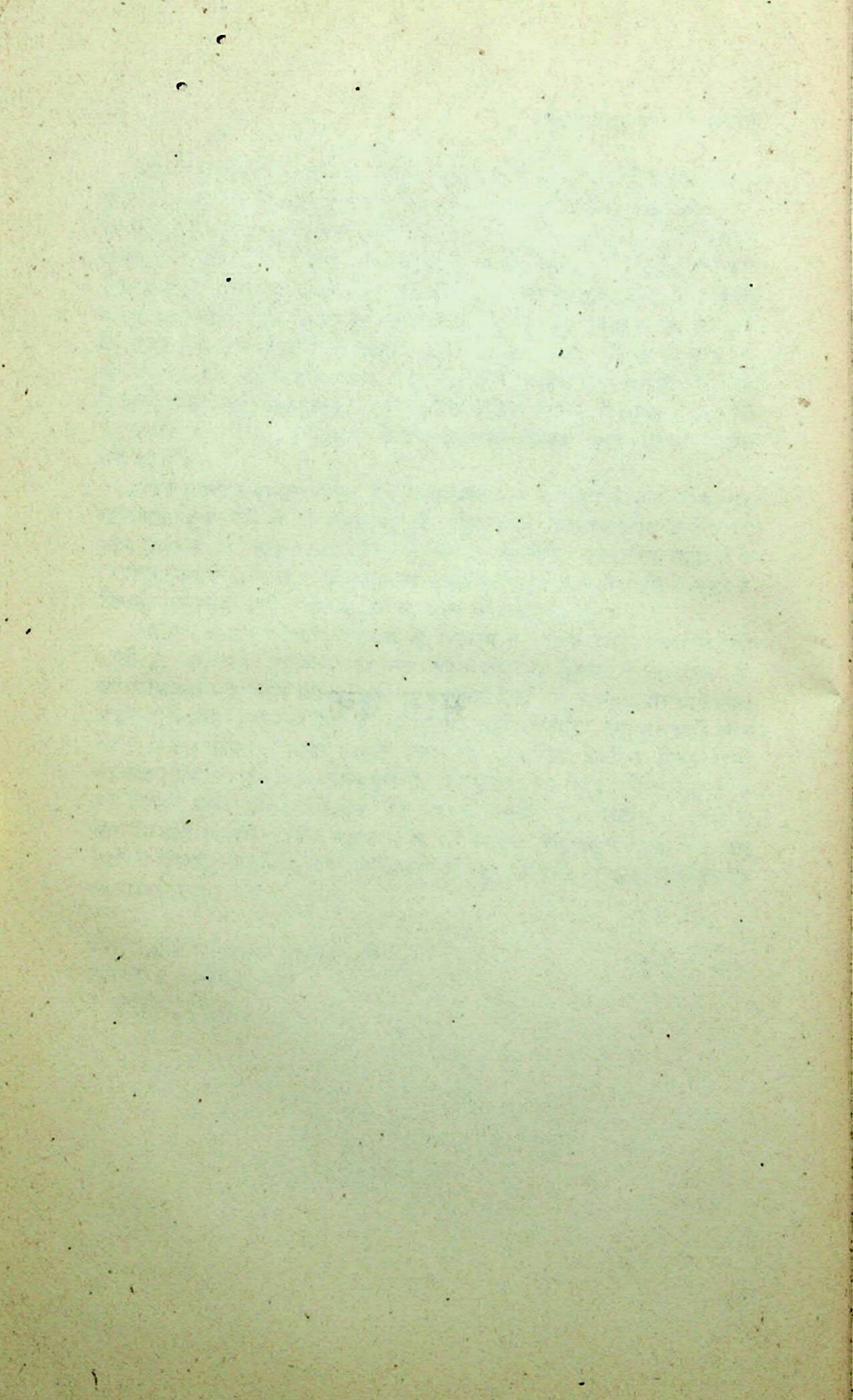
दृष्टिकोणों को पूर्वाग्रहों से मुक्त करने का प्रयास

कम-विकसित देशों[1] की विकास योजनाओं के नीति निर्धारण में तर्कसम्मत निष्कर्ष निकालने के लिए हमें—सम्बद्ध और महत्त्वपूर्ण मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के अलावा जिनका स्पष्ट रूप से ध्यान रखा गया है—कम-विकसित देशों की परिस्थितियों की यथार्थवादी संकल्पना की जरूरत है।[2] मेरा विचार है कि विकास की कमी, विकास और विकास के लिए आयोजन जैसी हमारी वर्तमान संकल्पनाओं का झुकाव उस दिशा में बहुत अधिक है जो बुनियादी तौर पर अवसरवादी है। इन संकल्पनाओं को वैज्ञानिक और लोकप्रिय दोनों प्रकार के आर्थिक साहित्य में और इससे भी अधिक खतरनाक तरीके से कम-विकसित देशों की योजनाओं में प्रस्तुत किया गया है। अतः हमारे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष, यथार्थ सम्बन्धी उन विचारों पर आधारित हैं, जिन्हें विधिवत्, यद्यपि जानबूझकर नहीं, मिथ्या किया जा रहा है।

इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। सर्वव्यापी अज्ञान की तरह, सर्वव्यापी ज्ञान का दावा करनेवालों में सत्य से हटकर अवसरवादी दिशा अपना लेने की भी प्रवृत्ति है।[3]

इस तथ्य को आसानी से देखा जा सकता है कि यथार्थ और विचारधाराओं तथा सिद्धान्तों की संकलपनाएँ उन समाजों के प्रभावशाली वर्गों के हितों से सामान्यतया प्रभावित होती हैं, जहाँ उनका निर्माण होता है और कुछ सीमा तक ये सत्य से उतनी विमुख हो जाती हैं, जितना उनका इन वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए विमुख होना जरूरी है और इतिहास के एक पूर्व युग पर विचार करते समय हम इस बात को निश्चित रूप से समझ सकते हैं। लेकिन हम अपने बौद्धिक प्रयासों में सामान्यतया ऐसे प्रभावों के प्रति बचकानेपन से भरी गैर-जानकारी का स्वाँग करते हैं, जो हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करती रहती हैं और यह ऐसी बात है जो इतिहास के पहले प्रत्येक युग में लोगों ने की है।

उन्हीं लोगों की तरह और वैसी ही दृढ़ता से हम यह मान लेते हैं कि हम तो केवल तथ्यों के अनुसार काम करते हैं, और विचार, तर्क तथा निष्कर्ष की प्रक्रिया में केवल यथार्थ के प्रेक्षण का ही सहारा लेते हैं। जब हम यथार्थ की और अधिक सच्ची संकल्पना पर पहुँचना चाहते हैं, तो उसकी पहली शर्त यह होती है कि हम उन अवसरवादी हितों को स्पष्ट रूप से देखें, जो हमारे सत्यान्वेषण को प्रभावित कर रहे हैं और यह समझें कि इन प्रभावों का किस प्रकार संचालन होता है। बचकानेपन से छुटकारा पाने के इस प्रयास में विगत इतिहास पर दृष्टि डालना

सहायक होता है।

उपनिवेशकाल में और ठीक दूसरे महायुद्ध के समय तक तथाकथित 'पिछड़े हुए क्षेत्रों' (उस समय इनमें से अधिकांश 'देश' नहीं थे) के लोगों की गरीवी के जो लोकप्रिय और अधिक परिष्कृत स्पष्टीकरण दिये जाते थे, वे आज हमें शुद्ध रूप से एक विशेष दृष्टिकोण से तैयार स्पष्टीकरण दिखायी पड़ते हैं, जिनका उद्देश्य उपनिवेशी शक्तियों और व्यापक रूप से समृद्ध देशों को इन लोगों की गरीबी और विकास की कमी की नैतिक और राजनीतिक जिम्मेदारी से मुक्त करना था।[4]

उस समय इस बात को अनुभवजन्य और अनुभव के आधार पर प्रमाणित मान लिया गया था कि पिछड़े हुए क्षेत्रों के निवासी इस प्रकार निर्मित हैं कि उनके भीतर यूरोप के लोगों से भिन्न तरीके से प्रतिक्रिया होती है : वे सामान्यतया अपनी आय और रहन-सहन के स्तर को वेहतर बनाने की सम्भावनाओं के प्रति सकारात्मक ढंग से प्रतिक्रिया नहीं करते। आलसीपन और अकुशलता की उनकी प्रवृत्ति और वेतन के आधार पर काम तलाश और स्वीकार करने की उनकी अनिच्छा इस बात का प्रमाण मानी गयी है कि उन्हें किसी भी वस्तु की खास आवश्यकता नहीं है, उनका आर्थिक अन्तरिक्ष बहुत सीमित है, उनके मन में वस जैसे-तैसे जीवित बने रहने, आत्मनिर्भरता, निश्चिन्त स्वभाव और काम के बिना आराम का जीवन बिताने की प्रवृत्ति है।

अधिक परिष्कृत लेखन में इन प्रवृत्तियों की जड़ों को सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं की सम्पूर्ण प्रणाली के विभिन्न तत्त्वों में निहित माना गया और यह समझा गया कि ये तत्त्व धार्मिक मान्यताओं और रूढ़ियों से शक्ति प्राप्त करते हैं और उपनिवेशी शक्तियाँ स्पष्ट और उचित कारणों से इन धार्मिक मान्यताओं और रूढ़ियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहतीं। यदा-कदा यह भी कहा जाता कि पोषण की कमी और व्यापक पैमाने पर रहन-सहन का नीचा स्तर, कार्यक्षमता में कमी करता था और ये वातें डटकर काम करने की इच्छा और योग्यता को कुछ सीमा तक प्रभावित करती थीं। लेकिन ऐसे मानसिक लक्षणों और उत्पादकता में कमी तथा रहन-सहन के नीचे स्तर के अन्य कारण भी थे, पर यह नहीं माना गया कि ऐसे स्पष्टीकरण स्वयं विकास की सच्ची सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे।

निरन्तर डटकर काम करने के प्रति इन लोगों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जलवायु को भी एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया गया। इस विचारधारा को जातीय दृष्टि से निचले स्तर का होने के सिद्धान्त ने वहुत प्रभावित किया था और इस प्रकार ऐसी किसी भी नीति के लिए दरवाजा बन्द कर दिया था, जो उस समय प्रचलित मुक्त व्यापार और सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति के विपरीत होती।

पश्चिम के सांस्कृतिक नृवंश-विज्ञानियों को छोड़कर, जिन्हें उपनिवेशी शक्तियाँ सामान्यतया स्वीकार करती थीं और जिनका कभी-कभी प्रयोग शासित

लोगों की क्षमताओं के मूल्यांकन के लिए किया जाता था, इन तथाकथित पिछड़े क्षेत्रों की परिस्थितियों के बारे में कोई गम्भीर अनुसन्धान नहीं किया गया।

नृवंश-विज्ञानियों की दिलचस्पी केवल यह पता लगाने में थी कि ये लोग कैसे रहते थे और किस प्रकार अपना अस्तित्व कायम रख पाते थे। कुछ अपवादों को छोड़कर उनका दृष्टिकोण गतिहीन था। परिवर्तनों को अक्सर स्थापित सामाजिक सम्बन्धों में 'व्यवधान' बताया गया। यद्यपि ये लोग यूरोप के जातीय केन्द्रण के विपरीत प्रतिक्रिया कर रहे थे और सर्वाधिक आदिम जातियों के सामाजिक संगठन को संगतता और सोद्देश्यता प्रदान कर रहे थे—यह नृवंश-विज्ञान सम्बन्धी उनके अनुसन्धान की संवेदनशीलता और मान्यता थी—लेकिन उनके दृष्टिकोण के गतिहीन स्वरूप ने सदा उस उपनिवेशी सिद्धान्त का समर्थन किया, जिसका मैंने संकेत किया है।

वस्तुतः सर्वाधिक विलक्षण बात यह है कि उपनिवेशी युग में अर्थशास्त्रियों ने पिछड़े हुए क्षेत्रों की गरीबी की समस्याओं के बारे में इस तथ्य के बावजूद कि यह विषय उनके अध्ययन के क्षेत्र के भीतर आता है, कोई ध्यान नहीं दिया। समग्र दृष्टि से, इन क्षेत्रों का जन-समुदाय उस समय भी इतना ही गरीब था और उनका जीवन इतना ही कष्टपूर्ण था, जितना आज है। इसमें अर्थशास्त्रियों की दिलचस्पी का खुल्लमखुल्ला अभाव तत्कालीन विश्वव्यापी राजनीतिक स्थिति का परिचायक था। उपनिवेशी शासन ऐसे नहीं थे कि ऐसे किसी अनुसन्धान को राजनीतिक और सार्वजनिक हित का विषय बनाकर आर्थिक पिछड़ेपन के बारे में बड़े पैमाने पर अनुसन्धान की व्यवस्था करते।

लेकिन अब स्थिति आमूल रूप से बदल गयी है। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद से उन देशों की समस्याओं के बारे में, जिन्हें अब 'कम-विकसित देश' कहा जाता है और जिसका अभिप्राय इस गतिशील संकल्पना से है कि उन्हें विकास करना चाहिए, अनुसन्धानों की बाढ़-सी आ गयी। यह बाढ़ निरन्तर और तीव्र होती जा रही है, जिसमें हम अर्थशास्त्रियों ने पहल की है और पिछड़ेपन, विकास तथा विकास के आयोजन की समस्याओं का सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अध्ययन शुरू किया है।

अनुसन्धान की दिशा और मात्रा में जो अचानक और बहुत बड़े पैमाने पर परिवर्तन आया है वह समाज-विज्ञानों के स्वतः और स्वयं-स्फूर्त विकास का प्रमाण निश्चय ही नहीं है। इसके विपरीत यह उन व्यापक राजनीतिक प्रतिक्रियाओं और असफलताओं का परिणाम है, जिनका एक-दूसरे से सामान्य सम्बन्ध है : पहले, तेजी से उपनिवेशी व्यवस्था की समाप्ति; दूसरे, कम-विकसित देशों में विकास की उत्कट इच्छा अथवा उस शिक्षित और परिष्कृत उच्च वर्गों की विकास की उत्कट अभिलाषा जो अपनी ओर से सोचते, बोलते और कार्य करते हैं; और, तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, विशेषकर शीतयुद्ध, जिसने कम-विकसित देशों के भाग्य को विकसित देशों की विदेश नीति की चिन्ता का एक विषय बना दिया है।[5] समाज-विज्ञान यदा-कदा ही नये परिप्रेक्ष्यों का मार्ग प्रशस्त करते हैं—हमारे कार्य का निरन्तर पुनर्निर्धारण नियमित रूप से राजनीति के क्षेत्र से होता है—एक सामान्य नियम है, यद्यपि हमने शायद ही कभी अथवा कभी भी इसे इतने अचानक, आमूल और पूर्ण रूप से परिवर्तित होकर प्रकट होते हुए, प्रमाणित होते हुए देखा

हो। इस बार यह हम लोगों द्वारा अपनी पहल पर शुरू किया गया कार्य-भर नहीं रहा, जिसे धीरे-धीरे एक के बाद एक देश में उस समय व्यापक मान्यता मिली, जब सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ इसके लिए और परिपक्व होती गयीं। उदाहरण के लिए विकसेल कीन्स के व्यापार के उतार-चढ़ावों सम्बन्धी दृष्टिकोण का उल्लेख किया जा सकता है।[6] पश्चिमी संसार के समस्त अर्थशास्त्री अपने कार्य के लिए नयी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं और कार्यक्षेत्र की एक नयी दिशा को स्वीकार करने लगे। इस समय तक ये लोग इनका अध्ययन नहीं करते थे और ये प्रकट रूप से इस महान् परिवर्तन की राजनीतिक परिस्थितियों से अनभिज्ञ थे।

इस बात की आलोचना नहीं की जानी चाहिए कि हमारे समाज में केवल उस विषय का अनुसन्धान किया जाता है, जिसे राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसका केवल यह अर्थ होता है कि हम वैज्ञानिक लोग उस समाज के आह्वान के उत्तर के रूप में कार्य करते हैं, जिसका हम एक अंग हैं और हम यह कार्य उन समस्याओं का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने और समाधानों का सुझाव देने के लिए करते हैं जो लोगों के मन-मस्तिष्क पर छायी रहती हैं और जिनके बारे में वे और बेहतर जानकारी चाहते हैं। यद्यपि हम यह कामना कर सकते थे कि वैज्ञानिकों के रूप में हम लोगों को भविष्य के संकेतों को बेहतर रूप से समझ लेना चाहिए था, ताकि हमारे समाजों को नियमित रूप से अचानक सामने आ खड़ी होनेवाली समस्याओं का सामना न करना पड़ता और तदनुसार अपनी नीतियों को इन तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार जल्दबाजी में निर्धारित न करना पड़ता।

लेकिन निरन्तर प्रकट हो रही राजनीतिक शक्तियों की आवश्यकताओं के अनुसार हमारे कार्य की दिशा में यह निरन्तर परिवर्तन उन पूर्वाग्रहों का कारण नहीं बन सकता, जो हमारे अनुसन्धान के परिणामों को ही निरर्थक सिद्ध कर दें।

यद्यपि अनुसन्धान के क्षेत्र में यह परिवर्तन उन आवश्यकताओं के अनुरूप हमारे काम की उचित पुनर्व्यवस्था का भी प्रतीक है, जिनकी आवश्यकता समाज अनुभव करता है। इसके प्रति चेतना और यह जानकारी कि परिवर्तन इतना आमूल हुआ है, हमें यह समझ लेने के लिए प्रेरित करेगी कि इन्हीं राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव अनुसन्धान के प्रयासों के दृष्टिकोण को भी प्रभावित करेगा। अनुसन्धान को केवल नयी दिशा देने के अलावा, यह प्रभाव निश्चय ही कुछ असंगत पूर्वाग्रहों को जन्म दे सकता है।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उग्र तनावों और भावनाओं से भरी हुई है, सरकारें और देश यह अनुभव करते हैं कि उनके महत्त्वपूर्ण हित दाव पर लगे हैं। कम-विकसित देशों की समस्याओं के बारे में समृद्ध देशों में जो आर्थिक अनुसन्धान हुआ है, उसके पूर्वाग्रहों का प्रमुख स्रोत समृद्ध देशों के राजनीतिक हित होंगे, क्योंकि इनके हित ऐसी अनेक बातों से जुड़े हैं कि कम-विकसित देशों में क्या होता है और क्या होना चाहिए, कि इन देशों में किस रूप में इन हितों को सरकारी तौर पर और लोकप्रिय आधार पर अनुभव और व्यक्त किया जाता है।

मैंने अन्यत्र इस विषय का अधिक विस्तार से अनुशीलन किया है।[7] वर्तमान सन्दर्भ में मैं स्वयं को इस बात तक सीमित रखूँगा कि अवसरवादी प्रवृत्ति कम-

विकसित देशों की समस्याओं के प्रति सामान्यतया 'अमैत्रीपूर्ण' दृष्टिकोण को जन्म नहीं देती। यह उस समय तक नहीं होता, जब तक ये देश शीतयुद्ध की दृष्टि से विभाजित खेमों में से किसी एक खेमे के पूर्णतः पिछलग्गू न बन जायें।

इसके विपरीत अनुसन्धान के 'राजनयिक' बन जाने की प्रवृत्ति बनी रहती है। यह सहिष्णु और सामान्यतया आवश्यकता से अधिक आशावादी बन जाती है। यह कार्य ऐसे तथ्यों से बच निकलने की प्रवृत्ति के कारण होता है, जो उलझन में डालनेवाली समस्याओं को जन्म देते हैं। इन तथ्यों को अनावश्यक तकनीकी शब्दावली की आड़ में छिपाया जाता है अथवा इनका अनुशीलन बच निकलने की प्रवृत्ति और 'सूझबूझ' के तरीके से किया जाता है। स्वाधीनता के नव युग में, कम-विकसित देशों सम्बन्धी समस्याओं के क्षेत्र में, राजनयिक तरीके से सोचने और कार्य करने की प्रवृत्ति "गोरे आदमी का बोझ" का एक नया स्वरूप बन गयी है।

यदि कम-विकसित देशों का बुद्धिवादी वर्ग यह समझ जाता कि उनकी समस्याओं के प्रति इस दृष्टिकोण में कितना कृपाभाव भरा है, तो वे इस बात से स्वयं को आहत और अपमानित अनुभव करते। लेकिन कुछ ऐसे कारणों से, जिनका उल्लेख मैं आगे चलकर करूँगा, ये लोग सामान्यतया—और यहाँ तक कि अधिक कड़ाई से—स्वयं ऐसे ही पूर्वाग्रहग्रस्त विचार का शिकार बने रहते हैं।

"कम-विकसित देशों" के लिए विभिन्न प्रशंसापूर्ण शब्दों के प्रयोग पर जो सामान्य सहमति है, वह इस मानसिक षड्यन्त्र का एक संकेत और लक्षण है। एक ऐसा ही शब्द "विकासशील देश" है।[8] वस्तुतः यह शब्द तर्कसंगत नहीं है क्योंकि भारी-भरकम शब्दावली के माध्यम से यह अभिव्यक्ति यह माँग करती है कि क्या सम्बन्धित देश विकास कर रहा है अथवा नहीं। अथवा इस बात की सम्भावना दिखायी पड़ती है कि यह भविष्य में विकास कर सकेगा। इसके अलावा इस अभिव्यक्ति से यह विचार प्रकट नहीं होता, जो यह सचमुच प्रकट करना चाहता है: कि यह कम-विकसित देश है, यह विकास करना चाहता है, और सम्भवतः यह विकास के लिए योजनाएँ बना रहा है।

अपने-आपमें शब्दावली की यह राजनीति महत्त्वहीन दिखायी पड़ सकती है, लेकिन इस दृष्टि से इस पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कम-विकसित देशों की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण में घुस आये गहरे पूर्वाग्रहों का संकेत इससे मिलता है।

इस विशेष दिशा में पूर्वाग्रहों के संचालन की विधिवत् प्रवृत्ति एक अधिक यान्त्रिक कारण से मजबूत हुई है, जिसका सम्बन्ध उस शीघ्रता और तीव्रता से है, जो हम अर्थशास्त्रियों ने पहले पूरी तरह से अछूते क्षेत्र के व्यापक अनुसन्धान में अपनायी है।[9]

तर्कसंगत अनिवार्यता के कारण अनुसन्धान का समारम्भ विश्लेषणात्मक पूर्व संकल्पनाओं अथवा मान्यताओं के आधार पर होता है।[10] अतः यह स्वाभाविक था कि विकसित देशों के अध्ययन के लिए जिन सैद्धान्तिक उपादानों का उपयोग किया गया था, उनका यह सोचे बिना ही कि कम-विकसित देशों के यथार्थ के लिए वे पर्याप्त हैं अथवा नहीं, प्रयोग किया गया।

यह कार्य इसलिए और अधिक आसानी से किया जा सका क्योंकि कम-

विकसित देशों की वास्तविक परिस्थितियों और वास्तविकता पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों के बारे में बुनियादी ज्ञान की अत्यन्त कमी थी क्योंकि इन आँकड़ों को इस दृष्टिकोण की संकल्पनात्मक श्रेणियों के अनुसार एकत्र और विश्लेषित किया गया था, लेकिन जब आवश्यक आँकड़े एकत्र किये गये और उनका विश्लेषण किया गया, तो भी उनसे परम्परागत अथवा "युद्ध के बाद के दृष्टिकोण"[11] में कोई परिवर्तन नहीं आया। मैंने शब्दावली के माध्यम से भर्त्सना से बचने के लिए 'युद्ध के बाद का दृष्टिकोण' जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है। इन विश्लेषणों के परिणामस्वरूप जो अपार आँकड़े प्राप्त हुए, उदाहरण के लिए उनमें 'बेरोजगारी' और 'अर्द्ध-बेरोजगारी'[12] के आँकड़े शामिल हैं, उनसे किसी कम-विकसित देश के आर्थिक यथार्थ को समझने में या तो कोई सहायता नहीं मिलती; अथवा इन आँकड़ों के माध्यम से जो कुछ समझाने की कोशिश की जाती है उससे एकदम विपरीत निष्कर्ष निकलता है।

इस प्रकार अनुभवजन्य आर्थिक अनुसन्धान उथला और त्रुटिपूर्ण बन गया और इसके साथ ही दृष्टिकोण में निहित संकल्पनाओं और सिद्धान्तों को कसौटी पर कसने के लिए भी कम उपयुक्त हो गया। इसके स्थान पर, कम से कम कुछ समय के लिए, यह हुआ कि अब अनुसन्धानकर्ता को अपना खेल खेलने के लिए आँकड़े उपलब्ध हो गये, अतः उसके भीतर अपने मूल और पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण को और मजबूत बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी।

मेरा मुख्य मुद्दा यह है कि विकसित देशों में 'शुद्ध' आर्थिक दृष्टि से किया गया विश्लेषण उपयोगी सिद्ध हो सकता है और इसके उपयुक्त निष्कर्ष निकल सकते हैं। इसका कारण यह है कि ये संकल्पनाएँ, नमूने और सिद्धान्त विकसित देशों के यथार्थ के पर्याप्त रूप से उपयुक्त होते हैं। ये विश्लेषण रोजगार और बेरोजगारी, बचत, पूँजी विनियोग और उत्पादन तथा समग्र रूप से इन सब बातों के बारे में हो सकते हैं।

लेकिन कम-विकसित देशों में यह दृष्टिकोण एकदम लागू नहीं हो सकता। यह कार्य विश्लेषण को असंगत और बेहद त्रुटिपूर्ण बनाने की कीमत चुकाकर ही किया जा सकता है। ऊपर वर्णित समग्र 'आर्थिक' शब्दों का (और इनके अलावा अन्य शब्द भी हैं) उस स्थिति में विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, जब बाजारों का अस्तित्व ही न हो अथवा ये बाजार बेहद या पूर्णतः अपूर्ण हों।

पर इससे अधिक बुनियादी कमी यह है कि यह दृष्टिकोण प्रवृत्तियों और संस्थाओं से प्रेरित होता है। विकसित देशों में ये या तो इस दृष्टि से संगत बन गये हैं कि ये विकास के उत्साह का मार्ग प्रशस्त करते हैं अथवा बड़ी तेजी से और बिना किसी व्यवधान के व्यवस्थित होकर विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। लेकिन यह मान्यता कम-विकसित देशों के बारे में सही नहीं हो सकती।[13] इनकी प्रवृत्तियाँ अथवा रुझान अथवा संस्थाएँ ऐसी हैं कि वे बाजारों के सन्दर्भ में विश्लेषण को अव्यावहारिक बना देती हैं। ये विकास में कम सहायक बनती हैं और ये कहीं अधिक कड़ी होती हैं। इन तथा अन्य कारणों से इन्हें विश्लेषण में अपनाये जानेवाले सैद्धान्तिक नमूने में एक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट स्थान दिया जाना चाहिए। यह सच है कि समस्त सैद्धान्तिक विश्लेषण सरल होना चाहिए लेकिन उन तत्त्वों को निकालकर सरलीकरण की अनुमति नहीं दी जा सकती

जो उस समाज के लिए अत्यधिक महत्त्व की हों, जिसका अध्ययन किया जा रहा हो।

एक अन्य दृष्टि से युद्ध के बाद का दृष्टिकोण कम-विकसित देशों के आर्थिक विश्लेषण को आवश्यकता से अधिक आशावादी बना देता है। विकसित देशों में आय का जो ऊँचा स्तर कायम हो गया है और वहाँ सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्थाएँ हैं, उनके कारण पौष्टिक आहार तथा रहन-सहन के स्तर को लोगों के कल्याण की दृष्टि से ही देखा जाता है और उनकी कार्यक्षमता तथा काम करने की इच्छा और काम करते समय उनकी कुशलता आदि बातों का ध्यान नहीं रखा जाता। अतः पश्चिम में विकास के अध्ययन में हम जो प्रतिमान अपने सामने रखते हैं, उनमें इन बातों को सामान्यतया छोड़ा जा सकता है।

लेकिन जब कम-विकसित देशों के कम-विकास और विकास की समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है तो इस सरलीकरण की इजाजत नहीं हो सकती। इन देशों के लोगों का रहन-सहन का बेहद नीचा स्तर उत्पादकता को प्रभावित करता है, जिसकी कम-विकास और विकास के किसी भी यथार्थवादी आर्थिक विश्लेषण में उपेक्षा नहीं की जा सकती।[14] मैं उस स्थिति पर विचार कर रहा था, जिसे मैंने अधिक यान्त्रिक तरीके से 'आर्थिक' शब्दावली में कम-विकास और विकास की समस्या के प्रति दूसरे महायुद्ध के बाद का दृष्टिकोण कहा है, जो उस तीव्र गति का परिचायक है, जिससे प्रायः अछूते क्षेत्र में अनुसन्धान शुरू हुआ और हमारे भीतर अनुसन्धान के उन तरीकों को अपनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही, जिनसे हम परिचित थे। लेकिन यह मामला कहीं अधिक जटिल है।[15] मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण उन अनेक परिस्थितियों की उपेक्षा कर देता है, जो केवल कम-विकसित देशों की विशेष परिस्थितियाँ ही नहीं हैं, बल्कि ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जो इनके विकास की कमी के लिए अधिकांशतया जिम्मेदार हैं और उन विशेष कठिनाइयों के लिए भी, जिनका उन्हें अपनी विकास-प्रक्रिया में सामना करना पड़ता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के इस दृष्टिकोण में जो अनावश्यक सरलीकरण था, उसमें कम-विकसित देशों की भद्दी, कठिन अथवा अवांछित बातों की उपेक्षा कर दी गयी थी। अतः 'आर्थिक' शब्दावली में विकास के माडलों का निर्माण पहले वर्णित उन पूर्वाग्रहों का हितसाधन करता है, जो राजनयिक और आवश्यकता से अधिक आशावादिता के सम्बन्ध में थे। पूर्वाग्रहों के ये दो स्रोत एक-दूसरे से मिल जाते हैं और एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करते हैं।

अपनी संकल्पनाओं, माडलों और सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते समय अर्थशास्त्री नियमित रूप से अत्यधिक व्यापक सुरक्षाओं और शर्तों का उल्लेख करने के लिए तत्पर रहते हैं, वस्तुतः वे यह बात जोर देकर कहते हैं कि अन्ततः विकास एक 'मानवीय समस्या' है और आयोजन का अर्थ 'मनुष्य को बदलना' होता है। इस प्रकार वे लोग उन तत्त्वों के समक्ष अपना सिर झुकाते हैं, जिन्हें वे 'गैर-आर्थिक' कारक कहने के आदी हो चुके हैं। इसके बाद वे आगे इस प्रकार कार्य और

विवेचन करते हैं, मानो उन कारकों का अस्तित्व ही न हो।[16]

अधिकांश अर्थशास्त्री बिना किसी क्षमायाचना के यह कार्य करते हैं। कुछ यह कहकर अपना बचाव कर लेते हैं कि वे स्वयं को गैर-आर्थिक कारकों का विवेचन करने में सक्षम नहीं समझते। दोनों स्थितियों में वे यह स्पष्टीकरण देने में असफल रहते हैं कि इन कारकों की उपेक्षा का उनके अनुसन्धान की वैधता के लिए क्या अर्थ होता है।

आर्थिक अनुसन्धान के प्रति इस दृष्टिकोण की सर्वाधिक लाभदायक व्याख्या—जिसमें एक ओर तथाकथित गैर-आर्थिक कारकों के महत्त्व पर जोर दिया जाता है और दूसरी ओर उन माडलों और सिद्धान्तों में उनकी प्रायः पूरी तरह उपेक्षा कर दी जाती है, जिनका अनुसन्धान और आयोजन में उपयोग होता है—यह होगी कि अर्थशास्त्री इन दो वातों में से किसी एक को मानें : एक, कि प्रेरित 'आर्थिक' परिवर्तन (अधिकांश आयोजन सम्बन्धी नमूनों में जो अभी भी मुख्यतः भौतिक विनियोग ही होता है) विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्व के हैं, अथवा, दो, कि अनुसंधान में यह प्रक्रिया की दृष्टि से उचित तरीका है कि पहले किसी 'आर्थिक' सिद्धान्त का निर्धारण किया जाये और गैर-आर्थिक कारकों की सम्भावनाओं को जोड़ने की गुंजाइश रखी जाये।

समकालीन अर्थशास्त्रियों के अधिकांश सैद्धान्तीकरण से यह स्पष्ट है कि वे वस्तुतः प्रथम मान्यता के आधार पर कार्य करते हैं। कभी-कभी यह कार्य सामान्य शव्दावली में गैर-आर्थिक कारकों के महत्त्व पर उनके जोर देने के स्पष्ट रूप से विपरीत होता है। एशियन ड्रामा के समस्त अध्यायों में पर्याप्त विस्तार से अनेक समस्याओं के बारे में इस मान्यता का खण्डन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस प्रमुख विषय पर आगे विचार होगा।

यदि इस मुद्दे के बारे में हमारे निष्कर्ष सही हैं—कि गैर-आर्थिक कारक, मोटे तौर पर रुझान या दृष्टिकोण, संस्थाएँ और रहन-सहन के बेहद नीचे स्तर के कारण उत्पादकता सम्बन्धी परिणाम, कम-विकसित देशों में इतने अधिक महत्त्व के हैं कि इन्हें आर्थिक सिद्धान्त और आयोजन से अलग नहीं किया जा सकता—तो दूसरी मान्यता का इसके निर्णायक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए विश्लेषण किया जाना चाहिए, क्योंकि इस मान्यता में यह स्वीकार किया गया है कि एक सरलीकृत और बुनियादी सिद्धान्त में इनके बारे में बातें जोड़कर गैर-आर्थिक कारकों का ध्यान रखा जा सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि यह मान्यता सामान्यतः सही नहीं है।

एक वात तो यह है कि आर्थिक सिद्धान्त का यह आवर्द्धन कभी भी नहीं किया गया। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकांश अर्थशास्त्री कम-विकसित देशों की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याओं, दोनों का विवेचन आर्थिक तथ्यों और सम्बन्धों की सीधी-सादी संकल्पना के सन्दर्भ में करते हैं।

इसके अलावा इसे लागू भी नहीं किया जा सकता। इस सरलीकरण के द्वारा अर्थशास्त्री अक्सर जिस सूक्ष्मता और तत्परता का आभास देने में सफल होते हैं, उसके बावजूद उनके विचार के तरीके में एक बुनियादी तर्कसंगत भ्रान्ति मौजूद रहती है, जो संकल्पनाओं और मान्यताओं की उनकी परिभाषाओं की स्पष्टता की कमी के पीछे छिपी रहती है।[17] यथार्थ में आर्थिक समस्याएँ नहीं

होतीं, केवल समस्याएँ होती हैं और ये जटिल होती हैं।

यह स्पष्टीकरण देना कि 'आर्थिक' समस्याओं का क्या अर्थ होना चाहिए अथवा 'आर्थिक' कारक क्या हैं, वास्तव में एक ऐसे विश्लेषण का संकेत करता है, जिसमें समस्त 'गैर-आर्थिक' निर्णायक तत्त्व शामिल रहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एकमात्र सम्भव विभाजन—और जो एकमात्र ऐसा विभाजन है, जो तर्क की दृष्टि से खरा उतर सकता है—संगत और कम-संगत कारकों के बीच होता है।

और यह विभाजन उन समाजों की विशेषताओं के अनुसार बदलता रहेगा जिनका अध्ययन किया जाता है। यह बात कही जा चुकी है कि आर्थिक सिद्धान्त में सामान्यतया जिन कारकों को छोड़ दिया जाता है, वे कम-विकसित देशों में विशेष महत्त्व के हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में मैं स्वयं को, जो बातें कही गयी हैं, उनका एक उदाहरण देने तक ही सीमित रखूँगा : 'बेरोजगारी' की पश्चिमी संकल्पना का उपयोग और कम-विकसित देशों की परिस्थितियों पर विचार के सम्बन्ध में 'छिपी बेरोजगारी' अथवा 'अर्द्धबेरोजगारी' के कारण बताने का प्रयास। यद्यपि इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए एशियन ड्रामा का अध्ययन किया जा सकता है,[18] लेकिन विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में 'बेरोजगारी' की संकल्पना सम्बन्धी कुछ मान्यताओं का यहाँ उल्लेख उपयोगी होगा।

इस मान्यता में एक तरल श्रम बाजार के अस्तित्व की बात निहित रहती है, जहाँ विशेष व्यवसायों के लिए काम के घंटों और काम की परिस्थितियों का मानक, व्यवहार में और कभी-कभी कानून के द्वारा निर्धारित किया जा चुका है; इसके अलावा जहाँ सामूहिक सौदेकारी और सामूहिक सहमति की व्यवस्था है और जहाँ श्रम के स्तर में विभिन्न व्यक्तियों के अन्तर अर्थात् उनकी कुशलता, कार्य की तीव्रता और कार्यकुशलता के अन्तर मानकीकरण के आधार पर कम किये जा सकते हैं अथवा इन्हें किसी सामान्य पैमाने के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है।

इस तरल और संगठित श्रम बाजार में श्रम शक्ति के सदस्यों को नियमित रूप से रोजगार की सम्भावनाओं अथवा ऐसी सम्भावनाओं की कमी का ज्ञान होता है। वे इसी प्रकार नियमित रूप से काम करने को भी तत्पर होते हैं। काम प्राप्त न कर पाने और काम न करने की इच्छा के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाता है।

अतः बेरोजगारों की परिभाषा में यह कहा जा सकता है कि ऐसे श्रमिक जिनमें आवश्यक कुशलता है, जिन्हें रोजगार की सम्भावनाओं की जानकारी है और जो वर्तमान बाजार दर पर रोजगार की तलाश कर रहे हैं, लेकिन फिर भी उन्हें रोजगार प्राप्त करने में सफलता नहीं मिलती। श्रम की सामान्य माँग में पर्याप्त वृद्धि 'पूर्ण रोजगार' की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

'संरचनात्मक रोजगार' के बारे में अनेक शर्तों सहित ये परिस्थितियाँ अनेक विकसित देशों में मौजूद हैं और ये परिस्थितियाँ 'बेरोजगारी' की संकल्पना के प्रयोग को सम्भव बनाती हैं और बेरोजगार श्रमिकों की संख्या को आँकड़ों के आधार पर आँका जा सकता है। (संयुक्त राज्य अमरीका में अनेक अर्थशास्त्रियों

ने संरचनात्मक बेरोजगारी के अस्तित्व को उस समय तक अस्वीकार करने का प्रयास किया जब तक नैतिक और बौद्धिक भावोन्नयन नहीं हुआ और जब तक 1960 के बाद के आरम्भिक वर्षों में गरीबी की समस्या के प्रति लोगों में जागृति नहीं आयी।) इसके अलावा 'सुरक्षित श्रम शक्ति' की परिभाषा देना भी सम्भव है।

कम-विकसित देशों में स्थिति बिल्कुल भिन्न है। जो लोग स्वयं अपने धन्धों में लगे हैं, उनके द्वारा उत्पादक कार्य की सम्भावना के निर्माण अथवा श्रमिकों की माँग में वृद्धि, अपने-आपमें श्रमिकों अथवा श्रम शक्ति के वेहतर उपयोग का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती अथवा यह कार्य बहुत मामूली सीमा तक ही हो सकता है।[19]

नीति सम्बन्धी इन उपायों के पूरक के रूप में अन्य नीति सम्बन्धी उपाय करने होंगे, जिनका लक्ष्य केवल विनियोग और अधिक श्रमिकों की माँग में वृद्धि करना ही नहीं होगा, बल्कि दृष्टिकोण और संस्थाओं में और अक्सर रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन करना होगा। आर्थिक विश्लेषण और आयोजन में प्रयुक्त सामान्य सिद्धान्तों और नमूनों से गैर-आर्थिक कारकों को निकाल देने से इस मामले में हमारी यथार्थ सम्बन्धी संकल्पना गम्भीर रूप से विकृत बन गयी है।

एशियन ड्रामा में मैंने 'वेरोजगारी'—और अर्द्ध-बेरोजगारी—की संकल्पना को दक्षिण एशिया के यथार्थ की दृष्टि से पूरी तरह अपर्याप्त मानकर त्याग दिया था और श्रम के उपयोग के अपने विश्लेषण को सीधी-सादी व्यवहार सम्बन्धी संकल्पनाओं पर आधारित किया था, जिनका सम्बन्ध प्रेक्षण योग्य तथ्यों से है: कौन से लोग काम करते हैं; दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष के किस भाग में कितने समय के लिए वे काम करते हैं और वे कितनी तीव्रता और प्रभावशालिता से काम करते हैं।[20]

सामान्य मुद्दा, जिसे यह उदाहरण देकर मैंने अधिक स्पष्टता से समझाने का प्रयास किया है, यह है कि रोटी तैयार हो जाने के बाद चूल्हे में खमीर फेंकना सम्भव नहीं है। गैर-आर्थिक कारकों को कथित शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त से इस प्रकार नहीं जोड़ा जा सकता। सच्चे संस्थागत दृष्टिकोण में उन संकल्पनाओं को अपने समक्ष रखा जाना चाहिए, जो आरम्भ से ही यथार्थ के अनुरूप हों अर्थात् समस्या के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करने में ही यह होना चाहिए।[21]

दूसरे महायुद्ध के बाद के सतही दृष्टिकोण का समर्थन करने वाले बड़े शक्तिशाली हित मौजूद हैं और यह दृष्टिकोण गैर-आर्थिक कारकों की उपेक्षा कर निर्धारित किया गया है। शीतयुद्ध और इसके परिणामस्वरूप अवसरवादी प्रवृत्तियों के जन्म के बावजूद, विकसित देशों के लोगों ने, अपनी सभ्यता की महान् मानवतावादी परम्परा के अनुसार, संकट में फँसे लोगों के उद्धार के प्रति आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है। संकटग्रस्त लोगों की परिस्थितियों के प्रति उन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के दवाव के कारण यह चेतना बढ़ी, जो दूसरे महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति में हुए।

यह स्पष्ट है कि कम-विकसित देशों के विकास के प्रयासों में सहायता पहुँचाने की कोशिश करते समय हमारे समक्ष जो समस्याएँ आती हैं, वे उस स्थिति में बेहद सरल और आसानी से सुलझाई जा सकने योग्य बन जायेंगी, यदि हमारे अनुसन्धान का दृष्टिकोण व्यावहारिक हो। इस स्थिति में सहायता देना हमारे लिए कम महँगा पड़ेगा। और जैसाकि मैं कह चुका हूँ, समस्त स्वार्थों के बावजूद हमारी यह निष्ठापूर्ण आशा है कि ये देश अपने विकास के प्रयासों में सफल होंगे।

हम अर्थशास्त्री इन भावनाओं में सहभागी हैं और इसके साथ ही हम उन निहित स्वार्थों को भी देख सकते हैं, जो उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिपके रहने की प्रेरणा देते हैं, जिसके आधार पर हमें स्वयं अपने देशों में इतनी अधिक सफलता मिली है। प्रक्रिया सम्बन्धी कट्टरता से जो आशापूर्ण पूर्वाग्रह उत्पन्न होते हैं, उनसे केवल पश्चिम के अर्थशास्त्री ही ग्रस्त नहीं हैं। कम-विकसित देशों के हमारे सहकर्मी भी, यदि अधिक नहीं तो कम से कम इन विचारों से इतने ही ग्रस्त हैं।

कम-विकसित देशों के इन अनेक अर्थशास्त्रियों को पश्चिम के विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण मिला है अथवा उन्होंने उन शिक्षकों से शिक्षा पायी है, जिनकी शिक्षा-दीक्षा पश्चिम में हुई। ये सब लोग पश्चिमी परम्परा के महान् आर्थिक साहित्य से प्रभावित हैं। पश्चिमी परम्परा में जिन सिद्धान्तों का जन्म हुआ है, उनकी जानकारी और उनके अनुसार काम करने की योग्यता से इन लोगों को स्वयं अपने देशों और विदेशों में भी सम्मान मिला है।

पश्चिम के पूर्वाग्रहों अथवा रुझानों में हिस्सा बटाने की उनकी प्रेरणा उनके राजनीतिक दृष्टिकोणों से पर्याप्त स्वतन्त्र है। इनमें अधिक आमूल परिवर्तनवादी निश्चय ही योजनाबद्ध विकास की तेजी से सफलता में विश्वास करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर देना होगा कि बुनियादी संकल्पनाओं और सैद्धान्तिक विकास सम्बन्धी नमूनों का जो इस्तेमाल कम्युनिस्ट देशों में हो रहा है और इन देशों में इनके प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है, वह पश्चिम के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है।

हमें मार्क्स की इस मान्यता को भी स्मरण रखना चाहिए—जिसे आज पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने व्यापक रूप से अपनाया है, यद्यपि वे सामान्यतया इसके मूल स्रोत का उल्लेख नहीं करते और अक्सर उन्हें इस बात का ज्ञान भी नहीं होता—कि औद्योगीकरण और पूँजी विनियोग के प्रभाव सामान्यतया (अन्ततः मार्क्स द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन 'उत्पादन के तरीकों' के बारे में ही हैं) अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में अधिक तेजी से फैलते हैं और संस्कृति के समस्त 'विराट् ढाँचे' का निर्धारण करते हैं, जिनमें दृष्टिकोण और संस्थाएँ भी शामिल हैं।[22]

यह मान्यता निश्चय ही दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अधिक प्रकट रूप से ग्राह्य बना देती है। लेकिन यह यथार्थवादी नहीं है। यथार्थ में औद्योगीकरण के 'प्रसारात्मक प्रभाव' रहन-सहन के स्तर का एक अंग हैं, विशेषकर शिक्षा की सुविधाओं का उपलब्ध होना और उनका उपयोग, तथा वर्तमान दृष्टिकोणों और संस्थाओं का अस्तित्व। और यही कारण है कि कम-विकसित देशों में ये प्रभाव सामान्यतया धीमी गति से फैलते हैं और अपूर्ण होते हैं।[23]

पुरातनपंथी और कम-विकसित देशों के विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग दृष्टिकोणों और संस्थाओं के बारे में कम से कम सुनना ही पसन्द करते हैं, जिन्हें तेजी से विकास के लिए आमूल रूप से बदलने की आवश्यकता है और वे इसी प्रकार निर्धन जनसमुदाय के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने के परिणामस्वरूप उत्पादकता पर पड़ने वाले प्रभाव की बात भी नहीं सुनना चाहते।

लेकिन कम-विकसित देशों के अर्थशास्त्रियों और अधिक व्यापक रूप से इन देशों के बुद्धिवादियों के बीच इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के लिए जो समर्थन मौजूद है, उसके बड़े गहरे कारण हैं। ऊपर हमने जिस समान रूप से अवसरवादी उपनिवेशी सिद्धान्त का विवरण प्रस्तुत किया है और इन लोगों की गरीबी और पिछड़ेपन तथा प्रगति की कमी का जो स्पष्टीकरण दिया है और इसके साथ ही प्रगति की बहुत अधिक सम्भावनाओं के प्रकट अभाव की भी जो बात कही है, उसे, जैसाकि स्वाभाविक था, कृपाभाव दर्शाने वाली, अपमानजनक और अरुचिकर अनुभव किया गया।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अपनाना उपनिवेशी सिद्धान्त के प्रति गहरे विरोध के भाव को प्रदर्शित करना समझा गया।[24] इस दृष्टिकोण ने उपनिवेशी सिद्धान्त के समस्त आपत्तिजनक तत्त्वों से तुरन्त छुटकारा दिलाया, जिसका विकास कम-विकसित देशों की पूरी तरह असहाय स्थिति को प्रमाणित करने के लिए किया गया था और इस प्रकार उपनिवेशी शक्तियों को इन देशों के पिछड़ेपन की जिम्मेदारी से मुक्ति दिला दी गयी थी। केवल इस निष्कर्ष को भुला देना भर राहत की बात नहीं थी, बल्कि उन मान्यताओं को भुला देना भी, जिनके आधार पर इसका निर्माण हुआ था।

वस्तुत: जातीय सिद्धान्त का अन्तर्धान हो जाना, स्पष्ट रूप से प्रगति का सूचक है, क्योंकि इस सिद्धान्त का कोई भी वैज्ञानिक औचित्य नहीं था। इससे भी अधिक गम्भीर बात जलवायु सम्बन्धी तत्त्वों की पूर्ण उपेक्षा की है, जिसे उपनिवेशी सिद्धान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। विकसित देशों में, जो सब जलवायु की दृष्टि से सामान्य क्षेत्रों में हैं, जलवायु के अन्तर ने आर्थिक दृष्टि से कभी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं किया और इस कारण से इस पर विचार की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। लेकिन गर्म और अर्द्ध-गर्म क्षेत्रों में यह बात सही नहीं है, जहाँ कम-विकसित देश स्थित हैं। (देखिए अध्याय-2)[25]

लेकिन जलवायु सम्बन्धी तत्त्वों के प्रकट महत्त्व के बावजूद विकास की कमी, विकास और योजनाएँ बनाने सम्बन्धी लेखन में अब इसका उल्लेख तक नहीं किया जाता और यह कार्य दूसरे महायुद्ध के दृष्टिकोण के अनुरूप किया जा रहा है। आप सैकड़ों पुस्तकें और लेख पढ़ने के बाद भी 'जलवायु' शब्द का उल्लेख तक नहीं पा सकते।

उपनिवेशी सिद्धान्त में दृष्टिकोणों और संस्थाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था, यद्यपि इनका अनुशीलन बहुत ही अपरिष्कृत और अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त तरीके से किया गया था। लेकिन अब दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में इन्हें पूरी तरह निकाल बाहर किया गया है, विशेषकर योजनाओं में प्रतिबिम्बित आर्थिक नमूनों के निर्माण में।[26]

अधिकांश कम-विकसित देशों में भ्रष्टाचार में वृद्धि और इसका राष्ट्रीय

सुदृढ़ता तथा समस्त आयोजन और योजना के लक्ष्य पूरा करने पर जो अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ता है (देखिए अध्याय 7) उसका विकास की कमी, विकास और विकास के लिए आयोजन सम्बन्धी आर्थिक साहित्य में यदा-कदा ही उल्लेख होता है। जब कभी इसकी ओर ध्यान दिया जाता है तब भी अक्सर इसके महत्त्व को कम दर्शा कर प्रस्तुत किया जाता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में जिन तत्त्वों को छोड़ दिया गया है, कभी-कभी व्यवहार-विज्ञान के लेखक उन तत्त्वों पर विचार करते हैं अथवा ऐसे व्यक्ति उन तत्त्वों पर विचार करते हैं जो सामुदायिक विकास, कृषि विस्तार अथवा परिवार नियोजन जैसी समस्याओं के सम्बन्ध में काम करते हैं। ये विषय बिल्कुल अलग-थलग होते हैं। इनका उल्लेख विशेष पुस्तकों, लेखों और योजनाओं के अलग अध्यायों में होता है। यदा-कदा ही—और प्रभावशाली ढंग से कभी नहीं—विकास में इनके महत्त्वपूर्ण योगदान और स्थान पर उस तरीके से विचार होता है, जो आर्थिक सिद्धान्तों और उनमें निहित मान्यताओं को चुनौती दे सके।

उपनिवेशी सिद्धान्त का अक्सर जिस रूप में प्रतिपादन किया जाता था और यह मुक्त व्यापार के निष्कर्षों को जिस ढंग से तर्कसम्मत बनाने का प्रयास करता था, उसे ध्यान में रखते हुए कम-विकसित देशों के बुद्धिवादियों का इस विचार-प्रक्रिया के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन समझा जा सकता है। इसी प्रकार उस शक्तिशाली भावनात्मक प्रेरक शक्ति को भी समझा जा सकता है, जिसने उन्हें युद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

उपनिवेशों की राजनीतिक स्वाधीनता के व्यापक राजनयिक वातावरण में विकसित देशों के अर्थशास्त्रियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उपनिवेशी सिद्धान्तों के प्रति कम-विकसित देशों के बुद्धिवादियों के विरोध-प्रदर्शन अथवा विरोध के भाव के प्रति सहानुभूति रखें।

यह प्रतिक्रिया इस सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप भी थी कि भद्दी समस्याओं से बचा जाये और अनुसन्धान में राजनय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक वस्तु को सर्वाधिक आशाप्रद ढंग से देखा जाये। रहन-सहन के अत्यधिक नीचे स्तरों के परिणामस्वरूप उत्पन्न दृष्टिकोणों, संस्थाओं और उत्पादकता की उपेक्षा करते हुए, वे लोग गैर-विवेचनात्मक ढंग से एक ऐसा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपना सकते थे, जिससे वे परिचित थे और जिस पर उन्होंने आसानी से अधिकार प्राप्त कर लिया था।

इस प्रकार पूर्वाग्रह की समस्त शक्तियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहीं और एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करती रहीं और इस प्रकार इन शक्तियों ने विकास की कमी, विकास और आयोजन के अध्ययन के दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को दृढ़ आधार पर स्थापित करने में सहायता दी। पूर्वाग्रह अब एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच चुका था।

इस दृष्टिकोण को अपना समर्थन देने वाले उन निहित स्वार्थों के क्षेत्र के

इस खाके से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी आलोचना का प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में विरोध किया जायेगा। इन निहित स्वार्थों के साथ अर्थशास्त्र में वैज्ञानिक विचार प्रक्रिया की गतिहीनता और पुरातनपंथी दृष्टिकोण को भी जोड़ दिया जाना चाहिए, जब कभी प्रश्न सिद्धान्तों के स्वरूप का हो और केवल इस ढाँचे के भीतर किसी विशेष व्यवस्था का नहीं।[27] हमारी व्यापकतम संकल्पनाओं और पूर्व-कल्पनाओं के समान शक्तिशाली अन्य कोई निहित स्वार्थ नहीं होता।

इस प्रकार कम-विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं के प्रति वर्तमान पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के विरुद्ध वैज्ञानिक विद्रोह, वस्तुतः शक्तिशाली 'प्रतिष्ठान' के विरुद्ध है, जिसमें प्रभावशाली निहित स्वार्थ गहराई से जमे हुए हैं और ये निहित स्वार्थ उन अधिकांश लोगों के हैं, जो इन समस्याओं के अध्ययन अथवा समाधान में लगे हैं। चाहे वे लोग यह कार्य अध्ययनकर्ताओं के रूप में अथवा राजनीतिक और व्यावहारिक रूप में क्यों न कर रहे हों।

इसके बावजूद मैं यह निश्चयपूर्वक अनुभव करता हूँ कि कम-विकसित देशों की परिस्थितियों के बारे में जो बड़े पैमाने पर अनुसन्धान हो रहे हैं, वे 10-15 वर्ष के समय में एक ऐसे पूरी तरह नये दृष्टिकोण की आवश्यकता को प्रकट करेंगे, जिसे मैं समस्याओं की संस्थागत संकल्पना कहता हूँ।[28]

यथासमय यह एक वैसा ही बुनियादी परिवर्तन होगा, जैसा उपनिवेशी सिद्धान्त से दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में हुआ था। हमें उन अधिकांश तरीकों को त्यागना होगा, जिन्हें अर्थशास्त्रियों के मध्य अक्सर गलत ढंग से 'परिष्कृत' तरीके कहा जाता है। इसी प्रकार बहुत कठोर तथा अनावश्यक सूक्ष्मता को भी त्यागना होगा, पर बुनियादी मान्यताओं और संकल्पनाओं की परिभाषा के सम्बन्ध में नहीं, क्योंकि दूसरे महायुद्ध के बाद के परम्परागत दृष्टि-कोण में यहीं अधिक लापरवाही बरती गयी है।[29]

मेरा विश्वास इस आस्था पर निहित है कि अनुसन्धान में आत्मशुद्धि की क्षमता निहित होती है।[30] तथ्य बहुत प्रभावशाली ढंग से अपनी बात कहते हैं और उस स्थिति में भी यह कार्य करते हैं—यद्यपि कुछ विलम्ब होता है—जब आवश्यक जानकारी और आँकड़े सर्वप्रथम उन कोटियों के अन्तर्गत एकत्र किये जाते हैं, जो अनुसन्धान में लागू पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप होती हैं, लेकिन यथार्थ को उजागर करने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होतीं। कम से कम मेरे अपने अनुसन्धान का यही अनुभव रहा है।

•

लम्बे अरसे से समाजशास्त्र और आचरण सम्बन्धी विज्ञानों के शोधकर्ता हम अर्थशास्त्रियों को यह चेतावनी देते आ रहे हैं कि हमें अमुक-अमुक बातों को नहीं भुलाना चाहिए। इसके बाद उन लोगों ने अपने लिए अध्ययन का एक नया क्षेत्र तैयार किया है। ये लोग एक-दूसरे का उद्धरण देते हैं। अपनी अनावश्यक रूप से झक्कीपन से भरी शब्दावली विकसित करते हैं और समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हम अर्थशास्त्रियों को अधिक विचलित नहीं कर पाते। वस्तुतः उन्होंने कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं सम्बन्धी हमारे

प्रमुख दृष्टिकोण को चुनौती देने का कभी भी साहस नहीं दिखाया। और इन समस्याओं के समाधान के लिए वैकल्पिक मैक्रो-सिद्धान्त (समष्टि भाव सिद्धान्त) तैयार करने के लिए तो इतना भी नहीं किया।

उन परम्पराओं के अनुरूप जो अब दो शताब्दियों से अधिक पुरानी हो चुकी हैं, हम अर्थशास्त्रियों का कुछ सीमित, लेकिन सामाजिक दृष्टि से उपयोगी रुझान होता है; हम स्वाभाविक रूप से एक पूरे देश की पूरी तस्वीर और वस्तुतः पूरे संसार की तस्वीर अपने सामने रखने की जिम्मेदारी स्वीकार करते हैं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के गतिशील सन्दर्भ में सोचने की जिम्मेदारी का निर्वाह करते हैं। आप किसी भी अर्थशास्त्री को किसी कम-विकसित देश की राजधानी में बैठा दीजिए और उसे आवश्यक सहायता दीजिए और जल्दी ही वह एक योजना प्रस्तुत कर देगा। इस दृष्टि से हमारी समस्त सामाजिक वैज्ञानिकों के मध्य विलक्षण स्थिति है। कोई भी समाजशास्त्री, मनोविज्ञानी अथवा नृवंश-विज्ञानी यह प्रयास करने की कल्पना भी नहीं कर सकता।

और इस कारण से— तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के हमारे सहयोगियों के समस्त अनुसन्धानों का स्वागत करते हुए— मेरा अर्थशास्त्रियों के व्यवसाय में यह विश्वास है कि एक बार जब उन्हें उचित जानकारी मिल जाती है और जब वे दृष्टिकोणों, संस्थाओं और उत्पादकता पर रहन-सहन के स्तर के प्रभावों को समझ लेते हैं, विशेषकर उन स्थानों पर, जहाँ रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है, वे अपने समस्त अध्ययनों और अनुसन्धानों में इसकी अनिवार्य आवश्यकता को भी समझ लेते हैं।[31]

किसी राज्य को किन वस्तुओं की आवश्यकता है, और राजनीति क्या है, वस्तुतः एक मैक्रो योजना होती है, जिसे अनेक परिस्थितियों में एक साथ परिवर्तन लाने के लिए लागू किया जाता है। ये परिस्थितियाँ केवल आर्थिक ही नहीं होतीं और यह कार्य इस प्रकार किया जाता है कि इन सब परिवर्तनों का इस दृष्टि से समन्वय किया जा सके कि प्रयासों और बलिदानों का अधिकतम विकास सम्बन्धी लाभ मिल सके। लोकप्रिय शब्दावली में हम यह कह सकते हैं कि आयोजन अथवा योजनाबद्ध विकास की यही परिभाषा होनी चाहिए।

अक्सर, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अर्थशास्त्री अपने परम्परागत और संकीर्ण क्षेत्र के बाहर के विचारों को ग्रहण करने और उदारमना बनने के लिए बड़े उत्सुक दिखायी पड़ते हैं। अत्यधिक उदार शर्तों और मान्यताओं का उल्लेख करने के बाद वे सदा की तरह शुद्ध 'अर्थशास्त्र' की शब्दावली में तर्क करने लगते हैं।

इन अर्थशास्त्रियों के संशयों और शर्तों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में जिस प्रकार की आलोचना हुई है—और जिसे एशियन ड्रामा में अधिक व्यापक रूप से प्रस्तुत किया गया है—उसके प्रति उनकी प्रति-क्रिया मुख्यतः यह होगी कि लेखक समय से पीछे है और वह खुले दरवाजों के भीतर घुसने का प्रयास कर रहा है। उसे एक 'समाजशास्त्री' की संज्ञा भी दी जा सकती है, जो एक ऐसा शब्द है, जिसे एक सच्चे अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तकार के लिए कुछ अपमानजनक ही माना जा सकता है। पर यह निश्चित है कि यह एक ऐसा शब्द है, जिससे उन बाहरी लोगों की ओर संकेत किया जाता है जो आर्थिक सिद्धान्तकार के अमूर्त आर्थिक नमूनों के परिष्कृत स्वरूप को नहीं समझ पाते।

परिष्कार के इस स्वाँग के साथ अक्सर विचारों के इतिहास और विज्ञान के दर्शन और सामाजिक दृष्टिकोण की बहुत कम जानकारी भी जुड़ी होती है। अतः अनुसन्धान में पूर्वाग्रहों की भूमिका की समस्या को उठाना एक ऐसी बात है, जिसकी लोग बिना समझे ही उपेक्षा कर बैठते हैं।

हाल के दशकों में सामाजिक समस्याओं की जानकारी और सूझ-बूझ में यह जो खामी रही है, उसे अर्थशास्त्रियों को प्रशिक्षण देने के तरीकों से बल मिला है। पहले महायुद्ध के समय तक प्रायः कोई भी व्यक्ति एक अर्थशास्त्री के रूप में अपना विद्वत्-कार्य शुरू नहीं करता था। वह इससे पहले के युग में व्यावहारिक कार्यों में लगा व्यक्ति होता था, जो अपनी प्रौढ़ावस्था में अर्थशास्त्र में दिलचस्पी लेने लगता था। अथवा वह एक ऐसा व्यक्ति होता था, जिसे गणितज्ञ, नैतिक, दार्शनिक, वकील, इतिहासकार आदि के रूप में पहले प्रशिक्षण प्राप्त हुआ हो।

उस समय अर्थशास्त्री कभी भी शुद्ध अर्थशास्त्रियों के रूप में कार्य शुरू नहीं करते थे, जबकि अब लगभग आधी शताब्दी से यह सामान्य बात बन गयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि एक विद्यार्थी को उस समाज की बेहद आंशिक जानकारी रहते हुए ही एक प्रोफेसर बन जाने का अवसर मिला, जिसका वह अध्ययन कर रहा था।

दुर्भाग्यवश, यह सच नहीं है कि कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में पहले ही सुधार हो चुका है, और अब इसकी आलोचना करने की कोई तुक नहीं है। निरन्तर और नियमित रूप से आर्थिक विकास की समस्याओं के बारे में यह सोचा जाता है कि इसका मूल भौतिक विनियोग में निहित है, यदाकदा इसके लिए तकनीकी कुशलताओं, प्रबन्ध के अनुभव आदि की भी जरूरत होती है। राष्ट्रीय अथवा औसत आय, बचत, रोजगार और बाजारों, दामों और तकनीकी गुणांकों के सन्दर्भ में रोजगार और उत्पादन की शब्दावली में लगातार तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं और इस बात के प्रति अधिक चिन्ता नहीं दिखायी जाती कि इन देशों में इन शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है और आँकड़ों की किस जादूगरी से इनका निर्धारण किया गया है।

हाल के वर्षों में बुनियादी दृष्टिकोण की यह कट्टरता उस समय विशेष रूप से प्रकाश में आयी जब अर्थशास्त्रियों की एक टोली ने विकास के लिए शिक्षा के महत्त्व का पुनरनुसन्धान किया।[32] यह वस्तुतः शिक्षाशास्त्रियों अथवा आर्थिक इतिहासकारों के लिए कोई नयी बात नहीं है और एडम स्मिथ से लेकर एलफ्रेड मार्शल तक के सब पुरातन और नव-पुरातन अर्थशास्त्रियों ने इस बात के महत्त्व को समझा और उसे प्रकट किया है। अब जब यह बात अर्थशास्त्रियों के लिए एक अनुसन्धान बन गयी है तो इसका सीधासादा स्पष्टीकरण यही है कि हमारे पेशे के लोगों ने इस बात को भुला दिया था, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के बाद, उस समय से जब अपने विकास सम्बन्धी नमूनों में हम केवल 'आर्थिक' दृष्टि से और विशेष रूप से भौतिक विनियोग की दृष्टि से ही विचार करने लगे थे।

इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि अर्थशास्त्रियों का यह नवीनतम सम्प्रदाय—जो अपने योगदान को आर्थिक सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण नवीकरण के रूप में देखने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करता—पर्याप्त आमूल परिवर्तनवादी नहीं है। वस्तुतः वे स्वयं को निवेश की संकल्पना को और व्यापक

वनाने तक ही सीमित रखते हैं—जिसे उस समय तक भौतिक निवेश के रूप में ही समझा जाता था—और यह कार्य पूँजी-उत्पादन के नमूनों के सन्दर्भ में इस संकल्पना को व्यापक वनाकर किया जाता है, ताकि इसमें 'मनुष्य के रूप में निवेश' को भी शामिल किया जा सके। अन्यथा यह नमूना, जो दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के लिए बड़े बुनियादी महत्त्व का है, सदा की तरह अपरिवर्तित और सर्वोपरि छोड़ दिया गया है। विशेष रूप से कम-विकसित देशों के सम्बन्ध में, शिक्षा का यह वित्तीय दृष्टि से निवेश और उत्पादन पर आधारित विवेचन निरर्थक है।

एडम स्मिथ और एल्फ्रेड मार्शल कभी भी यह बात नहीं सोच सकते थे क्योंकि वे संस्थावादी थे। मार्शल ने तो शिक्षा के कारक को निवेश और उत्पादन की वित्तीय शब्दावली में रूपान्तरित करने के खतरे के प्रति चेतावनी भी दी थी। इस प्रकार के मूल्यांकन से विकास में शिक्षा के योगदान की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्या सम्बन्धी व्यावहारिक और उचित अनुसन्धान के मार्ग में बाधा ही पड़ सकती है (देखिए अध्याय—6)।

इस समस्या पर बुनियादी तौर पर शिक्षा के स्वरूप और इसके दृष्टिकोणों तथा संस्थाओं पर पड़नेवाले प्रभाव के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है, और विशेष रूप से आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निर्मित विभिन्न स्तरों और इन तत्त्वों का स्वयं शिक्षा पर क्या प्रभाव होता है, इस सन्दर्भ में विचार किया जा सकता है। विकास में शिक्षा के योगदान की यही वास्तविक समस्याएँ हैं, जिनसे मनुष्य के रूप में विनियोग के फार्मूले में वस्तुतः वचने का प्रयास किया जाता है।

इस वीच कम-विकसित देशों के लिए निरन्तर योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। इन पर विचार हो रहा है और आगे चलकर इनका वित्तीय योजनाओं के रूप में, वस्तुतः सार्वजनिक निवेश के लिए वित्तीय योजनाओं के रूप में मूल्यांकन किया जाता है।[33] अब क्योंकि विकास के लिए नीति सम्बन्धी जिन अधिकांश उपायों की आवश्यकता होती है, चाहे ये उपाय कार्यन्वयन सम्बन्धी छोटी अवधि के उपाय हों अथवा दृष्टिकोणों या संस्थागत ढाँचे में परिवर्तन का संकेत देते हुए अधिक स्थायी स्वरूप के हों, उनका वित्तीय अर्थों में लागत और लाभ से सर्वाधिक संयोग-वश ही सम्बन्ध होता है और यही बात वित्तीय निवेश बजट के वारे में भी सही है। इस बात से वास्तविक आयोजन के विना ही योजना वना लेने की सम्भावना का संकेत मिलता है।

वस्तुतः एक वित्त बजट की आवश्यकता सार्वजनिक प्रशासन और सार्व-जनिक व्यय को व्यवस्थित ढंग से चलाने और नियन्त्रित रखने के लिए होती है और अगले कई वर्षों के लिए यह बजट तैयार करना वस्तुतः युक्तिसंगत है। लेकिन इस प्रकार के 'आयोजन' को वास्तविक योजना अथवा आयोजन का आधार तक नहीं माना जा सकता, जिसके भीतर हर प्रकार की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में प्रेरित परिवर्तन निहित होने चाहिए और ये परिवर्तन समन्वित तरीके से लागू किये जाने चाहिए।

एक संचय प्रक्रिया की चक्राकार कारणता में होनेवाले विभिन्न परिवर्तनों के पारस्परिक सम्बन्धों के गुणांकों की जानकारी न होना[34] इस बात की सफाई पेश नहीं कर सकता कि इसके स्थान पर सरल आर्थिक शब्दावली में किसी नमूने

को प्रस्थापित कर दिया जाये। यह आर्थिक नमूना अधिकांशतया वित्तीय और मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं तक ही सीमित रखा जाता है। यह बात इस दृष्टि से विशेष रूप से होती है, क्योंकि कम-विकसित देशों में दृष्टिकोण, संस्थाएँ और रहन-सहन के स्तर विकसित देशों की तुलना में बहुत अधिक महत्त्व के होते हैं।[35]

एशियन ड्रामा और प्रस्तुत पुस्तक में संस्थागत दृष्टिकोण की जो चर्चा की गयी है, उसे स्पष्ट करने के लिए एक सामान्य टिप्पणी आवश्यक है।[36] दूसरे महायुद्ध के बाद का एक ऐसा अर्थशास्त्री जो परम्परागत तरीकों में विश्वास रखता हो, यह निश्चय ही विश्वास करेगा कि उसका दृष्टिकोण 'मात्रात्मक' है, जबकि संस्थावादी का दृष्टिकोण 'गुणात्मक'। पर वस्तुतः यह बात सत्य के विपरीत है।

संस्थावादी का दृष्टिकोण उसे अनुसन्धान के लिए और अधिक प्रेरित करता है और यह ऐसा अनुसन्धान होता है जो उसके सिद्धान्तों को मात्रात्मक सूक्ष्मता प्रदान कर सकता है और उन्हें बुनियादी कसौटी पर कसने के योग्य बना सकता है। अब क्योंकि वह बुनियादी तौर पर अधिक समालोचनात्मक दृष्टि रखने वाला होता है अतः वह नियमित रूप से यह देखता है कि परम्परागत तरीकों में विश्वास रखने वाले अर्थशास्त्री का मात्रात्मक सूक्ष्मता का दावा अनावश्यक होता है और अक्सर तर्कसम्मत आधार पर यह बात कही जा सकती है।

यह बात भी नहीं है कि संस्थावादी 'नमूनों के प्रति विरोध का भाव' रखता हो।[37] नमूनों का निर्माण वैज्ञानिक अनुसन्धान का एक सार्वभौम तरीका है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार ज्ञान को ठोस आधार पर स्थापित करना अनुसन्धान का प्रकट रूप से स्पष्ट लक्ष्य होता है। लेकिन समालोचनात्मक दृष्टि अपनाये बिना हवा में, संकल्पनाओं के आधार पर नमूनों का निर्माण, और जो संकल्पनाएँ यथार्थ के सन्दर्भ में अपर्याप्त हों और तर्क की कसौटी पर भी खरी न उतरती हों, और इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति का स्वाँग करना जब वस्तुतः ऐसा कोई ज्ञान प्राप्त न हुआ हो, वैज्ञानिक प्रगति का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि यह बौद्धिक धोखाधड़ी के समीप की बात होती है।

यह मूल्यांकन कम-विकसित देशों की ओर संकेत करता है और यही बात सामान्यतया एशियन ड्रामा और प्रस्तुत पुस्तक में कही गयी है। विकसित देशों के लिए इकोनोमैट्रिक (अर्थमिति) माडल, चाहे वे मेक्रो (समष्टिभाव) किस्म के ही क्यों न हों और इनका सम्बन्ध पूरे देश से हो, उस समय की तुलना में आज अधिक सम्भव और उपयोगी हैं जब एल्फ्रेड मार्शल ने उन्हें अव्यावहारिक कहकर उनकी निन्दा की थी। आँकड़ों के माध्यम से उपलब्ध सामग्री अधिक पूर्ण और अधिक विश्वासयोग्य है। आर्थिक विश्लेषण में 'गैर-आर्थिक' कारक इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्हें जानबूझकर इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है अथवा ये जल्दी ही इस प्रकार व्यवस्थित हो जाते हैं ताकि आर्थिक आवेग प्रवाहित हो सकें। कम-विकसित देशों में विपरीत बात सच है।[38]

मूल्य सम्बन्धी स्पष्ट मान्यताओं के आधार पर काम करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में, मैं इस संदर्भ में संक्षेप में विचार करूँगा और अपनी इससे पहले की रचनाओं का हवाला दूँगा। यह उल्लेखनीय है कि मूल्य सम्बन्धी ये स्पष्ट मान्यताएँ ऐसी हैं, जिनकी सार्थकता, महत्त्व और सम्भाव्यता को कसौटी पर कसा जा चुका है।[39]

आर्थिक सिद्धान्त में एक परम्परा है, जिसकी स्थापना जान स्टुआर्ट मिल ने अपनी आरम्भिक रचनाओं में की थी, कि व्यावहारिक और राजनीतिक निष्कर्ष निकालने के लिए तथ्यों के ज्ञान को मूल्य सम्बन्धी निश्चित मान्यताओं से समन्वित किया जाना चाहिए। विशिष्ट वात यह है कि आर्थिक सिद्धान्त के समस्त इतिहास में आज तक इस नियम का कभी भी पालन नहीं किया गया, यद्यपि विषय-प्रवेश और भूमिका में अक्सर इसका उल्लेख किया गया है। अर्थशास्त्रियों ने सदा अपने नीति सम्बन्धी निष्कर्ष अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख किये विना ही निकाले हैं और वे आज भी यही कर रहे हैं।

स्वयं अपने द्वारा निर्धारित प्रक्रिया सम्बन्धी नियम से स्वयं को मुक्त कर लेने की अपनी विलक्षण योग्यता को 'निरपेक्ष' दर्शाने के लिए उन्होंने एक तथाकथित निरपेक्ष मूल्य सिद्धान्त और एक हितकारी सिद्धान्त का निर्माण किया है। इन सिद्धान्तों की मान्यताओं में उस सुखवादी मनोविज्ञान तथा उपयोगितावादी आध्यात्मिक और नैतिक दर्शन के तत्वों का समावेश है, जो अब पुराने हो चुके हैं। यह उपयोगितावादी दर्शन इससे भी कहीं अधिक पुराने नैसर्गिक नियम के दर्शन की विस्तृत पुनरावृत्ति भर है। इसके अलावा इन सिद्धान्तों में कोई सार नहीं है।

इसके साथ यह तथ्य भी जुड़ा है कि तथ्यों और तथ्यात्मक सम्बन्धों विषयक जानकारी को निर्धारित करने के सैद्धान्तिक चरण में भी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं की आवश्यकता होती है। उत्तर तभी दिये जाते हैं जब पहले प्रश्न उठाये गये हों। किसी दृष्टिकोण के विना किसी दृष्टि को अथवा विचार को प्रस्तुत करना असम्भव है। 'आप किस स्थान पर खड़े हैं, इसके अनुसार चीजें अलग-अलग शक्ल की दिखायी पड़ती हैं।'

कभी भी 'दिलचस्पी से रहित' समाज-विज्ञान का अस्तित्व नहीं था और ऐसा विज्ञान कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकता और इसके तर्कसम्मत कारण हैं। सत्य के अन्वेषण में मूल्यांकन सदा निहित होता है, जिस प्रकार अन्य उद्देश्यपूर्ण आचरण में होता है। पर मूल्यांकन छिपा हो सकता है और यह भी सम्भव है कि अनुसन्धानकर्ता स्वयं को इससे अनभिज्ञ ही रखे। जैसाकि वे अस्पष्ट और अपरिभाषित रहकर करते हैं और इस प्रकार पूर्वाग्रहों के दरवाजे खोल देते हैं।

विपरीत दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तार्किकता हमें पूर्वाग्रहों से स्वयं को मुक्त रखने के लिए जो एकमात्र साधन प्रदान करती है, वह अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता है। इस कार्य की आवश्यकता उस स्थिति में और अधिक स्पष्टता से अनुभव की जायेगी, जब हम इस बात के प्रति कम बचकानापन प्रकट करें कि हमारे विज्ञान की परम्पराओं, जिस समाज का हम अंग हैं उसके प्रभावों, और वस्तुतः स्वयं हमारे अपने व्यक्तित्व से हमारे दृष्टिकोण प्रभावित और निर्धारित होने की प्रवृत्ति रखते हैं, क्योंकि स्वयं अपने व्यक्तित्व का हमारे व्यक्तिगत इतिहास और अनुभवों, हमारी मनोरचना तथा हमारी मनोवृत्तियों के आधार पर निर्धारण होता है।

एशियन ड्रामा में आधुनिकीकरण के आदर्शों को साधन-मूल्य-सम्बन्धी

मान्यताओं के रूप में प्रयुक्त किया गया है : तर्कनापरकता, विकास और विकास आयोजन, उत्पादकता में वृद्धि, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना, सामाजिक और आर्थिक समान स्तरीकरण, वेहतर अथवा सुधरी हुई संस्थाएँ और दृष्टिकोण, राष्ट्रीय सुदृढ़ता, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, छोटे-से-छोटे स्तर पर लोकतन्त्र और सामाजिक अनुशासन।[40]

ये सव मूल्य सम्वन्धी मान्यताएँ और अनेक ऐसी मूल्य सम्बन्धी मान्यताएँ, जिन्हें निष्कर्ष के रूप में प्राप्त किया गया है, तर्कसम्मत विचारक्रम के अनुसन्धान में एक-दूसरे से सम्बन्धित होती हैं और अध्ययन के दौरान ही वस्तुतः इन्हें अपनी सूक्ष्म परिभाषा प्राप्त होती है।[41] वास्तविक परिस्थितियाँ, सदा आदर्श से बहुत दूर होती हैं। अनुसन्धान के लिए इन आदर्शों को मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में प्रस्तावित करने का यह अर्थ होता है कि इन आदर्शों की प्राप्ति की दिशा में परिवर्तन आयोजन का वांछित लक्ष्य है।

आधुनिकीकरण के आदर्शों को मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में कम-विकसित देशों के अध्ययन के लिए अंगीकार करने का केवल यही कारण नहीं है कि व्यापक रूप से इन देशों की सरकारों ने और वस्तुतः इन देशों के अधिक प्रवुद्ध और अपनी वात कह पाने की क्षमता रखने वाले लोगों ने इन्हें लक्ष्य निर्धारित करने वाली नीति के रूप में स्वीकार किया है। बहुत से कम-विकसित देशों में इन आदर्शों ने प्रायः राज्य के धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया है।[42]

इस कारण के साथ यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भी जुड़ा हुआ है, विशेषकर आबादी की वर्तमान वृद्धि और भविष्य में भी इसकी वृद्धिदर में बढ़ोतरी को ध्यान में रखते हुए, कि आधुनिकीकरण के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए तेजी से कदम वढ़ाया जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार केवल प्रवाहहीनता अथवा विकास की कमी से ही नहीं बचा जा सकता, वल्कि यह न करने पर जल्दी अथवा देर से जन-समुदाय की वास्तविक भयानक निर्धनता बढ़ेगी और उनके कष्टों में भी वृद्धि होगी।

यह हो सकता है कि ये देश इन आदर्शों को पूरा करने में बहुत अधिक सफल न हों। लेकिन इस बात की ज़रा भी सम्भावना नहीं है कि फिर पुराने परम्परागत समाज की स्थापना हो सकती है। ये सव देश अब उस सीमा को पार कर गये हैं, जहाँ से पीछे लौटना असम्भव है।

यह लग सकता है कि आधुनिकीकरण के आदर्शों को मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में प्रस्तुत करना कम-विकसित देशों की समस्याओं का पश्चिम की दृष्टि से अथवा विकसित देशों में सामान्यतया मौजूद परिस्थितियों की दृष्टि से अध्ययन करना है। यह सच है कि विकसित देशों में उससे वहुत अधिक सीमा तक इन आदर्शों को पूरा कर लिया गया है, जिस सीमा तक बहुत लम्बे अरसे तक कम-विकसित देशों में पूरा करने की सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती।

पर मूल्य सम्वन्धी इन मान्यताओं का चुनाव इस अध्याय के प्रमुख प्रतिपादन के विपरीत दिखायी नहीं पड़ता : कि कम-विकसित देशों का अध्ययन उन बातों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए, जो वहाँ के यथार्थ के अनुरूप और पर्याप्त हों। और न दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की मेरी आलोचना के ही ये विरुद्ध हैं, जो विशाल जन-समुदायों के बहुत नीचे रहन-सहन के स्तर के कारण उत्पन्न

दृष्टिकोणों, संस्थाओं और उत्पादकता के परिणामों की उपेक्षा करता है।[43] मूल्य सम्बन्धी मान्यताएँ, केवल उस दृष्टिकोण का निर्धारण करती हैं, जिससे यथार्थ का अध्ययन किया जा सकता है। लेकिन यह दृष्टिकोण इस बात का निर्धारण नहीं करता कि प्रेक्षण और विश्लेषण की परिधि के भीतर कौन-से तथ्य और वास्तविक सम्बन्ध आते हैं। यह मेरा विश्वास है कि आर्थिक अध्ययन इतना व्यापक होना चाहिए कि स्वयं को यथार्थ के अनुरूप सिद्ध कर सके और यह भी कि यह यथार्थ कम-विकसित देशों में विकसित देशों से बहुत भिन्न है। मूल्य सम्बन्धी कोई भी मान्यता यह नहीं कहती कि अध्ययन यथार्थ और अधिकतम सीमा तक तर्कनापरक नहीं होना चाहिए।

इस आरम्भिक अध्याय में एक अन्तिम बात कहना आवश्यक होगा। अनेक क्षेत्रों में यह कहा गया है कि कम-विकसित देशों सम्बन्धी अनुसन्धान और उनके लिए योजनाएँ तैयार करने में आधुनिकीकरण के आदर्शों को लागू करना एक गलती होगी।

यह बात जोर देकर कही गयी है कि ये मूल्यांकन[44] कम-विकसित देशों के लिए अपरिचित अथवा अजनबी बात हैं। इनका जन्म पश्चिम के विकसित देशों और कम्युनिस्ट देशों में हुआ है। यह भी कहा जाता है कि कम-विकसित देशों को स्वयं अपने परम्परागत मूल्यांकनों के अनुसार विकास करने की छूट होनी चाहिए।

यह मत जिस प्रकार व्यक्त किया जाता है, उससे पुराने और स्थिर नृवंश-विज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोण की याद हो आती है, जिसमें परिवर्तनों को 'गड़बड़' के रूप में देखने की प्रवृत्ति मौजूद रहती थी।

मेरा विश्वास है कि अनेक कारणों से यह मत गलत है। एक बात तो यह है कि परम्परागत मूल्यांकनों का लक्ष्य परिवर्तनों को प्रेरित करना नहीं है। वे स्थिर और गतिहीन हैं। अतः उनका स्वरूप ऐसा नहीं है कि उनका उपयोग आयोजन के लक्ष्यों को निर्धारित करने में किया जा सके।[45]

इस प्रकार हम आधुनिकीकरण के आदर्शों की प्रतियोगितात्मक शक्ति पर आते हैं, जिसे तर्कनापरक सिद्धान्त के अन्तर्गत संगठित किया गया है। जैसे ही विकास की स्थापना एक निश्चित लक्ष्य के रूप में होती है, आधुनिकीकरण के आदर्शों को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जब यह अनुभव किया जाता है कि आबादी में वर्तमान और भावी अनुमानित वृद्धि को देखते हुए आर्थिक गतिहीनता और यहाँ तक कि आर्थिक अवनति को रोकने के लिए आधुनिकीकरण के आदर्शों की प्राप्ति की ओर अधिक तेजी से प्रगति की जानी चाहिए, तो इस बात को और अधिक बल मिलता है।

इतना ही नहीं, जब परम्परागत मूल्यांकनों को एक अधिक 'ऊँचे', एक अधिक स्पष्ट स्तर पर लाया जाता है तो यह दिखायी पड़ता है कि ये आधुनिकीकरण के आदर्शों के विपरीत नहीं हैं।[46] वस्तुतः अधिकांशतया वे या तो इन आदर्शों का समर्थन करते हैं, अथवा, कम से कम तटस्थ रहते हैं।

इस प्रकार, उदाहरण के लिए, पहनावे और इससे भी कम लोगों के अपने इतिहास, दर्शन, धर्म (ऊँचे स्तर पर, देखिए अध्याय—3), साहित्य, कला आदि के प्रति लगाव में परिवर्तन करने में विकास-प्रक्रिया की कोई दिलचस्पी नहीं

होती। अनेक परम्परागत रीति-रिवाजों में वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार व्यावहारिक व्यवस्था रहती है, उदाहरण के लिए यह अक्सर मकानों के निर्माण में दिखायी पड़ती है और इस प्रकार आयोजन के युक्तिसंगत दृष्टिकोणों अथवा व्यवस्थाओं के यह बात अनुरूप होती है।

पर कुछ मामलों में आधुनिकीकरण के आदर्शों और परम्परागत मूल्यांकनों के बीच विरोध रहता है। भारत में गोहत्या के प्रति जो परम्परा से विरोध का भाव मौजूद है, वह पशुपालन के तर्कसंगत दृष्टिकोण के विपरीत है। भारत में और अन्य कम-विकसित देशों में अलग-अलग भाषाओं और इससे भी अधिक अलग-अलग रीतियों के प्रति जो लगाव मौजूद है, वह शिक्षा की सर्वाधिक तर्कसंगत व्यवस्था और अक्सर राष्ट्रीय एकता के विपरीत बात सिद्ध होती है।[47]

इस प्रकार परम्परागत मूल्यांकन आयोजन के मार्ग में निषेध और अवरोध उपस्थित करते हैं। यदि ये इतने सशक्त होते हैं कि इन्हें बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता है, तो यह अवसर सम्बन्धी लागत होती है, जिसका ध्यान योजना सम्बन्धी गणनाओं में रखा जाना चाहिए।

कम-विकसित देशों की उन समस्त परिस्थितियों के साथ, जिनका आयोजन में ध्यान रखना अनिवार्य है, परम्परागत मूल्यांकनों का महत्त्वपूर्ण तथ्यों के रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए। वस्तुतः दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के ऊपर मैंने जो आरोप लगाये हैं, यह उसका एक भाग है कि अक्सर यह कार्य नहीं किया गया। लेकिन इन मूल्यांकनों में विकास के लक्ष्यों को ढूँढ़ने का विचार वस्तुतः तर्कसंगते आयोजन से दूर हट जाने के समान होता है। कम-विकसित देश यह करने की स्थिति में नहीं हैं और उन्होंने यह किया भी नहीं है।

●

अध्याय : 2

परिस्थितियों का अन्तर

पिछले अध्याय में दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की आलोचना इस निर्णय के आधार पर हुई थी कि कम-विकसित देशों की परिस्थितियाँ विकसित देशों की तुलना में, जहाँ यह दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक रूप से लागू हो सकता है, विकास के प्रति कहीं अधिक निषेध (सत्तारूढ़ व्यक्तियों के मध्य) और अवरोध (जन-समुदाय के मध्य)[1] उत्पन्न करती हैं। ये दृष्टिकोण संस्थाओं के कारण और वल प्राप्त करते हैं, जो इन दृष्टिकोणों के कार्य और कारण दोनों का कार्य करती हैं। जनसमुदाय के रहन-सहन का वेहद नीचा स्तर, श्रमिकों की उत्पादकता को भी बहुत निचले स्तर पर बनाये रखता है। जहाँ तक दृष्टिकोणों और संस्थाओं का सम्बन्ध है—यद्यपि यह बात रहन-सहन के स्तर के बारे में इतनी अधिक व्यापक रूप से सही नहीं है—यह कहना सही होगा कि यदि विकसित देशों के सम्बन्ध में भी यह तुलना उस युग के सन्दर्भ में की जाये, जब इन देशों में औद्योगिक क्रान्तियाँ हो रही थीं अथवा पिछली शताब्दियों की परिस्थितियों से इनकी तुलना की जाये, तो यह बात खरी उतरेगी।[2]

जहाँ तक राजनीतिक संस्थाओं का सम्बन्ध है, एक स्पष्ट अन्तर यह है कि अब जो देश विकसित हैं वे उस समय स्वतन्त्र थे और अधिकांशतया ये पर्याप्त सुदृढ़ राष्ट्र थे और औद्योगिक क्रान्तियों से बहुत समय पहले ही सुदृढ़ राष्ट्रों के रूप में अपनी राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने की स्थिति में थे। ये मोटे तौर पर समान संस्कृतियों वाला एक छोटा-सा संसार थे, जिसके मध्य लोग और विचार प्रायः स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते रहते थे।

इस छोटे-से संसार में, औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले ही पुनर्जागरण, सुधार और बौद्धिक क्रान्ति ने संकल्पनाओं और मूल्यांकनों को क्रान्तिकारी रूप से बदल दिया था और इसके परिणामस्वरूप तर्कनापरकता अथवा तर्क-सम्मत विचार प्रक्रिया की स्थापना हुई थी और परम्परागत आचरण और विचार प्रक्रिया कमजोर पड़ गयी थी। इन देशों में आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा का विकास हुआ और उनकी कृषि तथा उद्योगों में, जो उस समय तक बहुत छोटे पैमाने पर संचालित थे, आधुनिक टेक्नालॉजी का आरम्भ में भी उपयोग किया जाने लगा।

महान् वैज्ञानिक आविष्कारों और यूरोप के बाहर उपनिवेशों की स्थापना ने विचारों को और अधिक व्यापक बनाने में सहायता दी। वस्तुतः इसके परिणामस्वरूप स्वयं उपनिवेशों की तुलना में यूरोप के देशों में दृष्टिकोणों और संस्थाओं में परिवर्तन आया। केवल उन उपनिवेशों को ही अपवाद कहा जा सकता है, जो नयी दुनिया अर्थात् अमरीका की तरह बहुत कम आबादी वाले

उपनिवेश थे, और जहाँ मूल निवासियों का संहार किया जा सकता था अथवा उन्हें अनेक तरीकों से कुछ खास इलाकों में ही रखकर यूरोप से आने वाले लोगों और उनकी सन्तान के लिए जगह बनायी जा सकती थी।

इसके विपरीत, आज के अधिकांश कम-विकसित देश हाल में ही स्वतन्त्र हुए हैं और इन्हें ऐसे संगठित राष्ट्रों का अभी स्वरूप धारण करना है, जो प्रभावशाली ढंग से राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने की क्षमता रखते हों।

आधुनिकीकरण के आदर्श, जो बहुत व्यापक रूप से इन देशों के शिक्षित शासक वर्ग के लिए एक प्रकार राज्य के धर्म के समान बन गये हैं, देसी नहीं हैं। और इन आदर्शों को साकार करने में इस शासक वर्ग में अत्यधिक निषेध दिखायी पड़ता है और जन-समुदाय में इसके लिए अवरोध उत्पन्न होता है। अन्य अनेक कारणों से भी, जो इस पुस्तक में आगे स्पष्ट होते जायेंगे, यहाँ परिवर्तन धीमा होने की वजाय तेज गति से लाना आवश्यक है, जैसाकि वर्तमान विकसित देशों में हुआ था।[3]

ये बातें समग्र दृष्टि से एशिया और अफ्रीका के कम-विकसित देशों के बारे में सच हैं। लेटिन अमरीका के देश अनेक दृष्टियों से भिन्न हैं। लेटिन अमरीका के देशों का राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र देशों के रूप में लम्बा इतिहास है। इस दृष्टि से उनका परम्परागत समाज नहीं है कि इनकी जड़ें सैकड़ों अथवा हजारों वर्षों के इतिहास और परम्परा में पैठी हुई हों। ये, नयी दुनिया के देशों की तरह, यूरोपीय बस्तियाँ हैं, जो आरम्भ से ही अपने मार्ग से विचलित हो गयी हैं।

और इस प्रकार उनकी वर्तमान स्थिति शेष कम-विकसित देशों से अधिक भिन्न नहीं है, दृष्टिकोणों और संस्थाओं की दृष्टि से यह कतई भिन्न नहीं है, जो विकास के मार्ग में निषेध और अवरोध बनती हैं। यद्यपि लेटिन अमरीका के अधिकांश देशों में आय का औसत स्तर सामान्यतया ऊँचा समझा जाता है, लेकिन गाँवों और शहरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाला उनका विशाल जन-समुदाय इसी प्रकार निर्धनता और अभाव से ग्रस्त है और आधुनिक जीवन की सुख-सुविधाओं से बहुत अलग-थलग पड़ा हुआ है।

कम-विकसित देशों में बहुत-सी दूसरी परिस्थितियाँ भी हैं, जो अब विकसित देशों में किसी समय मौजूद थीं और जो विकास में किसी भी प्रकार सहायक नहीं बनतीं। अपने प्रमुख नीति सम्बन्धी निष्कर्षों पर विचार करने से पहले हमें इन दूसरे अन्तरों का भी संक्षेप में उल्लेख करना चाहिए। यद्यपि ये अन्तर उन बातों में शामिल नहीं हैं, जो दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को निरर्थक सिद्ध कर देती हैं, क्योंकि इन्हें आसानी से 'आर्थिक' सिद्धान्त और आयोजन में शामिल किया जा सकता है—हम देखते हैं कि इस दृष्टिकोण में जो गहरे पूर्वाग्रह मौजूद हैं, उनके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों और योजनाएँ तैयार करने की विकास सम्बन्धी समस्याओं के समकालीन साहित्य में इन्हें घटाकर दिखाया गया है।

एक बात तो यह है कि कम-विकसित देशों में वर्तमान विकसित देशों की उस स्थिति की तुलना में, जब उन्होंने आधुनिक विकास शुरू किया था, प्राकृतिक साधनों की अक्सर कमी दिखायी पड़ती है। मैंने इस पूरी पुस्तक में कम-विकसित देशों के नक्शे के उन स्थानों की उपेक्षा की है, जहाँ तेल और ऐसे अन्य खनिज विशाल मात्रा में उपलब्ध हैं, जिनकी विकसित देशों में बहुत अधिक और

तेजी से बढ़ती हुई माँग है। यह स्थान अक्सर ऐसी बस्तियाँ बन जाते हैं, जो एक या अनेक विकसित देशों की अर्थव्यवस्था से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ी होती हैं।

दक्षिण एशिया, जिसमें संसार की प्रायः तिहाई, और गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशों की दो-तिहाई आबादी रहती है, समग्र दृष्टि से प्राकृतिक साधनों में प्रायः समृद्ध नहीं है।[4] अफ्रीका और लेटिन अमरीका में, समग्र दृष्टि से प्राकृतिक साधन बहुतायत से पाये जाते हैं। लेकिन यह स्मरणीय है कि आर्थिक दृष्टि से इन प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए पूँजी का बड़ी मात्रा में विनियोग आवश्यक होता है जो आसानी से उपलब्ध नहीं है। अफ्रीका के देशों को इस सम्बन्ध में बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

पर साधनों का आधार विकास के लिए आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाना चाहिए। सर्वाधिक विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में से अनेक —उदाहरण के लिए, डेनमार्क, स्विट्जरलैंड और जापान—ने अपने उद्योगों की स्थापना मुख्यतया आयातित कच्चे माल के आधार पर की है। यह कम-विकसित देशों के लिए, कम से कम बड़े पैमाने पर, इस प्रकार सम्भव नहीं होगा।

फिर भी विकास का यह तरीका विकास प्रक्रिया के एकदम समारम्भ में कहीं अधिक कठिन होता है। विकास के एक अधिक विकसित दौर में, जब पूँजीगत लागत बढ़ चुकी होती है और विशेषकर वेतन ऊँचे स्तर पर पहुँच चुके होते हैं, कच्चे माल की लागत उत्पादन की कुल लागत का एक छोटा हिस्सा रह जाती है। इस कारण से विकसित देशों को प्राकृतिक साधनों की अपने देश के भीतर ही उपलब्धि पर निर्भर करने की आवश्यकता है।

एक दूसरा बड़ा अन्तर कम-विकसित और विकसित देशों के बीच जलवायु का है।[5] प्रायः सब कम-विकसित देश उष्ण अथवा उप-उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में स्थित हैं। यह एक तथ्य है कि आधुनिक युग में सर्वत्र सफल औद्योगीकरण सम-जलवायु वाले क्षेत्रों में ही हुआ है। इसे शुद्ध रूप से इतिहास का एक संयोग भर नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसका सम्बन्ध कुछ विशेष अक्षमताओं से होना चाहिए, जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जलवायु से सम्बन्ध हो।

जैसाकि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, जलवायु को उपनिवेशी सिद्धान्त में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। लेकिन अब यह साहित्य और योजना प्रक्रिया से प्रायः पूरी तरह अन्तर्धान हो गया है। वस्तुतः यह नये और विपरीत पूर्वाग्रहों का एक अतिवादी उदाहरण है।

यद्यपि दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण पर आधारित अनुसन्धान, सार्वजनिक विचार-विमर्श और आयोजन में दृष्टिकोणों, संस्थाओं तथा रहन-सहन के तरीकों और स्तरों से उत्पन्न जटिलताओं की विधिवत् उपेक्षा करने की प्रवृत्ति रही है, फिर भी इन तथ्यों अथवा कारकों का विकास की समस्याओं से सम्बन्ध, बीच-बीच में उल्लिखित शर्तों और इस सामान्य घोषणा से कम से कम 'प्रकट' अवश्य हो जाता है कि विकास एक 'मानवीय समस्या' है। दूसरी ओर जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों की या तो पूरी तरह उपेक्षा कर दी गयी है अथवा यह कहकर इस बात को टाल दिया जाता है कि इसका कोई महत्त्व नहीं है।

यदि इस कारण से विकास-आयोजन में जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों के महत्त्व के बारे में बहुत कम अनुसन्धान किया गया है, तो यह स्पष्ट है कि, सामान्य-

तया अधिकांश कम-विकसित देशों में अत्यधिक गर्मी और आर्द्रता मिट्टी के गुण को घटाती है और इसी प्रकार अन्य अनेक भौतिक वस्तुओं पर भी असर पड़ता है। यह आंशिक रूप से कुछ फसलों, जंगलों और जानवरों की कम उत्पादकता के लिए उत्तरदायी है और इसके कारण केवल श्रमिकों को कष्ट ही नहीं होता, बल्कि उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है और वे अधिक समय तक काम नहीं कर पाते और उनकी कार्यकुशलता भी प्रभावित होती है।

आयोजित नीतियों के द्वारा इन समस्त विपरीत प्रभावों से अधिकांशतया बचा जा सकता है अथवा इनका मुकाबला किया जा सकता है। लेकिन इन विपरीत प्रभावों को समाप्त करने के लिए—और यदाकदा इन्हें लाभ में बदलने के लिए, जो अनेक देशों में कृषि के क्षेत्र में सम्भव हैं, खर्च की आवश्यकता होती है। अक्सर यह खर्च निवेश जैसा होता है। और क्योंकि पूंजी और प्रशासन आदि पर आने वाली सच्ची लागत जैसे तत्त्वों की बहुत कमी है, अतः जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियाँ अक्सर विकास के मार्ग में गम्भीर बाधाएँ डालती हैं।

आबादी की वर्तमान घनता और आबादी में तेजी से वृद्धि की जो सम्भावना दिखायी पड़ती है वह कम-विकसित देशों और विकसित देशों के बीच एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है।[6]

यूरोप में औद्योगीकरण के पहले के युगों में आबादी में वृद्धि की जो धर्म-निरपेक्ष प्रवृत्ति मौजूद थी, वह अपेक्षाकृत धीमी थी। यद्यपि औद्योगीकरण के दौर के समीप पहुँचकर इसमें कुछ तेजी आ गयी थी। इसके विपरीत अधिकांश कम-विकसित देशों की आबादी काफी लम्बे अरसे से तेजी से बढ़ती रही है, यद्यपि यह वृद्धि वर्तमान तेज गति से नहीं हुई थी। इसके परिणामस्वरूप कुछ कम-विकसित देश—उदाहरण के लिए भारत और पाकिस्तान, जहाँ लगभग ७० करोड़ लोग रहते हैं—व्यक्ति और भूमि के ऊँचे अनुपात के रहते काम कर रहे हैं और यह अनुपात यूरोप के देशों के आरम्भिक युगों के व्यक्ति और भूमि के अनुपात से पर्याप्त ऊँचा है। यह बात इन लोगों को विकास की सम्भावना की दृष्टि से कठिन स्थिति में डाल देती है।

दक्षिण एशिया के अन्य भाग, लेटिन अमरीका के अधिकांश भाग, पश्चिम एशिया के कुछ भाग और वस्तुतः अफ्रीका के कुछ भाग (उत्तरी हिस्सों को छोड़ कर) और उन देशों के अनेक क्षेत्र, जिनमें व्यक्ति और भूमि का औसत अनुपात ऊँचा है, कम घने बसे हैं और अक्सर इनमें खेती के लिए बहुत अधिक जमीन उपलब्ध है। लेकिन अभी तक इस भूमि में खेती नहीं की गयी है। लेकिन सत्य यह है कि उन देशों में भी अधिकांशतया लोग बहुत भीड़ वाले क्षेत्रों में रहते हैं, जहाँ बहुत बड़ी मात्रा में सुरक्षित भूमि पड़ी है।

इस विशाल भूमि का प्रभावशाली उपयोग घरेलू संस्थागत सुधारों पर निर्भर करता है, विशेषकर भूस्वामित्व और काश्तकारी के अधिकार, शिक्षा और प्रशिक्षण की बेहतर व्यवस्था, और, इनसे पहले, एक ऐसा राजनीतिक वातावरण जो पर्याप्त राजनीतिक और आर्थिक सुधार के लिए लाभदायक हो। इसके लिए अक्सर बड़े पैमाने पर पूंजी निवेश की भी आवश्यकता होती है और कुछ मामलों में विकसित देशों को माल भेजने के लिए निकास-द्वारों की भी जरूरत होती है।[7] यदि देश और विदेश में नीतियों के आधार पर ऐसी परिस्थितियों का

निर्माण नहीं होता, तो उस स्थिति में भी एक देश, 'आवश्यकता से अधिक आबादी वाला' बना रह सकता है, जब पर्याप्त मात्रा में पास ही प्राकृतिक साधन उपलब्ध हों।

पर विकास के लिए कहीं अधिक हानिप्रद बात आबादी का भयंकर विस्फोट है, जो हाल के वर्षों में कम-विकसित देशों में आबादी में प्रतिवर्ष तीन प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक की दर से होता रहा है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के युग में कम-विकसित देशों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का विस्फोट ही सिद्ध हुआ है। यह अन्य किसी भी सुधार अथवा विकास के प्रयास से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है और इसके परिणामस्वरूप सुधार और विकास प्रयासों की सफलता में बहुत अधिक बाधा पड़ी है। अध्याय-5 में हम उन कारणों का उल्लेख करेंगे कि निकट भविष्य में यह आशा क्यों नहीं की जा सकती कि आबादी में वृद्धि की दर को पर्याप्त घटाया जा सकता है।

आबादी में वृद्धि की इतनी ऊँची दर—जिसका यह अर्थ है कि 20 अथवा 25 वर्षों में आबादी दुगनी हो जायेगी—विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा खड़ी कर देती है।[8] यह उस स्थिति में भी होता है, जब व्यक्ति और भूमि का अनुपात नीचा होता है।

विकसित देशों ने—नयी दुनिया के उन देशों के कुछ युगों को छोड़कर जहाँ विकास के लिए असाधारण रूप से लाभप्रद परिस्थितियाँ थीं और जहाँ वयस्क लोगों के प्रवास ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी—आबादी में इतनी अधिक वृद्धि की समस्या का कभी सामना नहीं किया। यह सन्देह की बात है कि यदि इन देशों की आबादी इतनी तेज गति से बढ़ती रहती तो क्या इन देशों में औद्योगिक क्रान्ति हो सकती थी अथवा इतनी तेज गति से हो सकती थी और समाज के अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों पर बहुत कम बुरा असर पड़ता।

वर्तमान विकसित देशों के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने 'विकास के इंजन' का काम किया। इन देशों के निर्यात में निरन्तर वृद्धि ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। साथ ही, अपेक्षाकृत राजनीतिक स्थिरता ने किसी नवागन्तुक के लिए यह आसान बना दिया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार से ऋण ले सके और अक्सर वह तीन प्रतिशत अथवा इससे भी कम ब्याज की दर पर यह ऋण प्राप्त कर सका।

यद्यपि आरम्भिक उत्प्रेरणा निर्यात बढ़ाने की थी, पर आयात को और अधिक बढ़ाया जा सकता था। यही कारण है कि 19वीं शताब्दी में, उत्पादन से कहीं अधिक तेज गति से व्यापार में वृद्धि हुई।

इसी प्रकार उपनिवेश युग में बहुत से कम-विकसित देशों को इसी प्रकार की उत्प्रेरणा मिली और इन देशों ने अपना निर्यात बढ़ाया।[9] इन देशों के मामले में संचालन कारक अक्सर विदेशी पूंजी विनियोग होता था। यह विनियोग अधिकांशतया बागानों और खानों में हुआ। अनेक कारणों से यह विकास कार्य

अधिकांशतया नियमित रूप से कुछ खास इलाकों में ही हुए और इनका इन देशों की शेष अर्थव्यवस्था पर बहुत कम प्रभाव पड़ा।[10] उपनिवेशी युग में इनके परिणामस्वरूप प्रायः कहीं भी औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई।

अब जबकि ये देश विकास के लिए योजनाएँ बना रहे हैं, इनके सामने बहुत बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। विकसित देशों ने जब तेजी से अपना विकास शुरू किया था, उस समय इन सब देशों की आबादी बहुत कम थी। ये देश पिछड़े हुए लोगों के महासागर के बीच छोटे-छोटे द्वीपों के रूप में विद्यमान थे।

अब जबकि कम-विकसित क्षेत्र आर्थिक और राजनीतिक निर्भरता से मुक्ति पाने का प्रयास कर रहे हैं, वे विकसित देशों की विकास प्रक्रिया की पुनरावृत्ति भर नहीं कर सकते। 19वीं शताब्दी में किसी देश के विलम्ब से विकास शुरू करने के कारण उसे किसी कठिनाई या हानि का सामना नहीं करना पड़ता था, बल्कि बात इसके विपरीत ही होती थी। लेकिन 20वीं शताब्दी में यह एक गम्भीर कठिनाई है।

वस्तुतः पहले महायुद्ध के समय से ही अधिकांश कम-विकसित देश यह देखते आ रहे हैं कि उनकी व्यापारिक स्थिति निरन्तर निर्बल होती जा रही है।[11] विश्व व्यापार के विकास की तुलना में इनकी निर्यात योग्य वस्तुओं की माँग कम होती गयी है। इनकी व्यापार की शर्तें इसी प्रकार निर्बल नहीं हुई हैं, जिसका कारण यह है कि निर्यात होने वाली वस्तुओं का उत्पादन अक्सर बड़ा धीमा रहा। इनके निर्यातों में वृद्धि की सम्भावना बहुत अच्छी दिखायी नहीं पड़ती।

इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के पीछे अनेक कारण मौजूद हैं। विकसित देशों में टेक्नालॉजी का जो बहुमुखी और द्रुत विकास हुआ है, उसने बुनियादी उत्पादनों की माँग में वृद्धि को धीमा कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल की मात्रा में पर्याप्त कमी हुई है। इसके साथ ही टेक्नालॉजी की उन्नति से, विकसित देशों की इन वस्तुओं को अथवा ऐसे कच्चे माल को अधिक मात्रा में कम दाम पर बनाने की क्षमता में वृद्धि हुई है। विकसित देशों में जो संरक्षण उपलब्ध हैं, उनसे इन प्रभावों में और अधिक वृद्धि हुई है। उद्योगों में प्रयुक्त कच्चे माल के स्थान पर दूसरी चीजों का इस्तेमाल शुरू किया गया है। यह बात रबड़ और वस्त्र उद्योग में प्रयुक्त कच्चे माल के बारे में विशेष रूप से सही है।

रबड़ और कुछ अन्य कच्चे माल को कुछ सीमा तक छोड़कर सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि कम-विकसित देश जिन अधिकांश वस्तुओं का परम्परा से निर्यात करते रहे हैं, आय की दृष्टि से उनमें बहुत कम लचकीलापन है और इन में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसके लिए तेजी से बढ़ती हुई माँग मौजूद हो और यह माँग विकसित देशों के आर्थिक विकास के परिमाणस्वरूप उत्पन्न हुई हो।

विकसित देशों में औद्योगिक क्षेत्र में भेदभाव पर आधारित सीमा-शुल्क दरों के कारण, जिनमें वस्तुओं के परिष्कार या परिशोधन की स्थिति के अनुसार वृद्धि होती है, कम-विकसित देशों के निर्यात करने वाले उद्योगों के विकास पर बुरा असर पड़ता है। इस बाधा के अलावा, एक ऐसे उत्पादक उद्योग की स्थापना की सम्भावना इस कारण से अत्यधिक सीमित है कि विकसित देशों में पहले से जमे हुए उद्योग बहुत ही बेहतर परिस्थितियों में काम कर रहे हैं। इसके अलावा

वस्तुओं के निर्माण और उनकी बिक्री की अत्यधिक कुशल व्यवस्था, उनकी बाह्य अर्थव्यवस्थाएँ, अनुसन्धान में बहुत अधिक पूँजी निवेश और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात टेक्नालॉजी के क्षेत्र में तेजी से परिवर्तन और विकास है।[12]

इधर कम-विकसित देशों की आयात की आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं। एक बात तो यह है कि इन अनेक देशों में आबादी के विस्फोट ने अनाज के आयात की आवश्यकता को बढ़ा दिया है। इसके साथ ही उन देशों को, जिनमें अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न उपलब्ध हैं, निर्यात की सम्भावनाएँ भी कम हो गयी हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात ऐसी वस्तुओं के आयात की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकता है, जिनकी विकास के लिए जरूरत है।

इन परिस्थितियों में, जैसाकि स्वाभाविक और सामान्य है, आयात की जाने वाली वस्तुओं के भुगतान और निर्यात होने वाली वस्तुओं से प्राप्त आय के बीच का अन्तर बढ़ गया है। बहुत कम सीमा तक इस अन्तर को गैर-सरकारी पूँजी बाजार से ऋण लेकर पूरा किया गया है, जहाँ पूँजी लगाने वाले केवल इस कारण से ही धन देने से नहीं हिचकते कि इन देशों में आर्थिक सम्भावनाएँ बहुत कम और अनिश्चित हैं, बल्कि इस कारण से भी कि उपनिवेशी सत्ता की समाप्ति के बाद इन देशों में अक्सर राजनीतिक स्थिरता की कमी रही है। कुछ प्रत्यक्ष पूँजी विनियोग हुआ है, लेकिन कम-विकसित संसार के अधिकांश भाग में इसकी मात्रा बहुत कम रही है।

अब क्योंकि गैर-सरकारी साधनों से पूँजी के आगमन ने इसकी आवश्यकता को नाममात्र के लिए ही पूरा किया है, अतः इस अन्तर को विकसित देशों की सरकारों के अनुदानों और ऋणों के द्वारा ही अधिकांशतया पूरा किया गया और कुछ सीमा तक अन्तर-सरकार संगठनों की सहायता से, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (विश्व बैंक) प्रमुख हैं[13], यह कार्य हुआ।

कम-विकसित देशों को उपलब्ध सार्वजनिक कोषों में अनुदानों का हिस्सा निरन्तर घटता रहा है। यह सच है कि कुछ सार्वजनिक ऋण ब्याज की रियायती दरों पर दिये गये हैं और इनकी अदायगी की शर्तें भी सरल रखी गयी हैं। इसके बावजूद ऋणों की अदायगी इन देशों के विदेशी मुद्रा के साधनों पर गम्भीर भार बन गयी है। जैसाकि हम अध्याय-11 में विचार करेंगे, हाल में यह प्रवृत्ति रही है कि सार्वजनिक पूँजी का आगमन रुक गया है और अनेक दृष्टियों से इसके स्तर में भी गिरावट आयी है।

विश्व बैंक की मार्फत जो नियमित विकास ऋण दिये जाते हैं उनका भुगतान भी केवल तभी होता है, जब विकसित देशों की सरकारें इसके लिए गारण्टी दें। इसके बावजूद ब्याज की प्रभावशाली दर उस दर से दुगनी है, जिस दर पर विकसित देशों ने उस समय धन ब्याज पर लिया था, जब उन्होंने तेजी से विकास करना शुरू किया था।

इन परिस्थितियों में कम-विकसित देश, आयात होने वाली वस्तुओं के स्थान पर देश में निर्मित वस्तुओं के प्रयोग के द्वारा विकास करने का प्रयास कर रहे हैं।[14] इस नीति में एक दुविधा यह निहित है कि नये उद्योग शुरू करने के लिए सामान्यतया बड़े पैमाने पर पूँजीगत माल का आयात करना पड़ता है और मशीनों

के अतिरिक्त पुर्जे और हिस्से, अर्द्ध-तैयार माल और कच्चा माल अक्सर निरन्तर आयात करना पड़ता है। इन आयातों के स्थान पर सहायक उद्योग चालू करने के लिए फिर सम्बन्धित पूँजीगत माल के आयात की आवश्यकता सामने आ जाती है।

आयात प्रतिस्थापन नीति के समक्ष अधिक गम्भीर कठिनाई यह है कि प्रतिस्थापन का चुनाव अथवा पसन्द तर्कसंगत आयोजन के द्वारा अक्सर सम्भव नहीं होता। सामान्यतया सबसे पहली बात यह होती है कि कम-विकसित देश विदेशी मुद्रा की कठिनाई में फँस जाता है और इसके बाद उसे किसी न किसी प्रकार का आयात सम्बन्धी नियन्त्रण लागू करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। स्वाभाविक और वस्तुतः तर्कसंगत कारणों से यह देश सबसे कम आवश्यक वस्तुओं के आयात को ही कम करता है, जिसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं को स्वतः सर्वाधिक संरक्षण प्राप्त हो जाता है।

विकास की दृष्टि से यह अनियोजित संरक्षण है। इसके परिणामस्वरूप, हर प्रकार के विवेक पर आधारित नियन्त्रणों के बावजूद, ऐसे उद्योग की स्थापना होती है, जिसे किसी प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता और जिसकी लागत भी बहुत ऊँची होती है।

अब तक जिन आरम्भिक परिस्थितियों के अन्तरों का उल्लेख किया गया है, वे सब कम-विकसित देशों के आर्थिक विकास को आज उससे कहीं अधिक कठिन बना देती हैं, जितना वह एक समय वर्तमान विकसित देशों के लिए था। कम-विकसित देशों को यह लाभ अवश्य प्राप्त है कि उन्हें कहीं अधिक विकसित टेक्नालॉजी उपलब्ध है, जिसका उपयोग वे निर्माण करने का भार उठाये बिना ही कर सकते हैं।[15]

कुछ ऐसे कारण हैं, जिनके आधार पर इस लाभ को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। एक कारण इस तथ्य से सम्बन्धित है कि इस टेक्नालॉजी के अधिकतम उपयोगी बनने के लिए यह आवश्यक है, कि इसे कम-विकसित देशों के विभिन्न कारकों के अनुपात में आवश्यक परिवर्तनों के साथ अपनाया जाये। अन्य आरम्भिक कठिनाइयाँ सहायक औद्योगिक ढाँचे का अभाव, जिसके निर्माण में समय लगता है, और विभिन्न स्तरों पर कुशल व्यक्तियों की कमी हैं।

फिर भी निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान विकसित देशों में औद्योगिक क्रान्ति के समय से टेक्नालॉजी के क्षेत्र में जो विशाल प्रगति हुई है, उसका लाभ अवश्य मिलना चाहिए। और इस बात को कम-विकसित और विकसित देशों के अर्थशास्त्री और राजनीतिक तथा बौद्धिक नेता अक्सर बड़ी आशा से कहते हैं और अक्सर इसकी अभिव्यक्ति बड़ी करुणाजनक हो जाती है। इस बात पर प्रायः नियमित रूप से ध्यान नहीं दिया जाता कि यह एक स्थिर विचार अथवा दृष्टिकोण है।

विकसित देशों में, जिनके पास अपार साधन हैं, विज्ञान और टेक्नालॉजी की प्रगति कहीं अधिक तेज गति से हो रही है।[16] आर्थिक लेखन में जिस बात को प्रायः अवर्णित ढंग से छिपा लिया जाता है, वह यह प्रकट तथ्य है कि विकसित

❀ मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀
वाराणसी।
आगत क्रमांक........२६८०..........
दिनांक.................................

देशों में विज्ञान और टेक्नालॉजी की जो उन्नति हुई है और जो आज हो रही है उसका प्रभाव कम-विकसित देशों पर पहले भी पड़ा है और अब भी पड़ रहा है और यह प्रभाव किस सीमा तक होता है यह बात कम-विकसित देशों की विकास की सम्भावनाओं पर निर्भर करती है। जब इस बात को नहीं देखा-समझा जाता तो इसका कारण यही है कि यह उन सामान्य पूर्वाग्रहों का एक और प्रमाण है, जिनका उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है।

यह बात इस कारण से और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इस गतिशील प्रभाव के तत्त्वों को सब विशेष अध्ययनों में देखा जाता है। यह तथ्य कि विकसित देशों में टेक्नालॉजी की प्रगति कम-विकसित देशों के व्यापार में गिरावट के लिए अधिकांशतया उत्तरदायी है, उदाहरण के लिए एक सामान्य बात है और इन देशों के व्यापार के विकास के सम्बन्ध में इसका व्यापक और गहरा अध्ययन किया जाता है।

Y:(Y1W) 15266

यह भी एक सर्वविदित तथ्य है, और एक ऐसा तथ्य भी जिस पर अक्सर यथार्थवादी ढंग से विचार होता है, कि विकसित देशों में निरन्तर टेक्नालॉजी की प्रगति, केवल उनका वर्तमान उच्च स्तर ही नहीं, आंशिक रूप से उस कठिनाई के लिए जिम्मेदार है, जो कम-विकसित देश अपना उत्पादन बढ़ाने और अपने तैयार माल का निर्यात करने में अनुभव करते हैं।

इन विचारों को समन्वित करने का काम प्रायः नियमित रूप से नहीं होता। जो भी अनुसन्धान कार्य होता है उसका अधिकांश भाग विकसित देशों में होता है और इन देशों की सरकारें, संस्थाएँ, विश्वविद्यालय और उद्योग इस अनुसन्धान कार्य के लिए पैसा देते हैं। अतः सचमुच यह आशा करना असंगत होगा कि ये अनुसन्धान और विकास सम्बन्धी प्रयास स्वयं उनके हित की दिशा में ही संचालित न हों।

अमीर देशों में हम निरन्तर खेती में उत्पादकता बढ़ाने, कच्चे माल के उपयोग में कमखर्ची बरतने और देश में जो माल उपलब्ध न हो उसके स्थान पर दूसरे माल के इस्तेमाल का प्रयास निरन्तर जारी रखेंगे। उदाहरण के लिए हम जल्दी ही, जैसाकि संयुक्त राज्य अमरीका की संसद की एक समिति की रिपोर्ट में कहा गया है, कृत्रिम तरीकों से केवल कॉफी ही तैयार नहीं करने लगेंगे, बल्कि चाय और कोको का भी इसी प्रकार उत्पादन शुरू कर देंगे।

ब्रिटेन के परमाणु ऊर्जा संस्थान ने यह रिपोर्ट प्रस्तुत की है कि ब्रिटेन के वैज्ञानिकों का विश्वास है कि उन्होंने एक ऐसा सस्ता रेशा बनाने का तरीका निकाल लिया है जो इस्पात से चार गुना मजबूत और उससे कहीं अधिक हल्का होगा और इस प्रकार अनेक धातुओं के स्थान पर इसका इस्तेमाल किया जा सकेगा। इतना ही नहीं इसका इस्तेमाल बहुत सस्ता भी बैठेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि निकेल और अलुमीनियम, जो दो ऐसी धातुएँ हैं, जिनकी माँग निरन्तर तेजी से बढ़ रही है और जो इस नये रेशे से होड़ कर सकेंगी, अधिकांशतया विकसित देशों में उत्पन्न होते हैं।

ऐसी प्रगतियों को रोकना स्वयं हमारी सभ्यता की भावना के ही विपरीत होगा। विकसित देशों के हम लोग, कम-विकसित देशों को क्षति से बचाने के लिए केवल यही कर सकते हैं कि ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए विज्ञान

और टेक्नालॉजी के विकास के अधिकांश भाग को निर्देशित करें जिनका समाधान कम-विकसित देशों के हित में हो। कुछ सीमा तक यह काम पहले ही किया जा रहा है, जिसका उल्लेख हम आगामी अध्यायों में करेंगे।

इस प्रयास को उस सीमा तक ऊपर उठाने के लिए जहाँ यह उन आरम्भिक प्रभावों से कम-विकसित देशों को राहत पहुँचायेगा, जो विकसित देशों में अत्यधिक तेजी से टेक्नालॉजी सम्बन्धी विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न होंगे, यह आवश्यक है कि विकसित देश इन देशों को दूसरे किस्म की सहायता अधिक मात्रा में दें। वस्तुतः यह सहायता पहले के समस्त स्तरों से कहीं अधिक ऊँचे पैमाने पर दी जानी चाहिए। इस तकनीकी सहायता की चर्चा मैं आगामी अध्यायों में अनेक स्थलों पर करूँगा।

यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि विकसित देशों में टेक्नालॉजी की प्रगति को कम-विकसित देशों में तुरन्त व्यवहार में लाया जा सकता है, जैसे पीने के पानी की सप्लाई के प्रति निरन्तर बढ़ती हुई चिन्ता के परिणामस्वरूप समुद्र के पानी का खारीपन समाप्त करने के लिए अनुसन्धान कार्यों पर विशाल धनराशि खर्च की जा रही है। यही बात सन्तति निरोध के तरीकों की प्रगति पर भी लागू होती है। लेकिन मैं यहाँ सामान्य प्रवृत्ति की चर्चा कर रहा हूँ, विशेषकर सामान बनाने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में।

इस गतिशील कारक के सच्चे महत्त्व को तभी समझा जा सकता है, जब हम यह अनुभव करें कि विज्ञान और टेक्नालॉजी के स्तर केवल तेजी से ऊँचे ही नहीं उठ रहे हैं, बल्कि यह भी आशा की जा सकती है कि भविष्य में इनमें अधिक तेजी से वृद्धि होगी और इनका घातीय वक्र निरन्तर ऊर्ध्वगामी ही बना रहेगा।[17] समय रहते विकसित और अविकसित देशों में हो रहे परिवर्तनों में समन्वय करना ही एकमात्र विकल्प है और केवल इसी प्रकार निरन्तर कायम विकास के अवरोध को ही समाप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि अवनति से भी बचा जा सकता है।

सामान्य भ्रान्ति के बावजूद, तथ्य यह है कि जो देश अब विकसित हैं, उनमें परिवर्तन तेजी से नहीं आया था। इन देशों को धीरे-धीरे परिवर्तन करने का लाभ मिला था और इसके साथ ही, जैसाकि हम कह चुके हैं, आरम्भ से इन्हें उन दृष्टिकोणों और संस्थाओं का लाभ प्राप्त था, जो कहीं अधिक आसानी से परिवर्तन की अनुमति देती थीं अथवा स्वयं को इस परिवर्तन के अनुरूप ढाल लेती थीं। बाहर से आधुनिकीकरण के तेजी से आगमन और उस क्रमिक संक्रमण का अभाव, जिसका लाभ विकसित देशों को मिला तथा आबादी का विस्फोट कम-विकसित देशों में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है, जहाँ एक ऐसे समाज में आधुनिकता के तत्त्व चारों ओर छिटके रहते हैं, जहाँ अन्य बहुत-सी परिस्थितियाँ वैसी ही बनी रहती हैं जैसी सदियों पहले थीं। जैसाकि जवाहरलाल नेहरू ने भारत के विषय में कहा था : "हमारे पास परमाणु ऊर्जा है और हम गोबर का इस्तेमाल भी करते हैं।"

यदि यह आशावादी दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया जाये कि आधुनिकता के तत्त्वों का विकास महत्त्वपूर्ण 'विकास के केन्द्रबिन्दुओं' के रूप में होता है तो हमें अन्य अनेक बातों को भी मानकर चलना होगा : कि स्वदेश में आबादी के भयंकर विस्फोट के अवरोधक प्रभावों और विकसित देशों में इतनी अधिक तेजी से हो रही तकनीकी प्रगति का समाधान निकाल लिया जायेगा और कम-विकसित देशों के भीतर जो प्रसार प्रभाव उत्पन्न होंगे, उन्हें कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से संचालित किया जा सकेगा।

यह स्पष्ट है कि यह घटना किसी 'प्राकृतिक' क्रम-विकास के द्वारा नहीं घटेगी और इस प्रकार यह आवश्यक हो जाता है कि योजनाबद्ध विकास का रास्ता अपनाया जाये और योजनाओं में उन आमूल परिवर्तनवादी या दूरगामी सुधारों को भी शामिल किया जाये, जिनकी चर्चा आगामी अध्याय में की जा रही है। आयोजन का लक्ष्य, उन बड़ी कठिनाइयों के बावजूद, जिनका उल्लेख हमने इस अध्याय में किया है, राज्य की समन्वित नीतियों के माध्यम से विकास करना है। प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि आयोजन को उन अन्य अनेक वस्तुओं की ओर भी निर्देशित किया जाये जो दूसरे महायुद्ध के बाद के उस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण में शामिल नहीं हैं, जिसकी चर्चा मैंने पहले अध्याय में की है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी नीतियाँ अपनायी जानी चाहिए, जो प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिकोणों और संस्थाओं को प्रभावित करें।[18]

विकास के विभिन्न स्तरों में जो अन्तर हैं उनके बारे में सामान्यतया यह दृष्टिकोण अपनाया जाता है कि ये अन्तर केवल "आकार" सम्बन्धी हैं और इनका स्वरूप "गुणात्मक" नहीं है, और इससे भी अधिक यह दृष्टिकोण कि विकसित और कम-विकसित देशों के बीच केवल 'समय का अन्तर' है, भ्रान्तिपूर्ण और गलत हैं।[19] दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की अन्य अनेक बातों की तरह इन बातों का मूल मार्क्स की विचारधारा में है। अब क्योंकि इन विचारों को 'विकास के विभिन्न चरणों' के तथाकथित सिद्धान्त में विकसित किया गया है, अतः ये उद्देश्यवादी आध्यात्मिक पूर्व-धारणाओं पर आधारित हैं।[20]

संयुक्त राज्य अमरीका में अनावश्यक आशावादिता लोगों की राष्ट्रीय मनोवृत्ति बन गयी है, जिसे एक बार जार्ज केनन ने "उत्साह और आत्म-सम्मोहन की अमरीकी लोगों की महान् क्षमता" कहा था। कम-विकसित देशों के बुद्धि-वादियों की भी यही स्वाभाविक उत्प्रेरणा है। इसका एक प्रमाण यह है कि इन देशों की योजनाएँ नियमित रूप से आशावादी दिशा में आवश्यकता से अधिक प्रेरित होती हैं। कम्युनिस्ट देशों में आशावादिता कार्यक्रम का अंग बन जाती है और इसके प्रति अविश्वास को 'बुर्जुआ' अतिरेक बताया जाता है।[21]

अक्सर यह कहकर आशावादिता का समर्थन किया जाता है कि कठिनाइयों का सामना करने में इससे साहस को बल मिलता है। लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी देखा जाये तो अनावश्यक आशा-वादिता पर आधारित साहस अन्ततः मोहभंग की स्थिति में लोगों को पहुँचा देता

है। प्रत्येक व्यक्ति मोहभंग की चर्चा करता है—हाल में कम-विकसित देशों के विकास के सम्बन्ध में भी इसका कम उल्लेख नहीं हुआ है—लेकिन ये लोग स्वयं को यह याद नहीं दिलाते कि साधारणतया इसका अर्थ यह होता है कि पहले कुछ भ्रान्तियाँ अथवा मोह मौजूद थे।

एक अध्येता की दृष्टि से निराशावादिता की तरह ही आशावादिता का अर्थ एक पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अलावा अन्य कुछ नहीं होता। लेकिन हमें यथार्थवाद का ही अन्वेषण करना चाहिए, चाहे इस अन्वेषण की प्रक्रिया में अध्येता को स्वयं अपने पेशे में व्याप्त वर्तमान विचारों से संघर्ष ही क्यों न करना पड़े। और यदि अध्येता अपना कार्य निष्ठा से और प्रभावशाली ढंग से करता है, तो उसे उस स्थिति में प्रतिवाद करने या विरोध प्रकट करने का अधिकार होगा, जब उसके अधिक यथार्थवादी विचारों को निराशावादी करार दे दिया जाये।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यथार्थवाद के प्रति मेरे प्रयास जब मुझे मेरे साथी अर्थशास्त्रियों में आज भी व्याप्त विकास की सम्भावना से कहीं अधिक गम्भीर सम्भावनाओं का दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित करते हैं, तो मैं इसके परिणाम-स्वरूप निराशावादिता के गर्त में नहीं गिरता।

मेरा निष्कर्ष है कि विकास के लिए अधिक और अनेक दृष्टियों से कहीं अधिक दूरगामी और आमूल परिवर्तनवादी प्रयासों की आवश्यकता होती है: कम-विकसित देशों में अधिक तेजी से और अधिक प्रभावशाली ढंग से बड़े पैमाने पर सुधार और विकसित देशों में कम-विकसित देशों के प्रति अधिक चिन्ता और अधिक ठोस बलिदान करने की तत्परता।

वर्तमान विचारधारा के आशावादी रुझान की, जिसका प्रतिनिधित्व दूसरे महायुद्ध के बाद का दृष्टिकोण करता है, गहनतम नैतिक आलोचना इस कारण से है कि इसने कम-विकसित देशों में लापरवाही को बढ़ावा दिया है और विकसित देशों में इन समस्याओं के प्रति तत्परता और गम्भीरता में कमी की है।

कम-विकसित देशों में विकास की गति को तेज करने की समस्या आज विश्व की समस्याओं में शामिल है—एक दूसरी समस्या शस्त्रीकरण की विवेक-हीन और अभी भी तेज हो रही होड़ को बन्द करना है—और इस सम्बन्ध में घटिया आशावादिता विनाशकारी सिद्ध हो सकती है। आज एक यथार्थवादी दृष्टिकोण में तर्कसंगत दृष्टि से एक ऐसे साहस और संकल्प की माँग की जा सकती है, जो प्रायः इस सीमा तक पहुँच चुका हो कि हर कीमत पर विकास करने के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाये।

इस और पिछले अध्याय में इस पुस्तक के विषय के आरम्भिक प्रतिपादन के बाद, अब प्रमुख व्यावहारिक नीति सम्बन्धी समस्याओं को लिया जायेगा और इन पर अलग-अलग विचार होगा। दूसरे भाग में पहले उन नीतियों पर विचार होगा, जिनकी स्वयं कम-विकसित देशों में तर्कसम्मत आवश्यकता है।

तीसरे भाग में यह समस्या उठायी जायेगी कि कम-विकसित देशों के विकास के लिए विकसित देश क्या कर सकते हैं।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात स्वयं कम-विकसित देशों में सुधार सम्बन्धी नीतियों की है। लेकिन इनके समक्ष जो कठिनाइयाँ मौजूद हैं, वे इतनी बड़ी हैं कि इनमें से अधिकांश के उस समय तक सफल होने की मुश्किल से ही गुंजाइश दिखायी पड़ती है, जब तक विकसित देशों से अधिक मात्रा में सहायता प्राप्त न हो।

राजनीति पर निर्भर विकास की महत्त्वपूर्ण समस्या को चौथे और अन्तिम भाग में लिया जायेगा : कम-विकसित देशों में क्रान्ति के बिना सुधार लागू करने की सम्भावना, अधिकांशतया विकसित देशों की नीतियों पर निर्भर करती है। इसकी चर्चा भाग तीन में हुई है।

•
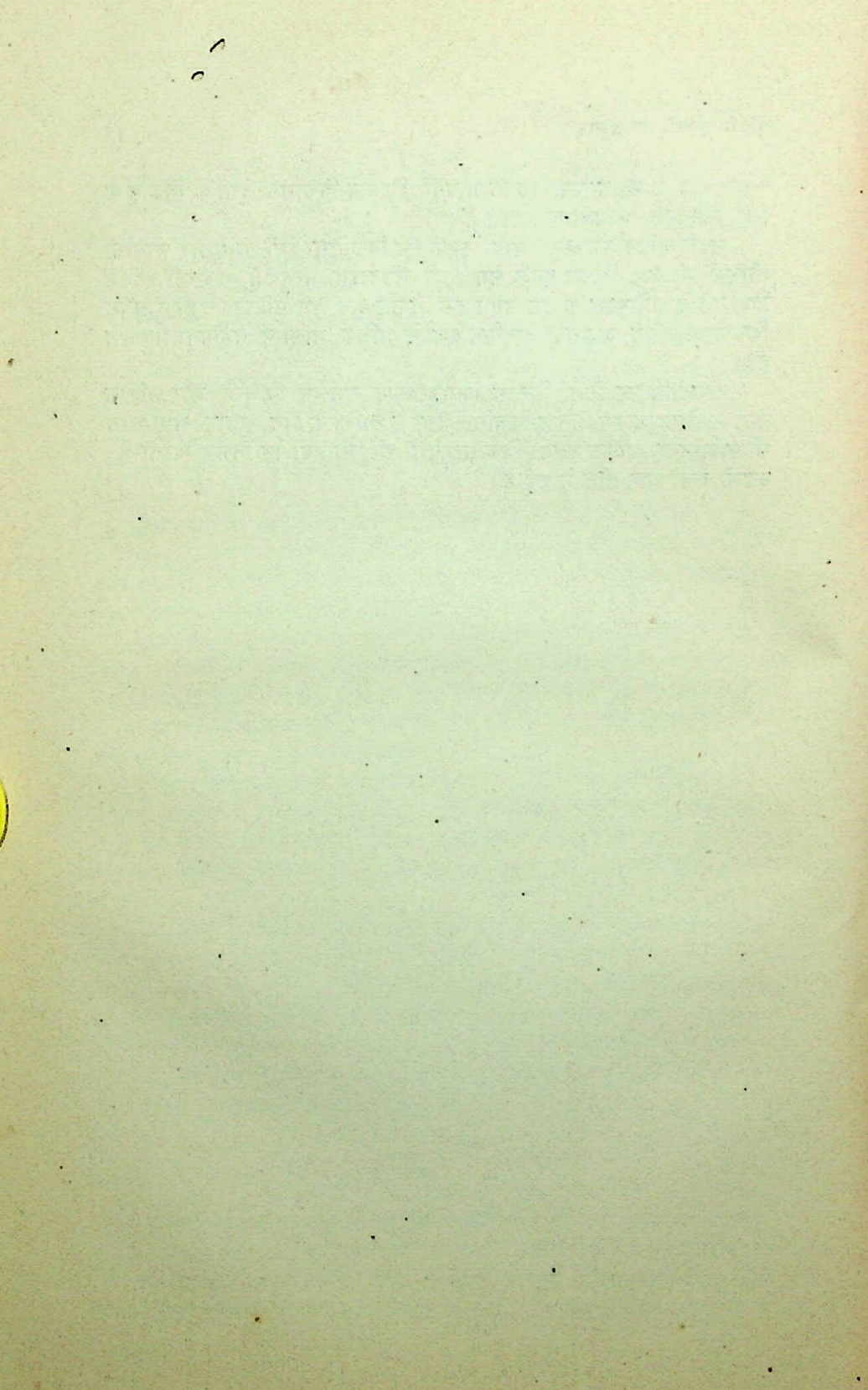
भाग दो

कम-विकसित देशों में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता

अध्याय : 3
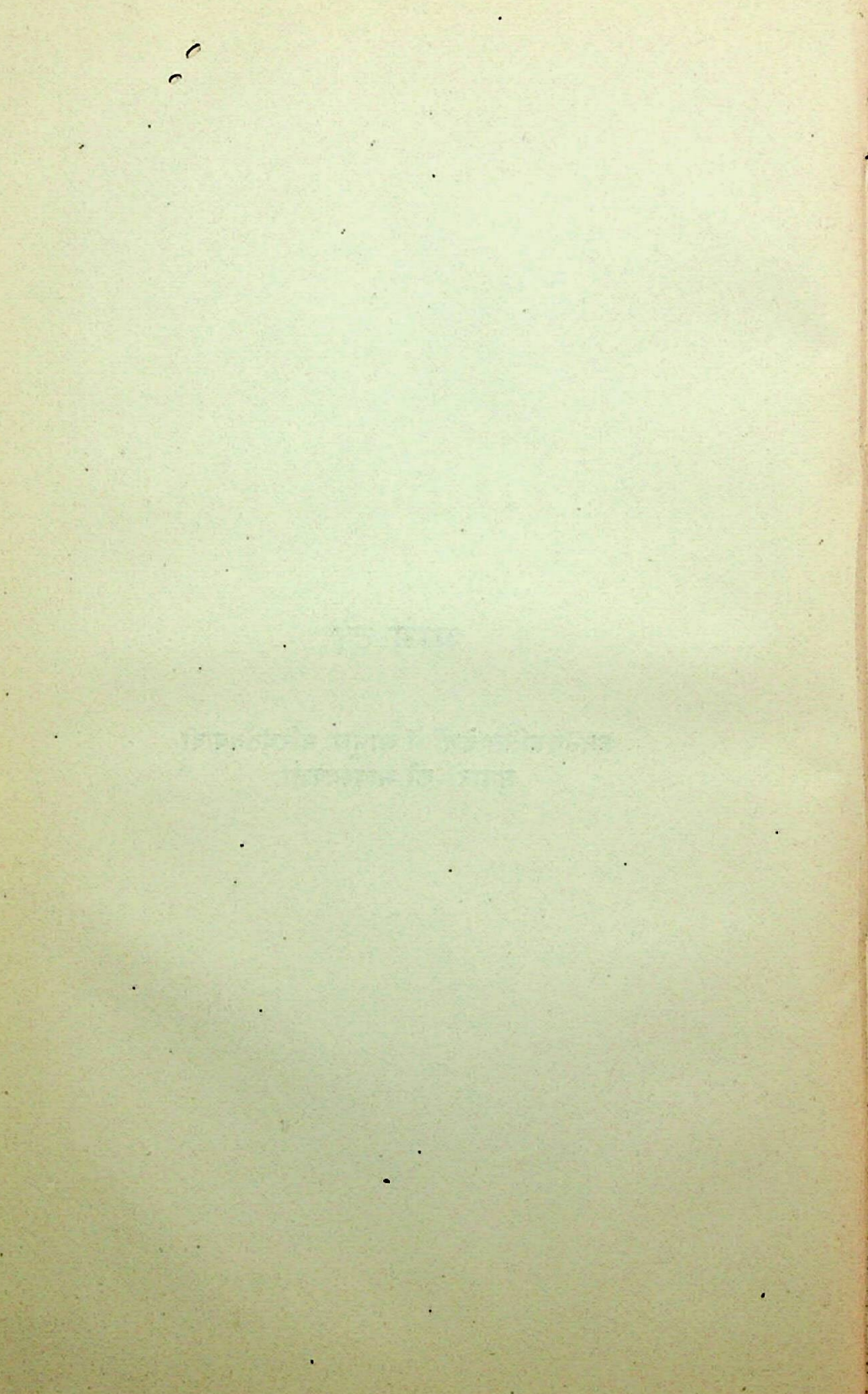
समानता का प्रश्न

1. कुछ सामान्य बातें

कम-विकसित संसार के अधिकांश हिस्से में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण असमानता पर आधारित और कठोर है—यद्यपि विभिन्न देशों में यह अलग-अलग सीमा तक है। बहुत कम देशों को छोड़कर—दक्षिण एशिया में सम्भवत: श्रीलंका को एक ऐसा देश कहा जा सकता है[1]—हाल के वर्षों में आर्थिक असमानता बढ़ती हुई दिखायी पड़ रही है।[2]

कम-विकसित देशों की विकास समस्याओं में समानता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। असमानता का सम्बन्ध समस्त सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों से है। अत: समानता का प्रश्न सामुदायिक विकास, कृषि नीति, शिक्षा सम्बन्धी सुधार और वस्तुत: कराधान जैसे समस्त नीति सम्बन्धी मामलों में एक तत्त्व, और अक्सर एक प्रमुख तत्त्व, बन जाता है। इस दूसरे भाग के सब अध्यायों में हम समानता के इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

लेकिन समानता के प्रश्न को इन देशों की विकास समस्याओं अथवा आयोजन सम्बन्धी साहित्य में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। वस्तुत:—जसाकि अगले अध्याय में विकास की एक महत्त्वपूर्ण समस्या खेती के सम्बन्ध में दर्शाया जायेगा—हाल के वर्षों में पहले से कहीं अधिक पूर्णता से इससे बचने का प्रयास किया गया है।

मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि असमानता और असमानता में वृद्धि की जो प्रवृत्ति है वह विकास के सम्बन्ध में निषेधों और अवरोधों के सम्मिश्र के रूप में काम करती है और परिणामस्वरूप इस प्रवृत्ति को उलट देने की आवश्यकता है और विकास को तेज करने की एक शर्त के रूप में अधिक समानता कायम करने की भी आवश्यकता है।

परम्परा से, इसके विपरीत, पश्चिम के अर्थशास्त्री अधिकांशतया यह मानकर चलते हैं कि आर्थिक विकास और समानतावादी सुधारों में संघर्ष होता है। ये लोग इस बात को स्वयंसिद्ध समझते हैं कि सुधारों के लिए कीमत चुकानी पड़ती है और अक्सर गरीब देशों के लिए यह कीमत आवश्यकता से अधिक ऊँची होती है।

यह दृष्टिकोण संस्थापित अर्थशास्त्रियों की समझौता करने की प्रवृत्ति से प्रेरित विचारधारा जितना पुराना है। इन अर्थशास्त्रियों को आमूल परिवर्तनवादी नीति की मान्यताओं से अपनी रक्षा करने के लिए इस विचारधारा को अपनाना पड़ा था। यह विचारधारा उनके सिद्धान्त का आधार बन गयी है और उन्होंने इस विचारधारा को नैसर्गिक नियम के नैतिक दर्शनों से लिया था और उपयोगितावाद

से भी इसे प्रेरणा मिली थी, जिससे एक समय आर्थिक सिद्धान्त का उदय हुआ था।[3]

आधुनिक अर्थशास्त्री, जो अपने आध्यात्मिक पूर्वजों की तुलना में आर्थिक सिद्धान्त के दार्शनिक मूल के बारे में सामान्यतया कम परिष्कृत हैं, अधिकांश रूप से बस यह मान लेते हैं कि ऐसा संघर्ष मौजूद है और इस सम्बन्ध में किसी हिच-किचाहट का भी अनुभव नहीं करते। इस मान्यता को प्रमाणित करने के लिए शायद ही कभी कोई बुनियादी और अनुभवजन्य अनुसन्धान किया गया हो।

पश्चिम में भी आज हमें इस बात का विस्तृत ज्ञान प्राप्त नहीं है कि बचत का औसत, श्रम विनियोग और श्रमिक कार्यकुशलता जैसे कारक आय और सम्पत्ति के वितरण में विभिन्न सीमाओं तक समानता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया किस प्रकार प्रकट करते हैं। इन विषयों पर विचार-विमर्श अधिकांशतया अमूर्त और कल्पना पर आधारित होता है।

इस बीच सब विकसित देशों में बड़े पैमाने पर समानतावादी सुधार पर आधा-रित नीतियाँ अपनायी गयी हैं और पहले महायुद्ध के समय से ही यह सुधार कार्य निरन्तर तीव्र गति से चलता रहा है।[4] अब ये सब राज्य 'हितकारी राज्य' बन गये हैं। पर इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात, जिसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए, यह है कि केवल अर्थशास्त्रियों ने ही नहीं, बल्कि इन सुधारों की माँग करने वालों और प्रचारकों ने भी इस परम्परागत सामान्य मान्यता को व्यापक रूप से स्वीकार किया कि समानतावादी सुधारों के लिए कीमत चुकानी पड़ती है।

इन सुधारों के सम्बन्ध में अधिक सामाजिक न्याय स्थापित करने के सन्दर्भ में तर्क किये गये, जिसकी आवश्यकता को विकसित देशों में इतने व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा था कि संसदों द्वारा कानून बनाकर इन्हें लागू करने की राजनीतिक परिस्थितियों का निर्माण हो गया। यह समझा जाने लगा कि इन सुधारों को लागू करने के लिए कीमत चुकाना उचित ही है।

केवल सर्वाधिक विकसित हितकारी राज्यों में ही और वह भी बहुत हाल के वर्षों में यह विचारधारा सामने आयी कि हितकारी सुधार, समाज के लिए व्ययसाध्य होने के स्थान पर वस्तुतः स्थिर और तीव्र आर्थिक विकास की आधारशिला रखने में सहायक बनें। इन सुधारों का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव हुआ, इसके बुनियादी अध्ययन का प्रयास अधिकांशतया समाजशास्त्रियों, सामाजिक कार्य-कर्ताओं और सांख्यिकी विशेषज्ञों की दिलचस्पी का ही विषय बना रहा और अर्थ-शास्त्री अधिकांशतया अपनी पुरानी मान्यताओं से चिपके रहे—केवल हाल के वर्षों में इन लोगों ने नये प्रस्तावों के सम्बन्ध में यह भविष्यवाणियाँ करने की पहले जैसी तत्परता नहीं दिखायी कि यदि इन सुधारों को लागू किया गया तो ये विनाश-कारी साबित होंगे। इसका कारण यह है कि उनकी ऐसी अनेक चेतावनियाँ अनुभव की कसौटी पर पूरी तरह गलत सिद्ध हो चुकी हैं।

मैंने पश्चिम के अर्थशास्त्रियों का अपने देशों में सैद्धान्तिक विकास का यह

संक्षिप्त विवरण इस कारण से दिया है, ताकि कम-विकसित देशों में समानता के प्रश्न पर इन लोगों के दृष्टिकोण को वेहतर ढंग से समझा जा सके।

जव दूसरे महायुद्ध के अन्त के वाद इन लोगों ने बड़ी जल्दबाजी में (देखिए अध्याय-1) इन देशों की विकास समस्याओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान की दिलचस्पी दिखायी, तो उनकी एक पूर्व-धारणा यह थी, जिसे वे स्वयंसिद्ध समझते थे, कि ये अत्यधिक गरीब देश सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में सोचने और समानतावादी सुधारों की कीमत चुकाने की स्थिति में एकदम नहीं हैं। आर्थिक विकास करने के लिए इन्हें सामाजिक न्याय का बलिदान देना होगा। इस दृष्टिकोण का एक अच्छा उदाहरण पाकिस्तान के विकास के सम्बन्ध में हाल में प्रकाशित एक पुस्तक के निम्नलिखित उद्धरण से मिल जाता है :

"विकास और समानता के लक्ष्यों के बीच···एक संघर्ष मौजूद है···आय में असमानताएँ अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान देती हैं। और यह विकास कम आय वाले वर्गों की वास्तविक बेहतरी को सम्भव बनाती है।"[4क]

इस विचार को इस कथन के द्वारा अक्सर तर्कसंगत बनाने की कोशिश की जाती है कि "वितरण से पहले उत्पादन की आवश्यकता होती है।" यह एक ऐसा विचार है जो आर्थिक विचारधारा के विकास की पूर्ण अवधि में विकसित देशों में लोकप्रिय रहा। भारत के योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी० आर० गाडगिल उन व्यक्तियों में थे, जिन्होंने इस प्रकार की तर्क-प्रणाली में निहित भ्रान्ति की ओर निरन्तर संकेत किया: "वितरण से पहले उत्पादन ···एक ऐसी नीति को छिपाने का मुखौटा है, जिसे इस नीति के समर्थक खुलकर प्रतिपादित करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।" एक ही समष्टिभाव-प्रणाली में वितरण तथा उत्पादन एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

अधिक समानता और आर्थिक विकास के बीच संघर्ष के विचार का···जब कि गरीब देशों में विकास को प्राथमिकता देनी पड़ती है—सामान्यतया समर्थन वर्तमान विकसित देशों का उदाहरण देकर किया जाता है। पश्चिम के देशों और यहाँ तक कि जापान ने भी अपने औद्योगीकरण के आरम्भिक चरणों में असमानताओं में वृद्धि का अनुभव किया था। इस प्रकार यह मान लिया जाता है कि गरीबों के भद्दे और खुल्लमखुल्ला शोषण की जिस परिस्थिति ने बचत और अत्यधिक साहसपूर्ण उद्यम को सम्भव बनाया, वही औद्योगिक क्रान्ति को गतिशील बनाने का आधार बनी।

इन ऐतिहासिक सुविधाओं को निश्चयपूर्वक निर्णायक नहीं मान लेना चाहिए।[5] एक बात तो यह है कि आज अधिकांश कम विकसित देशों ने अपने नीति सम्बन्धी व्यावहारिक लक्ष्य के रूप में समानता स्थापित करने की घोषणा की है और यह ऐसी बात है, जो वर्तमान विकसित देशों में उन आरम्भिक युगों में शायद ही कभी हुई हो।[6] अनेक कम-विकसित देश आज राष्ट्रीय आयोजन के माध्यम से विकास कार्यों का संचालन करने और विकास की गति को तेज बनाने के लिए वचनवद्ध हैं, जो एक दूसरा अन्तर है।[7] इतना ही नहीं, समानता की स्थापना को आयोजन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य निरन्तर घोषित किया जाता है, वस्तुतः सरकार की समस्त नीतियों का यह लक्ष्य घोषित किया जाता है (देखिए नीचे)।[8]

ऐसी भिन्न परिस्थितियों में वर्तमान विकसित देशों में क्या हुआ होता, इस वात की केवल कल्पना भर की जा सकती है। फिर भी इस उदाहरण के आधार पर कोई स्पष्ट निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है।

जैसाकि जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में स्पष्ट किया है :

"आज आयोजन और आयोजित समाज के विचार को प्रायः हर व्यक्ति भिन्न-भिन्न सीमा तक स्वीकार करता है। लेकिन अपने-आपमें आयोजन का कोई अर्थ नहीं होता और यह स्वतः अच्छे परिणाम नहीं निकाल सकता। हर वात योजना के लक्ष्यों और नियन्त्रक सत्ता के ऊपर निर्भर करती है और वस्तुतः इस नियन्त्रक सत्ता के पीछे काम करने वाली सरकार पर भी यह निर्भर होता है। क्या योजना समस्त लोगों के कल्याण और प्रगति का लक्ष्य अपने सामने रख-कर चलती है ? क्या यह समस्त लोगों को अवसर उपलब्ध कराती है और स्वतन्त्रता तथा सहकारी आधार पर संगठन और कार्य के तरीकों को अपनाकर चलती है ? उत्पादन में वृद्धि अनिवार्य है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि यह अपने आपमें हमें बहुत आगे नहीं बढ़ाती और इस वृद्धि से स्वयं हमारी समस्याओं की जटिलता बढ़ सकती है। पुराने विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों को वनाये रखने का प्रयास, योजनावद्ध प्रयास की जड़ पर ही प्रहार करता है। सच्चे आयो-जन में यह स्वीकार करना होगा कि ऐसे निहित स्वार्थों को ऐसी किसी भी योजना के मार्ग में नहीं आने दिया जा सकता, जो समस्त समुदाय के हित के लिए वनायी गयी हो।"[9]

लेकिन जवाहरलाल नेहरू तक इस मुद्दे पर अस्पष्टता से नहीं वच सके : "कुछ सीमा तक विकासशील अर्थव्यवस्था में यह (आर्थिक असमानता में वृद्धि) अनिवार्य है।"[10] लेकिन श्री नेहरू ने फिर यह भी स्पष्ट किया : "लेकिन इसे रोकने के लिए कारंवाई करनी होगी। अर्थात् यदि आप इन चीजों को खुला छोड़ दें, तो सम्पत्ति वाले लोगों की सम्पत्ति में और अधिक वृद्धि होगी।"[11] इसके वाद हमें इस वात पर ध्यान देना चाहिए कि दूसरे महायुद्ध के दृष्टिकोण के अनुसार योजना तैयार करने में जिन आर्थिक नमूनों को अब सामान्यतया अपनाया गया, उनमें पूर्वाग्रहग्रस्त तत्त्व मौजूद हैं। विकास को बस राष्ट्रीय उत्पा-दन में वृद्धि भर कहा गया है; इसे बड़े साधारण ढंग से भौतिक निवेश का एक कार्य वना दिया गया है। इसके वाद योजना को वित्तीय दृष्टिकोण से तैयार किया जाता है (देखिए अध्याय-1)।

इसका यह अभिप्राय होता है कि समानतावादी सुधारों की लागत की वित्तीय वजट में गणना कर ली जाती है, जो वित्तीय आयोजन का प्रमुख अंग होता है, और अधिक ऊँची उत्पादकता से प्राप्त होने वाले लाभों की दृष्टि से कोई गणना नहीं की जाती। इसके अलावा ऐसे सव सुधार, जिनका सम्वन्ध वजट में शामिल व्यय से नहीं होता—और जिससे केवल दृष्टिकोणों और संस्थाओं में प्रेरित परिवर्तन का आभास भर मिलता है—ऐसी योजना की परिधि के बिल्कुल वाहर दिखायी पड़ते हैं, जिसे दूसरे महायुद्ध के वाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुसार तैयार किया जाता है।[12]

जब अधिक समानता को, जैसाकि अधिकांशतया होता है, योजनाबद्ध (नीचे देखिए), विकास का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य वताया जाता है, तव भी आर्थिक

समानता पर ही मुख्यतया नजर रखी जाती है। यह, वस्तुतः अपने-आपमें दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुसार एक पूर्वाग्रहग्रस्त विचार है, जिस पर अध्याय-1 में प्रकाश डाला गया है।

मेरी राय में, ऐसे अनेक सामान्य कारण हैं कि आर्थिक विकास और अधिक आर्थिक समानता के दो लक्ष्यों के बीच संघर्ष की जो सामान्य परिकल्पना की जाती है, उसके विपरीत इन दोनों लक्ष्यों का अक्सर एक-दूसरे से सामंजस्य होता है और इस बात के भी अनेक कारण हैं कि कम-विकसित देशों में अधिक समानता तेजी से आर्थिक विकास की प्रायः एक अनिवार्य शर्त है।[13]

एक, यह सामान्य तर्क कि आय में असमानता बचत की एक शर्त है, कम-विकसित देशों की परिस्थितियों से मेल नहीं खाता, जहाँ जमींदार और अन्य अमीर लोगों के बारे में यह सर्वविदित है कि वे अपने वैभव के प्रदर्शन के लिए तथा बढ़े-चढ़े और प्रकट निवेश के लिए अपना धन बर्बाद करते हैं और कभी-कभी, विशेषकर (पर वहीं नहीं) लेटिन अमरीका में, देश से बाहर पूँजी पहुँचाते हैं।

दो, कम-विकसित देशों के लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा पौष्टिक आहार की कमी तथा रहन-सहन के स्तर की दृष्टि से अन्य गम्भीर खामियों से ग्रस्त है। वह चिकित्सा और शिक्षा की प्राथमिक सुविधाओं से विशेष रूप से वंचित है। बहुत बुरे मकानों में, स्वच्छता के अभाव में रहता है और क्योंकि इन बातों का उनकी काम करने की तत्परता और योग्यता तथा जमकर जबर्दस्त तरीके से काम करने की क्षमता पर बुरा असर पड़ता है, अतः उत्पादन बढ़ नहीं पाता।[14] इससे स्पष्ट होता है कि इस जन-समुदाय की आय का स्तर ऊँचा उठाने से उत्पादकता में वृद्धि होगी।

तीन, सामाजिक असमानता आर्थिक असमानता से गहराई से जुड़ी है। इन दोनों का एक-दूसरे से कार्य-कारण सम्बन्ध है। अधिक आर्थिक समानता निःसन्देह अधिक सामाजिक समानता को जन्म देगी। अब क्योंकि सामाजिक असमानता अक्सर विकास के मार्ग में बाधक बनती है, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसी प्रक्रिया से अधिक समानता भी अधिक उत्पादकता का आधार बनेगी।

चार, हम इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि अधिक समानता की स्थापना के प्रयास के पीछे इस तथ्य का स्वीकरण मौजूद है कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से इसका अपना स्वतन्त्र मूल्य होता है और इसका राष्ट्रीय एकीकरण पर बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा।

जब हम कम-विकसित देशों में गरीब वर्ग के लोगों के अत्यधिक संकटपूर्ण और रहन-सहन के नीचे स्तर का स्मरण करते हैं और जब हम रहन-सहन के स्तर में सुधार के परिणामस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि के सामान्य कारणों को ध्यान में रखते हैं, तब इस अधिकांशतया काल्पनिक सिद्धान्त पर विश्वास करने का कम कारण दिखायी पड़ता है कि अधिक समानता की दृष्टि से किये गये सुधारों

का आर्थिक विकास पर बुरा असर पड़ेगा।

मैंने ऊपर कहा है कि हाल में उन अत्यधिक विकसित देशों में, जो हितकारी राज्यों के रूप में सबसे अधिक बढ़े-चढ़े हैं, रहन-सहन के कहीं अधिक ऊँचे स्तर के मौजूद रहते हुए निचले आय वर्गों के बारे में जो अध्ययन किये गये हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि निरन्तर समानतावादी सुधारों के जारी रहने का उन देशों तक में उत्पादकता पर लाभकारी प्रभाव पड़ा है। इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उसी प्रकार के सुधारों से कम-विकसित देशों को भी लाभ होगा।

हम इस अनुमान का समापन, एशिया और सुदूरपूर्व के आर्थिक आयोग के सचिवालय के इस निर्णय का उदाहरण देकर करेंगे, जो कल्पना के आधार पर काम करने वाले, विशेषकर पश्चिम के, अर्थशास्त्रियों की तुलना में कम-विकसित देशों के जीवन के कहीं अधिक समीप है:

"वास्तविक अनुभव के आधार पर यदि निर्णय करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आय की बड़ी और निरन्तर बढ़ती हुई असमानताएँ, तेज आर्थिक गतिविधि और विकास के प्रवल प्रवाह के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हुई हैं। वस्तुतः इस बात की कहीं अधिक सम्भावना दिखायी पड़ती है कि आय के अत्यधिक संकेन्द्रन ने अक्सर स्वस्थ आर्थिक विस्तार के मार्ग में बाधा डाली है। उसने यह कार्य विकास में जनता के हिस्सा लेने के मार्ग में प्रभावशाली बाधा डालकर (भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की बाधाएँ) किया है। इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि विकास-नीति के वितरण सम्बन्धी पहलुओं की ओर मुक्त व्यापार के वर्तमान रवैये से एशिया के देशों में राजनीतिक और सामाजिक यथा-स्थिति कायम रखने को बड़ा सुविधाजनक समर्थन मिलता है।"[15]

अब तक मैं कम-विकसित देशों में समानता के प्रश्न के बारे में अत्यधिक अमूर्त और सामान्य शब्दावली में विचार करता रहा हूँ। अगले अध्याय में मैं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृषि नीति की समस्या के सन्दर्भ में इसी विषय पर विचार करूँगा।

लेकिन इससे पहले मैं कम-विकसित देशों में विद्यमान असमानता के मोटे तथ्यों पर अधिक गहराई से नजर डालना चाहता हूँ और विशेषकर यह प्रश्न उठाना चाहता हूँ कि सामाजिक और आर्थिक खाइयों को क्यों कायम रहने दिया गया और यह बढ़ती हुई क्यों दिखायी पड़ रही हैं।

2. असमानता और सत्ता

कम-विकसित देशों में असमानता अनेक रूप धारण कर सकती है। यह एक ऐसे समाज में भी उसी प्रकार कठोर हो सकती है, जिस समाज में वस्तुतः आर्थिक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति सम्पन्न न हो—उदाहरण के लिए, मान लीजिए भारत के किसी गाँव में, पश्चिम बंगाल के किसी गाँव का उल्लेख किया जा सकता है, भूस्वामित्व ऊँची जाति के लोगों के हाथों में है, जो स्वयं काम नहीं करते पर इनके पास भी जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हैं। दूसरी ओर आधे अथवा इससे भी अधिक खेत-मजदूर मालिकों की ओर से खेतों में काम करते हैं और स्वयं उनके

पास कोई जमीन नहीं होती।[16] इसके अलावा कुछ गिने-चुने अमीर जमींदारों का एक छोटा-सा वर्ग है, जो अक्सर गाँव से गैर-हाजिर रहते हैं, और इन जमींदारों के मैनेजर इन गाँवों में सर्वोपरि स्थिति में होते हैं तथा समाजों के सबसे निचले वर्ग के रूप में बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर होते हैं। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान में सिन्ध और अन्य हिस्सों का तथा लेटिन अमरीका के अनेक देशों का उल्लेख किया जा सकता है।

सामाजिक असमानता और आर्थिक असमानता के बीच अन्तर करना सम्भव है। सामाजिक असमानता स्पष्ट रूप से व्यक्ति की स्थिति से सम्बन्धित होती है और सम्भवतः इसकी सर्वोत्तम परिभाषा यही दी जा सकती है कि इसमें सामाजिक गतिशीलता का अत्यन्त अभाव होता है और मुक्त रूप से प्रतियोगिता करने की सम्भावना बहुत सीमित रहती है। अर्थशास्त्र में 'मुक्त प्रतियोगिता' का जिन अर्थों में प्रयोग किया जाता है, उनसे कहीं अधिक व्यापक अर्थों में यहाँ प्रयोग किया गया है। आर्थिक असमानता अधिक सीधी-सादी संकल्पना है और इसका सम्बन्ध सम्पत्ति तथा आय के अन्तरों से होता है।

लेकिन इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि सामाजिक असमानता आर्थिक असमानता का एक प्रमुख कारण होती है और साथ ही आर्थिक असमानता सामाजिक असमानता को समर्थन देती है। अधिकांश परिस्थितियों में सामाजिक और आर्थिक असमानता मिलाजुला मामला होती है, जिसे केवल एक विश्लेषण के द्वारा ही दो अलग-अलग विभागों में विभाजित किया जा सकता है और यह विश्लेषण स्वरूप की दृष्टि से संस्थागत होना चाहिए।

गरीबी और असमानता के बीच अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक सम्बन्ध इस अध्याय का सामान्य विषय है : कि, जैसाकि हम तर्क देते हैं, सामाजिक और आर्थिक असमानता किसी भी देश की गरीबी का एक प्रमुख कारण होती है। योजना की दृष्टि से इसका यह अभिप्राय होता है कि किसी समाज को गरीबी से मुक्ति दिलाने के लिए अधिक समानता एक पूर्व शर्त होती है।

दूसरा सम्बन्ध यह है कि कोई देश समग्र अथवा औसत दृष्टि से जितना अधिक गरीब होगा, आर्थिक असमानता उन लोगों के लिए कहीं अधिक कठोर कष्टों की सृष्टि करेगी जो सबसे निर्धन होते हैं।[17] यदि समग्र असमानता की सीमा की तुलना 'लोरेन्ज वक्र' की दृष्टि से विकसित देशों से की जा सके, जिसमें आबादी के किसी निर्धारित प्रतिशत की कुल आय का हिस्सा दर्शाया जाता है—जो सामान्यतया नहीं होता, यद्यपि उपलब्ध आँकड़ों में सूक्ष्मता में कमी के कारण कुछ देशों में इसकी सम्भावना को पूरी तरह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता—तो इसका कम-विकसित देशों के निचले आय-वर्गों के लोगों के ऊपर कहीं अधिक बुरा असर पड़ेगा।

तीसरा सम्बन्ध यह है कि सम्भवतः आर्थिक और सामाजिक असमानता वर्तमान गरीबी और गरीबी से छुटकारा पाने के लिए कोई देश जिस कठिनाई का अनुभव करता है उसका एकमात्र कारण न हो, बल्कि उसका परिणाम भी हो। दक्षिण एशिया में असमानता और गरीबी की सीमाओं के मोटे पारस्परिक सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए, यह प्रश्न उठाना उचित ही है कि क्या गरीबी असमानता को जन्म देती है अथवा नहीं।[18]

एक सामान्य प्रक्रिया यह होगी कि अर्थव्यवस्था के एक बहुत निचले स्तर पर मानवीय उदारता के लिए बहुत कम स्थान शेष रहेगा, जबकि हर प्रकार के सामाजिक अन्तरों अथवा भेदभावों को बनाये रखने की अधिक प्रबल आवश्यकता अनुभव होगी। स्वीडन की एक कहावत है कि "जब नाँद खाली हो जाती है, तो घोड़े एक-दूसरे को काटने लगते हैं।" यदि यह सच और महत्त्वपूर्ण है तो इस बात को एक ऐतिहासिक संयोगमात्र नहीं समझा जाना चाहिए कि भारत और पाकिस्तान के विशिष्ट गाँवों में, जिनमें आय के स्तर अत्यधिक नीचे हैं, सामान्यतया बड़ा स्पष्ट और गहरा अन्तर दिखायी पड़ता है।

थाईलैण्ड या बर्मा का कोई गाँव, हो सकता है बहुत अधिक अमीर न हो, लेकिन कुछ ही गाँव वाले अनाज की कमी से इस सीमा तक ग्रस्त हैं, जिस सीमा तक भारत और पाकिस्तान के। थाईलैण्ड और बर्मा में मनुष्यों के बीच जो अधिक समानता है, उसका कारण ऊँचा आर्थिक स्तर कहा जा सकता है। हम इस बात का भी उल्लेख कर सकते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से, पश्चिम के विकसित देशों में अवसर की अधिक समानता में आर्थिक स्तर ऊँचा उठने के साथ-साथ सामान्यतया वृद्धि हुई।

पर वस्तुतः कम-विकसित देशों में असमानता के क्या कारण हैं, यह बात कहीं अधिक जटिल है और यह भी हो सकता है कि केवल गरीबी ही इसका एकमात्र कारण, और कभी-कभी तो एक प्रमुख कारण भी, न हो।

थाईलैण्ड और बर्मा जैसे देशों में अधिक समानता का सम्बन्ध अक्सर इन दो देशों के बौद्ध धर्म के साथ बैठाया जाता है। हम इस स्पष्टीकरण से पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते। विद्वत् और अन्य उच्च स्तरों पर इस्लाम की शिक्षाएँ और अभिव्यक्तियाँ भी बौद्ध धर्म से कम समानतावादी नहीं हैं।

इसके अलावा, सामान्यतया उस समय विश्वास न कर पाने के कारण मौजूद रहते हैं, जब पश्चिम के, और दक्षिण एशिया के भी, लेखक यह सोचते हुए दिखायी पड़ते हैं कि वे हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम अथवा ईसाई धर्म के प्रभाव के बारे में जब बिना किसी सूक्ष्मता के विचार प्रकट करते हैं, तो वे कोई महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। कारण यह है कि जब वे इन धर्मों का उल्लेख करते हैं, तब वे उन्हें केवल संकल्पनाओं और सिद्धान्तों के रूप में ही लेते हैं। अक्सर उस बौद्धिक और अमूर्त रूप में इन पर विचार होता है, जिस रूप में ये अपने धार्मिक साहित्य और विद्वत्तापूर्ण धार्मिक उपदेशों में दिखायी पड़ते हैं।[19]

धर्म का क्या प्रभाव होता है, इसके अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि हम धर्म के उस स्वरूप पर विचार करें जो सामान्य लोगों में वास्तविक रूप में विद्यमान है : धार्मिक कर्मकाण्ड और विभिन्न स्तरों में विभाजित अत्यधिक भावनात्मक विश्वासों और मूल्यांकनों की व्यवस्था, जो नियमित रूप से परम्परा से प्राप्त संस्थागत व्यवस्थाओं को, रहन-रहन के तरीकों और दृष्टिकोणों को पवित्रता, हर स्थिति में पालनयोग्य वस्तु और अपरिवर्तनीयता प्रदान करती है; कम-विकसित देशों के बड़े जन-समुदायों के बीच सामान्यतया जिस रूप में अनेक

धर्म विद्यमान हैं, और जिनमें कोई विशेष अन्तर दिखायी नहीं पड़ता, उनमें अन्धविश्वासों और हर प्रकार के असंगत निषेधों की भरमार दिखायी पड़ती है और ये ऐसी बातें होती हैं जिनका इन धर्मों के 'उच्च' स्तर पर प्रतिपादित शिक्षाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

लोकप्रिय धर्म की एक सामान्य विशेषता यह है कि वह सामाजिक निष्क्रियता उत्पन्न करने के लिए एक बड़ी शक्ति के रूप में काम करता है, और परम्परा से जो भी सामाजिक और आर्थिक समानता प्राप्त है उसका समर्थन करता है। यदि कहीं भी मार्क्स के इस कथन का औचित्य सिद्ध हुआ कि धर्म लोगों के लिए अफीम का काम करता है, तो यह कम-विकसित देशों के गरीब लोगों के बीच ही हुआ।

वर्तमान सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण, जो इतिहास की उपज है, रीति-रिवाजों से समर्थित है और स्वयं इन रीति-रिवाजों को धर्म से समर्थन प्राप्त होता है, जिसका अक्सर यह अर्थ होता है कि गरीब लोग अपने कष्टों के खिलाफ आवाज़ नहीं उठाते, उनका विरोध नहीं करते, बल्कि अपने दुर्भाग्य को देवताओं द्वारा निर्देशित मानते हैं। वे यह विश्वास करते हैं कि समस्त आधि-भौतिक शक्तियों ने उनके लिए यही विधान किया है।

कम-विकसित देशों के प्रगतिशील नेता लोकप्रिय धर्म को चुनौती देने से अक्सर बचते हैं। ऐसा लगता है कि वे अब इस बात पर अधिक भरोसा कर रहे हैं कि शिक्षा के प्रसार और अधिक प्रभावशाली संचार साधनों की व्यवस्था हो जाने पर, अधिक तर्कसम्मत आचरण की ओर लोगों का रुझान होगा। दक्षिण एशिया में कम्युनिस्ट तक धर्म का विरोध न करने की सावधानी बरतते हैं।

इन सामान्य मुद्दों का उल्लेख करने के बाद अब हम एक विचित्र विरोधा-भास पर आते हैं।

सब कम-विकसित देशों की नीति सम्बन्धी घोषणाओं में अधिक समानता की बात कही जाती है। अपने योजनाबद्ध विकास में वे बड़े सामान्य और विशिष्ट रूप से व्यापक जन-समुदाय के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने का व्यावहारिक लक्ष्य अपने सामने रखते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इन देशों की एक भी सरकार ने यह घोषणा नहीं की कि कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त समृद्ध लोगों को और अधिक अमीर बनाकर अधिक असमानता की स्थापना करना उसका लक्ष्य है।[20]

जैसाकि एशिया और सुदूरपूर्व के आर्थिक आयोग के सचिवालय ने हाल में निष्कर्ष निकाला है :

"अधिकांश योजनाओं में यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है अथवा उनका यह अभिप्राय होता है कि उनका प्रमुख उद्देश्य व्यापक जन-समुदाय के रहन-सहन के स्तर को पर्याप्त ऊँचा उठाना है और रहन-सहन को ऊँचा उठाने का यह कार्य निरन्तर जारी रहेगा तथा तेज़ी से आर्थिक विकास को इस लक्ष्य की पूर्ति का साधन माना जाना चाहिए, अपने-आपमें एक लक्ष्य नहीं। बुनियादी तौर पर विकास आयोजन को 'सामाजिक' रुझान प्रदान करने के कार्य का उल्लेख क्षेत्र के राजनीतिक नेता अपने भाषणों में अक्सर जोर देकर करते हैं और कुछ देशों में तो संविधान की व्यवस्थाओं के द्वारा इसे और अधिक प्रभावशाली बनाया

जाता है।"[21]

भारत में, जहाँ गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित संसार के तिहाई से अधिक लोग रहते हैं, सरकार द्वारा मान्य समानतावादी आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत लम्बी-चौड़ी बातें कही जाती हैं। यही कारण है कि उस समाज को अभिव्यक्त करने के लिए, जिसकी स्थापना की आकांक्षा भारत करता है 'हितकारी राज्य', 'वर्गविहीन समाज' और 'सहकारी राष्ट्रमण्डल' जैसे शब्दों का ही इस्तेमाल नहीं किया जाता, बल्कि समाज जिस दिशा में आगे बढ़ रहा है और यदाकदा तो समाज के वर्तमान स्वरूप के लिए भी इन शब्दों का प्रयोग होता है।

यह भी बड़ी सामान्य बात है कि देश में घट रही घटनाओं के लिए 'आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति' जैसी बातें कही जाती हैं। आज भी अक्सर बड़े उद्योगपति और राजनीतिज्ञ, 'समाजवादी' अथवा ऐसी अनेक अभिव्यक्तियों का प्रयोग करते हैं, जिसमें 'समाजवादी' शब्द आता है और इसे अक्सर नीति का व्यावहारिक लक्ष्य बताया जाता है।[22]

यद्यपि भारत में आमूल परिवर्तनवादी शब्दावली का सामान्य प्रयोग सबसे अधिक होता है, पर समानतावादी आदर्श का पालन करने और यह स्वाँग रचने का प्रयास कि यह आदर्श व्यावहारिक नीतियों को प्रभावित कर रहा है, प्रायः सब कम-विकसित देशों में बड़ी सामान्य बात है। अन्तर इस बात पर जोर देने भर का होता है। वस्तुतः समस्त आधुनिकीकरण के आदर्शों में, जिन्हें आयोजन की नीतियों के लक्ष्यों के रूप में सर्वत्र अंगीकार किया जा रहा है, किसी भी अन्य लक्ष्य को इससे अधिक प्रकट विश्वास के साथ व्यक्त नहीं किया जाता।

विरोधाभास इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रायः सब कम-विकसित देशों में आर्थिक असमानता बढ़ती हुई दिखायी पड़ती है।[23] और सामाजिक असमानता, एक सामान्य अभिव्यक्ति के रूप में यह कहना उचित होगा, सामान्यतया घट नहीं रही है।[24]

इन प्रवृत्तियों को अधिक सूक्ष्मता से प्रदर्शित करने के मार्ग में केवल यही कठिनाई नहीं है कि कम-विकसित देशों में सम्बन्धित आँकड़ों की सामान्य कमी है, बल्कि जिन लोगों के हाथों में नियन्त्रण है, उनमें यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे इस विरोधाभास का सामना करने से बचते हैं और असमानता का क्या हो रहा है इसके बारे में अधिक गहराई से जाँच नहीं करते।[25] यह बात और उन पुरातनपंथी नीतियों को दूरगामी और आमूल परिवर्तनवादी नीतियों के रूप में प्रकट करने की सामान्य प्रवृत्ति, जबकि ये पुरातनपंथी नीतियाँ असमानताओं को और बढ़ाती हैं,[26] अवसरवादी पूर्वाग्रहों की सर्वव्यापी प्रवृत्ति के अन्य उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिनके ऊपर अध्याय—1 में विचार हुआ है।

इस विरोधाभास—अधिक समानता के पक्ष में जोरदार शब्दों में घोषणाएँ

और अधिक असमानता की ओर आगे बढ़ने की प्रकट प्रवृत्ति का पारस्परिक विरोध—का स्पष्टीकरण निश्चय ही कम-विकसित देशों में सत्ता के वितरण से सम्बन्धित है।[27]

कम-विकसित देशों में प्रायः सर्वत्र राजनीतिक सत्ता कुछ विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के हाथों में ही है और इस स्थिति पर इस तथ्य का प्रायः कोई प्रभाव नहीं है कि इन देशों में सरकार का स्वरूप कैसा है। इन वर्गों की प्रथम कोटि में बड़े जमींदार, उद्योगपति, साहूकार, व्यापारी और उच्च सैनिक तथा असैनिक अधिकारी आते हैं। इन उच्च वर्गों के नीचे अन्य समुदाय आते हैं, जो निश्चय-पूर्वक अत्यधिक गरीब लोगों के समुदाय से बहुत ऊँचे होते हैं, जिन्हें इन देशों में सामान्यतया 'मध्यम वर्ग' कहा जाता है और जिसमें प्रायः सब 'शिक्षित' लोग आते हैं।

इस 'मध्यम वर्ग' में अधिकांशतया उस वर्ग को भी शामिल कर लिया जाता है, जिसे भारत में अक्सर 'गाँव का समृद्ध वर्ग' कहा जाता है। इस वर्ग में किसान-जमींदार और कुछ अमीर काश्तकार आते हैं, जो गाँवों में ही रहते हैं। इस वर्ग में मैनेजर, व्यापारी, साहूकार, अफसर और ऐसे अन्य लोग आते हैं जो स्थानीय स्तर पर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नियन्त्रण की दृष्टि से सामान्यतया सर्वोपरि स्थिति में होते हैं।

वस्तुतः यह शब्दावली वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूरी तरह गलत है। तथा-कथित 'मध्यम वर्ग' के लोग केवल पश्चिमी समाजों की शब्दावली की दृष्टि से ही मध्यम वर्ग के हैं—ये भूतपूर्व उपनिवेशों और इससे भी अधिक सही ढंग से, पश्चिम के उन देशों के समाजों के सन्दर्भ में मध्यम वर्ग के हैं, जो इन देशों पर शासन करते थे। 'शिक्षित' शब्द को इस कारण से अपना सच्चा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक महत्त्व प्राप्त होता है कि बहुत कम लोग शिक्षित हैं।

कम-विकसित देशों में इन सब वर्गों को उच्च वर्ग के ही अन्तर्गत समझा जाना चाहिए। समस्त 'शिक्षितों' और सामान्यतया 'मध्यम वर्ग' को जोड़ कर भी, यह उच्च वर्ग अपने समाजों में एक बहुत छोटा ऊपरी हिस्सा बना रहता है।

लेकिन यहाँ हमें इस बात का उल्लेख करना होगा कि कम-विकसित देशों में जो अनेक कर सम्बन्धी और अन्य सुधार हो रहे हैं, और जिन्हें अधिक आर्थिक समानता के स्थापना की दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग के हित में बताया जाता है, एक उच्च-उच्च वर्ग को क्षति पहुँचाकर किये जाते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण से इन सुधारों को—जो लागू होने की स्थिति में सामान्यतया इस सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी बहुत प्रभावशाली नहीं होते—अधिक से अधिक उच्च वर्ग के भीतर आय के पुनर्वितरण की कार्रवाई कहा जा सकता है। यहाँ हमें उच्च वर्ग को इसके व्यापकतम रूप में लेना होगा।[28] अधिक समानता की स्थापना की दिशा में वास्तविक प्रगति तभी हो सकती है, जब गरीब लोगों के विशाल जन-समुदाय के हितों की चिन्ता की जाये।

यह विशाल निर्धन जन-समुदाय अधिकांशतया निष्क्रिय, उदासीन और अपनी माँगों को प्रकट न करने वाला है। यह शायद ही कभी अपने हितों को आगे बढ़ाने और उनकी रक्षा करने के लिए संगठित हो पाता है। इस सम्बन्ध में एक बार जवाहरलाल नेहरू ने कहा : "जो लोग सचमुच गरीब हैं, वे कभी हड़ताल नहीं करते, उनके पास प्रदर्शन करने के न तो साधन हैं और न ही शक्ति।" बहुत समय पहले मार्क्स ने भी गरीबों के सन्तोष और माँग की कमी के बारे में शिकायत की थी।

इस गरीब जन-समुदाय को धार्मिक उन्माद, जातीय पूर्वाग्रहों, ईर्ष्या और द्वेष के आधार पर तथा एक-दूसरे की जमीन और घरेलू सम्पत्ति चुराने तथा दुकानों को लूटने के प्रति जो संकोच और निषेध का भाव रहता है, उसमें ढील देने का अवसर प्राप्त होने पर दंगों और हिंसा के लिए भड़काया जा सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप के भारत और पाकिस्तान में विभाजित होने के समय सामाजिक व्यवस्था बड़े पैमाने पर ध्वस्त हो गयी थी और इसके बाद भी ऐसी अनेक परिस्थितियों में इन दोनों देशों में अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर यही हुआ।[29] नाइजीरिया में धार्मिक और जातीय घृणा ने गृहयुद्ध को जन्म दिया और ऐसे ही संघर्ष अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र देशों के अनेक हिस्सों में शुरू हो गये हैं अथवा इनके लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं। यदाकदा ऐसे दंगे वर्ग संघर्ष का नाटक करते हैं, उदाहरण के लिए भारत उपमहाद्वीप के विभाजन के बाद जो व्यापक अव्यवस्था हुई उसमें अनेक हिन्दू जमींदारों को पूर्व-पाकिस्तान से भगा दिया गया; अथवा मलाया के हाल के दंगों का उल्लेख किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप एक आपतकालीन सरकार की स्थापना हुई और इसे मलाया के संवैधानिक संसदीय लोकतन्त्र के स्थान पर एक निरंकुश शासन की स्थापना कहा जा सकता है।

कम-विकसित संसार के अनेक हिस्सों में समय-समय पर जमींदारों के खिलाफ किसानों के छुटपुट विद्रोह होते रहे हैं।[30] लेकिन प्रायः नियमित रूप से यह उसी प्रकार निरर्थक रहे, जिस प्रकार गृहयुद्ध से पहले की शताब्दियों में संयुक्त राज्य अमरीका में गुलामों के विद्रोह हुए थे। इन विद्रोहों में संगठन का अभाव था और इनकी कोई स्पष्ट योजना भी नहीं थी तथा इन्हें बहुत आसानी से दवा दिया गया था।

जब सार्वजनिक नीति का प्रश्न आता है, कम-विकसित संसार में जन-समुदाय राजनीति का लक्ष्य बन जाता है, पर शायद ही कहीं यह इसकी विषय-वस्तु बन पाता हो। जो विभिन्न समूह उच्च वर्ग का निर्माण करते हैं, और जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उनके भीतर आपसी समझौतों, एक-दूसरे को रियायत और यदा-कदा भीतरी लड़ाई के द्वारा जन-समुदाय पर शासन होता है।

जब विभिन्न कम-विकसित देशों में 'जनमत' का उल्लेख किया जाता है, तो वस्तुतः इसका अभिप्राय अधिकांशतया उन लोगों के मत से होता है, जो अपनी बात उठा सकते हैं और ये सामान्यतया उच्च वर्ग के लोग ही होते हैं। अक्सर वे लोग इस बात को स्पष्ट नहीं करते, जो इस सम्बन्ध में भाषण करते हैं अथवा लिखते हैं, चाहे ये लोग स्वयं इन देशों के हों अथवा पश्चिम के रहने

वाले ।

कम-विकसित देशों में राजनीतिक विकास के वैज्ञानिक लेखन में भी अक्सर इस गलत शब्दावली का प्रयोग होता है। यह अवसरवादी पूर्वग्रह का एक और उदाहरण है और इसमें उन परिस्थितियों को स्वीकार कर लिया जाता है, जो पश्चिम के विकसित देशों में विद्यमान हैं, जिसके बारे में हमने अध्याय—1 में विचार किया है।

दक्षिण एशिया के अधिकांश अन्य देशों के विपरीत भारत तेज़ी से सार्व-भौम वयस्क मताधिकार के आधार पर संसदीय प्रणाली की स्थापना कर सका और इसके बाद इस प्रणाली की रक्षा में भी सफल रहा। इस प्रणाली के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक व्यापक पैमाने पर लोग चुनावों में हिस्सा लेते हैं और सम्भवतः इस प्रणाली का गैर-कानूनी ढंग से अथवा कानून-सम्मत तरीके से उतना उल्लंघन नहीं हुआ जितना अमरीका में हुआ है। नागरिक स्वतन्त्रताओं और विशेषकर विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता की रक्षा बड़ी तत्परता से की गयी है।

इसके बावजूद भारत की सरकार सामाजिक और आर्थिक गतिहीनता की सरकार रही है। लोकतन्त्र ने अधिकांश गरीब लोगों को स्वयं अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए सत्ता पर अधिकार करने और अपने हितों के लिए सत्ता के उपयोग के निमित्त स्वयं को संगठित करने की प्रेरणा और क्षमता प्रदान नहीं की है। सत्ता का संघर्ष उच्च वर्ग के व्यक्तियों और समूहों के बीच ही मोटे तौर पर सीमित रहा है।

यह तथ्य कि राजनीतिक सत्ता उच्च वर्ग के व्यक्तियों और समूहों के हाथों में है और व्यापक जन-समुदाय निष्क्रिय बना हुआ है, एक ऐसी स्थिति है, जो दक्षिण एशिया के सब देशों में व्याप्त है। इस तथ्य का इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है कि कुछ देशों में अपनी माँगें प्रकट करने वाले उच्च वर्ग के लोगों के बीच खुले और स्वतन्त्र विचार-विमर्श की अनुमति है। ये वे देश हैं, जिन्होंने संसदीय लोकतन्त्र के स्वरूप को कायम रखा है और व्यापक नागरिक अधिकारों की रक्षा की है।

दक्षिण एशिया के कुछ अन्य देशों में सरकारों का तख्ता उलटने के बाद, जिन अधिक निरंकुश सरकारों की स्थापना हुई है, उसके परिणामस्वरूप, इस बुनियादी दृष्टिकोण से कोई, अन्तर नहीं आया है। राजनीतिक शासन में परिवर्तन उस गरीब जन-समुदाय के दबाव के परिणामस्वरूप नहीं हुआ, जो अपने हितों के प्रति राजनीतिक दृष्टि से अधिक सजग हो गया हो और सामूहिक कार्रवाई के लिए संगठित हो गया हो।[31]

इसके विपरीत नियमित रूप से इसका अर्थ उच्च वर्ग के विभिन्न समूहों के बीच सत्ता का हस्तान्तरण होता है और अक्सर सेना के उच्च अधिकारी सत्ता पर अधिकार कर लेते हैं और इसके बाद सत्ता पर अपना एकाधिकार बनाये रखने के प्रयास में लगे रहते हैं। पर सत्ता का उपभोग उच्च वर्ग के अन्य समूहों के साथ विभिन्न सीमाओं तक मिलकर किया जाता है।

किसी सरकार का तख्ता उलटने के कारण साधारणतया कुप्रबन्ध और भ्रष्टाचार बताये जाते हैं। (देखिए अध्याय—7) सत्ता पर ऐसे किसी भी

अधिकार से पहले और उसके बाद भी सामान्य जन-समुदाय राजनीतिक प्रभाव से वंचित रहता है और पहली सरकार का तख्ता उलटने की कार्रवाई उनकी कोई भी चिन्ता किये बिना की जाती है।

पाकिस्तान में एकदम हाल में जो जबर्दस्त राजनीतिक उथल-पुथल हुई हैं, और ये पंक्तियाँ लिखते समय जिनका अन्त भी नहीं हुआ था, इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति अयूब खान की अध्यक्षता में जो निरंकुश सरकार सन् 1958 से सत्तारूढ़ थी, उसके विरुद्ध उच्च वर्ग के विभिन्न समूहों ने मिलकर मोर्चा बनाया, इसमें स्वयं को 'मध्यम वर्ग' कहने वाले वर्ग का बड़ा हिस्सा शामिल था। इस वर्ग में विद्यार्थी भी शामिल माने जाते हैं।

सन् 1958 में सरकार का तख्ता उलटने से पहले जो "लोकतन्त्री" शासन थे, वे हर दृष्टि से पूरी तरह असफल रहे और इसके परिणामस्वरूप व्यापक भ्रष्टाचार फैला और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक गतिहीनता कायम रही।[32] अयूब खान और उनकी सरकार ने अच्छा समारम्भ किया। सर्वाधिक कुख्यात ढंग से कानून तोड़ने वाले लोगों में से कुछ को सजा दी, कुछ सीमा तक सामाजिक अनुशासन कायम किया और आयोजन के लक्ष्य के रूप में समस्त आधुनिकीकरण आदर्शों का समर्थन किया—बस सामान्य जन-समुदाय के लिए अधिक समानता की स्थापना के प्रयास को घटाकर दर्शाया गया अथवा इसे मात्र मौखिक समर्थन दिया गया।

वस्तुत: यह नया शासन पुराने शासक वर्ग का प्रतिरक्षात्मक पुनर्गठन था और इस खतरे को पहले ही देखा जा सकता था कि कालान्तर में यह फिर राजनीतिक, सैद्धान्तिक और नैतिक दृष्टि से पतन के गर्त में गिर जायेगा। लेकिन हाल में हिंसक विद्रोह शुरू होने तक, इस शासन को दो कारणों से सम्भव आर्थिक विकास का श्रेय प्राप्त था: पिछले 'लोकतन्त्री' युग के दौरान जो प्राय: पूर्ण निष्क्रियता कायम हो गयी थी, यह उससे बाहर निकल आया था और इसका नये शासन के लिए प्रत्यक्ष लाभ दिखायी पड़ता था और इसे भारत की तुलना में विदेशों से, मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका से, प्रति व्यक्ति विभिन्न प्रकार की दुगनी 'सहायता' प्राप्त हुई थी। संयुक्त राज्य अमरीका में इस निरंकुश शासन की उपलब्धियों की बेहद प्रशंसा की गयी थी और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्रियों की टोली ने इस सफलता का बड़ा विज्ञापन किया, जिन्होंने पाकिस्तान के लिए योजनाएँ बनाने में हिस्सा लिया था, लेकिन जिन्हें अब समाचार-पत्रों में प्रकाशित रिपोर्टों के अनुसार वहाँ से खदेड़ा जा रहा है।[33]

लेकिन नयी आय और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न सम्पदा की प्रवृत्ति उच्च-उच्च वर्ग के सदस्यों के हाथों में ही पहुँचने की रही और कुछ सीमा तक खेती में लगे 'मध्यम वर्ग' को भी इसका लाभ मिला, जबकि शहरों में रहने वाले वेतनभोगी वर्गों का वेतन बढ़ने नहीं दिया गया। एक बार फिर भ्रष्टाचार कल्पनातीत हो गया और इससे उच्च सैनिक और असैनिक अफसर, मन्त्री और स्वयं अयूब भी तथा/अथवा उनके रिश्तेदार नहीं बचे। कहा जाता है कि एक उद्योगपति ने इस भ्रष्टाचार का कारण समझाते हुए कहा: "···इस देश में अब भ्रष्टाचार पहले से भी बेहद बुरी स्थिति में है। जब चोटी के लोग अमीर होते जा रहे हैं तो हर आदमी यही करता है। हम सब लोगों ने—व्यापारियों,

नौकरशाहों, मन्त्रियों ने—मिलकर जनता के शोषण के लिए संगठन बना लिया है।"[34]

पाकिस्तान की सफलता की कहानी के दूसरे पहलू की जानकारी अमरीकी जनता को नहीं दी गयी और यह भी लगता है कि उनकी सरकार को भी उस समय तक यह जानकारी प्राप्त नहीं हुई, जब तक भण्डा नहीं फूट गया और पेशेवर रिपोर्टरों ने इस पर गहरी नज़र नहीं डाली। यह असामान्य बात नहीं है कि पत्रकारों को सच्चाई का पता लगाना और इसे जनता को बताना पड़ता है—जबकि राजनयिक और गुप्तचर सूत्र इसका पता नहीं लगाते और प्रोफ़ेसर लोग उलझन में डालने वाली बातों पर चुप्पी साधे रहते हैं।

इस प्रकार मध्यम वर्ग और उच्च-उच्च वर्ग के उन लोगों के लिए, जो अपनी आवाज़ नहीं उठा सके थे अथवा जिन्हें भ्रष्टाचार का लाभ प्राप्त नहीं हुआ था, और विशेषकर पिछले शासन से सम्बद्ध कुछ राजनीतिज्ञों के लिए विरोध प्रकट करने का अच्छा मौका था। अयूब शासन के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी मुल्ला भी थे—जो 'मध्यम वर्ग' का एक और समूह है, जो सदा आधुनिकीकरण के अभियान के प्रति सन्देह की दृष्टि रखते थे।

जब फरवरी 1969 में अयूब का प्रभाव समाप्त हो गया और उन्हें एक नाममात्र का राष्ट्रपति बने रहने के लिए बाध्य किया गया और उन्होंने अपने राजनीतिक विरोधियों से सौदेबाजी शुरू की तब एक महत्त्वपूर्ण बात और कारण यह था कि अब वे संगठित सैनिक शक्ति के पूर्ण समर्थन के ऊपर निर्भर नहीं कर सकते थे। सन् 1965 में भारत से हुई लड़ाई में पाकिस्तान की सैनिक पराजय के फलस्वरूप सैनिक अफसरों में असन्तोष फैल रहा था। इसके परिणाम-स्वरूप कटु राष्ट्रवादी आक्रोश प्रकट हुआ था, जो समस्त 'मध्यम वर्ग' में व्यापक रूप से व्याप्त था।

जैसीकि कल्पना की जा सकती थी,[35] मध्यम वर्ग के समूहों के विद्रोह का, जिसका प्रतिनिधित्व बड़े ढीले ढंग से संगठित अनेक राजनीतिक पार्टियाँ कर रही थीं, प्रायः कोई सामान्य कार्यक्रम नहीं था। केवल संसदीय लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना और उन्मुक्त नागरिक अधिकारों की स्थापना की ही माँग थी, जिसमें समाचारपत्रों की स्वाधीनता पर लगी पाबन्दियाँ हटाने की माँग भी शामिल थी। अब क्योंकि इस विरोध प्रदर्शन को शान्त नहीं किया जा सका, अतः यह आन्दोलन आबादी के अपेक्षाकृत निचले स्तर पर भी पहुँचा। पहले बड़े उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के छोटे-से वर्ग में—जो पाकिस्तान जैसे देश में लगभग 'मध्यम वर्ग' की हैसियत रखता है—और फिर पूर्व पाकिस्तान के प्रायः हर प्रकार के लोगों में यह आन्दोलन फैला जहाँ पश्चिमी पाकिस्तान के उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रीय आक्रोश बहुत बढ़ा हुआ और व्यापक है।[36] उस समय समानतावादी सुधार के नारे अक्सर और अधिक जोर से सुनायी पड़ने लगे।

लेकिन मुख्यतया, विशेषकर पूर्व पाकिस्तान में, जब इस आन्दोलन ने एक व्यापक आन्दोलन का रूप धारण करना शुरू किया, तो इसके साथ ही पूर्व परिचित तरीके से उद्देश्यहीन दंगों, लूटमार, हत्याकाण्ड, आगजनी और सामान्यतया असंगठित भीड़ की हिंसा शुरू हो गयी। अब सेना के बड़े और प्रभावशाली

अफसरों को एक बार फिर एक दूसरे जनरल के नेतृत्व में संगठित होना पड़ा और शोर मचाने वाले 'मध्यम वर्ग' के समूहों को अयूब खान द्वारा दी गयी रियायतें वापस ले ली गयीं, क्योंकि इसी वर्ग ने यह विद्रोह शुरू किया था। मार्शल लॉ लगा दिया गया, संविधान को रद्द कर दिया गया और अन्य अनेक कानूनों को भी रद्द किया गया, विधानमण्डलों को भंग कर दिया गया और समस्त संगठित राजनीतिक गतिविधि पर पाबन्दी लगा दी गयी।

यह सम्भावित दिखायी पड़ता है कि एक बार फिर कुछ समय के लिए शान्ति कायम हो जायेगी, और पाकिस्तान में सेना और उच्च-उच्च वर्ग के उन समूहों का पहले से अधिक कठोर शासन फिर कायम हो जायेगा, जिन समूहों का बलिदान सरकार की खोई हुई प्रतिष्ठा को कुछ सीमा तक पुनः प्राप्त करने के लिए नहीं किया जा सकता। पर इस समय पूर्व-पाकिस्तान में जो व्यापक असन्तोष व्याप्त है, वह पहले की तरह ही विस्फोटक बना रहेगा। सम्भवतः लोकतन्त्र और अधिक नागरिक स्वतन्त्रताओं के नये प्रयोग शुरू करने में अभी समय लगेगा। हाल के वर्षों में अयूब खान के प्रयोग से जो अनुभव प्राप्त हुआ है, वह चेतावनी के रूप में सामने मौजूद रहेगा।

यह अभी देखना शेष है कि नयी निरंकुश सरकार व्यापक भ्रष्टाचार को, जो अयूब खान के शासन के अन्तिम वर्षों में बहुत अधिक फैला हुआ था और जिसने 'मध्यम वर्ग' के समूहों को विरोध प्रकट करने का अवसर प्रदान किया था, किस सीमा तक और कितनी तत्परता से समाप्त करती है।[37] यह भी इसी प्रकार अनिश्चित है कि क्या नया शासन उस उत्साह को कायम कर सकेगा जो पिछली सरकार के आरम्भिक वर्षों में उस समय दिखायी पड़ा था जब अयूब खान ने आधुनिकीकरण के आदर्शों के अनुरूप अनेक कदम उठाने का साहस दिखाया था। यह भी अनिश्चित है कि सेना के बड़े अफसर कब तक संगठित रूप से काम करते रहेंगे।

इस समय जहाँ तक पूर्व-कल्पना की जा सकती है यह दिखायी पड़ता है कि किसी भी परिस्थिति में पाकिस्तान में सामान्य लोगों के हाथ में वास्तविक सत्ता नहीं आयेगी।

•

दक्षिण एशिया में व्यापक जन-समुदाय की राजनीतिक निष्क्रियता के सामान्य नियम का एकमात्र स्पष्ट अपवाद विएतनाम के लोगों में धीरे-धीरे सामाजिक और राजनीतिक चेतना उत्पन्न होना है।[38] इसका प्रमुख स्पष्टीकरण दूसरे महायुद्ध से पहले फ्रान्स के उपनिवेशी शासन के स्वरूप, युद्ध के दौरान जापानियों से सहयोग करने वाले वाइची शासन वाले फ्रान्स के नियन्त्रण और इसके बाद की घटनाओं से मिलता है। विएतनामियों के दृष्टिकोण से उपनिवेशी युद्ध चौथाई शताब्दी से अधिक समय तक चला है। यह युद्ध विएतनाम के अधिकाधिक लोगों के लिए एक विदेशी, श्वेत और समृद्ध राष्ट्र की सैनिक घुसपैठ के विरुद्ध लड़ाई रहा है—पहले संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता से लड़ रहा यह देश फ्रान्स था और 1954 के बाद यह देश केवल संयुक्त राज्य अमरीका रह गया।

इन श्वेत विदेशियों द्वारा अपने-आपको विएतनामियों पर थोपने और आक्रामक कार्रवाइयाँ करने तथा देश के विशेषाधिकार-प्राप्त समूहों से सहयोग करने के परिणामस्वरूप, एक प्रकार का विएतनामी राष्ट्रवाद व्यापक रूप से फैला, जो अब सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से आमूल परिवर्तनवादी विचार से भर गया है।

ब्रिटेन के अपने भारतीय साम्राज्य से तेजी से, बिना किसी शर्त के और यहाँ तक कि उदारतापूर्वक वापस लौट आने की कार्रवाई ने,[39] इसके विपरीत, स्वतन्त्र भारत को एक ऐसा देश बना दिया, जहाँ राजनीतिक लोकतन्त्र का सर्वाधिक पूर्ण स्वरूप भी सामान्य जन-समुदाय को राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा लेने के लिए प्रेरित नहीं कर सका। स्वतन्त्रता संग्राम में जिस आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति का वचन दिया गया था, वह जल्दी ही अपनी गतिशीलता से वंचित हो गयी।[40]

हिन्द चीन में फ्रान्सीसियों की तरह, दूसरे महायुद्ध के बाद हालैण्ड निवासियों ने ईस्ट इंडीज में अपना उपनिवेशी शासन कायम रखने के लिए लगातार सैनिक प्रयास किये। इस कारण से और हालैण्ड के पश्चिम न्यूगिनी पर अपना कब्जा बनाये रखने के कारण—और इस सन्देह के कारण, जो पूरी तरह निराधार नहीं था कि संयुक्त राज्य अमरीका अपनी सेण्ट्रल इन्टेलीजेंस एजेंसी (सी आई ए) के माध्यम से और दूसरे तरीकों से विद्रोहों को समर्थन दे रहा है—सुकार्णो को अत्यधिक उन्मादपूर्ण और प्रबल पश्चिम विरोधी प्रचार करने का अवसर मिला।[11] सुकार्णो श्वेत विरोधी और क्रान्तिकारी भावनाओं को व्यापक रूप से फैलाने में सफल हुए, जिसे जापानियों ने इंदोनेशिया से रवाना होने से पहले जानबूझकर बहुत प्रोत्साहन दिया। इसके अलावा बहुसंख्यक इंदोनेशियाइयों और इंदोनेशिया में रहने वाले चीनी अल्पसंख्यकों के बीच जो तनाव मौजूद था उसका लाभ भी उठाया। आर्थिक क्षेत्र में चीनियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण यह तनाव स्वाभाविक रूप से पैदा हुआ था, लेकिन जापानियों ने इस तनाव को बढ़ाने में मदद दी थी। सम्भवतः इन सब कारणों ने इंदोनेशिया में सामान्य लोगों को संगठित राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेने के लिए जाग्रत किया, यद्यपि यह कार्य विएतनाम की तरह प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सका।

विएतनाम की तरह ही एक नये सामाजिक क्रान्तिकारी आन्दोलन ने, जो सामान्य लोगों में फैल चुका था, एक प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद का रूप धारण किया। वर्तमान सैनिक सरकार, जिसे मुस्लिम पार्टियों के जमींदारों के उच्च वर्ग का समर्थन प्राप्त है—और जिसे संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों से सहायता मिल रही है—और जिसकी स्थापना 1965 की शरद ऋतु की भयंकर घटनाओं के बाद हुई थी, शायद अधिक स्थिर साबित न हो सके।[42]

पश्चिमी हस्तक्षेप, विशेषकर जब यह सैनिक हस्तक्षेप का रूप ले लेता है, किसी कम-विकसित देश में जन-सामान्य को राजनीतिक चेतना और गति के

उच्च स्तर तक ऊपर उठा सकता है, जो अन्यथा वहाँ मौजूद नहीं होती और इस प्रकार यह राजनीतिक चेतना एक शक्ति बन जाती है। यह बड़ा विद्रूपपूर्ण विचार है कि यह नयी सामूहिक गतिविधि, जो पश्चिम के हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न होती है, पश्चिम के विरुद्ध कार्य करती है—विशेषकर शीतयुद्ध के कारण उत्पन्न संसारव्यापी स्थिति में—और आसानी से इसका साम्यवाद से गठजोड़ हो जाता है।

ये बातें कहते समय मेरे मन में विएतनाम की बात थी और सम्भवतः उस सीमा तक इन्दोनीशिया की भी जो भविष्य में प्रकट होगी। लेकिन कम-विकसित देशों में और भी समानान्तर उदाहरण हैं। लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका की आर्थिक और यदा-कदा सैनिक शक्ति की दृष्टि से मौजूदगी और सी आई ए तथा अन्य संगठनों द्वारा अमरीका की गुप्त गतिविधियों के बारे में सामान्य जानकारी व्यापक जन समुदाय के कुछ हिस्सों को अधिक सतर्क और राजनीतिक दृष्टि से चेतनायुक्त बनाती है। इसके बाद ऐसा कोई भी आन्दोलन अमरीका विरोधी बन जाता है और यह दूरगामी परिवर्तन चाहने वाले किसी आन्दोलन का कुछ स्वरूप धारण कर लेता है। जैसाकि एक अमरीकी अर्थशास्त्री मार्टिन ब्रॉनफेन ब्रेनर ने काफी समय पहले एक बड़े प्रतिभासम्पन्न लेख में उल्लेख किया था[43] कि बड़े पैमाने पर विदेशी पूँजी निवेश के राजनीतिक प्रभाव किसी क्रान्तिकारी स्थिति के स्वरूप को बदल सकते हैं। सामाजिक और राजनीतिक यथास्थिति के लिए शक्तिशाली समर्थन बनने के स्थान पर, यह निवेश जब्त करने की कार्रवाइयों के लिए प्रलोभन बन जाते हैं। जब ये निवेश बहुत बड़े पैमाने पर होते हैं तो इन्हें जब्त करने की कार्रवाइयों को किसी क्रान्तिकारी सरकार के लिए आर्थिक लाभ की बात समझा जाता है।

निःसन्देह यह सच है कि आधुनिकीकरण के आदर्शों की तुलना में राष्ट्रवाद को कम-विकसित देशों के सामान्य लोगों में फैलाना कहीं अधिक आसान है।[44] और यह बात अमीर और श्वेत पश्चिमी देशों के विदेशियों के विरुद्ध आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद के बारे में विशेष रूप से सही है।

अतः यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और रोडेशिया में नीग्रो बहुसंख्यकों में व्यापक रूप से आक्रोश फैल रहा है। और इन लोगों के मन में उन अल्पमत सरकारों का तख्ता उलट देने का संकल्प जग रहा है, जो इन्हें दबाये हुए हैं। इस बात पर भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इसके बाद यह राष्ट्रवादी आक्रोश, श्वेत लोगों के विरुद्ध और विशेषकर पश्चिम की महान् शक्तियों के विरुद्ध भड़क सकता है।

यह भी स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है कि ये महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों को लागू करने के लिए उक्त अल्पमत सरकारों के विरुद्ध प्रभावशाली प्रतिबन्ध लागू करने में अनिच्छुक दिखायी पड़ीं। इतना ही नहीं, ये महाशक्तियाँ अपने व्यापारिक हितों को विनियोग और अन्य साधनों से दक्षिण अफ्रीका की अच्छी व्यापारिक स्थिति का लाभ उठाने के लिए अनुमति देती हैं। यह कारण नीग्रो लोगों के दृष्टिकोणों को कम राष्ट्रवादी अथवा कम प्रभावशाली नहीं बनाता कि ब्रिटेन में ऐसे व्यापारिक हितों को श्रमिकों का उदारतापूर्ण समर्थन प्राप्त है, जो अपना रोजगार और आय खो देने की आशंका से भयभीत होते हैं।

इस बात के भी प्रमाण हैं कि अफ्रीका में पुर्तगाल के उपनिवेशों में नीग्रो लोगों का विद्रोह अब जन-सामान्य को राजनीतिक चेतना और गतिविधि के लिए प्रेरित कर रहा है। यह तथ्य कि प्राय: पूरा श्वेत पश्चिमी संसार पुर्तगाली उपनिवेशवादियों को व्यापार, विनियोग और यहाँ तक कि हथियारों की सप्लाई के द्वारा भी सहायता पहुँचा रहा है, अफ्रीका के इस नव-राष्ट्रवाद को व्यापक रूप से पश्चिम विरोधी और श्वेत विरोधी बना देता है। पुर्तगाल को यूरोप के मुक्त व्यापार संघ की सदस्यता और पश्चिमी संसार के समस्त वाणिज्य और सैनिक संगठन की सक्रिय भागीदारी के कारण यह सहायता प्राप्त होती है।

न्यूज वीक[15] में प्रकाशित एक अत्यधिक दिलचस्प भेंटवार्ता में अफ्रीका के एक सर्वाधिक बुद्धिमान अफ्रीकी नेता जाम्बिया के राष्ट्रपति केनेथ डी० कोंडा ने अन्य बातों के अलावा ये विचार प्रकट किये :

"लेकिन जो देश स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वालों को (रोडेशिया, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और पुर्तगाली गिनी, अंगोला और मुजाम्बीक में), सहायता देने के लिए तैयार दिखायी पड़ते हैं वे केवल पूर्वी गुट के ही देश हैं। पश्चिम के देश हथियार देकर उनकी सहायता नहीं करेंगे। सच्चाई यह है कि दक्षिण अफ्रीका में जातीय आधार पर नियन्त्रित और शासित देशों में बहुत बड़े पैमाने पर पश्चिम के देशों की पूँजी लगी है। भौतिक लाभ के समक्ष नैतिक मूल्यों, आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान गौण हो गया है, जो वस्तुत: पश्चिम के लिए केवल छोटी अवधि में ही लाभदायक हो सकता है। लम्बी अवधि की दृष्टि से पश्चिम के देशों को यह स्वीकार करना होगा कि एक दिन ये गुरिल्ला योद्धा अपने देशों के नेता बनेंगे······

"मुझे यह कहना बेहद नापसन्द है, लेकिन मुझे केवल जातीय विस्फोट के ही लक्षण दिखायी नहीं पड़ रहे हैं, बल्कि सैद्धान्तिक विस्फोट के भी लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं और मुझे भय है कि अन्त में यह एक ऐसा युद्ध होगा जिसमें, विएतनाम युद्ध की तरह, पश्चिम की शक्तियाँ दक्षिण अफ्रीका में जातीय भेदभाव बरतने वालों के साथ मिलकर काले लोगों के विरुद्ध यह बहाना बनाकर लड़ेंगी कि साम्यवाद आ रहा है।"

राष्ट्रपति कोंडा का यह अभिप्राय है कि राजनयिक दबाव के द्वारा पश्चिम की शक्तियाँ समस्त दक्षिण अफ्रीका में समस्याओं का समाधान "बहुमत की इच्छा के अनुसार करा सकती हैं। यदि वे यह कार्य करती हैं, तो यह हथियार देने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।" लेकिन "जाम्बिया में स्वयं मेरे देशवासियों का जीवन और सम्पत्ति पुर्तगाली सेनाएँ नष्ट करने में लगी हैं और इस काम में वे उन हथियारों का इस्तेमाल करती हैं जो उन्हें नाटो संगठन के सदस्य देशों से प्राप्त हुए हैं। हम सब जानते हैं कि इन हथियारों के बिना पुर्तगाली पूरी तरह से असहाय हो जायेंगे······जब मैं यहाँ इस स्थिति को देखता हूँ···तो मुझे लगता है कि मैं जाम्बेसी नदी पर किसी छोटी-सी नौका में बैठा हुआ हूँ और यह नौका विक्टोरिया प्रपात की ओर तेजी से बढ़ी जा रही है।"

अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि गैर-श्वेत लोगों के ये और अन्य विद्रोह समस्त शेष कम-विकसित संसार में सजग लोगों में आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद का प्रचार कर रहे हैं और यह कम-विकसित संसार अधिकांशतया अश्वेत

लोगों का ही है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद सामान्य लोगों में भी अधिक आसानी से फैलता हुआ दिखायी पड़ता है और यह इन सामान्य लोगों को उनकी निष्क्रियता से छुटकारा दिलाने का कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण माध्यम भी वन सकता है।

इस प्रकार यदि कुछ विशेष परिस्थितियों में पश्चिम के विकसित देशों की नीतियाँ कम-विकसित देशों के सामान्य लोगों को सक्रिय बनाने और उनकी इस सक्रियता को पश्चिम विरोधी, श्वेत विरोधी और जातीय स्वरूप प्रदान करने की प्रेरणा देती हैं, तो विकसित देशों में, कम से कम विश्व इतिहास के वर्तमान दौर में, प्रमुख नीतियाँ यह होती हैं कि कम-विकसित देशों में विशेषाधिकार प्राप्त समूहों को अपने देशों में नीति निर्धारण पर अपना नियन्त्रण कायम रखने के लिए समर्थन दिया जाये।

विश्वव्यापी उपनिवेशी शक्ति प्रणाली में, जो दूसरे विश्व महायुद्ध तक चालू थी, एक ऐसी व्यवस्था मौजूद थी, जो उपनिवेशी शक्ति को प्रायः स्वचालित ढंग से इन देशों के विशेषाधिकारप्राप्त समूहों के साथ गठजोड़ करने की प्रेरणा देती थी। इन समूहों पर इस दृष्टि से निर्भर किया जा सकता था, क्योंकि 'इनका कानून और व्यवस्था' को वनाये रखने में समान हित था, जिसका अधिकांशतया यही अभिप्राय होता था कि आर्थिक और सामाजिक यथास्थिति को कायम रखा जाये।

अतः अपने शासन को कायम रखने के लिए उपनिवेशी शक्ति यह अनुभव करती थी कि अपने उपनिवेश में असमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को कायम रखा जाये अथवा इसे और अधिक मजबूत वनाया जाये। उपनिवेशी प्रशासन की मुक्त व्यापार की प्रवृत्ति का यह प्रमुख तत्त्व था, जिसका उल्लेख हमने अध्याय—1 में किया है। अक्सर यहाँ तक हुआ कि उपनिवेशी शक्ति ने सम्वन्धित उपनिवेश में अपने शासन को दृढ़ बनाने के लिए नये विशेषाधिकारों और नये विशेषाधिकारप्राप्त समूहों का निर्माण किया।

इस वात में सन्देह नहीं है कि उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद भी ऐसी ही वातें चल रही हैं और आज भी पहले की तरह उन कम-विकसित देशों में जो राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हैं, उपनिवेशवाद का एक दूसरा स्वरूप दिखायी पड़ रहा है। यह बात लेटिन अमरीका के बारे में प्रमुख रूप से सही है। 'नव-उपनिवेशवाद' शब्द के प्रयोग का यही प्रमुख औचित्य है।

जब उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित राजनीतिक स्थिरता समाप्त हो गयी, तो यह स्वाभाविक ही था कि पश्चिम के समृद्ध देश ऐसे किसी भी नव-स्वतन्त्र देश के प्रति विशेष सहानुभूति दिखाते, जहाँ कोई कट्टरपंथी सरकार कड़ाई से ऐसा शासन कायम रखे हुए है, जिसके अन्तर्गत उपनिवेशी युग से विरासत में प्राप्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की परिस्थितियों को जैसे का तैसा रखा जा रहा हो।

यह भी इसी प्रकार स्वाभाविक है कि पश्चिम के व्यापारिक हित ऐसे किसी देश में पूंजी लगाने के लिए अधिक तत्पर थे। यह भी स्वाभाविक था कि उन्होंने इन कम-विकसित देशों के अमीर और प्रभावशाली लोगों से ही अपने व्यापारिक सम्बन्ध रखना पसन्द किया। यह भी स्वयं प्रमाणित है कि इस कार्रवाई ने

स्वदेश में इन समूहों की स्थिति को और अधिक मजबूत बनाया।[16]

इस तरीके अथवा प्रक्रिया का—अर्थात् ऊपर वर्णित प्रवृत्तियों का स्वाभाविक और प्राय: स्वचालित विकास—जोर देकर इसलिए उल्लेख किया गया है, ताकि यह बात स्पष्ट की जा सके कि यह प्रवृत्ति पश्चिम के विकसित देशों के नीति सम्बन्धी निर्णयों से पूरी तरह स्वतन्त्र रहकर पनपती रहेगी। उदाहरण के लिए, स्वीडन की व्यापारिक कम्पनियाँ—जहाँ राज्य की किसी भी नीति में कम-विकसित देशों में असमानता का समर्थन सम्भव नहीं है, लेकिन जहाँ इसके विपरीत नीति अपनाने के लिए सब लोकप्रिय संगठनों द्वारा जबर्दस्त दबाव डाला जाता है—ठीक वही प्रतिक्रिया दिखायेंगी जो संयुक्त राज्य अमरीका में दिखायी जाती हैं और इनका भी सम्बन्धित देशों में वही प्रभाव होगा।

शीतयुद्ध ने इस प्रक्रिया को और अधिक मजबूत बना दिया। उपनिवेशों की समाप्ति के साथ-साथ शीतयुद्ध शुरू हुआ था और जैसे-जैसे उपनिवेशों की समाप्ति की कार्रवाई आगे बढ़ती गयी, शीतयुद्ध का तनाव भी बढ़ता गया। संयुक्त राज्य अमरीका ने इस प्रकार के अत्यधिक प्रभावशाली समर्थन के लिए राज्य की नीति को माध्यम बनाया। यह कार्रवाई डलेस-मेकार्थी युग में विशेष रूप से हुई, जब कम्युनिस्ट विरोध अमरीका की विदेश नीति का निर्णायक उद्देश्य बन गया था। और अमरीका ने इस प्रक्रिया को इस कारण से भी समर्थन दिया, क्योंकि वह स्वयं को 'स्वतन्त्र संसार' का नेता होने के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए बाध्य समझता था।

इस युग में वित्तीय और सैनिक सहायता अत्यन्त प्रतिक्रियावादी शासनों को अत्यधिक संकल्प से दी गयी। इसके बाद यह स्थिति उत्पन्न हुई कि इन सरकारों ने यह धमकियाँ देकर निरन्तर स्थिति का लाभ उठाया कि यदि अमरीका से सहायता नहीं मिलेगी, तो उनका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। आज यदि वित्तीय, वाणिज्यिक तथा सैनिक सहायता के वर्तमान वितरण पर नजर डाली जाये, तो अधिक परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ता। बस अन्तर केवल इतना है कि सहायता के लिए निर्धारित राशि, और अनेक दृष्टियों से इसका स्तर, घट गया है। (देखिए अध्याय—11)

लेकिन हाल के वर्षों में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रबुद्ध बौद्धिक और राजनीतिक नेताओं ने निरन्तर बढ़ती हुई दृढ़ता से इस प्रक्रिया को, जो उपनिवेशी युग से विरासत में मिली है, जैसे का तैसा चलते रहने में निहित खतरे को देखा है। उन्होंने उस जोखिम को भी समझा है, जो दूसरे चरण में इसके बिलकुल विपरीत हो जायेगी अर्थात् यह कम-विकसित देशों में जनसामान्य को राजनीतिक चेतना प्रदान करेगी और उन्हें इन गतिविधियों में हिस्सा लेने का बढ़ावा देगी और फिर इसका स्वरूप अमरीका विरोधी और अक्सर पश्चिम विरोधी होगा। इतना ही नहीं, इसके परिणामस्वरूप ये देश किसी न किसी प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद को अंगीकार करने के लिए बाध्य होंगे। विएतनाम में संयुक्त राज्य की नीति की भयानक असफलता, इन नेताओं की आलोचना का समस्त अमरीकी

राष्ट्र पर गहरा प्रभाव छोड़ेगी।

इस बात को समझा जा सकता है कि इस प्रतिक्रिया का यदा-कदा उपयोग संयुक्त राज्य अमरीका को कम-विकसित देशों को अधिक सहायता देने से रोकने के लिए किया जायेगा। यह भी हो सकता है कि पूरी तरह सहायता बन्द कर देने की माँग करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाये। यह माँग इस सिद्धान्त के आधार पर की जायेगी कि इस प्रकार की सहायताओं से संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर कुछ ऐसे दायित्व आ जाते हैं, जिनका अन्त सैनिक हस्तक्षेप में हो सकता है। लेकिन मेरा निष्कर्ष यह है कि इसके विपरीत हमें कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता में पर्याप्त वृद्धि करनी चाहिए और इसके साथ ही सहायता के समस्त सिद्धान्त और इसे लागू करने के तरीके को भी बदलना चाहिए (देखिए अध्याय 9-11)।

इससे भी अधिक बुनियादी तौर पर हमें कम-विकसित देशों के प्रति अपने दृष्टिकोण में, विशेषकर उनके सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण और उनके इन स्तरों के सुधार-सम्बन्धी दृष्टिकोण और उपलब्धियों के प्रति अपने दृष्टि-कोण में परिवर्तन करना चाहिए।

पन्द्रह साल पहले ही न्यायाधीश विलियम ओ० डॉगलस ने यह मत प्रकट किया था कि यह बात अमरीका के विलक्षण इतिहास और महानतम महत्त्वा-कांक्षाओं के अनुरूप होगी कि वह विश्व क्रान्ति के अग्रिम दस्ते का नेतृत्व करे न कि जैसाकि आज तक हुआ है, संसार भर में राजनीतिक प्रतिक्रियावादियों का समर्थन करता रहे। और यह कहते समय वे रक्तपात और हत्याकाण्डों की बात नहीं सोच रहे थे, बल्कि उनके मन में दूरगामी सुधारों की बात थी, जो राज-नीतिक क्रान्तियों की हिंसा को रोक सकते हैं और इस हिंसा का स्थान ले सकते हैं।

हम यहाँ उठायी गयी समस्याओं पर भाग 3 और 4 में आगे विचार करेंगे।

यदि विदेशों के प्रभावों को भी ध्यान में रखा जाये, फिर भी कम-विकसित देशों में समानता की प्रमुख समस्या यह है कि स्वदेश में विभिन्न शक्तियाँ प्रायः स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रही हैं। समानतावादी स्वाँग के विरोधाभास को समझाने के लिए कम-विकसित संसार के बड़े हिस्से में, जहाँ जन-समुदाय निष्क्रिय है और उच्च वर्ग के व्यक्ति और समूह शासन कर रहे हैं, राजनीतिक सत्ता के सामान्य वितरण पर जोर दिया जाता है जबकि अधिकांश कम-विकसित देशों में यथार्थ में असमानता को कायम रखा जाता है और यहाँ तक कि इसे और अधिक बढ़ाया जाता है।

उच्च वर्ग के लोगों ने भी, विशेषकर प्रमुख और विशिष्ट बुद्धिवादी वर्ग के लोगों ने, पश्चिम के समानतावादी आदर्शों को अंगीकार किया है और इनका समस्त "शिक्षित" लोगों में प्रसार किया है। इन लोगों में प्रायः पूरा उच्च वर्ग आ जाता है। इस तथ्य ने इस प्रभाव को और भी अधिक बढ़ा दिया है कि साम्यवादी देशों से इस सम्बन्ध में जो प्रभाव पहुँचा वह भिन्न नहीं था।[47] इन आदर्शों ने

साधारणतया आज़ादी से पहले के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में अपनी भूमिका निभायी।

इन देशों में कुछ नेता निरन्तर इस विरोधाभास[48] पर जोर देते रहे हैं और यह कहते रहे हैं कि व्यापक रूप से स्वीकृत समानतावादी आदर्शों को अमल में लाने के लिए अधिक प्रयास किये जाने चाहिए। जैसाकि भारत की एक सरकारी रिपोर्ट में स्पष्टीकरण दिया गया है : "अमीर, उच्च जाति के और शक्तिशाली लोगों को अपने अभागे भाइयों की स्थिति के प्रति अधिक संवेदनशीलता दिखानी चाहिए और आवश्यक बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

लेखक का यह विचार है कि आदर्श उस समय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य होते हैं, जब इनकी जड़ें संस्थाओं और लोगों के हृदयों में गहराई से पैठी हुई हों। जब मेरे कुछ सहयोगी यह विश्वास प्रकट करते हैं कि वे अपने विश्लेषणों में लोगों की आत्मा अथवा अन्तःकरण के प्रति अपील को कोई स्थान नहीं देते और वे इस प्रकार कठोर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हैं, तो मैं केवल यही कहूँगा कि वे केवल शुद्ध अयथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। लम्बी अवधि की दृष्टि से प्रायः समस्त कम-विकसित देशों में समानतावादी आदर्शों का प्रसार निर्णायक महत्त्व का सिद्ध हो सकता है। ये वे आदर्श हैं, जो प्रबोधन के युग में पनपे और उस युग के बाद से हमारी विचारधारा उदार पश्चिम में अथवा पूर्व के कम्युनिस्ट देशों में कभी भी इन आदर्शों से वंचित नहीं रही।[49]

लेकिन दिन-प्रतिदिन के विचार में इन आदर्शों को अक्सर और अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से मूल्यांकन के निचले स्तर पर रखा जाता है और यह निचला स्तर हमारे आचरण को निर्धारित कर रहा है।[50] समानतावादी आदर्शों को महत्त्वपूर्ण बनने के लिए नीचे से दबाव की आवश्यकता होती है। और वस्तुतः अधिकांश कम-विकसित देशों में इसी बात का अभाव है।

लिखित इतिहास में आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई विशेषाधिकार प्राप्त समूह स्वयं अपने आप और अपने आदर्शों को साकार करने के लिए, अपने विशेषाधिकारों को त्याग दे और उन क्षेत्रों को, जिन पर उसका एकाधिकार है, अधिकारों से वंचित लोगों के लिए छोड़ दे। अधिकारों से वंचित लोगों को अधिक समानता की अपनी माँगों के प्रति अधिक सजग होना पड़ेगा और इन्हें साकार करने के लिए संघर्ष करना होगा। इसी स्थिति में आदर्शों की सामान्य स्वीकृति कार्यशील और महत्त्वपूर्ण बन सकती है और यही कारण है कि मेरी राय में शासन करने वाले उच्च वर्ग में सिद्धान्तों के स्तर पर समानतावादी आदर्शों को सामान्य रूप से स्वीकार करना कोई महत्त्व की बात नहीं है।

लेकिन जब नीचे से इस प्रकार का दबाव प्रायः पूरी तरह गैर-मौजूद रहता है, जैसाकि अधिकांश कम-विकसित देशों में है, तो हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि उपनिवेशी युग के असमानतावादी सामाजिक और आर्थिक स्तरों को कायम रखा जा रहा है और अधिक असमानता की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है।

इन परिस्थितियों में यह होता है कि जिन नीतियों को गरीब समुदाय की सहायता के लिए बनाया गया है, उन्हें या तो लागू ही नहीं किया जाता अथवा इनका लाभ उन लोगों को मिलता है, जो अधिक गरीब नहीं हैं। अगले अध्यायों में हम इस प्रक्रिया के संचालन के सम्बन्ध में कुछ उदाहरण देंगे।[51]

अन्त में यह जोर देकर कहना होगा कि आदर्शों और यथार्थ के बीच जो खाई है, उसका स्पष्टीकरण बड़ा जटिल है और केवल वंचना भर कहकर इसे नहीं समझाया जा सकता। लोग जब अपने दिन-प्रतिदिन के प्रयासों में अपने आदर्शों से समझौता करते हैं, तो वे सामान्यतया वंचनापूर्ण नहीं होते और दूसरों के कष्टों के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव तो उनके मन में और भी कम होता है। कम-विकसित देश के बौद्धिक नेता अक्सर यह विश्वास करते हैं कि उन्हें स्वयं को अपने राष्ट्र के आदर्शों के साथ एकाकार करना चाहिए। बहुत अधिक संकल्पशील और उत्साही लोग इसका प्रयास भी करते हैं।

उच्च वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्ग समानतावादी विचारों का वाहक रहा है और आज भी है। यह कहा जा सकता है कि यदि घटनाक्रम इसे कभी चुनौती देगा तो इसकी नैतिक स्थिति कमजोर ही रहेगी।[52]

"विकास की राजनीति" शीर्षक भाग-4 में कम-विकसित देशों में सत्ता की स्थिति के बारे में इस विचार को आगे बढ़ाया जायेगा। वहाँ हम इन देशों में घटित उन घटनाओं पर विचार करेंगे, जो शासन करने वाले उच्च वर्ग के इन समानतावादी सुधारों के प्रति प्रतिरोध को मजबूत अथवा कमजोर बना सकती हैं।

अध्याय : 4

खेती

1. महत्त्वपूर्ण तथ्य

सम्भवतः दक्षिण एशिया, उत्तर-पूर्व एशिया, पश्चिम एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के प्रमुख कम-विकसित क्षेत्रों, तथा इन क्षेत्रों के विभिन्न देशों और यहाँ तक कि अनेक देशों के विभिन्न जिलों[1] के बीच जितने अधिक अन्तर कृषि के क्षेत्र में हैं, उतने अधिक आर्थिक गतिविधि के अन्य किसी क्षेत्र में नहीं ।

कृषि नीति सम्बन्धी इस अध्याय में सर्वत्र इस बात का एक सामान्य तथ्य के रूप में स्मरण रखा जाना चाहिए; क्योंकि इस अध्याय के शेष भाग में जो भी बातें कही गयी हैं, उनमें से प्रत्येक के बारे में किसी अपवाद का उल्लेख करना आसान है। यद्यपि जो बातें कही गयी हैं वे सही हैं। इसके बावजूद सब अथवा प्रायः सब कम-विकसित देशों में खेती की कुछ ऐसी सामान्य परिस्थितियाँ हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है ।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आज विकसित देशों में जो खेती होती है वह दो भिन्न किस्मों की है ।[2] पहली किस्म की खेती में विशाल क्षेत्रों में जमीन का व्यापक उपयोग होता है और इस किस्म की खेती उत्तर अमरीका, आस्ट्रेलिया और रूस के कम आबादी वाले इलाकों में होती है। इन इलाकों में कभी-कभी भूमि की प्रति इकाई के हिसाब से कम उत्पादन होता है। दूसरे किस्म की खेती में कृषि भूमि का सघन उपयोग होता है और जमीन की प्रति इकाई के हिसाब से ऊँची पैदावार मिलती है। इस प्रकार की खेती उन क्षेत्रों में होती है, जहाँ मनुष्य और भूमि का अनुपात ऊँचा है। यूरोप और जापान में विभिन्न सीमाओं तक यह खेती होती है।

कम-विकसित देशों के अधिकांश हिस्सों में खेती इन प्रमुख समूहों में से किसी के भी अन्तर्गत नहीं आती । इसका तीसरा और अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समूह है। अर्थात् यह समूह उन इलाकों में जहाँ मनुष्य और भूमि का अनुपात बहुत ऊँचा है, जमीन के व्यापक उपयोग का है। जैसाकि स्वाभाविक है, इस पारस्परिक सम्बन्ध से विनाशकारी रूप से नीची वास्तविक आय उपलब्ध होती है; क्योंकि खेती की प्रति एकड़ उपज ही बहुत कम नहीं है, बल्कि कुल श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस अत्यधिक कम कृषि उत्पादन में लगा हुआ है।

इस प्रकार दक्षिण एशिया में चार में से केवल एक श्रमिक इस मामूली फसल को उगाने के अलावा अन्य गतिविधियों के लिए उपलब्ध है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में दस में से नौ और यूरोप में तीन में से दो से अधिक श्रमिक

खेती के अलावा अन्य कार्यों में लगे हैं। ऐसे समग्र तुलनात्मक अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण एशिया के क्षेत्र की बुनियादी आर्थिक समस्याएँ क्या हैं। इनसे अन्य कम-विकसित देशों की स्थिति का भी आभास मिल जाता है।

हमें सबसे पहले इस तथ्य पर विचार करना है कि अधिकांश कम-विकसित देशों में प्रति एकड़ उपज बहुत कम है।[3] और इसके बाद ही हम इस दूसरे तथ्य पर विचार करेंगे कि श्रम शक्ति का उपयोग भी भरपूर नहीं होता। प्रति एकड़ अत्यन्त कम उपज के तीन प्रमुख अपवाद हैं।

एक अपवाद उन देशों में देखने को मिलता है, जहाँ बागानों की फसल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस कोटि में लेटिन अमरीका के कई देश और दक्षिण एशिया में श्रीलंका और मलाया आते हैं। यह बात उन क्षेत्रों में विशेष रूप से सही है, जहाँ बागानों पर पश्चिम यूरोप के लोगों का स्वामित्व है और वे ही उनका प्रबन्ध करते हैं। भूमि के इस प्रकार अत्यधिक व्यापारिक आधार पर उपयोग को—जिसका उद्देश्य सदा निर्यात होता है—उद्योग समझना कहीं अधिक उचित होगा।[4]

माल बनाने वाले उद्योगों की तरह बागान भी अत्यधिक विशेष उत्पादक इकाइयाँ है, जिनमें नियमित आधार पर मजूरी पर श्रमिकों को लगाया जाता है, जहाँ पूँजी निवेश अपेक्षाकृत ऊँचा और महत्त्वपूर्ण होता है तथा विकसित टेक्नालॉजी का उपयोग किया जाता है। अनेक देशों में पूँजी की तीव्रता बड़ी कम है और टेक्नालॉजी पिछड़ी हुई है। लेकिन यह बात कम-विकसित देशों में परम्परागत माल बनाने वाले उद्योगों के बारे में भी अक्सर सच होती है।

बागान उद्योग, जिस पर इस अध्याय में आगे विचार नहीं किया गया है, साधारणतया आज तेजी से विस्तृत होता हुआ उद्योग नहीं है, केवल पश्चिम अफ्रीका के कुछ देशों में ही यह हो रहा है।

यदा-कदा दूसरा अपवाद, लेकिन सदा नहीं, खेती के उस हिस्से का होता है, जिसके अन्तर्गत अनाज के अलावा अन्य नकदी फसलों का उत्पादन होता है, जिन्हें सामान्यतया निर्यात किया जाता है। सम्भवतः अधिकांश कम-विकसित देशों में खेती का यह भाग अनाज पैदा करने से अधिक लाभदायक है।

इस प्रकार नकदी फसलें उगाने में जिस क्षेत्र का इस्तेमाल किया जाता है, उसमें कमी करके अनाज का उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करना कोई विवेकसंगत बात नहीं है और इसी कारण से ऐसी किसी नीति की सफलता की भी प्रायः कोई आशा नहीं है।[5] भारत और पाकिस्तान जैसे देशों में 'अधिक अनाज उपजाओ' अभियानों के अन्तर्गत अनाज की उपज बढ़ाने के जो प्रयास यदाकदा किये गये हैं, उन्हें प्रायः नियमित रूप से कोई विशेष सफलता नहीं मिली है।

जैसाकि बागान उद्योग के बारे में सही है, खेती के इस क्षेत्र को भी जो अनाज के अलावा अन्य नकदी फसलें उगाने में लगा है, अधिक बढ़ाने की गुंजाइश नहीं है। यदि हम पूरे कम-विकसित संसार पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि विभिन्न देशों के बीच इन नकदी फसलों के बारे में जो प्रतियोगिता की स्थिति मौजूद है, उसके कारण यह कार्रवाई लाभदायक नहीं हो सकती। ये फसलें ऐसी भी नहीं हैं, जिनकी माँग विकसित देशों में तेजी से बढ़ रही हो।

प्रति एकड़ अत्यधिक कम उपज के नियम का तीसरा अपवाद कम-विकसित देशों के मिस्र जैसे उन कुछ गिने-चुने हिस्सों में देखने को मिलता है, जहाँ लगातार सिंचाई की सुविधा उपलब्ध रहती है और मनुष्य तथा भूमि का अनुपात बहुत ऊँचा है।

कम-विकसित देशों में खेती के अत्यधिक बड़े भाग का सम्बन्ध अनाज पैदा करने से ही है। और इस अध्याय में मुख्यतया अनाज के उत्पादन की परिस्थितियों पर भी विचार होगा। यह कार्य बहुत कम शर्तों के साथ किया जा सकता है, क्योंकि अनाज के अलावा नकदी फसलें उगाने वाले क्षेत्र की उत्पादकता का विकास भी प्रायः अनाज के उत्पादन के समान ही रहा है और इस पर भी परिवर्तन और निष्क्रियता के आकस्मिक तथ्यों का इसी प्रकार प्रभाव पड़ा है।[6]

कम-विकसित संसार के बड़े हिस्से में खेती की उपज बहुत कम ही नहीं है, बल्कि यह उपज पीढ़ियों से कम रही है और सम्भवतः सदा उपज की यही स्थिति रही। अंग्रेजी शासन के अधीन भारत जैसे विशाल क्षेत्र में आजादी से बहुत समय पहले ही उपज बहुत अधिक घट गयी थी।[7]

यदि सब कम-विकसित क्षेत्रों को एक साथ लिया जाये, तो महायुद्ध के बाद की अवधि में उत्पादन में वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि आबादी की वृद्रि के एकदम अनुरूप नहीं हुई।[8] खराब मौसम के कारण ही 1965 में खेती की उपज में वास्तविक कमी हुई और 1966 में केवल एक प्रतिशत वृद्धि हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन दो वर्षों में प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन चार प्रतिशत कम हो गया। लेकिन बाद के दो वर्षों में उत्पादन फिर पुरानी स्थिति में पहुँच गया।

कम-विकसित देशों में उत्पादन में यह धीमी वृद्धि हाल तक मुख्यतया कृषि भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण हुई। यद्यपि उत्पादन के प्रतिशत में इस हिसाब से वृद्धि नहीं बैठती।[9] इस सम्बन्ध में सामान्य सहमति है कि भविष्य में इन देशों में उत्पादन में वृद्धि अधिक उपज के द्वारा ही मुख्यतया सम्भव हो सकेगी, क्योंकि खेती योग्य भूमि निरन्तर अधिकाधिक दुर्लभ होती जा रही है और इस जमीन में खेती के लिए निरन्तर अधिक पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है।

एक अमरीकी विशेषज्ञ, लेस्टर आर० ब्राउन के लिए कम-विकसित संसार में कृषि नीति का मुख्य प्रश्न यह है : "कम-विकसित देश कितनी जल्दी अनाज के उत्पादन में वृद्धि के लिए कृषि भूमि के विस्तार के तरीके के स्थान पर अनाज का उत्पादन बढ़ाने के तरीकों का इस्तेमाल करना शुरू करते हैं।" यदि नीति का लक्ष्य, अनाज के उत्पादन को इतना अधिक और इतनी तेजी से बढ़ाना है, जिसकी अपोषण और पौष्टिक आहार की कमी दोनों की जल्दी से समाप्ति के लिए और तेजी से बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यकता है, तो यह बात विशेष रूप से सच है।

इसके साथ इस तथ्य को भी जोड़ दिया जाना चाहिए कि भारत और पाकिस्तान जैसे बहुत अधिक आबादी वाले गरीब देशों में प्रति एकड़ उपज न्यूनतम है और अन्य देशों के उन जिलों में भी यही हाल है, जो औसत से अधिक निर्धन हैं।

कम-विकसित देशों और उन विकसित देशों के बीच खेती की उपज एक

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर को प्रकट करती है, जो अत्यधिक कम आबादी वाले इलाकों में कृषि भूमि के व्यापक उपयोग के तरीके का लाभप्रद ढंग से इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं। इन देशों में कृषि उपज केवल बहुत ऊँची ही नहीं है, बल्कि काफी लम्बे अरसे से, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के समय से, बहुत अधिक तेजी से बढ़ रही है और इस प्रकार एक निरन्तर बढ़ती हुई खाई का निर्माण कर रही है। खेती में निरन्तर बढ़ती हुई यह खाई, आय के निरन्तर बढ़ते हुए अन्तर में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।[10]

कम-विकसित देशों में कम उपज के साथ-साथ और कम उपज के कारण भी पौष्टिक आहार की कमी की गम्भीर समस्या मौजूद है।[11]

अधिकांश कम-विकसित देशों में लोगों को भोजन के रूप में कैलोरी की जो औसत मात्रा प्राप्त होती है, वह पूर्ण स्वास्थ्य और काम करने की क्षमता के लिए आवश्यक औसत से बहुत नीची है। इन देशों में आय की अत्यधिक असमानता के कारण आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को, इससे भी कम भोजन मिलता है। जैसाकि हमने पिछले अध्याय में कहा है, आर्थिक असमानता अधिकांश कम-विकसित देशों में बढ़ती हुई दिखायी पड़ रही है।

कैलोरी की कम मात्रा से भी अधिक सामान्य बात प्रोटीन, विटामिन और कुछ महत्त्वपूर्ण खनिजों, जैसे लोहा, कैल्शियम और फासफोरस की कमी है और ये खनिज अधिकांश कम-विकसित देशों के लोगों को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होते।

स्थिति इस कारण से और अधिक बिगड़ जाती है कि खान-पान की आदत तर्क-संगत नहीं है और इनमें उन पोषक तत्त्वों का अभाव रहता है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, पर उदाहरण के लिए चीन के लोग अपने भोजन के चुनाव में बड़ी सतर्कता दिखाते हैं। यद्यपि सर्वोच्च वर्गों को छोड़कर प्रायः सब आय वर्गों में भोजन की आदत तर्कसंगत नहीं है, पर गरीब लोगों के लिए स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले पोषक तत्त्वों का अभाव, जो सामान्यतया अधिक महँगे खाद्य पदार्थों में उपलब्ध होते हैं, विशेष रूप से गम्भीर रहता है।

इसके साथ ही छूत की बीमारियों तथा कीटाणुओं के कारण फैलने वाली बीमारियों के परिणामस्वरूप—ये बीमारियाँ गर्म और कुछ कम गर्म जलवायु में, रहन-सहन के नीचे स्तर और विशेषकर बुरी आवास व्यवस्था, अपर्याप्त भोजन, सार्वजनिक और निजी स्वच्छता के नीचे स्तर के कारण फैलती है[12]—भोजन का सही उपयोग करने की शरीर की क्षमता कम हो जाती है।

अनेक अध्ययनों से निरन्तर यह निश्चित निष्कर्ष निकला है कि कम मात्रा में भोजन के रूप में कैलोरी की प्राप्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न 'छिपी भूख' और विशेषकर भोजन में पौष्टिक तत्त्वों का अभाव स्वास्थ्य के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न करता है और अधिक व्यापक रूप से, आलस्य को जन्म देता है और पहल करने की क्षमता को समाप्त कर देता है।

दक्षिण एशिया के लोगों के बारे में सामान्यतया जो स्वभावगत बातें कही जाती हैं—आध्यात्मिक चिन्तन की ओर रुझान, आध्यात्मिक संसार को अधिक महत्त्व देना, निष्क्रियता और आराम पसन्द करना आदि, यदा-कदा अधिक बुद्धिवादी स्तर पर किसी एक देश अथवा समस्त एशिया के धार्मिक सिद्धान्त, दर्शन, अथवा

कुछ विशेष 'मूल्यों' में प्रतिविम्बित होता है—वे वस्तुतः भोजन में पौष्टिक तत्त्वों की कमी और स्वास्थ्य की बुरी स्थिति के कारण हो सकती हैं।[13]

एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक आयोग (इकाफे) के सचिवालय की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है कि "आलस्य जैसी जातीय विशेषताएँ···अथवा जीवन के प्रति ईर्ष्यायोग्य दार्शनिक दृष्टिकोण पौष्टिक आहार की कमी अथवा इसके अभाव जैसे महत्त्वपूर्ण पर्यावरण सम्बन्धी कारक हो सकते हैं।" अन्य गरीब देशों में सामान्य जातीय और सांस्कृतिक विशेषताओं के बारे में जो ऐसे ही विचार प्रकट किये गये हैं, उनका कारण भी यही हो सकता है।

प्रोटीन की कमी छोटे बच्चों और गर्भवती तथा दूध पिलाने वाली स्त्रियों के लिए विशेष रूप से हानिप्रद हो सकती है। हाल के वर्षों में छोटे बच्चों में प्रोटीन की कमी के कारण उत्पन्न होने वाले स्वास्थ्य सम्बन्धी खतरों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है और कहा गया है कि प्रोटीन की कमी से मस्तिष्क की कोशिकाओं की संख्या में कमी होती है और इससे मानसिक विकास में बाधा पड़ती है।

जैसाकि खाद्य और कृषि संगठन ने कहा है, कम-विकसित देशों के अधिकांश लोगों के बारे में यह माना जा सकता है कि वे किसी न किसी सीमा तक पौष्टिक आहार की कमी अथवा अभाव से पीड़ित रहते हैं। इस बात से उनकी निर्धनता की स्थिति विशेष रूप से खराब हो जाती है। और इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे इस स्थिति में भी अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा खाने की चीजों पर खर्च करते हैं। दक्षिण एशिया में वे अपनी आय का दो-तिहाई हिस्सा अथवा इससे भी अधिक भोजन पर खर्च करते हैं।

कम-विकसित देशों में पौष्टिक आहार की स्थिति दूसरे महायुद्ध के समय से सामान्यतया सुधरी नहीं है। अनेक देशों में हो सकता है कि स्थिति और खराब हो गयी हो, विशेषकर खेती में लगे बहुसंख्यक खेत मजदूरों की।

व्यापक जनसमुदाय में वर्तमान भोजन की कमी, आबादी के विस्फोट और खाने की चीजों के उत्पादन में धीमी वृद्धि ने कम-विकसित देशों में संसारव्यापी भूख की भयानक स्थिति उत्पन्न कर दी है। जैसाकि कुछ वर्ष पहले प्रोफेसर अर्ल एल० वुड्स ने कहा था :

"संसार टकराहट के रास्ते पर आगे बढ़ रहा है···जब विस्फोट की स्थिति में पहुँची विश्व की आबादी की महाशक्ति खाने की चीजों के उत्पादन की स्थिर प्रवृत्ति से टकरायेगी, तो किसी न किसी वस्तु का समाप्त होना आवश्यक है। यदि हम इस टकराहट की आशंका के प्रभाव को कम करने के लिए निरन्तर अधिक ध्यान नहीं देते, तो एक दशक के भीतर ही संसार के अनेक भाग विनाश के कगार पर इस सीमा तक पहुँच जायेंगे कि शान्ति और स्थिरता के लिए खतरा पैदा हो जायेगा।"[14] अनेक बड़े देशों में, जैसे भारत और पाकिस्तान में और कम-विकसित संसार के सब क्षेत्रों में अनेक छोटे देशों में सम्भवतः एक दशक पहले ही भूख का संकट उत्पन्न हो चुका था। और अनेक देशों में, जिनमें वे देश भी शामिल हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, यह 1965 और 1966 में बहुत गम्भीर रूप धारण कर लेता बशर्तेकि यह ऐतिहासिक संयोग उत्पन्न न हुआ होता कि संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी कृषि नीति के इरादों के विपरीत बहुत बड़ी मात्रा में अनाज का भण्डार संचित न कर लिया, जिसे इन देशों को सार्व-

जनिक कानून 480 के अन्तर्गत दिया गया।

संसार में अनाज के इस पुनर्वितरण पर कम से कम इस पैमाने पर एक ऐसी अस्थायी कार्रवाई के अलावा अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका में उपलब्ध अतिरिक्त अनाज को बहुत बड़े पैमाने पर रियायती दरों पर इन देशों को दिया गया। इसके अलावा इस कार्रवाई से केवल भोजन के रूप में कैलोरी की भयावह कमी को भी पूरा किया जा सकता है।

समृद्ध विकसित देशों और गरीब कम-विकसित देशों के बीच कितनी बड़ी असमानता है—जो उस अमूर्त आय सम्बन्धी अन्तर से प्रकट होती है, अथवा उसके पीछे रहती है जो निरन्तर बढ़ रहा है—यह बात उस समय तुरन्त प्रकट हो जाती है जब हम यह विचार करते हैं कि किन लोगों को प्रोटीन और अन्य पौष्टिक स्वास्थ्यप्रद आहार प्राप्त हैं।

प्रोफेसर जार्ज बोर्गस्त्रोन ने निरन्तर इस तथ्य को दोहराकर सार्वजनिक प्रबोधन के लिए बड़ी सेवा की है कि अनेक कम-विकसित देश निरन्तर बड़ी मात्रा में उच्च कोटि की प्रोटीन की दृष्टि से समृद्ध खाने की चीजों को निर्यात कर रहे हैं, ताकि समृद्ध विकसित देशों में आवश्यकता से अधिक खाने की प्रवृत्ति को कायम रखा जा सके और बढ़ाया जा सके : उदाहरण के लिए अफ्रीका और लेटिन अमरीका के क्षेत्रों से मछली का, जबकि ये ऐसे इलाके हैं जो दक्षिण एशिया से भी अधिक प्रोटीन के अभाव से ग्रस्त हैं, निर्यात किया जाता है, ताकि संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप में ब्राइलरों और मवेशियों को उन्हें खाने के लिए दिया जा सके। इसके अलावा अन्य अनेक कम-विकसित देशों से भी सोयाबीन, खली, टूना मछली और अन्य मछलियाँ तथा गोश्त भी निर्यात किया जाता है।

इसका परिणाम यह होता है कि अमीर देशों के लोग संसार में उपलब्ध स्वास्थ्यकर भोजन का कुल मिलाकर बहुत बड़ा हिस्सा प्राप्त कर लेते हैं और इसका उपयोग बहुत कम किफायत से करते हैं जैसाकि कम-विकसित देशों में करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही ये लोग इसी प्रकार मवेशियों को खिलाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में अनाज प्राप्त करते हैं।

कम-विकसित देशों में प्रति एकड़ कम उपज उस स्थिति में विशेष आघातजनक दिखायी पड़ती है, जब हम यह देखते हैं कि इन मामूली-सी फसलों को उगाने के लिए बहुत बड़ी श्रम शक्ति का इस्तेमाल होता है। यह कुल श्रम शक्ति के पचास प्रतिशत से भी बहुत अधिक होता है। भारत में खेती के काम में लगे लोगों की संख्या कुल आबादी का 70 प्रतिशत है। लेकिन इस बड़ी आबादी को भी अपने देश की अनाज की आवश्यकता पूरी करने में काफी समय से सफलता नहीं मिली, जबकि इस देश में पौष्टिक आहार का स्तर बहुत नीचा है।

इसका यह अभिप्राय है कि केवल भूमि की उत्पादकता ही कम नहीं है, बल्कि अधिकांश कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति की उत्पादकता भी बहुत कम है।[15] इसके अलावा विकसित और कम-विकसित देशों में श्रम की उत्पादकता के बीच बड़ा अन्तर है और जो कहीं अधिक तेजी से बढ़ रहा है और यह क्रम काफी लम्बे अरसे से चला आ रहा है।

कम-विकसित देशों की कृषि में श्रम की अत्यधिक नीचे स्तर की उत्पादकता

की जो जटिलताएँ हैं, उनको प्रायः समझा नहीं जाता। विशेषकर उन कम-विकसित देशों में जहाँ खेती में लगी श्रम शक्ति और कृषि भूमि के बीच ऊँचा अनुपात है। सामान्य विचार यह है कि उनका खेती का तरीका श्रम का अधिक उपयोग करने का है।

कुछ सीमा तक यह बात मिस्र जैसे देश के बारे में सही हो सकती है—जिसकी प्रति एकड़ उपज भी ऊँची है, यद्यपि यह निरन्तर बढ़ती हुई आवादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है—लेकिन यह बात कम-विकसित संसार के अधिकांश हिस्से के बारे में सही नहीं है, जहाँ उपज बहुत कम है। सामान्य विचार के विपरीत कृषि में श्रम के सघन उपयोग का तरीका नहीं अपनाया जा रहा है, बल्कि अधिक संख्या में श्रमिकों का उपयोग ही किया जा रहा है।[16]

प्रति श्रमिक के हिसाब से श्रम का हिस्सा काम के घंटों की दृष्टि से बड़ा कम है और कार्यकुशलता भी बड़े नीचे स्तर की है। इस प्रकार प्रति एकड़ कम उपज श्रम शक्ति का भरपूर उपयोग न कर पाने का परिणाम है। इसका दूसरा पहलू यह है कि श्रम के हिस्से में वृद्धि से—जिसे श्रमिकों की संख्या सम्बन्धी अनुपातों को बेहतर वनाकर तथा काम के घंटों और कार्यकुशलता के स्तर को ऊँचा उठाकर प्राप्त किया जा सकता है[17]—उत्पादन बढ़ेगा और इस कार्य के लिए श्रम के अलावा अन्य किसी टेक्नालॉजी की दृष्टि से नयी विधियों अथवा अतिरिक्त पूँजी निवेश की आवश्यकता नहीं होगी।

यद्यपि यदा-कदा ही यह निष्कर्ष निकाला जाता है, लेकिन देशों, जिलों और काश्तकारों के बीच भी कृषि उत्पादन का जो अन्तर विद्यमान है उससे यह सत्य स्वयं प्रकट हो जाता है। खेती की उपज के इन अन्तरों का विवरण विस्तार से समस्त कृषि व्यवस्था सम्बन्धी अध्ययनों में प्राप्त है। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिट्टी के गुण और खेती की अन्य भौतिक परि-स्थितियों में कोई अन्तर न होने के बावजूद उपज में बहुत अन्तर होता है। इन मामलों में खेती की विधियों में भी कोई अन्तर नहीं होता, जिनका उपयोग आस-पास के इलाकों के कुछ किसानों द्वारा किया जाता है। अतः अधिक विकसित विधियाँ अपनाकर उपज को और बढ़ाया जा सकता है। लेकिन इससे इस बुनियादी तत्त्व को छिपाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए कि आज टेक्नालॉजी के वर्तमान स्तर पर जो नयी विधियाँ उपलब्ध हैं, उनके रहते भी श्रम शक्ति का भरपूर उपयोग नहीं हो रहा है।

अनेक कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति का एक हिस्सा कोई भी काम नहीं करता, यद्यपि यह स्थिति विभिन्न देशों में अलग-अलग है। अधिक सामान्य और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जो अधिकांश श्रमिक काम करते हैं, वे बहुत छोटी अवधियों—प्रतिदिन, सप्ताह, महीना और वर्ष—के लिए काम करते हैं और यह काम बहुत तीव्रता अथवा कार्यकुशलता से भी नहीं किया जाता। यह पश्चिम और यूरोप के कम्युनिस्ट देशों की परिस्थितियों से मिथ्या तुलना का एक उदा-हरण है और दूसरे महायुद्ध के वाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप है और इस बात को 'वेरोजगारी' और 'अर्द्धवेरोजगारी' की शब्दावली में समझाया जाता है।[18]

कम-विकसित देशों में इस आचरण का स्वरूप एक लम्वी ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा निर्धारित दृष्टिकोणों में निहित है। इन्हें संस्थाओं ने, विशेषकर आर्थिक और सामाजिक स्तरीकरण की संस्थाओं ने, आधार दिया है जिनका सर्वप्रथम सम्वन्ध भूस्वामित्व और खेती के पट्टे से है और ये व्यवस्थाएँ भूमि के उपयोग का निर्धारण करने में सहायक बनी हैं।[19]

इनके साथ ही पौष्टिक आहार की स्थिति बड़ी बुरी है और यह स्थिति भी स्वयं गरीबी से उत्पन्न हुई है और इसका विशेष कारण कम उपज है। इसके परिणामस्वरूप काम करने की इच्छा और क्षमता तथा डटकर काम करने की क्षमता पर बुरा असर पड़ता है और खेती की उपज बढ़ नहीं पाती। और विभिन्न कार्य-कारणों का यह दुष्चक्र[20] प्रमुख कारण वन जाता है, जिसे ध्यान में रखते हुए, खाने की चीजों के रूप में विकास के लिए सहायता यदि सुनियोजित तरीके से और अन्य दृष्टियों से भी बेहतर परिस्थितियों में दी जाये, तो खेती की उपज वढ़ाने में सहायक बन सकती है।

दृष्टिकोणों, संस्थाओं और रहन-सहन का नीचा स्तर कम-विकसित देशों में किस प्रकार काम के मार्ग में वाधा और अवरोध बन सकता है तथा श्रम के वेहतर उपयोग और कृषि की उपज बढ़ाने की नीतियों की प्रभावशालिता के मार्ग में भी किस प्रकार बाधक बन सकता है, इस पर इसी अध्याय में आगे चलकर ठोस रूप में विचार होगा। लेकिन यदि अमूर्त दृष्टि से इस स्थिति पर विचार किया जाये, तो इसमें कुछ अच्छाई छिपी हुई दिखायी पड़ती है। कम-विकसित देशों में खेती का पिछड़ापन अपने-आपमें एक अनुकूल कारक होना चाहिए।[21]

जैसाकि भारत के एक प्रमुख अर्थशास्त्री एम० एल० दाँतवाला ने—जवकि भारत में अनाज की औसत उपज जापान और ब्रिटेन की तुलना में चौथाई से भी कम है—जोर देकर कहा है : "खेती की ज्ञात विधियों का अधिक व्यापक उपयोग, जिसके लिए अतिरिक्त पूँजी निवेश की प्रायः कोई आवश्यकता नहीं है, आरम्भिक दौर में हर हालत में, तेजी से उत्पादन बढ़ाने में सहायक होगा।"

उनके एक इतने ही प्रसिद्ध भारतीय सहयोगी, एस० आर० सेन ने इस मुद्दे को अधिक विस्तार से समझाते हुए कहा है :

"......उपज का अन्तर केवल विभिन्न क्षेत्रों में ही नहीं, वल्कि किसानों के विभिन्न समूहों में भी दिखायी पड़ता है। एक ही क्षेत्र में सर्वोत्तम किसानों ने औसत किसानों की तुलना में प्रति एकड़ कई गुनी अधिक उपज प्राप्त की है...वस्तुतः...सर्वोत्तम और औसत के बीच भारत में तकनीकी दृष्टि से बड़े-बड़े देशों की तुलना में कहीं अधिक अन्तर है। यह भारतीय कृषि के पिछड़े हुए स्वरूप का सूचक होने के साथ-साथ इसकी विकास की क्षमता का भी प्रमाण है।"

और वे कृषि के विकास को योजनाबद्ध विकास के लिए "लाभकारी क्षेत्र" वताते हैं।

यह वात यदि सब कम-विकसित देशों के बारे में नहीं तो कम से कम अधिकांश देशों के बारे में इतनी ही सच है। इस समय अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए जो क्षमताएँ मौजूद हैं, उनका लाभ न उठा पाने की असफलता का स्पष्टीकरण सबसे पहले यही दिया जा सकता है कि इस समय काम के जो तरीके अपनाये जा रहे हैं उनमें श्रम का सही उपयोग नहीं होता। हमें इस वात का यहाँ उल्लेख

करना होगा कि विभिन्न देशों, क्षेत्रों और खेतों में उत्पादन का जो बहुत बड़ा अन्तर है और जिसका स्पष्ट सम्बन्ध काम के घण्टों और श्रम की कार्यकुशलता के अन्तर से है, यह सिद्ध करता है कि आर्थिक विचार-विमर्श में अपनायी जाने वाली यह घिसीपिटी मान्यता, जो दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण पर आधारित है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है, तथ्यों के अनुसार बिल्कुल गलत है और सैद्धान्तिक दृष्टि से अमान्य है।[22]

इस प्रकार खेती की उपज में सुधार करने की बड़ी सम्भावना खेती के उन तरीकों में परिवर्तन करने से साकार हो सकती है, जिनके परिणामस्वरूप श्रम शक्ति का कम उपयोग होता है और जिसका यह अभिप्राय है कि खेती में अधिकांशतया जमीन का व्यापक उपयोग हो रहा है, जबकि मनुष्य और भूमि का अनुपात ऊँचा है। हम इस प्रश्न पर आगे चलकर फिर विचार करेंगे।

उपज के बेहतर परिणामों सहित श्रम के उपयोग और उपयोग की तीव्रता को पूरे वर्ष भर खेती करने, खेती की देखभाल करने और फसल की कटाई में इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके साथ ही यह तथ्य भी मौजूद है कि कम-विकसित देशों में सर्वत्र अतिरिक्त श्रम के इस प्रकार उपयोग की आवश्यकता है, जिसे पूँजी निवेश समझा जाये, क्योंकि इससे भविष्य में और अधिक उपज बढ़ने की पूरी सम्भावना रहती है।[23]

उदाहरण के लिए सड़कों, पुलों, सिंचाई नहरों, भूमि का कटाव रोकने के लिए तटबन्धों, अनाज भरने के लिए गोदामों, पानी की निकासी के लिए खाइयों, कुओं और तालाबों के निर्माण तथा वनारोपण और चरागाहों में सुधार के लिए बहुत अधिक सघन श्रम की आवश्यकता होती है और इसके लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध श्रम के अलावा बहुत कम साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

गाँव के लोगों के फालतू समय के उपयोग का प्रत्यक्ष सम्बन्ध खपत से है: स्कूल की इमारतों, औषधालयों, शौचालयों और गन्दे पानी की निकासी के लिए नालियों के निर्माण; पीने के पानी के लिए स्वच्छ कुओं; धूल और कीचड़ से बचने के लिए गाँव की गलियों को पक्का करने; मकानों की स्थिति में सुधार करने, साधारण फरनीचर बनाने, चूहों को मारने अथवा बच्चों को नहलाने-धुलाने और मक्खियों को उनकी आँखों से दूर रखने के कार्य किये जा सकते हैं। यह भी व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि खपत की दृष्टि से इन बातों की व्यवस्था अत्यधिक उत्पादक सिद्ध होती है।

अतिरिक्त श्रम का उपयोग करने की इन विभिन्न सम्भावनाओं को स्वर्गीय प्रोफेसर रगनार नूरक्से ने 'छिपी हुई बचत क्षमता' बताया है। पश्चिम और विकसित कम्युनिस्ट देशों में तथा स्वयं गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशों के सब विशेषज्ञों में इस बात से अधिक अन्य किसी विषय पर सहमति नहीं हुई। अनेक कम-विकसित देशों में योजनाओं में बचत करने की क्षमता के उपयोग के बारे में बड़े साहसपूर्ण प्रस्ताव शामिल किये गये, लेकिन अक्सर इन प्रस्तावों का कोई खास परिणाम नहीं निकला।

अनेक कठिनाइयाँ हैं। एक बात तो यह है कि इन कार्यों के लिए सामूहिक कार्रवाई की आवश्यकता होती है। और इस कार्रवाई के लिए संगठन आवश्यक होता है, क्योंकि जिस पैमाने पर प्रयास करने की आवश्यकता होती है, वह गाँव

के परिवारों के तात्कालिक हितों और साधनों से अधिकांशतया ऊपर होती है। ऐसे सामूहिक कार्य और संगठन का जो व्यापक लाभ मिलेगा उसे समझने के लिए एक सीमा तक तर्कसम्मत आचरण और सामाजिक एकता की आवश्यकता होती है, जो अक्सर अनेक टुकड़ों में विभाजित गाँवों में मौजूद नहीं होती।

इसके अलावा ऐसी किसी भी कार्रवाई से तुरन्त इसके लाभों और लागतों के वितरण के सवाल उठते हैं और इस प्रकार समानता का प्रश्न सामने आ जाता है, जिस पर पिछले अध्याय में विचार हुआ है। क्या भूमिहीन मजदूरों को इन कार्यों के लिए मजदूरी चुकायी जाये और यदि हाँ तो कितनी, जबकि इन कार्यों का लाभ मुख्यतया भूस्वामियों और अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर के अन्य लोगों को प्राप्त होता है, जो अक्सर न तो स्वयं काम करने के लिए तैयार होते हैं और न ही दूसरों को काम के लिए पैसा देने को सहमत होते हैं।

इससे भी अधिक व्यापक दृष्टि से श्रम शक्ति को ऐसे सामूहिक कार्यों के लिए संगठित करने के प्रयासों को पुराने समय से चली आ रही काम की विधियों के प्रवल विरोध का सामना करना पड़ता है।काम के ये तरीके भूस्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली पर आधारित हैं और स्वयं यह प्रणाली श्रम के व्यक्तिगत उपयोग को मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से निचले स्तर पर ही रखती है। (आगे भी देखिए)।

एक दृष्टिकोण से कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति का कम उपयोग खेती के आदिम तरीकों का परिणाम कहा जा सकता है, क्योंकि यह बुनियादी तौर पर आजमाया जा सकने वाला सामान्य नियम है कि कुछ बहुत थोड़े-से अपवादों को छोड़कर, टेक्नालॉजी की दृष्टि से अधिक विकसित तरीकों के उपयोग से श्रम की बचत नहीं होगी, बल्कि इसके विपरीत, अधिक मात्रा में और अधिक कार्यकुशल श्रम की जरूरत होगी।[24]

श्रम के उपयोग और टेक्नालॉजी के इस महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध की कृषि नीति सम्बन्धी विचार में अक्सर उपेक्षा कर दी जाती है। मनुष्य और भूमि के ऊँचे अनुपात के आधार पर अक्सर मौन सहमति के रूप में यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि कम-विकसित देशों में कृषि के लिए अधिक सघनश्रम की आवश्यकता होती है—यह निष्कर्ष इस मान्यता के बावजूद निकाला जाता है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है।

इसके बाद यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक हो जाता है कि अधिक विकसित टेक्नालॉजी के उपयोग की समस्या केवल प्रति एकड़ भूमि की उत्पादकता से ही सम्बन्धित होनी चाहिए—क्योंकि श्रम बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध है और इसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य ही बनी रहेगी। यह समस्त विचारधारा अमान्य और ग़लत मान्यताओं पर आधारित है और जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, यह बहुत अधिक गुमराह करने वाली और भ्रान्तिकारक है।

सामान्यतया टेक्नालॉजी सम्बन्धी सुधारों से श्रम की आवश्यकता में कमी नहीं होती, बल्कि प्राय: बिना किसी अपवाद के इसमें वृद्धि होती है। यह बात उस समय भी सही होती है जब उन तकनीकों के अधिक व्यापक उपयोग का प्रश्न होता है, जिन तकनीकों की सामान्य जानकारी है और जिनका उपयोग स्थानीय परिस्थितियों में कुछ किसानों ने किया भी है। यह बात उस समय भी समान रूप

से सच होती है, जब समस्या नयी टेक्नालॉजी के इस्तेमाल की होती है अर्थात् खेती के पूरी तरह से नये तरीकों को अपनाने अथवा पुराने तरीकों में सुधार करने की समस्या होती है।

हर प्रकार के टेक्नालॉजी सम्बन्धी सुधार का परिणाम अधिक अच्छी फसल होना चाहिए, जिसके लिए कटाई के समय अधिक श्रम की आवश्यकता होगी। खेती सम्बन्धी अधिकांश सुधारों में जमीन को बुआई के लिए तैयार करने, बीज बोने, खर-पतवार निकालने और बढ़ती हुई फसल की देखभाल करने के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। कुछ सुधारों के लिए पहले से ही पर्याप्त श्रम विनियोग की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए सिंचाई व्यवस्था के निर्माण और इसे अच्छी हालत में बनाये रखने का उल्लेख किया जा सकता है।

मशीनों से खेती करना एक अलग और विशेष मामला है। इसका उपयोग श्रम के लिए पूंजी के स्थान पर किया जा सकता है, विशेषकर वहाँ जहाँ कृषि भूमि की इकाई बहुत बड़ी हो। इसके परिणामस्वरूप ऐसे उदाहरण देखने को मिले हैं, विशेषकर लेटिन अमरीका के देशों में, जहाँ मशीनों से खेती के कारण श्रमिक रोजगार के अवसरों से वंचित हो गये हैं और इस प्रकार उपलब्ध श्रम शक्ति के कम उपयोग में और अधिक वृद्धि हुई है।[25]

लेकिन अधिक सामान्य मामले में, ऐसा मशीनीकरण जो कम-विकसित देशों में विद्यमान परिस्थितियों के अनुरूप हो, सामान्य नियम के अनुरूप सिद्ध होगा अर्थात् इससे श्रम की माँग में वृद्धि होगी।[26] जिन देशों में सामान्यतया विदेशी मुद्रा की स्थिति कठिन होती है और जहाँ इसी प्रकार सामान्यतया घरेलू उद्योगों को बढ़ाना और नियमित करना है, खेती की ऐसी मशीनों की सप्लाई को प्रतिबन्धित रखना एक स्वाभाविक नीति होगी, जो मशीनें श्रम का स्थान लेती हैं और श्रम की माँग में वृद्धि नहीं करतीं।

इस सन्दर्भ में मैं स्वयं को इन्हीं बातों तक सीमित रखूँगा और पाठक से अनुरोध करूँगा कि वह अधिक विस्तृत अध्ययन के लिए एशियन ड्रामा देखे जिसमें मैंने टेक्नालॉजी सम्बन्धी उन सुधारों का पर्याप्त विस्तार से विश्लेषण किया है, जिनमें श्रम के अधिक उपयोग की आवश्यकता होगी।[27]

खेती में आदिम तरीकों के उपयोग को समाप्त करने के लिए—जो एक दृष्टिकोण से श्रम के अधिक उपयोग और अधिक उपज प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं—अनेक और विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक सामान्य कठिनाई यह है कि कृषि क्षेत्र में श्रम शक्ति के आकार में तेजी से वृद्धि की सम्भावना स्पष्ट दिखायी पड़ती है और वर्तमान श्रम शक्ति का भी पूरा उपयोग नहीं हो पा रहा है।

यह स्वाभाविक है कि कम-विकसित देशों ने उद्योगीकरण के द्वारा ही गरीबी से मुक्ति पाने का रास्ता सम्भव समझा।[28] इन्हें कम-विकसित और विकसित देशों के बीच प्रमुख अन्तर यही दिखायी पड़ता है कि उनकी श्रम शक्ति का कहीं अधिक बड़ा हिस्सा खेती में लगा हुआ है। 'कम-विकसित' शब्द के सम्भ्रान्त पर्याप्त के रूप

में 'कम-उद्योगीकृत' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[29]

लम्बी अवधि की दृष्टि से कम-विकसित देशों की उद्योगीकरण में दिलचस्पी पूरी तरह से तर्कसंगत है। आबादी में वृद्धि की जो स्पष्ट सम्भावना दिखायी पड़ रही है (देखिए अध्याय-5) उसे ध्यान में रखते हुए वस्तुतः यह विश्वास कर पाना कठिन है कि भारत जैसा घना बसा देश, जिसकी विशाल श्रम शक्ति का 70 प्रतिशत भाग खेती में लगा है, इस शताब्दी के अन्त तक अपने व्यापक जनसमुदाय के वर्तमान अत्यधिक कष्टपूर्ण रहन-सहन के स्तर को भी कायम रख सकता है, यदि इसकी श्रम शक्ति के एक बड़े हिस्से को कृषि के अलावा अन्य कार्यों में नहीं लगाया गया। और यह निष्कर्ष उस स्थिति में भी कायम रहेगा, जब खेती में टेक्नालॉजी सम्बन्धी अत्यधिक व्यापक सुधार और बड़े पैमाने पर श्रम के उपयोग को भी सफलतापूर्वक लागू क्यों न कर लिया जाये।[30]

विभिन्न सीमा तक अधिकांश देशों के बारे में भी यह बात सच है। प्रायः सब कम-विकसित देशों के यथासम्भव तेजी से उद्योगीकरण करने के अच्छे कारण मौजूद हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि वे खेती में भूमि और श्रम की उत्पादकता बढ़ाने के प्रयासों में कमी कर दें।

उद्योगीकरण पर अधिक ध्यान देने के लिए उन्हें इस बात से भी प्रेरणा मिली कि उद्योगीकरण में सशक्त निहित स्वार्थों का सामना नहीं करना पड़ता, जबकि खेती की उपज बढ़ाने सम्बन्धी नीतियों में इसकी आवश्यकता पड़ती है। यहाँ तक कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की योजनाएँ ही सामान्यतया इस प्रकार बनायी जाती हैं कि वे निजी उद्योगों के लिए लाभदायी सिद्ध हों।[31]

यह स्वाभाविक है कि खेती में जिस श्रम शक्ति का पूरा उपयोग नहीं हो पाता, उसे उद्योगों में लगाने के लिए कम-विकसित देशों ने उद्योगीकरण की आवश्यकता अनुभव की। 'कम-विकास' का समस्त सिद्धान्त इस सम्भावना के विचार पर आधारित है कि खेती में लगी श्रम शक्ति को अन्यत्र लगाया जा सकता है।[32] और अक्सर यह भी समझ लिया जाता है कि ऐसी घटना वस्तुतः बड़े पैमाने पर घट भी रही है।[33]

लेकिन तथ्य यह है कि कम अवधि की दृष्टि से—उदाहरण के लिए अगले बीस वर्षों के लिए—जिस गति से अब तक उद्योगीकरण हुआ है अथवा उसकी योजना बनायी गयी है लेकिन जिसे अमल में नहीं लाया जा सका—यदि इससे भी तेज गति से उद्योगीकरण होता है, तो भी यह आशा नहीं की जा सकती कि श्रम की माँग बहुत अधिक बढ़ जायेगी।[34] इसका मुख्य कारण उद्योगीकरण का नीचा स्तर है, जहाँ से यह कार्य आरम्भ हो सकता है तथा आधुनिक औद्योगिक टेक्नालॉजी भी इसका एक स्वरूप है। (नीचे देखिए)।

उद्योगीकरण का श्रम की कुल माँग के ऊपर पर्याप्त समय तक यही प्रभाव होगा कि इसकी माँग में कमी होगी। इस 'प्रतिगामी प्रभाव' का कारण यह है कि आधुनिक उद्योग उस परम्परागत उद्योग और दस्तकारी से होड़ कर रहा है, जिसमें श्रम का सघन इस्तेमाल होता है। जब योजनाओं में इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं देखा जाता, तो अक्सर उस स्थिति में अप्रत्याशित वृद्धि होती है, जिसे 'बेरोजगारी' कहा जाता है।[35]

उद्योगों में श्रम की जितनी नयी माँग उत्पन्न होती है, उससे कहीं अधिक

संख्या में खेती में लगे श्रमिकों का उद्योगों में जाना शुरू हो सकता है और कम-विकसित देशों में वस्तुतः यह हुआ भी है और हो रहा है।[36] गरीबी से ग्रस्त गाँवों से शहरों में पहुँचने वाले ये 'शरणार्थी' अपने नये पर्यावरण में उन अनेक 'खुले धन्धों' में श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करते हैं, जहाँ श्रम की उत्पादकता बहुत नीचे स्तर की है।[37] श्रमिकों का शहरों की ओर जाना, जिसके परिणामस्वरूप तीसरे वर्ग के व्यवसायों में श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है और जहाँ श्रम का भरपूर उपयोग नहीं हो पाता, सम्बन्धित साहित्य में अक्सर सही विवेचन के अभाव में, और विकसित देशों से मिथ्या तुलना के आधार पर, विकास का लक्षण मान लिया जाता है।[38] गाँवों से इस प्रकार शहरों में जाने की प्रवृत्ति को राष्ट्रीय आयोजन के दृष्टिकोण से वांछित नहीं माना जा सकता, जहाँ अक्सर गन्दगी, स्वच्छता की कमी, अत्यधिक भीड़ और शहर की गन्दी बस्तियों में रहने की अपर्याप्त व्यवस्था की स्थिति और बिगड़ जाती है। इस तरीके से खेती में श्रम शक्ति के कम उपयोग की समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता, क्योंकि शहरों में भी इन श्रमिकों का कम उपयोग ही होता है।

इसके अलावा श्रमिकों की शहरों में जाने की प्रवृत्ति का खेती में लगी श्रम शक्ति की वृद्धि दर पर अक्सर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि खेती में कुल श्रम शक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा लगा है। लेकिन अमरीका तक में, जहाँ नगरों की ओर यह प्रवास बहुत बड़ी संख्या में हो रहा है, खेती में लगे श्रमिकों की संख्या में इसके बावजूद तेजी से वृद्धि हो रही है और यह वृद्धि 1·5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत से हो रही है।[39] इनमें से किसी भी देश में खेती में लगे लोगों की संख्या में वस्तुतः कोई कमी नहीं हुई है।

भारत की जनगणनाओं के अनुसार 1951 और 1961 के दो जनगणना वर्षों में यह देखा गया कि खेती में लगी आबादी के अनुपात में प्रायः कोई अन्तर नहीं पड़ा है, जबकि इस दशक में अधिकांश अन्य कम-विकसित देशों की तुलना में कहीं अधिक तेज़ी से उद्योगीकरण हुआ है। एशिया के समस्त कम-विकसित देशों का उल्लेख करते हुए इकाफे की एक हाल की रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया है : "खेती पर निर्भर आबादी का अनुपात······बहुत मामूली-सा घटा है अथवा पहले जितना ही रहा है। यह स्थिति अधिकांश विकासशील देशों में है।"

इससे यह पता चलता है कि अगले कुछ दशकों में—जो किसी भी यथार्थवादी आयोजन के लिए समय की सही अवधि हो सकती है—अधिकांश कम-विकसित देशों में केवल कृषिगत श्रम शक्ति की वृद्धि को ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय श्रम शक्ति की प्रत्याशित तीव्र गति से स्वाभाविक वृद्धि के अधिकांश भाग को आत्मसात् करना होगा।

अतः आयोजन में विकास का लक्ष्य उस श्रम शक्ति का अधिक उपयोग होना चाहिए, जिसका इस समय बहुत कम उपयोग हो रहा है। यह उपयोग कृषि कार्यों में हिस्सा लेने और विशेषकर, काम के समय की अवधि और कार्य-कुशलता दोनों दृष्टियों से होना चाहिए। यह तथ्य कि श्रम शक्ति निरन्तर और तेज़ी से बढ़ती जायेगी, इस लक्ष्य की पूर्ति को और कठिन बना देता है।

उद्योगीकरण अभियान के 'अधिक रोजगार उपलब्ध कराने' में असफल रहने के कारण, हाल के वर्षों में कुछ देशों में विकास योजनाओं में उद्योगीकरण से अधिक खेती पर जोर देने का प्रयास हुआ है।

लेकिन आयोजन की नीति के इस पुनर्निर्धारण के अन्य कारण भी हैं : तेज़ी से आबादी में वृद्धि, जिसकी व्यापकता का अनुमान 1960 के आसपास की जनगणनाओं तक योजनाकार नहीं लगा सके थे, अधिकांश देशों में आशा से कम गति से खेती की उपज में वृद्धि और अनेक देशों में 1965 के आसपास फसल की विनाशकारी स्थिति; और अन्तिम पर कम महत्त्वपूर्ण नहीं—अनाज की सहायता देने वाले देशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका का निरन्तर बढ़ता हुआ दबाव।

साधारणतया प्राथमिकताओं के सन्दर्भ में नीति सम्बन्धी लक्ष्यों में इस परिवर्तन पर विचार हुआ है और अधिकांशतया इसे बजट के 'विकास व्यय' को उद्योगों के स्थान पर कृषि के ऊपर लगाना बताया गया है। अनेक कारणों से सोचने का यह तरीका सतही है। यह वित्तीय दृष्टि से आयोजन के गलत तरीके को प्रकट करता है (देखिए अध्याय—1)।[40]

इस कथन से उपलब्ध धनराशि के लिए होड़ की बात मान ली जाती है, जो अक्सर वास्तविक नहीं होती। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश के औद्योगिक विकास और खेती में इसकी उत्पादकता के बीच एक सकारात्मक सम्बन्ध होता है। नीति के दृष्टिकोण से, खेती की स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर अधिक ज़ोर देना तर्कसंगत ढंग से उद्योगों की दिशा को पुनर्निर्धारित करने का एक कारण हो सकता है—उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं, हर प्रकार के कृषि उपकरणों, मशीनों और औजारों का निर्माण—इसका अभिप्राय उद्योगीकरण के अभियान को धीमा करना नहीं है।

इसके अलावा कृषि के क्षेत्र में कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुधारों के लिए—उदाहरण के लिए भूमि सुधार (ऊपर देखिए) अथवा श्रम के सामूहिक निवेश की दिशा में संगठित प्रयास (नीचे देखिए)—पूँजी की अधिक आवश्यकता नहीं होती और विदेशी मुद्रा की तो इतनी भी जरूरत नहीं होती।

ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि उद्योगीकरण के लम्बी अवधि के प्रभावों को ध्यान में रखते हुए और निरन्तर बढ़ती हुई श्रम शक्ति को पेशों के मध्य भिन्न ढंग से वितरित करने की आवश्यकता के कारण कम-विकसित देश और विशेषकर घनी आबादी वाले कम-विकसित देश अपने उद्योगीकरण के अभियान को धीमा नहीं कर सकते। उन्हें वस्तुतः एक 'बड़ी योजना'[41] की आवश्यकता है, जिसमें उन सब बातों की व्यवस्था हो जो उद्योगीकरण की रफ्तार तेज़ करने के लिए आवश्यक हैं। और इसके साथ ही खेती में श्रम शक्ति के अधिक उपयोग का भी साहसपूर्ण प्रयास किया जाना चाहिए।

यहाँ एक बात याद दिलाना आवश्यक है : विकसित देशों में खेती में श्रम की उत्पादकता में आरम्भ से ही अत्यधिक वृद्धि—जो नयी पीढ़ियों से चली आ

रही थी—हो सकी, यद्यपि कृषि में लगी श्रम शक्ति में कमी हो रही थी। पहले यह कमी कुल श्रम शक्ति के अनुपात के रूप में हुई और फिर जल्दी ही शुद्ध संख्यात्मक दृष्टि से ही यह कमी आयी।

इससे वर्तमान अत्यधिक विकसित देशों में कई पीढ़ियों पहले और कम-विकसित देशों में आज की परिस्थितियों का बुनियादी अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस अन्तर को समझाने के लिए हमें यह समझना होगा कि विकसित देशों ने अक्सर उद्योगीकरण के ऊँचे स्तर से कार्य आरम्भ किया और इससे भी अधिक यह बात समझनी होगी कि उद्योग के क्षेत्र में आरम्भिक टेक्नालॉजी आज की तुलना में कहीं अधिक श्रम सघन थी अर्थात् इसमें श्रम का अधिक उपयोग होता था। तीसरा अन्तर यह है कि उनकी कुल श्रम शक्ति में कहीं कम तेज़ गति से वृद्धि हुई।

अब उद्योगीकरण का प्रयास करने में लगे कम-विकसित देशों के समक्ष अधिक श्रम सघन टेक्नालॉजी का उपयोग कर पाने की कुछ सीमित सम्भावनाएँ हैं।[12] उद्योग के क्षेत्र में उन्हें आधुनिकतम और विकसित टेक्नालॉजी को ही अपनाना है, जिसकी उपलब्धि को, सही ढंग से इन देशों के लिए एक महान् अवसर समझा जाता है। और परम्परागत कारीगरी को, जो कहीं अधिक श्रम सघन है, सुरक्षित रख पाना केवल अस्थायी और सीमित बात ही हो सकती है। इस संरक्षण को सफल बनाने के लिए इन दस्तकारियों में प्रयुक्त टेक्नालॉजी को आधुनिक बनाने के प्रयासों की आवश्यकता होगी, यद्यपि यह नयी टेक्नालॉजी ऐसी है, जिससे श्रम के उपयोग में कमी होती है।[13]

पर इस सबका यह निष्कर्ष होता है कि विकसित देशों में खेती की विधियों में सुधार प्रायः आरम्भ से ही शुरू किया जा सकता था, जबकि खेती में लगी उनकी श्रम शक्ति घट रही थी और इसका तेज़ी से उद्योगों में उपयोग हो रहा था। लेकिन आज कम-विकसित देशों में यह नहीं हो रहा है। अतः यह आवश्यक है कि इनकी नयी कृषि विधियाँ अथवा टेक्नालॉजी ऐसी हो, जिसमें श्रम का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता हो। यह इस कारण भी ज़रूरी है कि खेती में लगी श्रम शक्ति का इस समय कम उपयोग हो पा रहा है और अधिकांश कम-विकसित देशों में आगामी अनेक दशकों तक कृषि में लगी श्रम शक्ति में निरन्तर तेज़ी से वृद्धि होती रहेगी।

इस सम्भावना को बहुत निराशाजनक नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि अभी इन देशों की खेती में श्रम का सघन उपयोग नहीं हो रहा है और टेक्नालॉजी सम्बन्धी समस्त सुधारों से श्रम की माँग में वृद्धि होगी। इसके अलावा इन देशों के लोगों के भोजन में मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से जो बेहद कमी मौजूद है, उसके कारण लम्बे अरसे तक खेती के समक्ष बाजार के सीमित होने की कोई कठिनाई नहीं रहेगी; यदि उन्हें पौष्टिक आहार सम्बन्धी आवश्यकता को प्रभावशाली माँगों में बदलने में सफलता मिलती है। उन्हें यह प्रयास अनिवार्य रूप से करना होगा, क्योंकि यह विकास का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। पौष्टिक आहार की कमी बहुत अधिक व्यापक है।

परम्परागत दस्तकारियों के विपरीत कृषि क्षेत्र पर उद्योगीकरण का प्रतिगामी प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं है, विशेषकर निकट भविष्य में तो इस

बात की कोई सम्भावना ही नहीं है।[44]

२. नीतियाँ

इस तथ्य से कि कम-विकसित देशों में कृषि विधियों अथवा टेक्नालॉजी को अत्यधिक श्रम सघन बनना होगा, जबकि यह वर्तमान विकसित देशों में अत्यधिक कम श्रम से चलायी जा रही है, यह प्रकट होता है कि कृषि के क्षेत्र में उतने प्रत्यक्ष तरीके से आधुनिक टेक्नालॉजी को नहीं अपनाया जा सकता, जितने प्रत्यक्ष तरीके से उद्योग में अपनाया जा सकता है। कम-विकसित देशों में कृषि टेक्नालॉजी को विभिन्न कारकों के अनुपात को ध्यान में रखते हुए संचालित करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।[45]

कुछ विशेष विधियों को अपनाया जा सकता है, जैसे गायों को कृत्रिम उपायों से गर्भाधान कराना, पौधों के रोगों की नये तरीकों से रोकथाम, और चूहे मारने के नये तरीके। लेकिन अक्सर इनमें भी बुनियादी तौर पर कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। साधारणतया नये अनुसन्धान की तुरन्त आवश्यकता है, चाहे अक्सर इन अनुसन्धानों का आधार विकसित देशों में हुए बुनियादी अनुसन्धान ही क्यों न हों।

इसके अलावा विकसित देशों में आज जो आधुनिक कृषि टेक्नालॉजी अपनायी जा रही है, वह जलवायु, मिट्टी और बीजों आदि के बारे में तीव्र और स्थानीय अनुसन्धान का परिणाम है। यह अधिकांशतया सम-जलवायु वाले देशों तक ही सीमित रही है। अतः एक अत्यधिक आवश्यक कार्य यह है कि गर्म और कम गर्म क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर इसी प्रकार का अनुसन्धान किया जाये, क्योंकि इन्हीं क्षेत्रों में अधिकांश कम-विकसित देश स्थित हैं।[46] जिन देशों के कारक अनुपात, जलवायु और अन्य बातें भी भिन्न हैं, उन देशों में अपने वैज्ञानिक ज्ञान के बेहतर उपयोग के लिए हमें सम्बन्धित अनुसन्धान कार्यों के लिए वित्तीय और कर्मचारियों सम्बन्धी माँगों को पूरा करना होगा क्योंकि कम-विकसित देश उस पैमाने पर भी यह कार्य करने की स्थिति में नहीं हैं जो किसी प्रकार उनकी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। अतः इस दृष्टि से विकसित देशों से सहायता मिलना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

यदि यह मान लिया जाये कि इन कठिनाइयों को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जायेगा और अत्यधिक तर्कसंगत और परिस्थितियों के अनुकूल कृषि टेक्नालॉजी उपलब्ध हो जायेगी, फिर भी यह कृषि सुधार का केवल समारम्भ भर होगा। करोड़ों किसानों को इस नयी टेक्नालॉजी का इस्तेमाल करने के लिए प्रेरित करना होगा। छोटे पैमाने पर आजमाइश के तौर पर चलायी जाने वाली योजनाएँ सर्वोत्तम मामलों में भी अधिक से अधिक एक समारम्भ मानी जा सकती हैं।

ये देश, और विशेषकर इनकी खेती, लम्बे समय से विकास की कमी से ग्रस्त रहे हैं। यदि वे अपनी आय और अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना चाहते हैं तो कृषि में लगे लोगों के मन में एक महत्त्वाकांक्षा जगना जरूरी है, जो आज प्रायः मौजूद नहीं है।[47] उन्हें यह करने और अपनी टेक्नालॉजी को आदिम स्तर से ऊपर उठाकर आधुनिक स्तर तक लाने की प्रेरणा देने के लिए, जिस पैमाने पर शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है वह सचमुच विराट है।

एक विशेष अतिरिक्त कठिनाई यह है कि प्रश्न केवल किसी खास काम को एक नये तरीके से करने का नहीं होता, वल्कि अनेक प्रेरित परिवर्तनों को एक साथ स्वीकार करने और उन पर अमल करने का होता है। आवश्यकता इस बात की है कि खेती के तरीकों में समग्र दृष्टि से सुधार किया जाये, अनेक प्रेरित परिवर्तनों को एक साथ लागू करने के लिए स्वीकार किया जाये। अन्यथा न तो अच्छे परिणाम निकलेंगे और न ही कोई लाभ मिलेगा।[18]

सिंचाई व्यवस्था के द्वारा अधिक पानी की सप्लाई वस्तुतः तभी लाभदायक होती है, जब दो या तीन फसल उगाने की प्रणाली अपनायी जाये। इसी प्रकार, पानी के अभाव में उर्वरक अधिकांशतया प्रभावहीन होते हैं और इसी प्रकार उर्वरकों के विना सिंचाई का भी पूरा लाभ नहीं मिलता। इसी तरह वेहतर किस्म के वीजों से पर्याप्त उपज लेने के लिए पानी और उर्वरक दोनों की आवश्यकता होती है।

कृषि टेक्नालॉजी के अन्य सब सुधारों पर भी पारस्परिक और एक-दूसरे के पूरक परिवर्तनों का यह नियम लागू होता है : अधिक गहरी जुताई, भूसंरक्षण और मिट्टी की वनावट में सुधार, हरी खाद डालना और प्राकृतिक उर्वरकों का उपयोग, खरपतवार का वेहतर नियन्त्रण, पौधों की रोगों से रक्षा, वारी-वारी से फसल उगाने की अच्छी व्यवस्था आदि।

तेजी से उगने और तैयार होने वाले वीजों की किस्मों का विकास कृषि कार्य की गति को तेज बनाकर दोहरी फसल उगाने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को समाप्त कर सकता है। लेकिन इसके लिए सबसे पहले सिंचाई की जरूरत होती है। और सस्ते उर्वरकों का उपलब्ध होना, परती भूमि अथवा उस भूमि में खेती करने को प्रोत्साहन दे सकता है, जिसका अब केवल चरागाह के रूप में इस्तेमाल होता है। लेकिन यह तभी किया जा सकता है, जव खेती में सुधार करने के लिए आवश्यक अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध हों।

करोड़ों अत्यधिक गरीब, अधिकांशतया निरक्षर, और अक्सर रोगग्रस्त किसानों को एक पिछड़ी हुई और गतिहीन कृषि व्यवस्था में कोई नयी विकसित विधि सिखाना और उन्हें इस नयी विधि को पूरी निष्ठा से और प्रभावशाली ढंग से अपनाने के लिए तैयार करना पर्याप्त कठिन कार्य है। अतः अनेक नयी विधियों को एक साथ लागू करने के लिए स्वीकार करना प्रायः असम्भव-सा होगा। लेकिन अधिकांश कम-विकसित देशों में खेती की स्थिति इतनी बुरी है कि यह करने का प्रयास करना ही होगा।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तनों के समूह का प्रायः प्रत्येक तत्त्व ऐसा है कि उसके उपयोग से लाभ मिलता है और ये तरीके तर्क और विवेकसम्मत भी हैं। लेकिन टेक्नालॉजी सम्बन्धी इन परिवर्तनों के समूह के प्रत्येक तत्त्व को लागू करने के लिए केवल अधिक श्रम की ही आवश्यकता नहीं होती, वल्कि कहीं अधिक तीव्र और प्रभावशाली ढंग से कार्य करना भी जरूरी होता है। इस प्रकार नयी टेक्नालॉजी के उपयोग से श्रम-शक्ति के कम

उपयोग की खामी को दूर किया जा सकता है। और उस स्थिति में जवकि श्रम शक्ति निरन्तर और तेजी से वढ़ रही हो, यह कार्य करना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अपने-आपमें श्रम शक्ति की वृद्धि निरन्तर अपने अधिकांश हिस्से को और अधिक निर्धनता के स्तर पर धकेलती रहती है और सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को अधिक असमानतावादी और कठोर बनाती जाती है।[49]

और हम यहाँ उस बड़ी कठिनाई का सामना करते हैं, जो ऊपर वर्णित अन्य सव कठिनाइयों के ऊपर छायी रहती है अर्थात् अधिकांश कम-विकसित देशों में असमान सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण। जिन वातों को 'भूमि सुधार' अथवा 'कृषि सुधार' कहा जाता है, जिसमें काश्तकारी सम्बन्धी सुधार शामिल हैं, उनकी समस्या को एक ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए सुलझाया जाना चाहिए जहाँ श्रम शक्ति को कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से काम करने के अवसर उपलब्ध हों और श्रमिक प्राप्त प्रोत्साहनों से परिचित और प्रेरित हों। इस प्रकार हमारे सामने समानता के प्रश्न का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण, व्यावहारिक और ठोस पहलू उपस्थित हो जाता है।

कृषि के क्षेत्र में जिन श्रमिकों के श्रम का अत्यधिक कम उपयोग होता है, वे पूरी तरह से भूमिहीन मजदूर हैं, जिनका हिस्सा कुल श्रम शक्ति का चौथाई और इससे अधिक होता है। केवल आवादी के विस्फोट के परिणामस्वरूप ही नहीं, वल्कि अन्य कारणों से भी खेत मज़दूर गाँवों में निचले स्तर पर रहते हैं और भूमिहीन खेत मज़दूरों का हिस्सा खेती में लगे मज़दूरों में निरन्तर बढ़ता जा रहा है। जिन किसानों के पास ज़मीन तो है, लेकिन यह ज़मीन वेहद थोड़ी है, वे भी उसी स्थिति में हैं और उन तत्त्वों का उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे अपनी इस थोड़ी-वहुत ज़मीन के लाभ से भी वंचित हो जाते हैं। ये समूह इन परिस्थितियों के कारण निष्क्रिय रहते हैं और ये अपने श्रम को बढ़ाने अथवा अधिक तीव्रता से काम करने का कोई प्रोत्साहन अनुभव नहीं करते।

बटाई पर खती करने की व्यापक प्रणाली न तो टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तन के उपयोग की दृष्टि से लाभदायक है और न ही श्रम और धन के रूप में विनियोग की दृष्टि से। इसी प्रकार इससे खेती में प्रयुक्त श्रम की मात्रा और स्तर में भी कोई वृद्धि नहीं होती, जिसकी अपेक्षा रहती है।[50] बटाई पर खेती करने वाला किसान, जो ज़मीन के मालिक को अक्सर आधी से अधिक उपज देता है, गरीबी और उदासीनता से निरुत्साहित और ग्रस्त रहता है।

लगान की प्रणाली उसके पास बहुत छोटा-सा हिस्सा बकाया छोड़ती है और यह हिस्सा उत्पादन में वृद्धि का बहुत छोटा हिस्सा होता है। इसके साथ ही उसका काश्तकारी का अधिकार भी हमेशा खतरे में पड़ा रहता है, जिसका यह अभिप्राय है कि उसके पास जमीन को सुधारने का कानून द्वारा रक्षित कोई अधिकार नहीं होता, चाहे वह अपने श्रम के द्वारा ही यह कार्य क्यों न करना चाहे।

साथ ही यह एक सामान्य अनुभव है कि बटाई की प्रणाली के अन्तर्गत, कुछ अपवादों को छोड़कर, जमीन का मालिक, चाहे वह बड़ा अथवा छोटा दूरवासी जमींदार हो अथवा किसान भूस्वामी अथवा गाँव में रहने वाला आर्थिक दृष्टि से

वेहतर स्थिति वाला किसान, वह बटाई पर खेती करने वाले काश्तकार अथवा उपकाश्तकार की तरह ही जमीन को वेहतर बनाने के लिए न तो अपना श्रम लगाने को तैयार होता है और न ही धन। ज़मीन की कीमत ऊँची, अक्सर स्थिर, या यहाँ तक कि निरन्तर बढ़ती हुई होती है और जमीन के मालिक को अक्सर कोई नयी जोखिम अथवा अतिरिक्त परेशानी या कष्ट उठाये बिना ही उपज के रूप में ऊँचा हिस्सा मिलता रहता है।

मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ, और अनेक गहन अध्ययनों से इसकी पुष्टि भी हुई है, कि दक्षिण एशिया में वटाई पर खेती की व्यवस्था उन अनेक निषेधों और अवरोधों के समूह के रूप में विद्यमान है जो खेती की विकसित विधियों के उपयोग और श्रम के अधिक उपयोग तथा उपज वढ़ाने के उपायों के विरुद्ध प्रभावशाली ढंग से काम करते हैं। ऐसी प्रणाली "केवल सामाजिक न्याय के ही विरुद्ध नहीं है, बल्कि गाँवों के जन-समुदाय द्वारा विकास कार्यों में प्रभावशाली ढंग से हिस्सा लेने के मार्ग में भी प्राय अलंघ्य वाधा के रूप में काम करती है।"[51]

लेटिन अमरीका की लातीफंदिया और मिनिफंदिया प्रणालियों के प्रभावों के वारे में मुझे व्यक्तिगत रूप से बहुत अधिक गहरी जानकारी नहीं है। लेकिन इस सम्वन्ध में मैंने जो कुछ पढ़ा है और जो कुछ प्रेक्षण करने की मैं स्थिति में रहा हूँ उससे यह प्रकट होता है कि यह प्रणाली भी – जिसमें वटाई पर खेती करने की प्रणाली के तत्त्व अक्सर मौजूद रहते हैं – इसी प्रकार टेक्नालॉजी सम्वन्धी प्रगति के विपरीत जाती है। टेक्नालॉजी की प्रगति से ही श्रम के उपयोग को वढ़ाया जा सकता है और उपज में वृद्धि की जा सकती है।

इसके साथ ही यह तथ्य भी मौजूद है कि औसत उपज बहुत कम है और इसमें वृद्धि भी अधिक नहीं हो रही है, जिन देशों और ज़िलों में यह प्रणाली मौजूद है वहाँ यही स्थिति मौजूद है। लेटिन अमरीका के आर्थिक आयोग के सचिवालय ने हाल में लेटिन अमरीका की कृषि के वारे में जो विशेष रूप से निष्ठापूर्ण और तर्कसंगत अध्ययन किया है,[52] उसके विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेटिन अमरीका के विभिन्न देशों में भूस्वामित्व, किसानों के कृषि भूमि से वंचित रहने की स्थिति और दूसरे की जमीन में खेती करने वाले किसानों की प्रणाली किस प्रकार खेती की उन्नति में वाधक वनी है :

"गाँवों की अधिकांश आवादी के पास अतिरिक्त आय नहीं है और उनके पास इतनी पर्याप्त जमीन भी नहीं है कि विनियोग में वृद्धि की जा सके। जवकि वे लोग जो अधिकांश भूमि के स्वामी हैं और जिनकी वड़ी आय है, अपनी ज़मीन में सुधार करने, उपज वढ़ाने, उत्पादकता में वृद्धि करने में अक्सर कोई दिलचस्पी नहीं रखते अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उनमें यह कार्य करने की क्षमता नहीं है। वड़ी-वड़ी जमींदारियों से जो लाभ प्राप्त होते हैं, शायद ही कभी उनके किसी हिस्से को जमीन सुधारने में लगाया जाता हो। इसके विपरीत लाभ की राशि को शहरों में पूंजी विनियोग और ऐश-आराम की चीजों पर खर्च किया जाता है अथवा देश के वाहर भेज दिया जाता है।"[53]

वस्तुतः विशाल कम-विकसित संसार के विभिन्न देशों और एक ही देश के अलग-अलग जिलों में भूस्वामित्व और काश्तकारी की अनेक प्रणालियाँ लागू हैं। अतः किसी न किसी प्रकार का कृषि सम्बन्धी सुधार (नीचे देखिए) प्रायः सर्वत्र

लागू करना अनिवार्य है; क्योंकि इन सुधारों के बिना खेती की विकसित विधियों को लागू करने की नीति सम्बन्धी प्रयासों को अमल में लाना सम्भव न होगा।

कुछ अपवादों को छोड़कर एक अन्य व्यापक रूप से लागू और सही बात यह दिखायी पड़ती है कि—अधिकांशतया उन देशों में, जहाँ क्रान्तिकारी स्थिति रही अथवा जहाँ बाहरी प्रभुत्व और दबाव ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, जैसे फारमोसा का मामला—दूसरे महायुद्ध के बाद से कम-विकसित देशों में भू-स्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों की बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद प्रायः अधिक काम नहीं हुआ है। जहाँ कहीं सम्बन्धित कानून बनाये भी गये हैं वे मामूली सुधारों तक ही सीमित रहे अथवा शुद्ध रूप से सुधारों का नाटक किया गया। जहाँ तक भूमिहीन खेत मजदूरों का सम्बन्ध है इन सुधारों में नियमित रूप से ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिसके द्वारा इन लोगों को अपनी ज़मीन दी जा सके। दक्षिण एशिया के विशाल क्षेत्र के सम्बन्ध में इस समस्या पर एशियन ड्रामा में कुछ विस्तार से विचार हुआ है।[54]

वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस क्षेत्र में कृषि सम्बन्धी सुधारों की असफलता का मुख्य स्पष्टीकरण प्रभावशाली भूस्वामियों का प्रतिरोध है। छोटे भूस्वामियों ने इस कार्य में बड़े जमींदारों का साथ दिया, क्योंकि वे इसे अपने हित में एकता की कार्रवाई समझते थे।

इस तथ्य के कारण कि कृषि भूमि में पूँजी निवेश को अपनी व्यक्तिगत सम्पदा को बनाये रखने का सुरक्षित और सुविधाजनक तरीका समझा जाता है, शहरों के छोटे-बड़े पूँजीपति कृषि भूमि खरीदने के लिए बहुत उत्सुक रहे हैं। भारत जैसे देश में सम्भवतः समस्त उच्च वर्ग, जिसकी परिभाषा पिछले अध्याय में की गयी है, के पास कुछ न कुछ ज़मीन है, यद्यपि यह प्रमाणित करने के लिए आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

शहरों के उच्च वर्ग और गाँवों के खेती न करने वाले लोगों में भूस्वामित्व की इस व्यापकता के कारण—और इन दोनों वर्गों में छोटे और उच्च पदों पर काम करने वाले अनेक सरकारी कर्मचारी भी शामिल हैं—भूमि सुधार विरोधी जबर्दस्त गुट का निर्माण हो जाता है। यह गुट उन देशों में जहाँ चुनाव होते हैं, इस कारण से शक्तिशाली नहीं है कि इसके पास मतदान की बड़ी शक्ति है, बल्कि इसका कारण यह है कि इस गुट के अन्तर्गत गाँवों और शहरों के समस्त पढ़े-लिखे और अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से उठाने की क्षमता रखने वाले लोग शामिल हैं।

इस तथ्य के अलावा कि अक्सर कुछ न कुछ ज़मीन पर इनका स्वामित्व होता है, वे अधिकारी जिनके ऊपर शासन चलाने और सुधारों को लागू करने का दायित्व है, गाँवों के उच्च वर्ग के लोगों से स्वभावतः साँठगाँठ करते हैं और सुधारों को प्रभावहीन बना देते हैं।

गाँवों के गरीब लोग, जिनके हित की दृष्टि से सुधारों की बात कही जाती है और कभी-कभी कानून भी बनाये जाते हैं, अधिकांशतया उदासीन रहते हैं। अपने हितों के लिए संघर्ष करना तो दूर, वे लोग अपने समान हितों को देखने-समझने के लिए संगठित तक नहीं हैं। वर्तमान सामाजिक स्थिति में वे असहाय हैं और पिछले अध्याय में प्रतिपादित कथ्य को प्रमाणित करने में इस बात से

सहायता मिलती है। कथ्य यह है कि सामान्यतया उच्च वर्ग के विभिन्न समूहों के हाथों में ही समस्त सत्ता केन्द्रित है, जबकि सामान्य जन-समुदाय अपनी माँग नहीं उठा पाता और अपने हितों की रक्षा के लिए असंगठित ही बना हुआ है तथा निष्क्रिय भी है।

लेटिन अमरीका में, यद्यपि वहाँ भूस्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली अनेक दृष्टियों से भिन्न है, कृषि सम्बन्धी सुधारों का विकासक्रम दक्षिण एशिया जैसा ही रहा है। वहाँ भी कृषि सुधार घोषित नीतियों का एक सामान्य लक्ष्य रहा और 1961 में पुंता डेल ऐस्त के घोषणापत्र में इस बात पर बड़ी गम्भीरता से सहमति प्रकट की गयी। लेटिन अमरीका के आर्थिक आयोग के सचिवालय द्वारा लेटिन अमरीका की कृषि के अध्ययन का पहले ही हवाला दिया जा चुका है, जिसका प्रकाशन 1968 में हुआ और जिसमें एक पूरा अध्याय "कृषि विकास में बाधक भूस्वामित्व की प्रणाली और अन्य संस्थागत बाधाएँ" के बारे में है।[55]

इस अध्ययन के लेखकों को यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि नीति सम्बन्धी इन प्रयासों का प्राय: कोई परिणाम नहीं निकला है और यह भी कि "इससे वह प्रभाव स्पष्ट होता है जो बड़े जमींदार विभिन्न देशों में कृषि नीति के निर्धारण पर डालते रहे हैं और आज भी डाल रहे हैं।"[56] सहमति प्राप्त और व्यावहारिक लक्ष्यों से वास्तविक परिणामों की तुलना करते हुए लेखक कहते हैं :

"······शुद्ध दृष्टि से लेटिन अमरीका के देशों ने बहुत कम सफलता प्राप्त की है और आवश्यकताओं अथवा लक्ष्यों की तुलना में तो प्राय: कोई प्रगति नहीं हुई है······यद्यपि भूमि सुधार सम्बन्धी कानून बनने और भूमि सुधार संस्थाओं की स्थापना से भूस्वामित्व और काश्तकारी की व्यवस्था में गहरे परिवर्तनों के नवयुग के समारम्भ की आशा की जाती है, लेकिन यथार्थ में अधिकांश सुधार कार्यक्रमों को निरन्तर प्रभावहीन बनाया गया है और इनमें से अधिकांश पूरी तरह से गतिहीन हैं······अब तक जिन परिवारों को जमीन देकर बसाया गया है, उनकी संख्या काश्तकारी करने वाले परिवारों की संख्या में होने वाली स्वाभाविक वार्षिक वृद्धि का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा भर है······दूसरे शब्दों में अब तक भूमि सुधार की गतिविधियों ने भूस्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली को नाममात्र के लिए बदला है और कोई भी कार्यक्रम सच्चा भूमि सुधार सिद्ध नहीं हुआ है।"[57]

पश्चिम एशिया में, और इथियोपिया जैसे एक अफ्रीकी देश में भी, भूस्वामित्व और काश्तकारी की समस्याएँ, यद्यपि काफी भिन्न हैं, लेकिन फिर भी दक्षिण एशिया की ऐसी ही समस्याओं से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। सहारा के दक्षिण में अफ्रीका के अधिकांश स्वतन्त्र देशों में, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से स्थिति कम 'परिपक्व' है। इस क्षेत्र के अनेक हिस्सों में समस्या यह निर्णय लेने की है कि क्या सामूहिक स्वामित्व की कबीलों की प्रणाली को फिर पुनर्गठित किया जाये अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व की किसी प्रणाली को नये सिरे से स्थापित किया जाये। यह तथ्य विशेष प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है कि अनेक नवस्वतन्त्र देशों में यूरोपियनों ने कृषि भूमि प्राप्त कर रखी है और अधिकांशतया इनके पास सर्वोत्तम कृषि भूमि है। ये समस्याएँ उस स्थिति में भी

जब ये यूरोपियन वहीं रहने का निर्णय करते हैं, मौजूद रहती हैं और तब भी जब ये लोग उन देशों को छोड़कर चला जाना पसन्द करते हैं।

यह अक्सर देखा गया है कि उत्पादकता की दृष्टि से सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए कृषि सुधार के साथ-साथ अन्य और पूरक संस्थागत सुधारों की भी बहुत आवश्यकता होती है। इनमें कृषि विस्तार, रियायती दरों पर ऋण देने की व्यवस्था और उर्वरकों, बीज और खेती के औजारों की सप्लाई, कृषि उपज की बिक्री के लिए बाजारों की बेहतर व्यवस्था आदि शामिल हैं।

समस्त कम-विकसित संसार में एक सामान्य नीति यह रही है कि सहकारिता के आधार पर ये सुधार किये जायें। अनेक देशों में—जिनमें दक्षिण एशिया के सब देश शामिल हैं—इन सुधारों को गाँवों के गरीब लोगों के लाभ की दृष्टि से प्रेरणा मिली है और प्रकट रूप से इनके संचालन की दिशा भी यही है। इसका उद्देश्य अधिक आर्थिक और सामाजिक समानता की स्थापना है।

एशियन ड्रामा में नीति सम्बन्धी इन उपायों के ऊपर दक्षिण एशिया के सन्दर्भ में प्रायः पूरा विचार हुआ है।[58] इसमें ऋण और अन्य सहकारियों, सामुदायिक विकास और कृषि विस्तार, स्वायत्त शासन, और सरकारी खेती पर विचार हुआ है। इन सब प्रयासों के पीछे जो विचारधारा है वह सशक्त रूप से समानतावादी है। अक्सर इन्हें गाँवों में अधिक समानता की स्थापना के लिए क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के रूप में प्रस्तुत किया गया।

लेकिन इन देशों में जो असमानतावादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरीकरण है और जो इन देशों के गाँवों में भी इसी तरह व्याप्त है, उसकी तार्किकता के अनुसार इन सब कार्रवाइयों का प्रायः नियमित रूप से विपरीत प्रभाव हुआ। साधारणतया केवल ऊँचे स्तर के लोग ही उन सुविधाओं का लाभ उठा सके, जो सहकारी संस्थाओं से प्राप्त हो सकती थीं और इन संस्थाओं की स्थापना और सुविधाएँ देने के लिए जो सरकारी सहायता दी गयी उसका लाभ भी इन्हीं लोगों को मिला। इसका शुद्ध परिणाम यह निकला कि असमानता में कमी नहीं हुई बल्कि इसमें वृद्धि हुई।

यद्यपि लागू होने की स्थिति में, भूमि सुधार और काश्तकारी सम्बन्धी कानून सम्पत्ति के अधिकारों और आर्थिक दायित्वों में मूलभूत परिवर्तन करने के साधन हैं, पर ये अन्य संस्थागत उपाय वर्तमान असमानतावादी सत्ता के ढाँचे पर प्रत्यक्ष प्रहार करने में असफल रहते हैं। वस्तुतः इनका लक्ष्य इस ढाँचे को छुए बिना स्थिति में सुधार करना है और वस्तुतः इसका अर्थ समानता के प्रश्न से बच निकलना है।

यही बात ग्रामोत्थान के व्यापक कार्यक्रम के बारे में भी सही है जिसे साधारणतया सामुदायिक विकास कहा जाता है और जिसके ऊपर कम-विकसित संसार और पश्चिम के विकसित देशों में बहुत अधिक आशाएँ केन्द्रित की गयी हैं। "इस आरम्भिक अवधि में सामुदायिक विकास के बारे में अधिकांश विचार-विमर्श पूरी तरह से अवास्तविक वातावरण में हुआ, क्योंकि इस बात पर व्यापक रूप से विश्वास किया जाता था कि एशिया के असंख्य गाँवों में आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रान्ति लाने की कुंजी इसी आन्दोलन में निहित है।"[59]

इस कार्यक्रम के असफल रहने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यह

है कि जिस रूप में इस कार्यक्रम का संचालन किया गया, उसमें समानता के प्रश्न से बच निकलने का प्रयास भी शामिल था, जबकि निरन्तर इस कार्यक्रम को गरीबों के लाभ के लिए चलाये जाने वाला कार्यक्रम बताया जाता रहा।[60]

भारत, जो इन पूरक संस्थागत सुधारों को लागू करने का प्रयास करने वाला कम-विकसित देशों में सबसे अधिक अग्रगामी देश है, एक ऐसा देश भी है जहाँ निरन्तर यथार्थवादी मूल्यांकन किये जाते रहे और जहाँ सर्वाधिक प्रबुद्ध विचार-विमर्श जारी रहा। यहाँ जो बातें कही गयी हैं, उनके मूल्यांकन को सम्बन्धित अध्ययनों में बड़ी ईमानदारी से स्वीकार किया गया है। जैसाकि भारत की एक सरकारी रिपोर्ट में जोर देकर कहा गया है: "जब तक समाज का और हमारे सोचने के तरीकों का वर्तमान स्वरूप कायम रहता है, विकास के लाभ का अनिवार्यतः अत्यधिक असमान वितरण होगा, और कमजोर वर्गों को सबसे छोटा हिस्सा मिलता रहेगा।" इस रिपोर्ट में कथित हितकारी नीतियों, जिनमें सामुदायिक विकास भी शामिल था, की असफलता का उल्लेख किया गया। ये नीतियाँ गाँवों के गरीब लोगों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से स्वीकार की गयी थीं।[61] अन्त में इस रिपोर्ट में कहा गया है: "खेती का विचित्र तरीका किसी भी प्रभावशाली सीमा तक खेती में सुधार करने और उसे विवेकसम्मत बनाने को प्रायः असम्भव बना देता है। जो कुछ थोड़ा-बहुत सुधार सम्भव होता है, वह वर्तमान परिस्थितियों के कारण सबसे बड़े भूस्वामियों को छोटे-छोटे किसानों से कहीं अधिक लाभ पहुँचाता है।"

इस वक्तव्य में यह निष्कर्ष निहित है कि भारत में ये पूरक संस्थागत सुधार, उन समानतावादी रुझानों के बावजूद, जो इन्हें देने का प्रयास किया जाता था, वस्तुतः अधिक असमानता की सृष्टि करेंगे, जब तक भूस्वामित्व और काश्तकारी की बुनियादी रूप से असमानतावादी प्रणाली को बुनियादी तौर पर बदला नहीं जाता। कम-विकसित संसार में अन्यत्र जहाँ कहीं इन सुधारों को लागू करने का प्रयास किया गया, वहाँ भी गाँवों के अधिक बेहतर स्थिति वाले लोगों को ही इनका लाभ मिला। और इनसे गरीब लोगों को या तो बहुत कम लाभ पहुँचा अथवा वे लाभ से पूरी तरह वंचित रहे।

पिछले कुछ पृष्ठों में समानतावादी आदर्श की दृष्टि से इस बहुत गम्भीर स्थिति पर विचार किया गया है, क्योंकि भूमि, काश्तकारी और अन्य पूरक संस्थागत सुधारों का लक्ष्य समानता की स्थापना ही था। अब हमारे सामने स्पष्ट असफलता मौजूद है।

सुधार या तो लागू नहीं किये जा सके अथवा इनसे असमानता में वृद्धि हुई और यह घटना बहुत तेजी से बढ़ती हुई आबादी के साथ-साथ घटती रही, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। और आबादी की यह वृद्धि स्वतः अधिक लोगों को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में नीचे की ओर धकेलती जाती है और इस प्रणाली को अधिक कठोर और अलाभकारी बना देती है।

लेकिन इस घटना को उत्पादकता की दृष्टि से ही देखा जा सकता है। निःसन्देह ग्रामीण उच्च वर्ग के कुछ सदस्यों ने—मुख्यतया उन लोगों ने जो किसान भूस्वामियों और बेहतर स्थिति वाले काश्तकारों के समूह में आते हैं और जो स्वयं अपने परिवार के सदस्यों तथा खेत मजदूरों की सहायता से खेती करते हैं—

यह देखा कि खेती को आधुनिक बनाकर अधिक पैसा कमाया जा सकता है और इस काम के लिए सरकार से उदार सहायता प्राप्त की जा सकती है।

यद्यपि इस सम्बन्ध में भरोसे योग्य आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, और विभिन्न जिलों और देशों में परिस्थितियाँ भी अलग-अलग हैं, पर यह समूह वहुत छोटा है, जबकि बटाई पर खेती करने वाले, नौकरों की सहायता से खेती करने वाले अधिक परम्परागत किसान, उनके खेतों में काम करने वाले भूमिहीन खेत-मजदूर और वहुत कम जमीन वाले भूस्वामी किसान वहुत बड़ी संख्या में हैं।[62] दक्षिण एशिया में गाँवों की आवादी का यह बड़ा हिस्सा जिस भूमि में खेती करता है, वह समस्त कृषि भूमि का वहुत बड़ा हिस्सा है।

अतः उत्पादकता की दृष्टि से भी यह घटना वहुत महत्त्वपूर्ण परिणामों को जन्म नहीं दे सकती। पर इस बात में सन्देह नहीं है कि यद्यपि प्रगतिशील किसानों की संख्या वहुत थोड़ी है, पर कम-विकसित देशों में खेती की उपज में जो वृद्धि हुई है उसका श्रेय अधिकांशतया इन्हीं लोगों को है। खाद्य और कृषि संगठन के भूतपूर्व महानिदेशक, डॉक्टर बी० आर० सेन, जिनका उद्धरण हम पहले दे भी चुके हैं, का भारत के सम्बन्ध में यह कहना है कि रिपोर्टों से यह पता चलता है कि "समृद्ध किसानों और आर्थिक दृष्टि से वेहतर स्थिति वाले ग्रामीणों" को ही सामुदायिक विकास का लाभ मिला है और वे इसे 'स्वागत योग्य' बात समझते हैं।

वे आगे लिखते हैं : "इस प्रकार भारतीय कृषि को आधुनिक बनाने में सामुदायिक विकास सक्रिय भूमिका निभा सकता है।" लगता है डॉक्टर सेन इस वात को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय नहीं देते और यह सिफारिश नहीं करते कि यदि किसानों को विभिन्न तरीकों से सहायता पहुँचाने का लक्ष्य सामने रखते हुए अन्य संस्थागत सुधारों को भूस्वामित्व और काश्तकारी की व्यवस्था के प्रभावशाली सुधारों के साथ जोड़ दिया जाता तो इसकी तुलना में कहीं अधिक व्यापक लाभ प्राप्त होता। भूस्वामित्व और काश्तकारी व्यवस्था सम्बन्धी सुधारों के अभाव ने अन्य संस्थागत सुधारों को किसानों के कहीं अधिक व्यापक जनसमुदाय को अन्य संस्थागत सुधारों के लाभ से वंचित कर दिया।

इसके बावजूद यदि यथार्थ स्थिति के रूप में यह स्वीकार करना पड़े कि मोटे तौर पर भारत जैसी राजनीतिक स्थिति वाले किसी कम-विकसित देश में वैसे सुधारों को लागू कर पाने की आशा नहीं है, जैसे ईमानदारी पर आधारित, प्रभावशाली भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों की योजनाएँ बनायी जाती हैं और इनके लिए अधिकांशतया कानून भी बनाये जाते हैं, तो कृषि सम्बन्धी सुधार और ग्रामोत्थान की समस्त समस्या पर नये सिरे से विचार किया जाना चाहिए। इस स्थिति में यह भी निश्चित रूप से मान लिया जाता है कि किसी राजनीतिक क्रान्ति, अर्थात् वर्तमान सत्ताधारियों के विरुद्ध गरीब जन-समुदाय के विद्रोह की निकट भविष्य में कोई सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती (देखिए अध्याय-3 और अध्याय-12)। एशियन ड्रामा में ऐसे पुनर्विचार का प्रयास किया गया है।[63]

ऊपर जिन दो मान्यताओं का उल्लेख किया गया है, उनके अन्तर्गत इस बात को उपयोगी समझा गया कि कृषि व्यवस्था के बारे में पूरी तरह से नयी दृष्टि अपनाने का प्रयास किया जाये। आरम्भ में सरकार को एक ऐसी निश्चित नीति निर्धारित कर देनी चाहिए, जिसे वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों

में वस्तुतः लागू किया जा सके।

यह नीति यह होगी कि अब तक असफलतापूर्वक जिन भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों को लागू करने का प्रयास किया गया, उन्हें त्याग दिया जाये, क्योंकि यह करने के लिए राजनीतिक संकल्प मौजूद नहीं है और इसी प्रकार इन सुधारों को लागू करने के लिए प्रभावशाली प्रशासन का भी अभाव है।

यद्यपि इससे कोई आमूल परिवर्तनवादी कार्रवाई सम्भव नहीं हुई है, फिर भी आमूल परिवर्तनवादी घोषणाओं और कानूनों ने जिस वातावरण का निर्माण किया, उसका यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव हुआ कि खेती में लगे ऐसे व्यक्तियों के मन में अनिश्चितता उत्पन्न हुई जो आर्थिक प्रोत्साहन का उचित लाभ उठाने की क्षमता रखते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि नीति को दोनों ओर से सबसे बुरी बातें ही हाथ लगीं : समानता में वस्तुतः कोई वृद्धि नहीं हुई, जबकि गाँवों के उच्च वर्ग की कार्यकुशलता का इन अनिश्चितताओं के कारण लाभ नहीं मिल सका।

अतः इन परिस्थितियों में यह उचित और ग्राह्य होगा कि पूंजीवादी कृषि व्यवस्था के पक्ष में जानबूझकर नीति सम्बन्धी निर्णय लिया जाये और किसान भूस्वामियों और समृद्ध काश्तकारों के समूह में प्रगतिशील उद्यमियों को अपने परिश्रम का पूरा लाभ उठाने का प्रोत्साहन दिया जाये। इससे अन्य ऐसे ही किसानों को यही करने का प्रोत्साहन मिल सकता है और वे लोग, विशेषकर, बटाई पर खेती करने का तरीका छोड़ सकते हैं।

इस प्रकार समानता के बुनियादी प्रश्न पर एक भिन्न कोण से और भिन्न नीति सम्बन्धी उपायों से विचार करना होगा। समानता और उत्पादकता दोनों दृष्टियों से जो बात हानिप्रद है, वह है इस समय व्याप्त अर्द्धपूंजीवाद का एक स्वरूप, जिसमें अनियन्त्रित पूंजीवाद की सबसे बुरी बातों के साथ-साथ सामन्ती व्यवस्थाओं और आर्थिक संगठन के शक्तिशाली अवशेष शामिल हैं।[64]

एक बात तो यह है कि विकास का सच्चा पूंजीवादी रास्ता उन लोगों के निष्क्रिय और परजीवी भूस्वामित्व को सहन नहीं कर सकता, जो कृषि क्षेत्र की अतिरिक्त आय को तो आत्मसात् कर लेते हैं, लेकिन इसकी उत्पादकता में वृद्धि के लिए कोई अंशदान नहीं करते। काश्तकारी की एक प्रणाली के अंग के रूप में बटाई पर खेती, दूरवासी भूस्वामित्व, और ऐसे 'किसानों' की मौजूदगी जो वस्तुतः खेती का काम नहीं करते, समाप्त की जानी चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक ऐसी कर प्रणाली से बहुत कुछ किया जा सकता है, जिसमें खेती के काम में हिस्सा न लेने वाले भूस्वामियों की आय पर बहुत अधिक कर लगाया जाये। इससे भी अधिक कार्य ऐसा कानून बनाकर किया जा सकता है, जिससे भविष्य में ऐसे लोगों के नाम कृषि भूमि न की जा सके, जो खेती नहीं करते और यह व्यवस्था विशेषकर उन लोगों पर लागू होनी चाहिए, जो गांवों में नहीं रहते। अनेक लोकतन्त्री देशों में, जिनमें स्वीडन एक है, ऐसे कानून मौजूद हैं, यद्यपि गाँवों में रहकर खेती न करने वाले भूस्वामियों की संख्या इन देशों में बेहद कम है।

यह बात भारत में सत्ता की स्थिति की परिचायक है कि यद्यपि 'सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति' और 'जो जोते उसकी जमीन' जैसी नीतियों का सरकारी

दस्तावेजों तक में बड़े आमूल परिवर्तनवादी तरीके से उल्लेख किया गया है, लेकिन सुधार का स्पष्ट और व्यावहारिक तरीका कभी भी नहीं सुझाया गया।

यदि अधिक भूस्वामी प्रगतिशील किसान बन जाते हैं, और खेती की विकसित विधियाँ अपनाने को तैयार होते हैं तो इससे सामान्यतया श्रम की माँग में वृद्धि होगी। यदि इसके विपरीत, किसी खास मामले में खेती के मशीनीकरण से श्रम के अनुपयोग का प्रभाव उत्पन्न होता है तो मशीनों के उपयोग को एक ऐसे देश में बड़ी आसानी से रोका जा सकता है, जिसे बाध्य होकर उद्यम और निवेश पर नियन्त्रण रखना पड़ रहा हो और जो निरन्तर विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों तथा उद्योगों के लिए आवश्यक सामान की व्यवस्था के मार्ग में आने वाले अवरोधों से लगातार संघर्ष कर रहा हो।[65]

श्रम की माँग में निरन्तर वृद्धि और बटाई पर खेती की धीरे-धीरे समाप्ति तेजी से बढ़ रही कृषि श्रम-शक्ति के लम्बी अवधि के हित में होगी। यह बात जोर देकर कही जानी चाहिए कि गाँवों में गरीब जनसमुदाय का तब तक सच्चे अर्थों में उत्थान नहीं हो सकता, जब तक डटकर हाथ से काम करने के प्रति परम्परागत अरुचि को समाप्त नहीं कर दिया जाता और विशेषकर मजदूरी पर काम करने की अरुचि को समाज व्यवस्था और लोगों के मन से पूरी तरह उखाड़ नहीं फेंका जाता।

लेकिन यह आवश्यक है कि खेत मजदूरों की सुरक्षा के लिए अतिरिक्त उपाय किये जायें। ये उपाय उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं, जिस प्रकार भूस्वामियों को सच्चे अर्थों में कृषि उद्यम के लिए प्रोत्साहन देना महत्त्वपूर्ण है। भारत में न्यूनतम वेतन या मज़दूरी के लिए कानून बनाना, निकट भविष्य में और श्रम शक्ति के वर्तमान कम उपयोग के मौजूद रहते सम्भव दिखायी नहीं पड़ता। इसे वस्तुतः भूमि सुधार और काश्तकारी कानून से भी कहीं अधिक मुश्किल से सफलतापूर्वक लागू किया जा सकेगा।

लेकिन गाँवों के वर्तमान निम्नतर स्तर के भूमिहीन लोगों को थोड़ी ज़मीन देने के कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसके साथ ही जीवन के प्रति गरिमापूर्ण और नवीन दृष्टिकोण भी आय के एक छोटे स्वतन्त्र स्रोत के साथ-साथ उत्पन्न किया जाना चाहिए। अत्यधिक घने बसे इलाकों में भी परती भूमि को इन लोगों को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटा जा सकता है। वर्तमान कृषि भूमि की वर्तमान व्यवस्था को बहुत अधिक गम्भीरता से बदलने की आवश्यकता नहीं है—कुछ इलाकों में तो इसमें ज़रा भी परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होगी।

भूमि के बहुत सीमित वितरण की ऐसी किसी योजना में यह अनिवार्य होगा कि ज़मीन को प्राप्त करने और उसके इस्तेमाल का असीमित अधिकार केवल व्यक्तियों के रूप में भूमिहीन लोगों को ही प्राप्त हो। भारत में, जहाँ भूमिहीन लोगों को परती ज़मीन देने के बहुत छोटे पैमाने के प्रयास किये जा रहे हैं, इन लोगों को ग्राम पंचायत के नियन्त्रण में (जिनके ऊपर अधिकांशतया भूस्वामियों की उच्च जातियों का प्रभुत्व है) सहकारी समितियों के रूप में संगठित होने के लिए दबाव डालने के प्रयास से यह सन्देह जगता है कि इसका उद्देश्य नीची जाति के लोगों को भूस्वामी की गरिमा प्राप्त करने से रोकना था चाहे इस भूस्वामी का खेत कितना भी छोटा क्यों न हो।[66] वास्तविकता चाहे कुछ भी क्यों न रही हो

पर इसका यही प्रभाव हुआ।

वस्तुतः नीति सम्बन्धी ये सब उपाय समग्र रूप से यदि लागू किये जायें तो इनका परिणाम अत्यधिक दूरगामी भूमि सुधार होता है। यद्यपि यह सुधार उससे भिन्न किस्म का होगा, जिस पर बहुत अधिक विचार होता है और जिसे लागू करने का प्रयास कानून बनाकर किया जाता है. खेती में उत्पादकता में वृद्धि की दृष्टि से यह कहीं अधिक प्रभावशाली होगा। इसके साथ ही यह ग्रामीण जन-समुदाय को कहीं अधिक समानता और आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचे के भीतर कहीं अधिक गतिशीलता की दृष्टि से भी परिवर्तित करेगा।

ऐसे लोग हैं जो यह जोर देकर कहेंगे कि भारत में इन प्रस्तावों की दिशा में वस्तुतः विकास हो रहा है। पर परम्परागत तरीके से भूमि के पुनर्वितरण और काश्तकारी सम्बन्धी कानून को लागू करने के प्रयास में घटती हुई दिलचस्पी के अलावा यह बात सच नहीं है।

एक बात तो यह है कि जोतने वाले को जमीन देने के आमूल परिवर्तनवादी लक्ष्य के बारे में हाल तक निरन्तर जो घोषणाएँ हर प्रकार की सरकारी रिपोर्टों में की जाती रही हैं, उनके परिणामस्वरूप भूस्वामित्व के बारे में अनिश्चितता बनी हुई है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रकट रूप से यह दिखायी नहीं पड़ता कि बटाई पर खेती करने और गाँवों से दूर रहने वाले तथा निष्क्रिय और दूसरे के परिश्रम पर जीने वाले भूस्वामियों के विरुद्ध कदम उठाने की कार्रवाई पर कोई विचार किया जा रहा है।

भूमिहीन खेत-मजदूरों की सौदाकारी की क्षमता को बढ़ाने के लिए उन्हें छोटे-छोटे खेत देकर व्यावहारिक कदम उठाने में भी कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी जा रही है।

मैंने कृषि नीति को जिस दिशा में उन्मुख करने के सुझाव दिये हैं, उस दिशा में भारत में कृषि नीति को संचालित करने की सम्भावनाएँ राजनीतिक दृष्टि से आशाप्रद दिखायी नहीं पड़तीं। शहरों में रहनेवाले दूरवासी भू-स्वामी और खेती न करनेवाले 'किसान' सत्ता की दृष्टि से प्रभावशाली स्थिति में हैं। और बटाई पर खेती, यद्यपि यह बहुत बर्बादी का कारण है, इतनी लाभदायक है कि जिन्हें इससे लाभ प्राप्त होते हैं वे कभी भी परिवर्तन का समर्थन करने का रुझान नहीं दिखायेंगे।

गाँवों के निचले वर्ग के लोग निष्क्रिय हैं और अपने हितों की रक्षा के लिए उनका कोई संगठन भी नहीं है। और यह भी आशा नहीं की जा सकती कि वे इतने समझदार और परिष्कृत बन जायेंगे कि वे भूस्वामियों द्वारा प्रगतिशील तरीकों से खेती करने की बात को अपना सर्वोत्तम हित समझने लगें। यह बात इस दृष्टि से और भी कठिन हो जाती है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि बटाई पर खेती करनेवाले लोग वेतन पर काम करनेवाले नौकर बन जायेंगे, जिसे उनमें से अनेक व्यक्ति अपना सामाजिक पतन समझेंगे।

इस स्थिति में वे लोग भूमिहीन लोगों को भूमि के पुनर्वितरण के अन्तर्गत छोटे-छोटे खेत देने की बात को वेहतर ढंग से समझ सकेंगे। लेकिन भूमिहीन लोगों को—जो अधिकांश नीची जाति के हैं—व्यक्तिगत भूस्वामित्व के अधीन जमीन का छोटा-सा टुकड़ा भी देने के प्रति अत्यन्त प्रबल विरोध है और यह बात भारत के बारे में विशेष रूप से सही है।

आमूल परिवर्तनवादी समानतावादी सिद्धान्त के प्रति—यद्यपि यह अस्पष्ट है और किसी विशेष बात के प्रति कोई प्रतिबद्धता भी नहीं है—लगाव अभी भी व्यापक रूप से प्रदर्शित होता है, जिनके परिणामस्वरूप भूस्वामियों में निरुत्साहित करनेवाली प्रतिक्रिया होती है। इसके अलावा कोई व्यावहारिक परिणाम नहीं निकलता।

इस बीच आबादी का विस्फोट श्रम-शक्ति के कम उपयोग को बढ़ा रहा है और इसके एक कहीं बड़े हिस्से को विपत्तियों में डूबे निम्न वर्ग का हिस्सा बनाता जा रहा है।

और वस्तुतः यही स्थिति बौद्धिक और राजनीतिक नेतृत्व की जबर्दस्त माँग कर रही है। इस बात को जोर देकर कहने के लिए ही मैंने वस्तुतः ये पिछले पृष्ठ लिखे हैं।

दूसरा कारण यह रहा कि भूमि-सुधार के इस वैकल्पिक तरीके पर विचार करते समय यह बात बड़े प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट हो जाती है कि अधिक समानता की माँग और ऊँची उत्पादकता की आवश्यकता के बीच किस प्रकार मेल बैठाया जा सकता है। अपने चरम अर्थों में ये दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं और एक-दूसरे पर आश्रित भी।

अपने विशाल आकार के कारण भारत विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। किसी भी अन्य कम-विकसित देश से अधिक वेहतर ढंग से इसने आयोजन का स्वरूप निर्धारित किया है, चाहे यह 1965 और 1966 की विपत्तियों के दौरान असफल हो गया। इसके अलावा अन्य समस्त कम-विकसित देशों की तुलना में यहाँ सब सामाजिक प्रश्नों पर कहीं अधिक स्वतन्त्रता से और कहीं अधिक गहराई से सार्वजनिक विचार हुआ।

कम-विकसित संसार में कुछ ऐसे देश भी हैं, जहाँ इस गैर-परम्परागत किस्म का भूमि-सुधार सर्वाधिक लाभकारी भी हो सकता है। लेकिन इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि भूस्वामित्व और काश्तकारी की परिस्थितियों में विभिन्न कम-विकसित देशों में बहुत अन्तर हैं।

अतः समस्या पर इस प्रकार विचार नहीं किया जाना चाहिए कि मानो संसार-भर में इस समस्या का एक ही हल है। साधारणतया इसे खेती करनेवालों के मध्य कम अथवा अधिक सीमा तक भूमि का पुनर्वितरण मान लिया जाता है, अथवा कभी-कभी इसे किसी प्रकार की सामूहिक खेती के अन्तर्गत आमूल परिवर्तनवादी तरीके से भूमि को केन्द्रित करना समझ लिया जाता है।[67]

इसके विपरीत भूमि सुधार की समस्या पर प्रत्येक देश में अलग-अलग और

कभी-कभी तो एक ही देश के प्रत्येक जिले में अलग-अलग विचार किया जाना चाहिए। विचार-विमर्श विभिन्न देशों और यहाँ तक कि इन देशों के छोटे इलाकों की परम्पराओं और वास्तविक परिस्थितियों के ऊपर आधारित होना चाहिए।

ऐसे देश हैं जहाँ प्रायः समान आकार के खेतों के रूप में भूमि के पुनर्वितरण की परम्परागत योजना उपयुक्त भूमि-सुधार सिद्ध होगी। यह बात केवल उन्हीं देशों पर लागू नहीं होती, जहाँ किसान-भूस्वामियों के बीच ज़मीन प्रायः समान रूप से पहले ही बटी हुई है, बल्कि कभी-कभी उस स्थिति में भी हो सकती है, जब बहुत बड़े-बड़े और गाँवों से दूर शहरों में रहनेवाले जमींदारों के पास भी प्रायः सारी भूमि का स्वामित्व हो, जैसाकि लैटिन अमरीका में अक्सर होता है।

यदि पहले मामले में भूमिहीन खेत-मज़दूरों का एक बहुत बड़ा वर्ग मौजूद है—जैसाकि थाईलैंड में है, जहाँ भूमिहीन खेत-मज़दूर कुल ग्रामीण श्रम-शक्ति का सम्भवतः 40 प्रतिशत है—तो इन खेत-मज़दूरों को कुछ-न-कुछ ज़मीन देने की अतिरिक्त समस्या मौजूद रहती है, यद्यपि देहाती इलाकों में समस्त परिवारों के बीच समान रूप से जमीन का वितरण व्यावहारिक अथवा सम्भव नहीं हो सकता।

ऐसे दूसरे देश भी हैं, जहाँ सहकारिता के आधार पर कृषि-भूमि का स्वामित्व और प्रबन्ध सर्वाधिक लाभकारी सिद्ध होगा। लेकिन उस स्थिति में यह सच्चा सहयोग होना चाहिए, झूठा नहीं, जैसाकि भारत के अधिकांश हिस्से में हुआ, क्योंकि वह एक ऐसा देश है, जिसने सहकारी खेती का प्रयास किया।[68] ऐसे देश अथवा कम-से-कम जिले, मौजूद हैं जहाँ बड़े पैमाने पर नगरपालिका अथवा राज्य द्वारा खेती करने के कारण यह तरीका अपनाने की सिफारिश की जा सकती थी, विशेषकर उस स्थिति में जब नये इलाकों में खेती की व्यवस्था की जा रही हो।

पर किसी भी भूमि-सुधार में इस आवश्यकता की पूर्ति करना आवश्यक है कि इससे व्यक्ति और भूमि का ऐसा सम्बन्ध स्थापित न हो जाये जो श्रम और निवेश के प्रोत्साहन को ही समाप्त कर दे—यदि अन्य कुछ नहीं तो कम-से-कम अपने श्रम का निवेश करने का तो प्रोत्साहन बना ही रहना चाहिए। यदि प्रोत्साहनों का लाभ केवल उच्च वर्ग के एक बहुत छोटे हिस्से को ही नहीं देना है, तो इसके लिए नियमित रूप से अधिक समानता की आवश्यकता होगी।

यदि व्यक्ति और भूमि के बीच एक निश्चित सम्बन्ध कायम नहीं किया जा सका, तो कृषि टैक्नालॉजी के विकास और उपज बढ़ाने के प्रयासों को विशेष सफलता नहीं मिलेगी। अधिकांश कम-विकसित देशों में यदि भूस्वामित्व और काश्तकारी के स्वरूप को जैसे का तैसा रहने दिया गया तो इससे खेती की विकसित विधियों को अपनाने के मार्ग में ही बहुत अधिक बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि इससे सम्बन्धित देश में असमानता में भी वृद्धि होगी।

३. विशेष बातें

कम-विकसित देशों में कृषि नीति का संचालन किस प्रकार होना चाहिए इस सम्बन्ध में जो विचार, विशेषकर हाल के वर्षों में, हुआ है उससे कुछ असाधारण विशेषताएँ प्रकट हुई हैं। इन विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि इस बात की बहुत सम्भावना है कि ये लोगों को दिग्भ्रान्त कर विवेक-

हीन नीति सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए प्रेरित कर सकती हैं।[69]

एक बात तो यह है कि कृषि में श्रम-शक्ति के बेहद कम उपयोग के महत्त्व को घटाकर दिखाया जाता है। इस श्रम-शक्ति की वृद्धि की ओर कम ध्यान दिया जा रहा है, जबकि अनेक देशों में श्रम-शक्ति दो प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक वार्षिक दर से प्रायः इस शताब्दी के अन्ततक बढ़ती रहेगी। जब कभी श्रम-शक्ति के कम उपयोग की बात कही गयी, तो भी इसका उल्लेख नाममात्र के लिए ही हुआ। इस तथ्य की गतिशीलता और लाभदायक पहलू के ऊपर अक्सर जोर नहीं दिया गया और नीति के चुनाव में इस बात को विशेष रूप से सामने रखने का भी प्रयास नहीं किया गया।

इसे केवल 'बेरोज़गारी' और 'अर्द्धरोज़गारी' के विचार में ही महत्त्व दिया गया और यह विचार दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप ही हुआ।[70] 'अर्द्ध-रोजगारी' को अलग-थलग करके इसके ऊपर एक स्थिर कारक के रूप में, नीति से असम्बन्धित रूप में, विचार हुआ—अन्यथा इस शब्द की वह परिभाषा नहीं दी जा सकती थी जो दी गयी है[71]—और इसके अलावा 'बेरोज़गारी' और 'अर्द्ध रोजगारी' दोनों की पूरी तरह अयथार्थवादी और अव्यावहारिक तरीके से एक ऐसी अतिरिक्त श्रम-शक्ति बताकर परिभाषा दी गयी, जिसे 'समाप्त' किया जा सकता था।

भारत में मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने इस समस्या का सामना किया, लेकिन उन्होंने नैतिकतावादी दृष्टि से इसका समाधान ढूंढ़ने का प्रयास किया। उन्होंने भारत के लोगों के 'परम्परागत आलसीपन' की बात कही और इस बात पर जोर दिया कि किसी भी रूप में आलस्य का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।[72]

"यदि आप अपनी अगली छुट्टियाँ देश के भीतरी हिस्से के किसी दूर के गाँव में बितायें तो आपको मेरे अनुसन्धान की सत्यता पता चल जायेगी। आप देखेंगे कि लोग निरुत्साहित हैं और भय से ग्रस्त हैं। आपको टूटे-फूटे मकान देखने को मिलेंगे, आपको स्वच्छता अथवा स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों की तलाश में असफलता ही मिलेगी। आपको ढोर बहुत ही बुरी हालत में देखने को मिलेंगे। पर इन सब बातों के बावजूद आप यह देखेंगे कि सर्वत्र आलस्य व्याप्त है।"

यदाकदा नेहरू ने भी, विशेषकर प्रारम्भिक वर्षों में, आलस्य के विरोध में अपना विचार प्रकट किया और कहा कि एक ऐसी स्थिति में जबकि देश में बहुत कुछ करना शेष है, आलस्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

लेकिन धीरे-धीरे अन्य देशों की तरह भारत में भी ऐसी शिकायतें समाप्त हो गयीं। उपनिवेशों की समाप्ति के बाद, विदेशियों ने ऐसी कोई शिकायत न करने के प्रति बड़ी सतर्कता दिखायी। इस प्रकार विदेशियों ने उस उपनिवेशी सिद्धान्त के विरुद्ध इन देशों के लोगों के विरोध के प्रति मौन सहमति प्रकट की, जिसका हमने अध्याय-1 में उल्लेख किया है।

इस पुस्तक का लेखक नैतिक दृष्टियों से सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ने के प्रयास की निन्दा करने वाला अन्तिम व्यक्ति होगा। लेकिन इस समस्या को यथार्थवादी ढंग से प्रकट करने की आवश्यकता है। व्यापक आलस्य के ऐसे कारण हैं, जो स्वयं व्यक्ति की शक्ति के बाहर हैं। पहली बात यह

है कि स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियाँ बड़ी बुरी हैं, जो अनेक बातों पर निर्भर करती हैं। स्वास्थ्य का सबसे अधिक सम्बन्ध व्यापक जन-समुदाय की गरीबी से है। इसके अलावा यह बात अधिक बुनियादी है कि भूस्वामित्व और काश्तकारी की ऐसी प्रणाली मौजूद है जिसके कारण वस्तुतः खेती करनेवाले लोगों द्वारा अधिक गहन तरीके से खेती कर उपज बढ़ाने की सम्भावना समाप्त हो जाती है और जो धनराशि वे जुटा भी सकते हैं अथवा स्वयं अपने श्रम को ज़मीन को बेहतर बनाने के लिए लगा सकते हैं, उसे भी लगाने को तैयार नहीं होते।

इसके परिणामस्वरूप वह भयावह गरीबी उत्पन्न होती है, जो मस्तिष्क और शरीर को अपने घर के आसपास किये जाने वाले कार्यों के लिए आवश्यक शक्ति से भी वंचित कर देती है, यद्यपि ये कार्य स्वास्थ्य और आराम दोनों दृष्टियों से प्रकट रूप से लाभकारी और महत्त्वपूर्ण हैं।

इस पृष्ठभूमि में दोष गरीब किसानों के विशाल जन-समुदाय को नहीं दिया जा सकता, बल्कि उस बहुत छोटे उच्च वर्ग को दिया जायेगा, वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत जिसके हाथों में राजनीतिक सत्ता है और जो ऐसे भूमि-सुधार को लागू होने से रोकता है, जो श्रम के अधिक उपयोग को सम्भव और लाभदायक बना सकते हैं।

विभिन्न सीमाओं तक ये बातें कम-विकसित संसार के अधिकांश देशों पर लागू होती हैं।

कृषि में बहुत बड़े पैमाने पर श्रम-शक्ति के कम उपयोग का प्रमुख हल, जैसाकि मैंने इस अध्याय के अनुभाग-2 में दर्शाने का प्रयास किया है, आधुनिक टैक्नालॉजी को व्यापक रूप से अपनाने में निहित है, जो प्रायः बिना किसी अपवाद के अधिक श्रमगहन है। इसके लिए भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार एक अनिवार्य शर्त है क्योंकि इसी सुधार के द्वारा वस्तुतः खेती करनेवालों और भूमि के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसके आधार पर खेती की विकसित विधियाँ अपनायी जा सकती हैं और जो उन्हें भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए पैसा लगाने और सबसे अधिक स्वयं अपना अधिकतम श्रम लगाने का प्रोत्साहन देता है।

एक दूसरी विशेष बात, जो पहले से असम्बन्धित नहीं है, यह है कि कुछ देशों में इस प्रकार के सुधार के बारे में प्रायः धार्मिक कृत्य की तरह पुनरावृत्ति के अलावा—और ये बातें अक्सर बहुत अधिक आमूल परिवर्तनवादी शब्दावली में कही जाती हैं—जब कभी कम-विकसित देशों में खेती की उत्पादकता के स्तर को ऊँचा उठाने जैसे व्यावहारिक प्रश्नों पर विचार होता है, भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार को सामान्यतया बहुत कम महत्त्व दिया जाता है।

कुछ सीमा तक, ऐसे सुधारों के निर्णय लेने और उन्हें लागू करने की असफलताओं के प्रति एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती है, जिसकी चर्चा हमने अनुभाग-2 में की है। इस समस्या से सम्बन्धित राजनीतिक स्थिति पूरी तरह से निराशाजनक दिखायी पड़ सकती है।

इसके अलावा इन सुधारों से केवल लम्बी अवधि में ही अधिक श्रम के उपयोग और अधिक उपज के रूप में परिणाम प्राप्त हो सकते हैं और इनके लिए बड़े पैमाने पर पूरक सार्वजनिक निवेश के रूप में कृषि-विस्तार, ऋण और हाट-व्यवस्था सम्बन्धी सुविधाओं में निवेश की आवश्यकता होगी ।[73] पर हाल के वर्षों में कृषि के क्षेत्र में जो संकट उत्पन्न हुआ है, वह इन आवश्यकताओं को स्वीकार न करने का एक कारण बन सकता है ।

छोटी अवधि की दृष्टि से, जमींदार और सूदखोर इस कारण से एक उपयोगी कार्य करते हुए दिखायी पड़ सकते हैं कि वे आधा पेट भोजन प्राप्त करनेवाले कृषि-सर्वहारा वर्ग से हाट-व्यवस्था के अन्तर्गत अमान्य तरीके से अनाज प्राप्त कर शहरों के बाजारों में पहुँचाते हैं । जैसाकि एक भारतीय लेखक ने, कांग्रेस पार्टी के मुखपत्र में प्रकाशित अपने लेख में, तकनीकी भाषा के छद्म आवरण में अपने इन विचारों को प्रकट किया है :

"(भूमि के) पुनर्वितरण से हम आबादी के उस हिस्से को ज़मीन देंगे, जिसकी अनाज की माँग का आय-सम्बन्धी लचकीलापन प्रायः इकाई भर है । ......यह इस दृष्टि से विनाशकारी हो सकता है कि बाजार में उपलब्ध अतिरिक्त कृषि-जिन्स की कमी तेजी से उद्योगीकरण के मार्ग में बाधक बनेगी ।"[74]

यद्यपि ऐसी स्पष्ट स्वीकारोक्तियाँ यदा-कदा ही देखने को मिलती हैं, लेकिन ऐसा क्रूर विचार कम-विकसित देशों के नीति निर्धारण करनेवाले क्षेत्रों में शायद अपवाद स्वरूप न हो । उच्च वर्ग के लाभ की दृष्टि से अन्य पूरक संस्थागत सुधारों की दिशा में परिवर्तन करने का औचित्य सिद्ध करने के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है और जहाँ तक गाँवों में गरीब लोगों को ऊपर उठाने का प्रश्न है, ऐसी कोई भी कार्रवाई निश्चित रूप से असफल होगी जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं । और अब क्योंकि गरीबों की संख्या इतनी बड़ी है, अतः ऐसी कोई भी कार्रवाई लम्बी अवधि की दृष्टि से प्रगति और विकास का भी बलिदान दे डालती है ।

वास्तविक स्थिति यही है कि कृषि की समस्याओं पर सार्वजनिक बहस में भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों पर अधिकांश कम-विकसित देशों में कोई खास ध्यान नहीं दिया जाता । हाल के वर्षों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ी है । एक प्रमुख भारतीय अर्थशास्त्री के० एन० राज इस घटना को बड़ी चिन्ता से देखते हैं :

"मुझे इस बात की बड़ी चिन्ता है कि आज भारत में साधारणतया सरकार के योजनाकारों और नीति-निर्माताओं के मध्य एक ऐसी प्रवृत्ति दिखायी पड़ रही है, जिसे मैं सब समस्याओं के प्रति अत्यन्त तकनीकी दृष्टिकोण कहूँगा...लेकिन अगर हम उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि चाहते हैं, तो भारत जैसे एक अत्यधिक परम्परागत समाज के संस्थागत ढाँचे को जैसे का तैसा नहीं छोड़ा जा सकता । यह कहते समय मेरे मन में भूमि-सुधार जैसे उपायों की बात है, जिनके सम्बन्ध में अब तक, यह स्थिति रही है कि हमने कम-से-कम यह बात कही कि हम दूरगामी परिवर्तन करना चाहते हैं...लेकिन अब भूमि-सुधार की चर्चा तक समाप्त हो गयी है ।"

आरम्भ में पश्चिम के विकसित देशों की सरकारों के प्रतिनिधियों ने

संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न संगठनों में कम-विकसित देशों में सामान्य और व्यापक तथा दूरगामी भूमि-सुधार लागू करने के प्रस्तावों पर कम-विकसित देशों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर मतदान करने की इच्छा दिखायी थी।

और राष्ट्रपति जॉन एफ० केनेडी ने प्रगति के लिए सन्धि नामक संगठन के प्रमुख लक्ष्यों में भूमि-सुधार और कर-सम्बन्धी सुधारों को स्थान दिया था। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, लैटिन अमरीका की सरकारों के प्रतिनिधियों ने 1961 में 'पुनता देल एस्त' के घोषणापत्र में बड़ी गम्भीरता से इन लक्ष्यों पर अपनी सहमति प्रकट की थी।

इन अपीलों और वचनों को पूरा न किये जाने के कारण पश्चिम के विकसित देशों की ऐसी सब सिफारिशें अब स्वतः समाप्त होती जा रही हैं।[75] उनके विशेषज्ञों और अधिकारियों के विचार का केन्द्रबिन्दु अब अधिकाधिक मात्रा में टैक्नालॉजी-सम्बन्धी सुधार और उन्नति होता जा रहा है।

अब यह प्रश्न नहीं पूछा जाता कि भूस्वामित्व और काश्तकारी की वर्तमान प्रणाली टैक्नालॉजी-सम्बन्धी प्रगति के प्रसार में बाधक है अथवा नहीं। इस बात पर तो और भी विचार नहीं होता कि विकसित विधियों के सीमित उपयोग से वस्तुतः कम-विकसित देशों में असमानता बढ़ेगी और असमानता की इस वृद्धि को कैसे रोका जा सकता है।

व्यावहारिक अनुभव और तकनीकी ज्ञान दोनों से सम्पन्न एक अमरीकी विशेषज्ञ डब्ल्यू० ए० लादेजिस्की के इस सुझाव का कि "जब तक उन लोगों का स्वामित्व भूमि पर कायम नहीं होता, जो इसे जोतते-बोते हैं अथवा कम-से-कम काश्तकार के रूप में भूमि के ऊपर उनका सुरक्षित अधिकार कायम नहीं हो जाता, शेष सब बातें हवाई ही रहेंगी", भारत में विरोध ही नहीं हुआ, जहाँ आरम्भ में लादेजिस्की को अपना अध्ययन प्रकाशित करने में कठिनाई हुई, बल्कि संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम के अन्य विकसित देशों में भी उनकी प्रायः पूरी तरह उपेक्षा कर दी गयी।

इस बीच संयुक्त राज्य अमरीका ने अनाज की सहायता देनेवाले प्रमुख देश के रूप में सहायता प्राप्त करनेवाले देशों पर यह दबाव डाला कि वे अपनी कृषि उपज बढ़ायें। लेकिन अब इस परामर्श में भूमि-सुधार लागू करने की कोई सिफारिश शामिल नहीं की जाती।

अनेक अमरीकी विशेषज्ञ, यद्यपि तकनीकी मामलों में वे उच्च प्रशिक्षण प्राप्त हैं, कम-विकसित देशों की संस्थागत परिस्थितियों के बारे में प्रायः अनभिज्ञ हैं। ये लोग कम-विकसित देशों के शासकवर्गों के हितों से भी प्रेरित होते हैं, और जैसाकि हम कह चुके हैं ये शासकवर्ग भूमि सुधारों को लागू करने की प्रत्येक व्यावहारिक बात से निरन्तर दूर हटते गये हैं।

लेकिन यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि इन विशेषज्ञों के दृष्टिकोण पुरानी उपनिवेशी नीतियों से मेल खाते हैं और इस प्रकार वस्तुतः इन्हें नव-उपनिवेशवाद का परिणाम कहा जा सकता है।[76] जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है, उपनिवेशी सरकारों ने सदा नियमित रूप से विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गों से समर्थन प्राप्त किया। वे भी इन देशों के जीवन और रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे।

श्रम के अधिकतम उपयोग और कुशलता के मार्ग में जो तत्त्व बाधक थे और जो परम्परागत कृषि व्यवस्था में निहित थे, उन पर कानून और व्यवस्था तथा तत्कालीन आवश्यकताओं के अलावा इस कारण भी प्रत्यक्ष प्रहार नहीं किया गया कि साधारण उपनिवेशी नीति मुक्त व्यापार और अप्रत्यक्ष शासन की थी।

उपनिवेशों की समाप्ति के वाद, केवल टैक्नालॉजी सम्वन्धी सुधारों पर निर्भर करने के प्रति जो रुझान बढ़ा, उसे आर्थिक आयोजन सम्वन्धी दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण से बल मिला। इस दृष्टिकोण में रहन-सहन के वहुत नीचे स्तर के दृष्टिकोणों, संस्थाओं और उत्पादकता सम्वन्धी परिणामों की समस्याओं पर आँख मूँद ली गयी और इसकी यह राजनीतिक प्रवृत्ति भी थी कि भद्दी समस्याओं से वचा जाये और आवश्यकता से अधिक आशावादिता प्रकट की जाये (देखिए अध्याय-1)।

कम-विकसित देशों में खेती की समस्याओं का हल निकालने की प्रवृत्ति का एक वहुत बड़ा और विचित्र उदाहरण यह है कि इन समस्याओं पर इस प्रकार विचार किया जाता है मानो ये विकसित देशों की कुछ कृषि समस्याओं से भिन्न नहीं हैं—और यही वात दूसरे महायुद्ध के वाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण का सार है—यही बात खाने की चीजों के दामों और सामान्य दाम नीतियों से भी प्रकट होती है।

विकसित देशों में, और स्वयं कम-विकसित देशों में भी, अधिकाधिक मात्रा में फिलहाल समस्त विचार-विमर्श अनाज आदि की सप्लाई को बढ़ाने के लिए इनका ऊँचा दाम बनाये रखने के महत्त्व पर जोर देने तक ही सीमित है। वस्तुतः दाम बढ़ते रहे हैं और केवल उन देशों में ही नहीं, जहाँ अनाज आदि की अत्यधिक कमी रही। उन वर्षों में दाम विशेषरूप से बढ़े जब अनाज की कमी हुई। यह अन्तर्राष्ट्रीय दाम नीति का उतना प्रभाव नहीं था, जितना स्वयं कमी का।

पर इसका यह अर्थ नहीं होता कि नीति सम्बन्धी उपायों से दामों में वृद्धि नहीं की जा सकती। हम विभिन्न अध्ययनों से यह जानते हैं कि खाने की विभिन्न चीजों के तुलनात्मक दामों में परिवर्तन से अक्सर इन चीजों के उत्पादन और सप्लाई में तेजी से तथा पर्याप्त वृद्धि हुई है। खाने की समस्त अथवा अधिकांश चीजों के दामों में व्यापक वृद्धि का प्रभाव अधिक जटिल मामला है।

यह असम्भव नहीं है कि अनाज के दामों में ऐसी किसी व्यापक वृद्धि से कुछ कम-विकसित देशों में अधिक उत्पादन होगा अथवा, कम-से-कम, बाजार में अधिक अनाज मिलने लगेगा—यद्यपि यह कार्य यदा-कदा गरीब जन-समुदाय के लिए गम्भीर परिणामों सहित होगा और यह एक ऐसी स्थिति है जिसकी उपेक्षा मौन रहकर नहीं की जानी चाहिए, जैसाकि अक्सर होता है। लेकिन अधिकांश कम-विकसित देशों में, जिसमें कम-विकसित संसार का भारत और पाकिस्तान जैसा विशाल भाग शामिल है, स्थिति इतनी सरल नहीं है, जैसाकि हाल तक कुछ योग्य अनुसन्धानकर्ता जोर देकर कहते रहे हैं।[77]

कुछ जटिलताओं को ही व्यक्त करना पर्याप्त होगा : केवल कुछ किसानों के पास ही, भारत में चार में से एक किसान के पास, साधारणतया इतना अनाज हो पाता है कि वह इसका कुछ हिस्सा वेच सके। इस तथ्य से वे कठिनाइयाँ प्रकट

हो जाती हैं जो दाम प्रणाली के माध्यम से उत्पादनकर्ता को सन्देश पहुँचाने के समक्ष आयेंगी। बाजार में बिक्री के लिए जो अनाज आता है, वह अधिकांशतया बटाई पर खेती करनेवाले किसानों की उपज होता है लेकिन यह केवल उन्हीं की उपज नहीं होता। भूस्वामी और सूदखोर भी किसानों से जबर्दस्ती अनाज वसूल करते हैं। अनाज की वसूली का यह काम बाजार की सामान्य शक्तियों के द्वारा संचालित नहीं होता, बल्कि पहले से चली आ रही व्यवस्था और गाँव में व्याप्त आर्थिक और सामाजिक सत्ता के द्वारा होता है।

इसके बावजूद, खेती की उपज का एक बहुत बड़ा हिस्सा कभी भी बाजार में नहीं पहुँच पाता, बल्कि कृषि क्षेत्र के भीतर ही इसकी खपत हो जाती है। भारत में यह फसल का दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई हिस्सा होता है और पाकिस्तान में इससे भी कहीं अधिक। अतः अनाज की खपत में वृद्धि का बाजार में इसकी सप्लाई पर पूरी तरह अननुपातिक प्रभाव पड़ता है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि पश्चिम के उस नमूने के विपरीत, जिसे अपनाया गया है, अनाज के ऊँचे दाम से बाजार में इसकी अधिक सप्लाई के विपरीत कमी आ सकती है।

खेती में लगे विशाल जनसमुदाय को इतना कम पौष्टिक आहार मिलता है कि यदि बुरी फसल के कारण दाम बढ़ जाते हैं, तो वे किसान जो यह करने की स्थिति में हैं, अनाज की बिक्री घटाकर इसे स्वयं खायेंगे। यह एक ऐसी स्थिति है, जिससे दाम और अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। यदि दाम गिर जाते हैं, तो इसके विपरीत उन्हें अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिए बाध्य होकर और अधिक अनाज बेचना पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप दाम और अधिक गिरेंगे।

इसके साथ ही इस तथ्य को जोड़ा जा सकता है कि अधिकांश कम-विकसित देशों में जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों और खेती करने के घटिया तरीकों के कारण खेती की उपज में अक्सर बहुत घट-बढ़ होती रहती है। पिछले पैराग्राफ में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, उनके परिणामस्वरूप बाजार में अनाज की सप्लाई कुल उत्पादन की तुलना में कहीं अधिक विस्फोटक और अस्थिर रहेगी।

इन तथा अन्य कारणों से पश्चिम के विकसित देशों की तुलना में, कम-विकसित देशों में बाजार में अधिक सट्टेबाजी की प्रवृत्ति दिखायी देने लगती है। पश्चिम के विकसित देशों में एक विशेषता यह भी है कि बाजार अधिकांशतया 'राष्ट्रीयकृत' है और अधिकांशतया सरकार और सहकारी संगठनों के हाथों में हैं। यह तथ्य कि गरीब किसानों को फसल कटते ही अपनी फसल का कुछ हिस्सा बेचना पड़ता है—जो अक्सर इतना बड़ा होता है कि उन्हें आगे चलकर स्वयं अनाज खरीदना पड़ता है—अनाज के दाम में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव का कारण बनता है।

परिवहन और गोदामों की अपर्याप्त व्यवस्था और कभी-कभी विभिन्न प्रान्तों की सरकारों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण—जैसाकि भारत में होता है—केन्द्रीय सरकार के देशव्यापी बाजारों की स्थापना तथा पूरे वर्ष भर भावों की दृष्टि से उनकी स्थिरता में वृद्धि के प्रयास असफल हो जाते हैं।

गैर-कृषि क्षेत्र का अपेक्षाकृत छोटा आकार और अनाज पर खर्च होने वाले आय के वहुत ऊँचे प्रतिशत के कारण विकसित देशों की तरह कृषि उपज के दामों को स्थिर रखने के लिए सरकारी सहायता देना असम्भव है। इस कारण से और ऊपर वर्णित अन्य कारणों से भी, अनाज आदि के दामों में वृद्धि का परिणाम मुद्रास्फीति होता है जैसाकि 1965 और 1966 में भारत में अनुभव किया गया।

अधिकांश कम-विकसित देशों में जब इन जटिलताओं पर विचार किया जाता है, और जिनमें से अनेक जटिलताएँ संस्थागत कारकों पर निर्भर करती हैं, तो इन देशों में कृषि नीति सम्बन्धी विचार में अधिकाधिक मात्रा में विना किसी शर्त के और अक्सर विना किसी तर्क के यह कहते हुए सुनना वड़ा आश्चर्यजनक लगता है कि उत्पादन और वाजार में अनाज की सप्लाई बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि अनाज के दाम ऊँचे हों।

यदि इतने सरल तरीके से तर्क करना सम्भव होता तो कृषि नीति सचमुच एक वड़ी सरल समस्या होती। पर यह बड़ी असावधानी से प्रकट किया गया आवश्यकता से अधिक आशावादी दृष्टिकोण है। इतना ही नहीं, यह सिफारिश अधिकांशतया अमीरों के हित में होगी और गरीबों के विरुद्ध।

पर वस्तुतः यह तर्क-प्रक्रिया दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप है, जिसे पश्चिम के अमीर देशों की ब़ाजार पर आधारित अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है और जिसमें कम-विकसित देशों में रहन-सहन के अत्यन्त नीचे स्तर के कारण उत्पादकता सम्बन्धी परिणामों और दृष्टिकोणों तथा संस्थागत व्यवस्थाओं की उपेक्षा की गयी है। यह नीति जमींदारों, सूदखोरों और साधारणतया गाँवों के उच्च वर्ग के निहित स्वार्थों को ही पूरा करती है।

हाल के वर्षों में टक्नालॉजी सम्बन्धी एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है, जिसने आशावादिता की दिशा में पूर्वाग्रहों को और अधिक प्रेरित किया है, विशेषकर कृषि सम्बन्धी सुधारों की आवश्यकता को भुला देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। यह महत्त्वपूर्ण प्रगति अधिक उपज देने वाले पौधों, विशेषकर मैक्सिको में विकसित गेहूँ और संकर मक्का तथा फिलीपाइन की अन्तर्राष्ट्रीय चावल अनुसन्धान संस्था में विकसित धान के उपलब्ध होने के कारण हुई है।

सन् 1940 के बाद के आरम्भिक वर्षों में मनुष्य के कल्याण के लिए प्रशंसनीय कार्य करने वाली और दूरदर्शी संस्था राकफेलर फाउंण्डेशन ने मक्का और गेहूँ की विकसित किस्म तैयार करने का काम शुरू किया। दूसरे महायुद्ध के तुरन्त वाद श्रीलंका में इसने मलेरिया की समाप्ति का जो महत्त्वपूर्ण और प्रथम कार्य शुरू किया था, उसका भी स्मरण हो आना स्वाभाविक है। यह अभियान आगे चलकर वहुत व्यापक वना और इससे समस्त कम-विकसित संसार में प्रभावशाली ढंग से स्वास्थ्य के स्तर में वृद्धि करने और मृत्यु-दर घटाने में सहायता मिली। आगे चलकर फोर्ड फाउण्डेशन ने भी धान की विकसित किस्म तैयार करने के अनुसन्धान के लिए आंशिक सहायता दी। यह कार्य चल रहा है और सब अनाजों की विकसित किस्में तैयार करने के लिए अनुसन्धान हो रहे हैं।[78]

केवल पिछले दो वर्षों में ही पर्याप्त बड़े पैमाने पर, विशेषकर पाकिस्तान,

भारत और फिलीपाइन में, अनाज की विकसित किस्में उगाने का कार्य शुरू हुआ है, अतः एशियन ड्रामा में इस पर विचार करने के लिए बहुत विलम्ब हो चुका था।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह टैक्नालॉजी अथवा खेती की विकसित विधियों सम्बन्धी आशाजनक प्रगति है। यह बात मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ चाहे मुझे इसके आधार पर निकाले गये प्रायः सारहीन नीति सम्बन्धी निष्कर्षों की कड़ी आलोचना क्यों न करनी पड़े। अक्सर यह घोषणा की गयी कि "विकासशील देशों में कृषि उपज में वृद्धि करने के लिए यह अकल्पित अवसर हाथ लगा है।" यह बात खाद्य और कृषि संगठन के अधुनातन प्रकाशन में कही गयी है, जो इस समय उपलब्ध है।[79]

पर अन्य अनेक ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं, जिनका इस प्रकाशन में उल्लेख भी किया गया है, जो खेती की उपज में सचमुच वास्तविक वृद्धि करने के लिए आवश्यक हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नये बीजों का इस्तेमाल उर्वरकों और पानी के पर्याप्त प्रयोग के साथ किया जाना चाहिए, कीड़ों और रोगों से फसल की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए—बड़े इलाकों में बोये गये इन नये बीजों पर रोग और कीड़ों का अधिक असर होता है[80]—खरपतवार निकालने तथा खेती की उच्च विधियाँ अपनानी चाहिए।[80क]

जब नये बीजों का इस्तेमाल शुरू होगा तो यह स्पष्ट है कि केवल उन्हीं क्षेत्रों में और उन प्रगतिशील किसानों द्वारा ही इन्हें बोया जा सकेगा जो इन आवश्यकताओं को पूरी कर सकते हों। इसके आगे अधिक व्यापक पैमाने पर इन्हें बोना कहीं अधिक समस्यामूलक होगा और कहीं अधिक कठिनाइयाँ सामने आयेंगी।

वैज्ञानिक दृष्टि से इस बात का मूल्यांकन किये बिना ही कि इन नये बीजों के अब तक सीमित उपयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि करने में कितनी सहायता मिली है—यह वृद्धि उक्त देशों में 1965 और 1966 के अकाल वर्षों के बाद पिछले कुछ वर्षों में हुई है—यह मोटे तौर पर कह दिया गया है कि सुधरे हुए बीजों के कारण जो अधिक उपज हुई है, उसे कुल खेती की उपज बढ़ाने का बहुत श्रेय प्राप्त है।

इसके अलावा भविष्य में इस 'अद्भुत अनाज' का और अधिक व्यापक उपयोग होगा इस बात को भी बड़े सरल ढंग से मान लिया जाता है और इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता तथा इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक विश्लेषण तो इतना भी नहीं किया जाता कि इसके लिए कितने अधिक पानी और उर्वरकों की आवश्यकता होगी अथवा इस पैमाने पर इनकी सप्लाई में वृद्धि करना सम्भव होगा। इसके अलावा कृषि विस्तार में मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से जो वृद्धि करने की आवश्यकता होगी, उसकी भी गणना नहीं की गयी है। इस सम्बन्ध में केवल नीति सम्बन्धी उपायों को ही ध्यान में रखा गया है, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

पर मेरी आलोचना अब तक इस प्रकार की खेती के लिए आवश्यक विभिन्न वस्तुओं और सहायक तत्त्वों के सावधानी से किये गये अध्ययन के अभाव के प्रति नहीं है, जिनके द्वारा किसी विशेष गति से इन नये बीजों की खेती को व्यापक बनाया जा सकता है। यह कार्य करने के लिए बहुत कम समय मिला है।

लेकिन इस अवसरवादी पूर्वाग्रह से ग्रस्त अतिशय तकनीकी आशावाद के उद्गार में गलती यह है कि नये बीजों के उपलब्ध होने की बात का इस्तेमाल कर, बड़े पैमाने पर भूस्वामित्व और दस्तकारी की प्रणाली के सुधारों की बात को पीछे डाल दिया गया है, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है।

यह निश्चय है कि बेहतर बीज कृषि सम्बन्धी सुधारों का स्थान नहीं ले सकते। इसके विपरीत इनके अधिक व्यापक उपयोग तथा उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की दृष्टि से ऐसे सुधारों को पहले लागू करना और अधिक आवश्यक है। इकाफे की पत्रिका 'इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फार ईस्ट' के एक हाल के अंक में एक लेखक महोदय पहले जोर देकर यह बात कहते हैं कि "खेती की आधुनिक विधियों को अपनाकर, जिसमें नये बीजों और खेती के नये तरीकों की आवश्यकता होती है, एशिया के अनेक देश काफी समय पहले ही अनाज में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर सकते थे।" और इससे आगे कहते हैं, "यह आशा पूरी होगी अथवा नहीं, यह बात सामाजिक संगठन की कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है, क्योंकि यह सामान्य संगठन ही किसानों को आर्थिक सम्भावनाओं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।"[81]

नये बीजों और इसी प्रकार खेती की अन्य विकसित विधियों का उपयोग कृषि सम्बन्धी सुधार के बिना अधिक लाभकारी और दूरगामी नहीं हो सकता। वस्तुतः, इन सुधारों के अभाव में नये बीज का उपलब्ध होना उन अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियों से गठजोड़ करेगा, जो इस समय कम-विकसित देशों में ग्रामीण आबादी में असमानता बढ़ाने में सहायक बन रही हैं (देखिए अध्याय—13)।

प्रतिक्रियावादी पूर्वाग्रह के इन आरोपों को प्रमाणित करने के लिए कुछ ठोस उदाहरणों की आवश्यकता है। मैं इस कार्य के लिए संयुक्त राज्य अमरीका सरकार के दो प्रमुख विशेषज्ञों और अधिकारियों, लेस्टर आर० ब्राउन और लीले शेर्ट्ज़ के लेखों का हवाला दूंगा।[82] ये दोनों अधिकारी राष्ट्रपति जॉन्सन और राष्ट्रपति निक्सन के प्रशासनों के संक्रमणकाल में कृषि विभाग की अन्तर्राष्ट्रीय कृषि विकास सेवा में प्रशासकों के पद पर काम कर चुके हैं।

दोनों लेखकों ने अत्यधिक उत्साहपूर्ण भाषा में अपने विचार प्रकट किये हैं। ब्राउन के अनुसार हम "कम-विकसित संसार, विशेषकर एशिया में भूखे और घनी आबादी वाले देशों में कृषि क्रान्ति के द्वार पर आ खड़े हुए हैं।"

दोनों लेखक बड़ी कर्त्तव्य भावना से बीच-बीच में ये चेतावनियाँ देते जाते हैं कि अभी बहुत कुछ करना शेष है। शेर्ट्ज़ इस सम्बन्ध में अपने विचार बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रकट करते हैं: "अन्य अनेक नाटकीय सुधारों की तरह कृषि क्रान्ति भी सर्वत्र नहीं हुई और न ही इसका स्थायित्व स्वचालित रूप से सम्भव है।" और ब्राउन ज़ोर देकर कहते हैं कि कृषि क्षेत्र की नयी घटनाएँ आबादी सम्बन्धी सक्रिय नीति की आवश्यकता को कम नहीं करतीं: इन घटनाओं से केवल "मनुष्यों के साथ चल रही दौड़ में अनाज की सप्लाई को कुछ वर्ष की अग्रगामिता भर प्राप्त हो सकती है।" लेकिन ये चेतावनियाँ उनके उत्साह को गम्भीर रूप से सीमित नहीं बनातीं।

ये दोनों लेखक टैक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति और इनके प्रचार के लिए सरकार के प्रयासों पर निर्भर करते हैं। राजनीतिक और संस्थागत संस्थाओं के सम्बन्ध में वे

प्राय: मौन हैं। वे जो बातें कहते हैं, वे प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण से मेल खाती हैं।

ब्राउन ने पर्याप्त सही ढंग से यह प्रेक्षण किया है कि, "किसानों का एक अपेक्षाकृत छोटा समूह अनाज की नयी किस्मों की खेती को तुरन्त स्वीकार कर लेता है—यह समूह उन बड़े और व्यापारिक दृष्टि से बेहतर स्थिति वाले किसानों का है, जिनके पास सिंचाई और ऋण की पर्याप्त व्यवस्था है।" इससे पहले के अपने एक अन्य लेख में उन्होंने कहा है कि "भूस्वामियों और भूमिहीन लोगों के बीच सामाजिक और आर्थिक अन्तर बढ़ेगा और स्वयं भूस्वामियों के समूह के भीतर भी उन लोगों के बीच, जिनके पास उपजाऊ, अच्छी सिंचाई-व्यवस्था वाली ज़मीन है तथा जिनके पास मामूली खेती योग्य ज़मीन है, यह अन्तर बढ़ेगा।"[83]

लेकिन वे यह प्रश्न नहीं उठाते कि क्या जन-समुदाय की गरीबी और निष्क्रियता गाँवों से दूर रहने वाले भूस्वामियों की व्यवस्था और बटाई पर खेती करने की प्रणाली खेती की नयी विकसित विधियों के और अधिक प्रसार के मार्ग में बाधक बनती हैं अथवा नहीं। वे इस प्रश्न में भी दिलचस्पी नहीं रखते कि क्या समृद्ध और प्रगतिशील किसानों के एक छोटे-से समूह द्वारा लाभकारी तरीके से इन विधियों को अपनाने के कारण कृषि सम्बन्धी सुधारों के विरुद्ध प्रतिरोध और अधिक बढ़ जाता है या नहीं।[84]

इस सम्बन्ध में शेट्र्ज़ ने अधिक साहस से अपने विचार प्रकट किये हैं। नये उन्नत बीजों के उपलब्ध होने के अलावा वे कृषि क्रान्ति के क्षेत्र में "विकासशील देशों द्वारा अपनी कृषि संस्थाओं को बेहतर बनाने के प्रयासों" को भी प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। वे उन प्रयासों का श्रेय "विकासशील देशों के प्रबुद्ध नेतृत्व" को देते हैं। यद्यपि उनका कथ्य बहुत स्पष्ट नहीं है, लेकिन लगता है कि वे प्राथमिक तौर पर 'दाम नीतियों' की बात सोचते हैं—उनका यह विश्वास दिखायी पड़ता है कि दाम नीतियों के कारण ही अनाज के दामों में निरन्तर वृद्धि हुई है। (देखिए ऊपर)।

इस तथ्य का मुश्किल से ही उल्लेख किया गया है कि "अनेक किसानों की उपेक्षा हुई है अर्थात् उन्हें लाभ नहीं मिला है" और "अब तक जिन किसानों को सर्वाधिक लाभ मिला है वे ऐसे किसान हैं जिनके पास पर्याप्त पूँजी और पानी मौजूद है।" उन्होंने यह भी कहा है कि "आय में वृद्धि का लाभ सामान्यतया श्रमिकों को प्राप्त नहीं हुआ है" और यह भी कि "विभिन्न क्षेत्रों के बीच तथा स्वयं इन क्षेत्रों के विभिन्न समूहों के बीच आय के वितरण की समस्याएँ अनिवार्य रूप से अधिक नाजुक होती जायेंगी।" वे एक ऐसे इलाके का उदाहरण देते हैं, जहाँ चावल के उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति हुई है और जहाँ "ज़मींदारों और किसानों के बीच हाल में गम्भीर वर्ग-संघर्ष शुरू हो गया है।"

लेकिन इन बातों के आधार पर वे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष नहीं निकालते। इसके विपरीत वे कहते हैं कि "निम्नतम स्तर पर राजनीति का अच्छा प्रभाव हुआ है :……किसानों ने और अधिक सरकारी सहायता की माँग शुरू कर दी है। उन लोगों ने यह समझ लिया है कि उन्हें उर्वरकों, सिंचाई, ऋण और अपनी उपज की बिक्री के लिए बेहतर हाट-व्यवस्था की आवश्यकता है। अब वे यह बात समझ गये हैं, जैसाकि अमरीका के किसान लम्बे अरसे से जानते हैं कि राजनीतिक कार्रवाई इन परिस्थितियों को प्रभावित कर सकती है।"

यद्यपि उन्होंने यह बात नहीं कही है पर निश्चय ही अब उन्हें इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि इस प्रकार की राजनीति का यह अर्थ होता है कि खेती को सहायता देने और सरकारी अंशदान देने की हर प्रकार की नीतियाँ अधिकाधिक अपनायी जानी चाहिए, जो भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार के अभाव में गरीब जन-समुदाय को सहायता देने की बड़ी-बड़ी घोषणाओं के बावजूद गाँवों के अधिक समृद्ध वर्ग को ही लाभ पहुँचाती हैं।

भूमि-सुधार का केवल एक बार उल्लेख किया गया है और यह बात भी इस पर्याप्त सही[85] प्रेक्षण के साथ कही गयी है कि कुछ लोगों के लिए कृषि की प्रगति के परिणामस्वरूप जमीन के जो दाम बढ़ते हैं उसके कारण भूस्वामी "भूमि-सुधार को नीची प्राथमिकता देने के लिए सरकार के ऊपर दबाव डाल सकते हैं।" शेट्र्ज़ पाठक के मन पर यह प्रभाव छोड़ते हैं कि वे इस बात को "अधिक उपज देने वाले बीजों की खेती का आशाप्रद और राजनीतिक प्रभाव समझते हैं", यद्यपि उन्होंने यह बात बहुत स्पष्टता से नहीं कही है।

खैर, पर इस बात का संकेत तक नहीं है कि कृषि सम्बन्धी सुधार को ताक पर रख देने को रोकने के लिए कुछ न कुछ किया जाना चाहिए अथवा ऐसे सुधारों को लागू करने की बात को 'संस्थागत सुधार' कहा जाना चाहिए, जिसे 'प्रबुद्ध नेतृत्व' की प्रेरणा मिली हो, क्योंकि केवल अनाज के दाम को बढ़ने देना और गाँवों के पहले से ही समृद्ध उच्च वर्ग को और सहायता पहुँचाना ठीक नहीं है।

अब क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका की यह प्रमुख सरकारी नीति बन गयी है, अतः यह आशा की जा सकती थी कि विश्वविद्यालयों तथा अनुसन्धान संस्थाओं के कृषि विशेषज्ञों की बड़ी संख्या इसकी आलोचना करेगी, लेकिन बात इसके विपरीत ही हुई। आर्थिक समस्याओं के कुछ गिने-चुने अध्ययनकर्ताओं और संस्थाओं को आज भूमि-सुधार के विस्मृत विषय में दिलचस्पी है, लेकिन उन्हें कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। साधारणतया स्थिति यह है कि विद्वत् समाज सरकारी नीति के पीछे चल रहा हैं।

मिशिगन राज्य विश्वविद्यालय के एशियन अध्ययन केन्द्र में हाल में आयोजित कृषि-विकास सम्बन्धी सम्मेलन में[86] हिस्सा लेने वाले विशेषज्ञों ने कृषि सुधार के प्रश्न की प्रायः पूरी तरह उपेक्षा कर दी। मानो इसका उस 'कृषि क्रान्ति' में बहुत मामूली-सा महत्त्व हो, जो खेती की विकसित विधियाँ अपनाने के बाद होगी।

खेती न करने वाले और अक्सर दूरवासी 'किसानों' अथवा बटाई पर खेती की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा गया। सरकारी विशेषज्ञों की तरह विद्वत् संस्थाओं के विशेषज्ञ भी 'किसानों' के बारे में इस प्रकार की बात करते हैं, मानो इन देशों के किसान डेनमार्क के सामान्य किसानों अथवा कहीं अधिक बेहतर स्थिति वाले अमरीकी किसानों की तरह हों। बटाई पर खेती करने वाले और भयावह गरीबी से ग्रस्त तथा दूसरों पर निर्भर किसान-समूहों को बड़ी शिष्ट शब्दावली में 'छोटे किसान' अथवा 'लघु कृषक' कह दिया जाता है।

केवल सम्मेलन में उपस्थित कुसुम नायर ने ही, जिसे भारत के गाँवों की जानकारी होनी चाहिए, इस तथ्य के कारण उत्पन्न समस्याओं को उठाया कि

'किसानों' के एक बहुत छोटे हिस्से से ही नये बीज बोने की आशा की जा सकती है और इस प्रकार दस प्रतिशत से अधिक कृषि-भूमि में इन बीजों से खेती नहीं की जा सकेगी। उन्होंने किसानों की बहुत बड़ी संख्या की स्थिति को तात्कालिक महत्त्व की समस्या समझा।

"जिन किसानों को मुश्किल से अपने निर्वाह के योग्य उपज करने वाला किसान समझा जाता है, उन्हें व्यापारिक दृष्टि से उपज करने वाले किसानों में बदलने का कार्य कुछ वाणिज्यिक दृष्टि से खेती करने वाले किसानों को और अधिक वाणिज्यिक तथा विकसित विधियों को अपनाने के लिए तैयार करने से बहुत अधिक भिन्न होगा। दक्षिण एशिया की कृषि में परिवर्तन की समस्या का यही स्वरूप है और वस्तुतः इस समस्या का महत्त्वपूर्ण मुद्दा भी। दक्षिण एशिया में किसानों की एक बहुत बड़ी संख्या बाज़ार और इसकी सम्भावनाओं का लाभ नहीं उठा पा रही है और इस कारण से इन किसानों से यह भी आशा नहीं की जा सकती कि ये तर्कसंगत दृष्टि से अथवा किसी और तरीके से बाज़ार के इन संकेतों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया दिखायेंगे।"[87]

लेकिन अमरीकी वातावरण में कुसुम नायर ने भी भूस्वामित्व और काश्तकारी तथा मनुष्य और भूमि के सम्बन्ध में परिवर्तन की समस्याओं को नहीं उठाया, ताकि मनुष्य को अधिक उपज के लिए अवसर और प्रोत्साहन देने का प्रयास किया जा सके। वे 'मूल्यों, आस्थाओं और दृष्टिकोणों' की चर्चा कर राजनीतिक समस्या से सुरक्षित ढंग से दूर ही रहीं। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस बात का उल्लेख नहीं किया कि इन मूल्यों, आस्थाओं और दृष्टिकोणों को सम्पत्तिगत संस्थाओं में परिवर्तन के बिना प्रायः नहीं बदला जा सकता।

सन् 1965 में अमरीका के अनेक उदार संसद् सदस्यों ने संयुक्त राज्य विदेश सहायता अधिनियम की नौवीं धारा में यह व्यवस्था करायी जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विकास-संस्था को यह निर्देश दिये गये हैं कि वह अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर यह व्यवस्था करे कि "विकासशील देशों के लोग आर्थिक विकास के कार्य में अधिकतम हिस्सा लें और यह कार्य निजी तथा स्थानीय सरकारी संस्थाओं को प्रोत्साहन देकर निरन्तर और अधिक आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लाभ की दृष्टि से किया जाना चाहिए।"[88]

संसद् में इस धारा-9 पर जो बार-बार बहस हुई उसके तथा अन्य ऐसी ही घोषणाओं के अध्ययन से, तथा धारा-9 सम्बन्धी पर्याप्त साहित्य के अध्ययन से यह बात बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि बड़े प्रयास करने के बाद ही भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों के बारे में कुछ मामूली-सी बातें कही गयी हैं। जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है, इसके विपरीत ऋण सहकारियों, सामुदायिक विकास और अन्य ऐसे ही संस्थागत सुधारों पर ध्यान केन्द्रित रखा गया है, जो कृषि-सुधार के अभाव में केवल समृद्ध किसानों के लिए ही सहायक बने हैं। चाहे इनका उद्देश्य गरीब जन-समुदाय की उन्नति ही क्यों न रहा हो।

सन् 1968 की गर्मियों में एक सम्मेलन हुआ, जिसे धारा-9 को लागू करने सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना था। यह सम्मेलन निरन्तर पाँच सप्ताह तक चला और इसमें चालीस विशेषज्ञों और उनके सहकारियों ने काफी बड़ी संख्या में हिस्सा लिया।[89] यहाँ भी भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार के बारे

में एक शब्द भी नहीं कहा गया जबकि धारा-9 में इस लक्ष्य को इन शब्दों में व्यक्त किया गया था : "विदेश सहायता कार्यक्रम के दो स्तम्भों के रूप में आर्थिक विकास के साथ-साथ जनता द्वारा इसमें हिस्सा लेने की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।"[90]

मेरे मन में इस सम्बन्ध में ज़रा भी सन्देह नहीं है कि संयुक्त राज्य अमरीका की संसद् में जिन उदार संसद् सदस्यों ने धारा-9 का प्रस्ताव किया वे अधिकांश कम-विकसित देशों में कृषि में व्याप्त अत्यधिक और निरन्तर बढ़ती हुई असमानता के विरुद्ध बड़ी कड़ाई से अपने विचार प्रकट करेंगे और कृषि-सुधार का समर्थन करेंगे। ये बातें उस स्थिति में होतीं, यदि वर्तमान राजनीतिक वातावरण प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार पूरी तरह कृषि-सुधार के विषय से विमुख न कर देता।

मैं इससे पहले भी कुछ स्पष्टीकरण दे चुका हूँ : कम-विकसित देशों में सत्तारूढ़ व्यक्तियों से सहयोग करने की आवश्यकता अनुभव करना, जबकि ये सत्ताधारी कृषि-सुधार के प्रायः समस्त प्रयासों की असफलता के लिए उत्तरदायी हैं। इसके अलावा इन देशों की विकास समस्याओं के बारे में पूर्वाग्रहग्रस्त युद्धोत्तर दृष्टिकोण का सामान्य प्रभाव भी है, जिसने संस्थागत समस्याओं में दिलचस्पी समाप्त कर दी है।

वाशिंगटन में जो वर्तमान भ्रामक स्थिति तकनीकी प्रशासकों के मध्य मौजूद है और अन्य अनेक अनुसन्धान केन्द्रों में भी जो स्थिति है, उसका उस बात से निश्चय ही कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, जिसे सम्भवतः पूरक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। अमरीकी विशेषज्ञ, वस्तुतः, इस पुस्तक के लेखक की तरह ही, कम-विकसित देशों को अमरीकी सहायता में कमी होने की प्रबल प्रवृत्ति के प्रति चिन्तित हैं (अध्याय 11 देखिए)। कठिन समस्याओं से जूझने की अमरीका के लोगों की परम्परागत तत्परता को बनाये रखने के लिए यह एक बड़ा प्रलोभन होगा कि इस कष्ट का सन्तुलन बनाये रखने के लिए एक अन्य दिशा में आवश्यकता से अधिक आशावादिता प्रकट की जाये। अध्याय-1 में यह कहा गया है कि इस प्रकार का विधिवत् पूर्वाग्रह अमरीका में न तो विचित्र और न ही असामान्य प्रतिक्रिया है।

यह भी स्मरणीय है कि कम-विकसित देशों की कृषि समस्याओं के प्रति अधिक प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाना अमरीका के कृषि विशेषज्ञों के लिए अधिक स्वाभाविक हो सकता है, जो एक राष्ट्रीय कृषि समर्थन प्रणाली के अन्तर्गत काम करते हैं और जिसने किसानों के बड़ समुदाय को गन्दी बस्तियों की परिस्थितियों में भयानक गरीबी में डाल दिया है, जबकि थोड़े से किसान भूमि और श्रम की उत्पादकता को अत्यधिक बढ़ाने और इस प्रकार खेती के क्षेत्र में प्रमुख उत्पादनकर्ता बनने के लिए टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति और पूंजी विनियोग का लाभ उठा सकें। अमरीका की कृषि नीति में सामाजिक उत्तरदायित्व का वह प्रबल प्रभाव मौजूद नहीं था जो यूरोप और विशेषकर स्कैंडीनेविया में प्रकट हुआ और जिसके कारण ग्रामीण जन-समुदाय गरीबी से ग्रस्त नहीं रह सका।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में गाँवों में गन्दी बस्तियों की समस्या उत्पन्न हुई। यह समस्या अपने-आपमें बड़ी गम्भीर है और शहरों की गन्दी बस्तियों की इससे भी कहीं अधिक गम्भीर समस्या के लिए आंशिक रूप से

जिम्मेदार है। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका में—जहाँ लम्बे अरसे से देश की कुल आबादी के दस प्रतिशत से कम लोग खेती में लगे हैं और यह अनुपात भी निरन्तर घटता जा रहा है—यह समस्या, उदाहरण के लिए भारत की समस्या की तुलना में बच्चों-जैसा खेल है; क्योंकि भारत में खेती में लगी आबादी 70 प्रतिशत है और इस बात की कोई आशा नहीं है कि इनकी संख्या में तेज़ी से कमी होगी अथवा अगले कुछ दशकों में इस संख्या में किसी भी प्रकार की कमी होगी।

विकास को स्वयं अपना रास्ता ढूंढ़ निकालने के लिए छोड़ देने और इसके साथ ही 'कृषि क्रान्ति' के आगमन ने, जो मुख्यतया टेक्नालॉजी की प्रगति के कारण हुई और जिसमें गरीबों को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की गयी और गरीबों को इसका लाभ पहुंचाने का प्रयास नहीं किया गया, संयुक्त राज्य अमरीका के लिए ऐसी समस्याओं को जन्म दिया जिनका हल अभी तक नहीं निकाला जा सका है। भारत और अन्य अनेक कम-विकसित देशों में यही खतरा खेती में लगी विशाल जनसंख्या के अधिकांश भाग के समक्ष मौजूद है, जो लम्बे अरसे से खेती से ही सम्बद्ध है और यह जनसंख्या उन समस्त संकटों और अन्य परिणामों सहित निरन्तर बढ़ती रहेगी जो इस वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मैं अध्याय-13 में इस समस्या पर फिर विचार करूंगा।

इस स्थिति का एक और स्पष्टीकरण यह है कि हाल के वर्षों में नीति सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में अनुकरण की प्रवृत्ति दिखायी पड़ी है और अमरीकी विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान केन्द्रों के विशेषज्ञ अक्सर अमरीका के स्वर में स्वर मिलाकर बोलते हैं। मैंने उस समय भी यह बात उठायी थी, जब संयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन को साझा बाज़ार की सदस्यता दिलाने की नीति पर चल रहा था। प्रोफ़ेसर लोग सरकारी नीति के "स्वर में स्वर मिलाकर गाते हैं" क्योंकि अक्सर वे यह अनुभव करते हैं कि उन्होंने इस नीति के निर्धारण में योगदान किया है। इसका परिणाम नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर अनुकरण के रूप में दिखायी पड़ता है, जिसने सार्वजनिक विचार-विमर्श को समाप्त कर दिया है।[91] इस दिशा में कार्य करने वाली अनेक शक्तियाँ हैं : शीतयुद्ध की विरासत और जॉन फोस्टर डलेस-जोसेफ मैकार्थी युग में राष्ट्रीय अनुशासन के दबाव का अनुभव; परामर्श के लिए विश्वविद्यालयों से विशेषज्ञों को वाशिंगटन लाने के तरीके की व्यापकता और विभिन्न अनुसन्धान कार्यों के लिए वाशिंगटन स्थित संस्थाओं द्वारा सरकारी धन देने की व्यवस्था, जिसमें व्यापक दृष्टि से विदेश नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी संस्थाएँ भी शामिल हैं। केवल एक 'औद्योगिक सैनिक संगठन' के बारे में ही, जिसके सम्बन्ध में स्वर्गीय राष्ट्रपति आइज़नहावर ने राष्ट्र को चेतावनी दी थी, बात करना सम्भव नहीं है, बल्कि एक 'सरकारी-विद्वत् संगठन' के बारे में चर्चा करना भी सम्भव हो गया है।

जब कोई प्रश्न देश के लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और जब यह वस्तुतः एक सच्चा विभाजन करने लगता है, जैसाकि विएतनाम युद्ध के सम्बन्ध में हुआ, तो अनुकरणवाद समाप्त होने लगता है। लेकिन तब भी यह कार्य विलम्ब से और कम पूर्णता से होता है। हाल के वर्षों में ऐसे संकेत देखने को मिले हैं कि राष्ट्रीय और विदेश नीति सम्बन्धी अनेक प्रश्नों के क्षेत्र में भी ऐसी ही

स्वस्थ प्रक्रिया शरू हो गयी है और इसके कारण अमरीका के "विचार-विमर्श के द्वारा शासन" के आदर्श को अधिक वास्तविक ढंग से पूरा किया जा सकेगा। लेकिन कम-विकसित देशों में कृषि सम्बन्धी सुधार की समस्या राष्ट्रीय चिन्ता के इस स्तर तक ही नहीं पहुँच पाती।

जब कम-विकसित देशों में कृषि-सुधार के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका में दिलचस्पी के अभाव की सैद्धान्तिक प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया जाता है, तो यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि ऐसी ही प्रवृत्ति स्वयं कम्युनिस्ट देशों की सरकारों के भीतर काम करने वाले लोगों और इन सरकारों से सम्वद्ध लोगों में ही दिखायी नहीं पड़ती, बल्कि पश्चिम के विकसित देशों में भी दिखायी पड़ती है। इस प्रश्न पर संयुक्त राज्य अमरीका ने सचमुच 'स्वतन्त्र संसार' का नेतृत्व किया है।

अब क्योंकि सब दिलचस्पी रखने वाली सरकारें इसी तरीके से सोच रही हैं—कम्युनिस्ट देशों ने तो गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशों में कृषि-सुधार की समस्याओं पर विचार करने की बेहद कम उत्सुकता दिखायी है—अतः इस कारण से अन्तर सरकार संगठनों की कार्यसूची और प्रकाशनों से भूमि-सुधार का प्रश्न अन्तर्धान होता जा रहा है।

खाद्य और कृषि संगठन के प्रकाशन 'दि स्टेट आफ फूड ऐंड एग्रीकल्चर 1968' के पिछले अंक में इस बात का प्रायः कोई उल्लेख नहीं है। खाद्य और कृषि संगठन के सचिवालय का भूमि-सुधार सम्बन्धी एक छोटा-सा अनुभाग निरन्तर बड़ी लगन और साहस से इस विषय का अनुसन्धान और अध्ययन करता जा रहा है और खेती के विकास में तथा इसके तात्कालिक महत्त्व की दृष्टि से भूमि-सुधारों के सर्वोपरि महत्त्व पर जोर देता जा रहा है।[92] चाहे इस अनुभाग की गतिविधियों को कम न भी किया जाये, पर सम्भवतः इसे खाद्य और कृषि संगठन की प्रमुख नीति को प्रभावित करने की अनुमति नहीं दी जायेगी।

ये पंक्तियाँ लिखते समय खाद्य और कृषि संगठन का वृहद् प्रकाशन 'प्रोविजनल इंडिकेटिव वर्ल्ड प्लान फार एग्रीकल्चरल डेवेल्पमेंट'[93] प्रकाशित हुआ है। इसके सम्बन्ध में अनेक बातें कही गयी हैं, लेकिन इस बात में सन्देह नहीं है कि तथ्य इकट्ठा करने और उनका विश्लेषण करने सम्बन्धी यह कार्य आगामी वर्षों में कृषि की समस्याओं पर विचार-विमर्श का बुनियादी स्रोत बना रहेगा। इस रिपोर्ट के लेखकों ने रिपोर्ट के शीर्षक में 'इंडिकेटिव' शब्द को बड़ा महत्त्व दिया है। यद्यपि इस संसारव्यापी प्रयास में समस्या की व्यापकता और किस प्रकार विभिन्न लक्ष्य मात्रात्मक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, दर्शाने की कोशिश सही दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

इस अध्ययन में श्रम के उपयोग की समस्या को उचित महत्त्व दिया गया है। इसमें 'प्रगति का एक माध्यम भूमि-सुधार' शीर्षक अध्याय शामिल किया गया है और इस अध्याय को 'मानवीय साधनों के उपयोग' सम्बन्धी खण्ड में रखा गया है। इस अध्याय में कहा गया है कि विभिन्न देशों और यहाँ तक कि एक ही देश के विभिन्न जिलों में परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं। और इस बात पर जोर दिया गया है कि भूमि-सुधार की समस्या पर 'यथार्थवादी दृष्टिकोण' से विचार करना होगा।

इसके बावजूद यह आशंका है कि अमूर्त सम्बन्धों और आबादी में वृद्धि तथा ऊँचे प्रतिशत के रूप में उपज बढ़ाने की तकनीकी सम्भावनाओं को अत्यधिक सूक्ष्मता से व्यक्त किया जायेगा। इससे उस तकनीकी भ्रमजाल को समर्थन मिलेगा, जिसका मैं पहले जिक्र कर चुका हूँ।

संयुक्त राष्ट्र की 1965 की विश्व की सामाजिक स्थिति सम्बन्धी रिपोर्ट[94] में, जिसे उन्नत बीजों के इस्तेमाल के फलस्वरूप विचार और नीति पर पड़ने वाले प्रभाव से पहले तैयार किया गया था, एक छोटा-सा अध्याय 'कृषि-सुधारों का प्रोत्साहन सम्बन्धी महत्त्व' शामिल किया गया था।[95] इसका प्रमुख मुद्दा यह था कि "अनुभव से यह प्रकट होता है कि भूमि का पुनर्वितरण सदा सफल सिद्ध नहीं हुआ।"

इस रिपोर्ट के लेखक आगे यह विचित्र प्रेक्षण करते हैं कि "राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ भूमि के पुनर्वितरण के विरुद्ध अपना प्रभाव डाल सकती हैं और इस कारण से किसी-न-किसी रूप में काश्तकारी की प्रणाली को कायम रखना होगा।" इस प्रश्न पर वे अधिक स्पष्टता से कहते हैं कि काश्तकारों की स्थिति में सुधार करने के मार्ग में प्रमुख बाधा ज़मींदारों की राजनीतिक और सामाजिक शक्ति है। इस रिपोर्ट के लेखकों के अनुसार सुधार की आवश्यकता है लेकिन पाठक को इस सम्बन्ध में बिल्कुल अन्धकार में छोड़ दिया जाता है कि आखिर ये लेखक किस रूप में यह सुधार चाहते हैं।

वर्ष 1967 की रिपोर्ट में,[96] जो सामान्यतया एक अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है, एशिया और लेटिन अमरीका में भूमि-सुधार के प्रश्न पर पर्याप्त दिलचस्पी दिखायी गयी है। उसमें वर्तमान स्थिति और इसके मूल कारण का स्पष्टता से उल्लेख किया गया है। लेकिन यह पाठक को इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं देती कि भूमि-सुधार का उत्पादकता से क्या सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए।

इस समस्या सम्बन्धी तथ्यों के उल्लेख और नीति सम्बन्धी प्रश्न उठाने में लेटिन अमरीका, एशिया और अफ्रीका के क्षेत्रीय आर्थिक आयोगों के सचिवालयों ने बहुत अधिक स्पष्टता और साहस दिखाया है। यूरोपीय आर्थिक आयोग का एक भूतपूर्व अधिकारी होने के नाते और दूसरे आर्थिक आयोगों के सचिवालयों से घनिष्ठ सम्पर्क से काम करने के नाते मुझे कृषि-सुधार और समानता के प्रश्न पर इन आयोगों के हाल के सामान्य निष्कर्षों के उद्धरण देने में बड़े गर्व और सुख का अनुभव हुआ है।

एक ऐसी घटना सामने आयी है, जो विकसित देशों की सरकारों, अधिकारियों और विशेषज्ञों को कम-विकसित देशों में कृषि सम्बन्धी सुधारों के बारे में अब और अधिक चिन्ता न करने का कारण प्रस्तुत करेगी। यह है—अधिकांश कम-विकसित देशों का इन सुधारों को लागू करने में भयंकर रूप से असफल रहना। कम-विकसित देशों में आज राजनीतिक सत्ता का जो स्वरूप है उसके कारण ये लोग भूमि-सुधार को एक ऐसा प्रश्न समझ सकते हैं जो अब बेजान हो चुका है।

ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए, जैसाकि मैं कह चुका हूँ, अधिकांश कम-विकसित देशों में राजनीतिक सत्ता के वितरण सम्बन्धी कुछ ठोस कारण मौजूद हैं। लेकिन एक ऐसे निराशावादी निष्कर्ष को तार्किकता के द्वारा तकनीकी आशावाद में बदलना ईमानदारी की बात नहीं है, क्योंकि इस प्रकार उस गम्भीर स्थिति को छिपा लिया जाता है, जो खेती की विकसित विधियों के व्यापक प्रसार में बाधक बनेगी। और इसी प्रकार कम-विकसित देशों की कृषि में लगी विशाल आबादी में निरन्तर बढ़ती असमानता की खाई के इतने ही गम्भीर प्रभाव को छिपाया जाता है।

लम्बी अवधि की दृष्टि से एक और प्रश्न उठाया जा सकता है : इस प्रकार की 'कृषि क्रान्ति' का इन देशों में राजनीतिक स्थिरता पर क्या प्रभाव पड़ता है? (इस समस्या पर हम अध्याय-13 में फिर विचार करेंगे)।

इसके अलावा यह प्रश्न भी उठाया जाना चाहिए कि क्या ऐसी निराशावादिता के लिए सचमुच निर्णायक कारण मौजूद हैं। यह तथ्य है कि विकसित देश, और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार, कृषि नीतियों के सम्बन्ध में कम-विकसित देशों की सरकारों पर दबाव डाल रहे हैं। क्या यह आवश्यक है कि यह दबाव समानता के प्रश्न की इस प्रकार पूरी तरह से उपेक्षा कर दे, जबकि समानता का प्रश्न उत्पादकता की दृष्टि से इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है?

इसका एक प्रभाव यह है कि सब उदारतावादी लोग—दूरगामी और आमूल परिवर्तन चाहने वाले लोगों का चाहे हम उल्लेख न करें—कम-विकसित देशों में अपने इस विश्वास से बड़ा आश्वासन प्राप्त करते हैं कि विकसित देश, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका, उनके अपने देशों में राजनीतिक प्रतिक्रिया का समर्थन कर रहे हैं।

स्थिति चाहे कुछ भी क्यों न हो पर स्वतन्त्र अध्ययनकर्ताओं को सरकारों की राजनय के अनुरूप आचरण करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनका स्पष्ट कर्तव्य है कि वे पूरी तरह से अपनी आँखें खोलकर काम करें, पूर्वाग्रह से मुक्त यथार्थ का अन्वेषण करें और जब कभी उनकी अथवा दूसरी सरकारें संकीर्ण दृष्टि वाली अवसरवादिता अपनायें और कम-विकसित देशों में प्रतिक्रियावादी शक्तियों को मजबूत बनाने का प्रयास करें, तो उनकी आलोचना करें। राजनीतिक पराजय के भाव को, चाहे इसे 'आशावाद' अथवा 'निराशावाद' के रूप में प्रकट किया जाये, निरपेक्ष अनुसन्धान में स्वीकार नहीं किया जा सकता। (देखिए अध्याय 1 और 2)।

4. निष्कर्ष

यह आशा की जाती है कि इस अध्याय में अनेक बातों को सिद्ध किया गया है : (1) विभिन्न कम-विकसित देशों में उनकी परिस्थितियों और सम्भावनाओं के अनुरूप भूमि-सुधार का विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान, जबकि इस सुधार का लक्ष्य मनुष्य और भूमि के बीच ऐसा सम्बन्ध कायम करना हो कि खेती करने वाले को अपने श्रम का भरपूर फल प्राप्त करने का अवसर और प्रोत्साहन हो; (2) अन्य सब संस्थागत सुधारों को भी ऐसी ही नयी दिशा देने की आवश्यकता, ताकि इनसे सामान्य जन-समुदाय को लाभ पहुँचे और ये वर्तमान की तरह अमीर और गरीब के बीच का अन्तर न बढ़ाते जायें। ये संस्थागत सुधार हैं—कृषि

विस्तार कार्यों की व्यवस्था और उनके लिए सरकारी सहायता, हाट-व्यवस्था और उर्वरकों, पानी, वीज, मशीनों और खेती के दूसरे औजारों का उपलब्ध होना और (3) अन्य सुधारों की दिशा के पुनर्निर्धारण को प्रभावशाली बनाने में कृषि-सुधार का महत्त्व।

अधिक समानता की दृष्टि से इन सुधारों की आवश्यकता है, क्योंकि इन्हीं सुधारों के माध्यम से खेती की विकसित विधियों को व्यापक रूप से अपनाने की व्यवस्था की जा सकती है, श्रम का उपयोग बढ़ाया जा सकता है और कृषि उपज में वृद्धि की जा सकती है।

यहाँ एक बात का और उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण होगा कि अधिक समानता स्थापित करने और उपज को अधिक तेजी से वढ़ाने के लिए इन समस्त विशाल सुधारों को स्वयं कम-विकसित देशों को लागू करना चाहिए। इन्हें इस सम्बन्ध में कानून वनाने चाहिए, प्रशासन को वेहतर वनाना चाहिए और सुधारों सम्बन्धी इन कानूनों को लागू करना चाहिए।

इन संस्थागत सुधारों के सम्बन्ध में विकसित देशों का प्रमुख दायित्व यह है कि वे कम-विकसित देशों में उन शक्तिशाली निहित स्वार्थों को और मजबूत न वनायें जो इन सुधारों को लागू करने में विलम्ब कराते आये हैं, इनकी दिशा बदलकर इन्हें प्रभावहीन वनाते आये हैं अथवा इन्हें पूरी तरह से रोक देने में सक्रिय रहे हैं। संस्थागत सुधार के प्रश्न पर विचार का प्रायः पूरा निषेध कर हम इधर ठीक यही कार्य करते रहे हैं।

अव विकसित और कम-विकसित देशों में भी अध्ययनकर्ता इस निषेध को अधिकाधिक मात्रा में स्वीकार करते जा रहे हैं और इस निषेध का पालन कर रहे हैं। ये मिलकर दूसरे महायुद्ध के वाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण को इस सीमा तक आगे वढ़ाते जा रहे हैं, जहाँ यह कम-विकसित देशों की प्रगति के लिए अधिकाधिक खतरनाक होता जाता है, क्योंकि इस प्रकार इन देशों की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को समर्थन मिलता है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, यह नव-उपनिवेशवाद की एक अभिव्यक्ति है।

विकसित देशों को सबसे पहले यह करना चाहिए कि अनुसन्धान कार्यों पर ध्यान केन्द्रित करें। कुछ सीमा तक यह काम शुरू हुआ है, जिसे बहुत अधिक वढ़ाने की आवश्यकता है। उष्ण और कम उष्ण क्षेत्रों में कृषि उपज की भौतिक और जीव-विज्ञान सम्बन्धी परिस्थितियों के बारे में तीव्र और स्थानीय रूप से अनुसन्धान किये जाने चाहिए। इस अनुसन्धान कार्य के लिए कम-विकसित देशों के पास न तो पर्याप्त वित्तीय साधन हैं और न ही प्रशिक्षित कर्मचारी। अधिक उपज देने वाली अनाज की किस्मों को तैयार करने के बारे में हाल में जो प्रगति हुई है वह इस बात का एक और तथा शानदार उदाहरण है कि अनुसन्धान के रूप में विकसित देशों द्वारा सहायता क्या-क्या कर सकती है।

लेकिन इन सफलताओं का बहाना बनाकर आवश्यक संस्थागत सुधारों से बच निकलने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए। वास्तविकता यह है कि ये सफलताएँ इन सुधारों को और आवश्यक बना देती हैं।

विकसित देशों को कम-विकसित संसार में भुखमरी की स्थिति को रोकने के लिए आपत्कालीन सहायता देने की अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह जारी रखना

चाहिए। अनाज की सहायता की जिम्मेदारी सब विकसित देशों के ऊपर होनी चाहिए और यह सहायता संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में विश्व खाद्य कार्यक्रम की बहूद्देशीय व्यवस्था के अन्तर्गत दी जानी चाहिए। यह सहायता इस जोखिम-भरी स्थिति में नहीं दी जानी चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका के पास अनाज का फालतू भण्डार है और वह इससे छुटकारा पाना चाहता है। और वह 'शान्ति के लिए अनाज' और वाद में 'स्वतन्त्रता के लिए अनाज' जैसे नामों से इसे अपनी विदेश नीति का अंग बना लेता है।

जैसाकि खाद्य और कृषि संगठन के अनेक अध्ययनों से प्रकट होता है, और कुछ सीमा तक व्यवहार में भी जो प्रमाणित हो चुका है, अनाज के रूप में सहायता श्रम के अधिक उपयोग और उत्पादन में वृद्धि का सकारात्मक साधन बन सकती है। पूंजीगत सहायता, पानी, उर्वरकों और हर प्रकार के खेती के औज़ारों को अधिक मात्रा में उपलब्ध कराया जा सकता है।

लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन स्वयं कम-विकसित देशों को लाने होंगे और इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सम्बन्ध इन देशों के संस्थागत ढाँचे से है : अधिक समानता की स्थापना और इसके साथ ही भूमि और श्रम की ऊँची उत्पादकता कायम करना।

●

अध्याय : 5

आबादी[1]

1. तथ्य

कम-विकसित देशों के यथार्थ की दृष्टि से 'राष्ट्रीय आय' अथवा 'उत्पादन'[2] जैसी आर्थिक शब्दावली अत्यधिक अपर्याप्त है और आर्थिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण में इनका प्रयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। इसके अलावा 'बचत अनुपात'[3] 'बेरोजगारी' अथवा 'अर्द्ध-रोजगारी'[4] ऐसे आर्थिक शब्द हैं, जिनका इस्तेमाल किया ही नहीं जा सकता। पर मात्रात्मक आबादी की समस्याओं के विश्लेषण के लिए उपलब्ध संकल्पनाओं पर यह बात लागू नहीं होती क्योंकि ये संकल्पनाएं ऐसी तर्क सम्बन्धी खामियों से ग्रस्त नहीं हैं। जन्म, मृत्यु, आबादी का आकार, उम्र और स्त्री-पुरुषों की संख्या और यहाँ तक कि प्रवास भी मनुष्य के जैविक अस्तित्व के अत्यधिक स्पष्ट तथ्य हैं।[5]

इसके अलावा, आबादी सम्बन्धी कारणों की मात्राएँ एक-दूसरे से इतनी सरल और स्पष्ट रूप से संगत प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं कि उपलब्ध आँकड़ों की सत्यता को जाँचा जा सकता है और गलतियों का सुधार किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, आबादी में विभिन्न उम्र-वर्गों की स्थिति को इससे पहले की अवधियों की जन्म और मृत्यु-दर के अनुसार जाँचा जा सकता है और इन तीनों कारकों का ध्यान रखते हुए, बेहतर निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

आबादी सम्बन्धी विकास या वृद्धि के हमारे ज्ञान को जो वस्तु स्पष्ट बनाने से रोकती है, वह है मौलिक प्रेक्षणों और उनके आधार पर की गयी गणनाओं की कमी और अविश्वसनीयता। कुछ गिने-चुने कम-विकसित देशों में ही आबादी के आकार के बारे में विश्वास-योग्य आँकड़े उपलब्ध हैं और साधारणतया आबादी सम्बन्धी आँकड़े इस दृष्टि से और अधिक त्रुटिग्रस्त हो जाते हैं कि किसी देश की कुल आबादी की संख्या और विभिन्न ज़िलों की आबादी की संख्या और देश में तथा इन ज़िलों में किसी विशेष उम्र-वर्ग में पुरुषों और स्त्रियों की संख्या के योग एक-दूसरे से मेल नहीं खाते।

आबादी की समस्याओं के विश्लेषण की संकल्पना सम्बन्धी व्यवस्था की श्रेष्ठता का सम्बन्ध केवल औपचारिक जनांकिकी (डेमोग्राफी) से ही होता है। हम जैसे ही आबादी सम्बन्धी किसी कारक अथवा तथ्य के विकास के कारणों और प्रभाव का अध्ययन शुरू करते हैं, हमारे सामने तुरन्त ऐसी जटिल सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ आ खड़ी होती हैं, जो गैर-जैविक किस्म की होती हैं। इस स्थिति में भी हमें दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के इस प्रलोभन का सामना करना चाहिए कि विकसित देशों में आबादी सम्बन्धी परिस्थितियों

और विकासों के विश्लेषण के लिए जिन संकल्पनाओं और नमूनों का उपयोग किया गया था, हम उन्हें उसी रूप में उधार न ले लें।

आज जिस बात को सामान्य रूप से आबादी का विस्फोट कहा जाता है, उसके प्रति चेतना हाल में ही जगी है।[6] अधिकांश विकसित देशों में पन्द्रह अथवा बीस वर्ष पहले तक यह प्रश्न बना हुआ था कि क्या उनके समक्ष वस्तुत: आवश्यकता से अधिक आबादी की समस्या मौजूद है और यदि मौजूद है तो उसका स्वरूप क्या है।

केवल 1960 के आसपास हुई जनगणनाओं से ही यह तथ्य पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि प्राय: सब कम-विकसित देशों की आबादी उससे कहीं ऊँची वार्षिक दर से बढ़ रही है, जिस दर का हाल तक अनुमान लगाया गया था। अब प्राय: सब देशों में आबादी की वार्षिक वृद्धि-दर तीन प्रतिशत के आसपास पहुँच गयी है और कुछ देशों में तो इसका प्रतिशत इससे भी अधिक ऊँचा है।

उदाहरण के लिए, भारत की पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) में आबादी की वृद्धि को प्रति दशक 12.5 प्रतिशत माना गया था, जिसका अर्थ प्रति वर्ष 1.25 प्रतिशत से भी कम वृद्धि होती है। दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) में भी इस मान्यता को कायम रखा गया। सन् 1961 में हुई जनगणना से स्पष्ट हुआ कि 1951-61 के दशक में आबादी 21.5 प्रतिशत बढ़ी है अर्थात् आबादी में वृद्धि पाँच वर्ष पहले के अनुमान से 70 प्रतिशत अधिक रही है।

अत: तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-66) के मसौदे में आबादी की वृद्धि को 2.2 प्रतिशत प्रति वर्ष माना गया, लेकिन 1961 तक योजना आयोग यह भविष्यवाणियाँ करने लगा कि 1976 तक आबादी की वृद्धि 2.4 प्रतिशत से कम नहीं रहेगी। परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रयासों के द्रुत परिणामों को ध्यान में न रखते हुए, बाद की भविष्यवाणियों में और भी ऊँची दर से आबादी में वृद्धि की बात कही गयी।[7]

अधिकांश अन्य कम-विकसित देशों में भी ऐसे ही अनुभव प्राप्त हुए हैं, यद्यपि इसमें समय का अन्तर है।

आबादी की प्रवृत्ति में इस नाटकीय परिवर्तन की जनांकिकीय प्रक्रिया बड़ी सीधी-सादी है। मृत्यु-दर इतनी तेज़ी से घटी है कि इतिहास में इसका कोई पूर्व उदाहरण नहीं मिलता, जबकि जन्म-दर समग्र दृष्टि से उतनी ही ऊँची रही, जितनी विश्वसनीय अनुमानों की दृष्टि से किसी भी युग में थी। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से आबादी में वृद्धि की दर अचानक और तेजी से बढ़ी और इससे मृत्यु-दर में कमी की बात पूरी तरह स्पष्ट हो गयी।

इसका स्पष्टीकरण सामान्य जन-समुदाय के रहन-सहन के स्तर में हुए किसी सुधार में नहीं ढूंढ़ा जा सकता, क्योंकि रहन-सहन के स्तर में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके साथ ही शिक्षा में भी कोई खास प्रगति नहीं हुई है और न ही स्वच्छता के प्रति दृष्टिकोण में ऐसा कोई खास परिवर्तन हुआ, जिसका रोग और

मृत्यु-दर पर अधिक प्रभाव पड़ता।

यह वात सामान्यतया स्वीकार की जाती है कि मृत्यु-दर में कमी का कारण चिकित्सा विज्ञान की महान् प्रगति है जो हाल के वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप हुई। इस नयी 'गैर-परम्परागत' चिकित्सा सम्बन्धी टेक्नालॉजी ने अनेक घातक रोगों का इलाज करने और इनकी रोकथाम के लिए बहुत प्रभावशाली और कम-खर्च साधन उपलब्ध करा दिये हैं और इनका प्रयोग समस्त कम-विकसित देशों में वड़ी तेज़ी से किया गया।[8] ये औषधियाँ उन अनेक संक्रामक रोगों की रोकथाम और कभी-कभी उनके इलाज में भी विशेष रूप से प्रभावशाली सिद्ध हुईं, जिनके फलस्वरूप कम-विकसित देशों में भारी संख्या में लोगों की मृत्यु होती थी। पर विकसित देशों में पहले की 'परम्परागत' चिकित्सा व्यवस्था के द्वारा ही इन रोगों को प्रायः समाप्त कर दिया गया था।

भविष्य में और प्रगति की आशा की जा सकती है। कम-विकसित देशों में मृत्यु-दर के सच्चे स्तर, जो, उदाहरण के लिए, जन्म के समय जीवनकाल में प्रतिबिम्बित होते हैं, विकसित देशों की तुलना में अभी भी ऊँचे हैं, यद्यपि अपरिष्कृत जन्म-दर तुलनात्मक स्तरों तक नीचे उतर आयी हैं, जिसका कारण युवा उम्र-वर्गों में आवादी का अधिक केन्द्रित होना है।[9]

लेकिन मलेरिया को सफलतापूर्वक समाप्त कर देने और अन्य ऐसे ही सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी अभियानों की सफलता के बाद प्रगति धीमी रहेगी। अन्य रोगों के नियन्त्रण के लिए आवादी के कहीं अधिक सक्रिय रूप से हिस्सा लेने की आवश्यकता होगी। डॉक्टरों, डॉक्टरी साज-सामान, दवाखानों और अस्पतालों की अत्यधिक कमी को दूर करना होगा। ये कार्य व्ययसाध्य और समयसाध्य हैं। इसके अलावा पीने के स्वच्छ पानी की सप्लाई तथा मल और गन्दे पानी की निकासी की व्यवस्था पर भारी पूँजी निवेश करना होगा।

बच्चों की मृत्यु-दर को कम करने के लिए उक्त प्रयास और ऊँचे स्तर की व्यक्तिगत स्वच्छता विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। सम्भवतः यह बात ध्यान देने योग्य है कि विकसित देशों में हाल के वर्षों में जो विकास हुए हैं, उनकी झूठी तुलना के आधार पर जो बातें मान ली जाती हैं, उनके विपरीत बच्चों की मृत्यु-दर में कोई खास कमी नहीं हुई है।[10]

जो विभिन्न कारक जन्म-दर का निर्धारण करते हैं—जिनमें बच्चों को जन्म देने की क्षमता रखने वाले उम्र-वर्गों की स्त्रियों के स्वास्थ्य की बेहतर स्थिति भी शामिल है—उनसे जन्म-दर में वृद्धि का संकेत मिलता है। यदि बच्चों के जन्म को रोकने के उपकरणों का इस्तेमाल नहीं किया जाता, तो स्पष्टतया जन्म-दर में वृद्धि होगी।[11] दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों के भीतर और इन देशों के बीच जन्म-दर के अन्तर के अध्ययन से तथा अन्य सूचकों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि संतति-निरोध के स्वयंस्फूर्त प्रसार के फलस्वरूप जन्म-दर में पर्याप्त कमी की बहुत कम सम्भावना दिखायी पड़ती है।[12]

एक क्षेत्र के अध्ययन के आधार पर ये निष्कर्ष निकाले गये हैं और सम्भवतया कम-विकसित संसार के अधिकांश देशों के बारे में ये साधारणतया सही प्रमाणित होंगे।

यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मृत्यु-दर में गिरावट अधिकांशतया 'स्वतः हुई है।' इस दृष्टि से इसे स्वतः कहा जा सकता है क्योंकि इसका सम्बन्ध आय अथवा रहन-सहन के स्तर में अथवा जीवन की अन्य परिस्थितियों में सुधार से नहीं है, केवल चिकित्सा विज्ञान की प्रगति और व्यवहार में इसके उपयोग से ही इसका सम्बन्ध है। इसी प्रकार ऊँची जन्म-दर भी 'स्वतः हुई है।' जनसामान्य में सन्तति-निरोध के उपायों को अपनाने के लिए प्रचार करने की कृतसंकल्प नीति के अभाव में जन्म-दर अपने ऊँचे स्तर पर बनी रहेगी।

इस स्थिति में हमारे समक्ष जन्म और मृत्यु-दर के विशेषज्ञों की यह अभ्युक्ति आ जाती है कि लम्बी अवधि की दृष्टि से मृत्यु और जन्म-दर एक बार फिर प्रायः सन्तुलित हो जायेंगी। यदि जन्म-दर को मृत्यु-दर के नये और नीचे स्तर के अनुरूप व्यवस्थित नहीं किया जाता, तो भविष्य में मृत्यु-दर अनिवार्यतः फिर बढ़ने लगेगी। इन विशेषज्ञों के प्रतिपादन को कभी-कभी जन्म और मृत्यु सम्बन्धी आँकड़ों की तार्किकता के सीधे-सादे निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

इससे यह मान्यता प्रकट होती है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे, कि यदि आबादी की वृद्धि की वर्तमान प्रवृत्ति को बदला नहीं गया तो इससे विकास सम्बन्धी प्रयासों को धक्का पहुँचेगा और वस्तुतः आय और रहन-सहन के स्तर में निरन्तर गिरावट आती जायेगी। एक बिन्दु पर पहुँचकर, मृत्यु-दर रहन-सहन के स्तर के सम्बन्ध में 'स्वतः संचालित' नहीं रह जायेगी।

मालथस द्वारा वर्णित नियन्त्रण —और विशेषकर प्रबल भूख और रोग—उस स्थिति में एक बार फिर क्रमिक रूप से क्रियाशील हो उठेंगे। दूसरे शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की प्रगति के परिणाम-स्वरूप रहन-सहन का वह स्तर अत्यन्त नीचा हो गया है जिस पर पहुँचकर मालथस द्वारा वर्णित नियन्त्रण फिर अपना सिर उठाने लगते हैं अर्थात् इन नियन्त्रणों को इस समय व्याप्त रहन-सहन और आय के स्तर पर निरर्थक बना दिया गया है और ये नियन्त्रण वर्तमान से कहीं अधिक नीचे आय और रहन-सहन के स्तरों पर ही सक्रिय हो सकेंगे।[13]

एक ऐसे समाज में, जिसमें समस्त आर्थिक परिस्थितियों में छोटी अवधि की दृष्टि से निरन्तर परिवर्तन होता जा रहा हो, यह सम्भव नहीं है कि विकास का अवरोध और इसके बाद होने वाली गिरावट अचानक स्पष्ट हो जायेगी और इसे किसी खास समय पहचान लिया जायेगा। केवल भविष्य में ही अतीत पर दृष्टि डालते हुए किसी ऐसी अवधि का उल्लेख करना सम्भव होगा, जिसमें—कुछ निरन्तर जारी उतार-चढ़ावों सहित—आर्थिक विकास के प्रयास पूरी तरह से असफल रहे। वस्तुतः यह असम्भव नहीं है कि भावी इतिहासकार भारत-जैसे देश में आज जो घट रहा है, उस पर दृष्टिपात करते हुए इन हाल के वर्षों को और उन वर्षों को भी जो बहुत दूर नहीं है, एक ऐसी ही अवधि बतायेंगे—यदि जन्म-दर पर्याप्त मात्रा में और बहुत जल्दी कम नहीं होती।[14]

मृत्यु-दर के वर्तमान स्वचालित स्वरूप का एक परिणाम यह है कि मृत्यु-दर सम्बन्धी आँकड़े रुग्णता और किसी देश की स्वास्थ्य की व्यापक स्थिति की अपूर्ण माप बन जाते हैं यद्यपि इस उद्देश्य के लिए उनका अक्सर उपयोग किया जाता है। यदि हम गैर-घातक रोगों और अत्यधिक शारीरिक दुर्बलता की बात

को छोड़ भी दें तो भी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा रोगग्रस्त हो सकता है अथवा वह सामान्य शक्ति से वंचित हो सकता है। पूरे समय अथवा अधिकांश समय वह रोग से ग्रस्त और शक्ति से वंचित रह सकता है चाहे मृत्यु-दर घटती और जीवनकाल बढ़ता क्यों न जा रहा हो। इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि लोग पहले की तुलना में लम्बे समय तक बुरे स्वास्थ्य के अधिक कष्ट भोगने के लिए जीवित रहते हैं।[15]

आगे बढ़ने से पहले यह आवश्यक है कि हम मूल्य सम्बन्धी एक कठोर मान्यता की व्याख्या प्रस्तुत करें : आबादी की वृद्धि को कम करने का कोई भी प्रयास उर्वरता के कारक से प्रतिबन्धित होता है। ऊँची मृत्यु-दर के प्रति ढिलाई का भाव दर्शाना अथवा उसके प्रति सहिष्णुता बरतना इस दृष्टि से कभी भी उचित नहीं माना जा सकता कि इससे आबादी की वृद्धि में कमी आती है।[16]

इस मूल्य सम्बन्धी मान्यता को यहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है कि यह आबादी सम्बन्धी नीति की एक नैतिक अनिवार्यता है। इसका उपयोगितावादी आधार भी है। इसके अलावा बुरे स्वास्थ्य और असमय मृत्यु के कारण जो दुख होता है उसके अलावा यह स्थिति बड़ी महँगी पड़ती है। श्रम के कम उपयोग का एक महत्त्वपूर्ण कारण बुरा स्वास्थ्य भी है, क्योंकि इससे कम-विकसित देशों में लोग उतना अधिक और उतने कठिन परिश्रम से काम नहीं कर पाते जितना वे स्वस्थ होने की स्थिति में कर सकते थे और करने की इच्छा प्रदर्शित कर सकते थे।

मृत्यु-दर में कमी के आंशिक प्रभावस्वरूप आबादी में वृद्धि होती है। लेकिन बच्चों की ऊँची मृत्यु-दर को सामान्यतया उर्वरता को कायम रखने वाले कारकों के लिए जिम्मेदार समझा जाता है। यदि अधिक बच्चों को जीवित रखना है तो माता-पिता नये बच्चों को जन्म देने के लिए उतने तत्पर नहीं रहेंगे।

सार्वजनिक नैतिकता के अन्य सब स्पष्ट मानदण्डों की तरह यह नैतिक अनिवार्यता भी उस स्थिति में अधिक सापेक्ष तत्त्व बन जायेगी जब इसे अपने उद्देश्यों को साकार करने के लिए बहुत कम साधनों के साथ संघर्ष करना पड़ेगा। यदि इस बात को मान लिया जाये तो भी लम्बी अवधि में रोगों की रोकथाम और चिकित्सा कम-विकसित देशों में इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण नीति सम्बन्धी लक्ष्य बन जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय, इस मामले में विश्व स्वास्थ्य संगठन इस समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है, इस दिशा में निरन्तर गतिशील रहेगा।

कुछ भी हो, जीवन को सुरक्षित रखने का नैतिक मानदण्ड पर्याप्त सशक्त है। अत: इस बात का सवाल ही नहीं उठता कि आबादी सम्बन्धी नीति के प्रश्न के समाधान के लिए मृत्यु-दर में वृद्धि के आधार पर नीति का निर्धारण किया जाये। अब जबकि हम आबादी में वृद्धि के आर्थिक प्रभावों के विचार-विमर्श पर आते हैं—ये वही प्रभाव हैं जो जननक्षमता की भिन्नता के साथ बदलते हैं और यह एक समस्या बन जाती है—हम मृत्यु-दर को एक स्थिर अंक के रूप में अथवा विश्लेषण से बिल्कुल बाहर रखेंगे।

सबसे पहले यह आवश्यक है कि हम कुछ उन दृष्टिकोणों का प्रतिवाद करें, जिन्हें आबादी के विकास के आर्थिक प्रभावों की समस्या पर विचार करते समय उपयोग में लाया जाता है।

एक नमूना, जिसका व्यापक रूप से वैज्ञानिक[17] और लोकप्रिय साहित्य दोनों में इस्तेमाल किया जाता है, दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को एकदम प्रत्यक्ष रूप से लागू करने का है। इसमें पूंजी निवेश, उत्पादन, और पूंजी तथा उत्पादन के अनुपात के सन्दर्भ में तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं और निवेश को केवल भौतिक निवेश ही मान लिया जाता है। यह नमूना बड़े सीधे-सादे ढंग से आबादी में वृद्धि के बुरे प्रभाव को प्रकट करने का ही स्वाँग नहीं करता, बल्कि इसे औसत आय में कमी की रोकथाम के लिए आवश्यक तथाकथित शुद्ध 'आबादी सम्बन्धी निवेश' के माध्यम से मापने का भी प्रयास करता है।

संख्या सम्बन्धी जिन मूल्यों को चुना जाता है, उनमें कुछ परिवर्तन के साथ इसे इस मानक स्वरूप में अभिव्यक्त किया जाता है :

यदि आबादी में दो प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से वृद्धि होती है और यदि सीमान्त पूंजी-उत्पादन अनुपात तीन और एक होता है तो प्रति व्यक्ति आय के वर्तमान स्तर को कायम रखने के लिए राष्ट्रीय आय का छह प्रतिशत प्रति वर्ष बचाना और निवेश करना आवश्यक है। यदि आय को दो प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ाने की इच्छा है तो आय के और छह प्रतिशत को बचाया और लगाया जाना चाहिए।

इस प्रकार का यान्त्रिक और सूत्रबद्ध विश्लेषण ज्ञान का आभास देता है, जब कि ऐसे किसी ज्ञान का अस्तित्व नहीं होता और इस ज्ञान के ढोंग में निहित सूक्ष्मता की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। अब क्योंकि इस प्रकार की तर्क-प्रक्रिया दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अमल में लाने के अनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण है, मैं यहाँ एशियन ड्रामा, परिशिष्ट 7, अनुभाग 2 (पृष्ठ 2066) का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा, जहाँ इस दृष्टिकोण और विचार-प्रक्रिया की तर्कसंगत और तथ्यगत गलतियों का उल्लेख किया गया है।

कम-विकसित देशों की आबादी की समस्या पर विचार के समय अक्सर जिस दूसरे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का सामना होता है वह 'अनुकूलतम आबादी', 'आबादी में अनुकूलतम वृद्धि', 'आवश्यकता से अधिक आबादी' और 'आवश्यकता से कम आबादी' जैसी संकल्पनाओं पर केन्द्रित है। आवश्यकता से अधिक और आवश्यकता से कम आबादी की परिभाषा 'अनुकूलतम आबादी' के सन्दर्भ में दी जाती है और यह कार्य इन्हें एक निश्चित विषयवस्तु प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है। यह दृष्टिकोण तर्क की दृष्टि से ही असंगत नहीं है, बल्कि कम-विकसित देशों के यथार्थ के भी एकदम अनुरूप नहीं है।[18]

'आबादी' के सन्दर्भ में जिन संकल्पनाओं और सिद्धान्तों का अब तक उल्लेख हुआ है वे स्पष्ट रूप से भ्रान्तिकारक भी हैं, क्योंकि इनमें आयु के वितरण के परिवर्तनों का ध्यान नहीं रखा जाता, जो अनिवार्य रूप से उर्वरता की दरों के बुनियादी परिवर्तन के साथ मौजूद रहते हैं।

आबादी सम्बन्धी प्रवृत्तियों के आर्थिक परिणामों के हमारे विश्लेषण का बुनियादी तथ्य यह है कि जननक्षमता की दर में कमी से कम-विकसित देशों में

प्रायः एक पीढ़ी तक श्रम शक्ति के आकार पर कोई ठोस प्रभाव नहीं पड़ेगा। और इस तथ्य को एन्सले जे० कौल और एडगार एम० हूर के प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में दर्शाया गया है।[19] यद्यपि उपभोक्ताओं की संख्या पर इसका तत्काल प्रभाव होगा।[20]

इस स्थिति में कम बच्चों का लालन-पालन करना होगा। यदि जन्म-दर को नीचे स्तर पर कायम रखा जा सके तो निर्भरता का यह भार केवल उस समय तक कायम रहेगा, जब तक बच्चे काम करने की आयु प्राप्त नहीं कर लेते। यदि जन्म-दर में कमी को धीरे-धीरे घटाया जाये, तो बच्चों की आवादी में क्रमिक कमी होगी।

लगभग 20 वर्ष बाद, जब ये कम संख्या वाले बच्चे वयस्क हो जायेंगे, तब बच्चों को जन्म देने की क्षमता रखने वाले उम्र-वर्गों में भी लोगों की संख्या में इसी प्रकार कमी होगी। यदि वर्तमान दर से नीचे स्तर पर जन्म-दर को स्थिर रखा जा सके, तो आगे चलकर विभिन्न आयु-वर्गों में जनसंख्या का वितरण भी अधिक स्थिर हो जायेगा। और इससे आवादी में दूसरों पर निर्भर रहने वालों का अनुपात भी कम हो जायेगा, जबकि आज यह अनुपात बहुत ऊंचा है।

आबादी के विभिन्न आयु-वर्गों में वितरण से इस परिवर्तन का यह बड़ा प्रभाव होता है कि जननक्षमता में कमी से लोगों की गरीबी कम होती है।[21] और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है।

इसके परिणामस्वरूप दूसरा प्रभाव खपत के स्तर में वृद्धि होता है, जिसके कारण श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। श्रम की उत्पादकता में वृद्धि श्रम के अधिक उपयोग और श्रम की कार्य-कुशलता में वृद्धि दोनों रूपों में होती है। यह प्रभाव निर्धनतम देशों में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से देखने को मिलेगा और समस्त कम-विकसित देशों के निर्धनतम वर्गों में भी यह प्रभाव दिखायी पड़ेगा, जहाँ पौष्टिक आहार का नीचा स्तर तथा स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का नीचा स्तर अन्य किसी भी स्थान की तुलना में काम में हिस्सा लेने, काम करने की अवधि और कार्य-कुशलता पर बुरा असर डालता है।

इसके अलावा प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर वृद्धि के कारण अधिक धनराशि बचायी जा सकती है और इसका प्रत्यक्ष निवेश किया जा सकता है और सरकार कराधान तथा अन्य उपायों से लोगों को 'और अधिक बचत करने के लिए बाध्य' कर सकती है। कुछ आरम्भिक विलम्ब के बाद दोनों प्रकार की बचतें प्रति व्यक्ति आय में और अधिक वृद्धि करेंगी और इसका समग्र प्रभाव वैसा ही होगा जैसा नीची जननक्षमता के परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय में आरम्भिक वृद्धि का होता है।

इसके अलावा हमें रहन-सहन के ऊँचे उठते हुए स्तरों के कहीं अधिक अच्छे प्रभावों को भी ध्यान में रखना होगा। कम-विकसित देशों में जो भयंकर गरीबी व्याप्त है, वह कम-से-कम आंशिक रूप से, इन देशों के लोगों की भाग्यवादिता, दृष्टिकोणों तथा संस्थाओं में परिवर्तन लाने के प्रयासों, आधुनिक टेक्नालॉजी के प्रसार तथा स्वच्छता के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयासों आदि के प्रति उदासीन बने रहने और कोई प्रतिक्रिया न दिखाने के परिणामस्वरूप है।

आर्थिक स्तरों को ऊँचा उठाने के लिए जननक्षमता में कमी के ये प्रभाव

बहुत पर्याप्त और समग्र रूप से प्रभावकारी हैं और समय के साथ-साथ इनकी गति बढ़ती जाती है। ये प्रभाव जनसंख्या के विभिन्न आयु-वर्गों में विभाजन में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर देना बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि ये प्रभाव मनुष्य और भूमि के अनुपात से पूरी तरह स्वतन्त्र हैं। इन प्रभावों की प्रक्रिया कम आबादी वाले और घने बसे देशों, दोनों में समान रूप से होती है।[22] पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के नये अध्यक्ष, राबर्ट एस० मैकनमारा ने इस बैंक के संचालन मण्डल के समक्ष अपने पहले भाषण में यह बात जोर देकर कही कि "यह एक झूठा दावा है कि कुछ देशों को अपनी भूमि के उपयोग के लिए अथवा अपने आर्थिक विकास को तेज़ करने के लिए और अधिक आबादी की आवश्यकता है।"[23]

श्रम शक्ति के आकार में परिवर्तनों के माध्यम से दूसरी प्रक्रिया शुरू होती है। एक कठोर तथ्य, जिसका हमें सामना करना है और जिसका पहले संकेत दिया जा चुका है, यह है कि आज से 15 या 20 वर्ष बाद जो बच्चे काम करने की उम्र में पहुँच जायेंगे उनका जन्म हो चुका है अथवा जल्दी ही होगा और, जैसाकि यथार्थवादी गणनाओं से प्रकट होता है, इसके बाद जननक्षमता में कमी से पर्याप्त समय तक श्रम शक्ति के आकार में कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा। इस शताब्दी के अन्त तक कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति प्रति वर्ष 2 अथवा 3 प्रतिशत की दर से बढ़ती रहेगी, और इससे ऊँची जननक्षमता के वर्तमान और इससे पहले के ऊँचे स्तर प्रतिबिम्बित होते रहेंगे।[24]

नीति और आयोजन की दृष्टि से श्रम शक्ति में वृद्धि, जिसे रोका नहीं जा सकता, के परिणामों पर ऊपर अध्याय चार में विचार हुआ है। अधिकांश कम-विकसित देशों में अगले कई दशकों तक, जो यथार्थवादी आयोजन की उचित अवधि हो सकती है, उद्योगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे फिलहाल जितने लोगों को रोजगार देने की स्थिति में हैं, उससे अधिक लोगों को रोजगार नहीं दे सकेंगे।

अब क्योंकि शहरों में तीसरी श्रेणी के व्यवसायों में काम कर रहे बहुसंख्यक लोगों की संख्या में वृद्धि करना, जबकि इनकी कार्यक्षमता का पूरा उपयोग न हो रहा हो, वांछित नहीं है और इसके अलावा इस क्षेत्र की रोजगार देने की क्षमता भी सीमित है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि कृषि में लगी श्रम शक्ति के आकार में वास्तविक कमी की जा सके अथवा इसे अधिक ऊँचे स्तर पर स्थिर रखा जा सके।

इन परिस्थितियों में कृषि नीति का लक्ष्य, श्रम के उपयोग में वृद्धि करना होना चाहिए और यह कार्य उस समय भी किया जाना चाहिए जब श्रम शक्ति में तेज़ी से वृद्धि हो रही हो। इस दिशा में आगे बढ़ने के मार्ग में प्रमुख बाधा संस्थागत परिस्थितियों की है, विशेषकर भूस्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी व्यवस्था की, जिन्हें कम-विकसित देशों की राजनीतिक सत्ता की स्थिति से बल मिलता है। यह भी कहा जा चुका है कि श्रम शक्ति में वृद्धि अन्य उन सब परिवर्तनों के साथ

सम्मिलित होने की प्रवृत्ति दर्शाती है जो सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण में असमानता की स्थिति को और अधिक बुरा बना रहे हैं और इन्हें और अधिक कठोर रूप दे रहे हैं।

ऐसे देशों में जहाँ श्रम शक्ति का एक बड़ा हिस्सा पहले ही आधुनिक उद्योगों में लगा है, जैसाकि लेटिन अमरीका के कुछ देशों में है, और अधिक उद्योगीकरण से उद्योगों में रोजगार की सम्भावना में बहुत वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार कृषि में लगी श्रम शक्ति में कम वृद्धि होगी।

उस स्थिति में खेती में श्रम के उपयोग में वृद्धि करना आसान होगा यदि और अधिक नयी ज़मीन में खेती करने की व्यवस्था की जा सके। यह कार्य लेटिन अमरीका और दक्षिण पूर्व एशिया तथा पश्चिम एशिया और अफ्रीका के कुछ देशों में किया भी जा सकता है। पर नयी ज़मीन में खेती के लिए सामान्यतया संगठित रूप से लोगों के सम्बन्धित हिस्सों में जाकर बसने, ज़मीन साफ़ करने और बस्तियाँ बसाने की आवश्यकता होती है तथा सिंचाई अथवा पानी की निकासी जैसे कार्यों पर बड़े पैमाने पर सार्वजनिक धन लगाना पड़ता है और इस सबसे पहले एक कृत-संकल्प और दूरदर्शी सरकार तथा कार्य-कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है।[25]

लगभग एक पीढ़ी तक श्रम शक्ति में वृद्धि के अवनतिकारी प्रभाव अनिवार्य रूप से मौजूद रहेंगे। यद्यपि कृषि नीति में दूरगामी और प्रभावशाली परिवर्तन से इन प्रभावों का सामना किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जननक्षमता में कमी का तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि आय और रहन-सहन के औसत स्तर में वृद्धि होगी। यह अनेक तरीकों से श्रम के उपयोग और उत्पादकता में वृद्धि में भी सहायक होगा।

इस प्रकार यह नीति श्रम शक्ति के आकार में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप श्रम के उपयोग और उत्पादकता पर बुरे प्रभावों को समाप्त कर सकेगी और यदि इस नीति को तेजी से लागू किया जाये तो शायद इसका और अधिक लाभ होगा।[26] इस कारण से यह तात्कालिक महत्त्व की बात है कि संतति-निरोध के लिए यथासम्भव शीघ्रता से और प्रभावशाली ढंग से उपाय किये जायें। दूसरे कारण ये हैं कि अगली पीढ़ी में जननक्षमता और श्रम शक्ति में वृद्धि की वर्तमान दर दोनों में कमी की जा सकती है। यह कार्य जननक्षमता में तुरन्त कमी के द्वारा किया जा सकता है।

एशियन ड्रामा, जिसमें इन बातों पर अधिक गहराई से विचार हुआ है, का हवाला देते हुए, मैंने यहाँ जननक्षमता में कमी के आर्थिक प्रभावों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। पर यहाँ एक और बात कही जा सकती है। इस समस्या को एक स्पष्ट मात्रात्मक नमूने के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास, जिसमें ऊपर वर्णित पूंजी और उत्पादन के फ़ारमूले के आधार पर निर्मित सरलीकृत नमूने का विस्तार किया गया हो, आलोचना के समक्ष टिक नहीं पाते।[27]

ऐसे किसी भी नमूने को कम-विकसित देशों के यथार्थ की दृष्टि से पर्याप्त

और तर्कसंगत बनाने के लिए, इसे कहीं अधिक जटिल रूप में प्रस्तुत करना होगा। आज बुनियादी आँकड़ों की जो कमी है, उसे ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के नमूनों का निर्माण करना वहुत अच्छा प्रयास दिखायी नहीं पड़ता; क्योंकि इसमें सफलता की गुंजाइश नहीं है।

लेकिन उन मुद्दों के आधार पर विश्लेषण और विचार-विमर्श से, जो फिलहाल वहुत सूक्ष्म नहीं हैं, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आनादी सम्बन्धी भिन्न परिस्थितियों का जो आर्थिक प्रभाव होगा, उसे ध्यान में रखते हुए कम-विकसित देशों की सरकारों को यथाशीघ्र और अधिक से अधिक तत्परता से ऐसी नीतियों को लागू करना चाहिए, जिनके परिणामस्वरूप जनसामान्य परिवार नियोजन के रास्ते पर आगे बढ़ सकें।

2. नीति

इस बात का निर्णय करने में विकसित देशों का अनुभव बहुत लाभकारी नहीं हो सकता कि जननक्षमता के सम्बन्ध में क्या किया जा सकता है और आज कम-विकसित संसार में क्या नीतियाँ लागू की जानी चाहिए।

विकसित देशों में संतति-निरोध के उपाय सामान्य लोगों में भी तुरन्त प्रचारित हो जाते हैं। लेकिन यह कार्य उस समय तक नहीं हुआ, जब तक रहन-सहन, शिक्षा और दृष्टिकोण की तर्कसंगतता के स्तर उससे बहुत ऊँचे नहीं हुए जैसे आज कम-विकसित देशों में हैं अथवा निकट भविष्य में होने की आशा की जा सकती है। वस्तुतः संतति-निरोध के उपायों के प्रसार के बिना रहन-सहन के स्तर में वृद्धि नहीं हो सकेगी और आधुनिकीकरण के अन्य तत्त्वों के प्रसार में बेहद कमी आयेगी।

समस्त लिखित इतिहास में हमें कभी भी ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिला कि अधिकांशतया ग्रामीण, रूढ़िग्रस्त, अनपढ़ और अत्यधिक गरीब आबादी में व्यापक रूप से संतति-निरोध अपनाया गया हो। आज कम-विकसित देशों को जो कार्य करने की अत्यन्त आवश्यकता है, उसका उसी प्रकार ऐसा कोई पूर्व उदाहरण नहीं मिलता, जिस प्रकार तेजी से मृत्यु दर में कमी और इसके परिणामस्वरूप आबादी में विस्फोटक वृद्धि का उदाहरण प्राप्त नहीं होता।

इस कार्य को क्यों असम्भव नहीं मान लिया जाना चाहिए, इसका कारण कम-विकसित देशों की आरम्भिक स्थिति से प्राप्त उन दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लाभों में निहित है, जो इन्हें संतति-निरोध की समस्या का सामना करने के समय प्राप्त हैं। विकसित देशों में ऐसा ही आन्दोलन शुरू करने के समय ये लाभ उपलब्ध नहीं थे।[28]

एक बात तो यह है कि आज कम-विकसित देश संतति-निरोध के प्रसार को सार्वजनिक नीति के रूप में अपना सकते हैं।

विकसित देशों में संतति-निरोध के उपायों का प्रचार 'व्यक्तिगत' प्रयासों के आधार पर कुछ परिवारों में हुआ। आचरण सम्बन्धी इन परिवर्तनों का सार्वजनिक नीति और संगठित समाज की समस्त शक्तियों ने प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध चर्च, प्रशासन, स्कूलों, समाचारपत्रों, डॉक्टरों और कानून के माध्यम से किया गया।[29]

संतति-निरोध के प्रसार के विरुद्ध कृतसंकल्प सार्वजनिक प्रतिरोध की प्रभावशाली शक्तियों की सक्रियता पश्चिम के देशों और विकसित कम्युनिस्ट देशों में सामान्य बातें रहीं। विभिन्न कालों में जब-जब यह कार्य हुआ अर्थात् जब कुछ व्यक्तियों ने सार्वजनिक नीति के विरुद्ध विद्रोह शुरू किया—उसका विभिन्न देशों और एक ही देश के भीतर विभिन्न सामाजिक वर्गों की भिन्न विचारधाराओं और भिन्न धार्मिक मान्यताओं से कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं पड़ता। इसका सम्बन्ध मुख्यतया शिक्षा, दृष्टिकोण की तर्कसंगतता तथा समाज के संस्थागत परिवर्तनों के स्तरों से था और इन सब बातों का सम्बन्ध आर्थिक स्तर से था।

वर्तमान विकसित देशों में एक समय जो कुछ हुआ उसके एकदम विपरीत कम-विकसित देशों को यह राजनीतिक निर्णय लेना होगा कि जन-सामान्य में बड़े सक्रिय रूप से संतति-निरोध का प्रचार किया जायेगा, अन्यथा संतति-निरोध का प्रसार नहीं हो सकेगा।

आज कम-विकसित देशों को दूसरा लाभ यह प्राप्त है कि वे संतति-निरोध के किसी भी कार्यक्रम के आरम्भ में ही गर्भ-निरोध के उपकरणों का वितरण कर सकते हैं।[30]

जब पश्चिम देशों में स्वयंस्फूर्त ढंग से संतति-निरोध का प्रसार हुआ तो मुख्यतया सम्भोग को बीच में ही बन्द करने के तरीके से गर्भाधान को रोकने का तरीका अपनाया गया। और इस बात की पूरी सम्भावना दिखायी पड़ती है कि यूरोप के कम्युनिस्ट देशों में भी यही हुआ। सब पश्चिम के देशों में गर्भ-निरोध के उपकरणों को उपलब्ध कराने और बेचने के खिलाफ कानून बने हुए थे। कुछ देशों में तो आज भी कानून की पुस्तकों में ये कानून मौजूद हैं।[31]

अत्यधिक व्यापक और तेज अनुसंधान के परिणामस्वरूप—जो अधिकांशतया संयुक्त राज्य अमरीका में अनुसन्धान संस्थान कर रही हैं और ये अधिकांश संस्थाएं आबादी परिषद् के अधीन हैं और यह कार्य उससे बहुत समय पहले ही शुरू हो गया था, जब संयुक्त राज्य सरकार ने कम-विकसित देशों को संतति-निरोध के उपाय अपनाने में सहायता देने का साहस दिखाया—संतति-निरोध के उपायों के सम्बन्ध में बहुत अधिक कार्य हुआ है और सफलता मिली है। इसके परिणामस्वरूप कहीं अधिक स्वीकार-योग्य और प्रभावशाली संतति-निरोध उपकरणों की ईजाद हुई है। यह अनुसन्धान कार्य तेजी से चल रहा है और इसे सरकार की सहायता प्राप्त है।

लूप, गोलियाँ और कुछ अवधि के लिए गर्भाधान रोकने की क्षमता रखने वाले टीके आज आसानी से उपलब्ध हैं। अधिक लम्बी अवधि तक प्रभावशाली

गोलियों और टीकों की निकट भविष्य में ईजाद की सम्भावना दिखायी पड़ रही है। संतति-निरोध के लिए जो ऑपरेशन कराये जाते हैं, उनके प्रभाव को समाप्त कर देने की जो विधियाँ अब विकसित हुई हैं, उनके परिणामस्वरूप ये ऑपरेशन कराने की इच्छा में वृद्धि हुई है।

निःसन्देह गर्भ-निरोध के ये नये उपाय जन-समुदाय में परिवार नियोजन के प्रसार की सार्वजनिक नीति को लागू करने की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में एक बात याद दिलाना आवश्यक है। आज जबकि पश्चिम के विभिन्न देश कम-विकसित देशों में यह नीति अपनाये जाने के जबर्दस्त समर्थकों के रूप में सामने आये हैं, ऐसी गर्भ-निरोध की विधियों की सिफारिश करना कभी भी सम्भव नहीं होगा, जिन्हें विकसित देशों में स्वीकार और इस्तेमाल नहीं किया जाता।

इस स्थिति में किसी भी कम-विकसित देश में ऐसे राष्ट्रवादी बुद्धिवादी सदा मौजूद रहेंगे, जो अपने देशवासियों का परीक्षणों में प्रयुक्त होने वाले पशुओं के रूप में इस्तेमाल किये जाने का विरोध करें। उदाहरण के लिए पीने के पानी में रसायन मिलाकर जननक्षमता को बहुत अधिक घटाने के सपने देखने की बात को पूरी तरह से भ्रान्तिजनक समझकर ही नहीं त्याग दिया जाना चाहिए, बल्कि यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि यह तरीका अमानुषिक और विवेक-हीन है।

हाल के दशकों में कम-विकसित देशों में आबादी का विस्फोट सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन सिद्ध हुआ है। यह अन्य किसी भी नीति अथवा आयोजन से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। आगामी दशकों में सार्वजनिक नीति के रूप में संतति-निरोध का प्रसार इतना ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकता है।

पर इस कार्य में जो बाधाएँ सामने आयेंगी उनके महत्त्व को घटाकर नहीं देखना चाहिए। कम-विकसित देशों में सरकारों और इससे भी अधिक व्यापक रूप से अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने वाले उच्च वर्ग में संतति-निरोध के प्रसार को सार्वजनिक नीति के रूप में अंगीकार करने और इस नीति को तत्परता से लागू करने के विरुद्ध निषेध का भाव मौजूद है।

इनमें से कुछ निषेध धार्मिक हैं।[32] यदि, जैसाकि सामान्यतया कहा जाता है, एशिया के प्रमुख धर्मों—हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम में संतति-निरोध के बारे में धर्म ग्रन्थों में कोई स्पष्ट निषेध नहीं किया गया है, फिर भी धार्मिक नेताओं के मन में एक ऐसी बात के प्रति भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है जो लोगों को कृत्रिम उपायों से उनकी निश्चित नियति से मुक्ति दिलाने का प्रयास करती हो। वे इस कार्य को पापपूर्ण भी समझ सकते हैं।

अधिकृत रूप से आज भी कैथोलिक चर्च तकनीकी उपायों से संतति-निरोध के विषय में डटी है और कुछ दशकों पहले तक प्रोटेस्टेंट चर्च इसका कहीं अधिक उग्रता से विरोध करती थी। लेटिन अमरीका के देशों और फिलीपाइन्स में सरकारों के लिए चर्च की राय का महत्त्व है। कम्युनिस्टों ने भी यही दृष्टि अपनायी है और वे कैथोलिकों से अधिक जोर देकर यह बात कहते हैं कि यदि कृतसंकल्प होकर विकास नीति को लागू किया जाये तो संतति-निरोध की कोई आवश्यकता नहीं है।[33]

हाल के वर्षों में कैथोलिक चर्च और कम्युनिस्टों ने संतति-निरोध के विरुद्ध अपने विरोध में जो तेज़ी से कमी की है इसका कारण यह तथ्य है कि अधिकृत विरोध के बावजूद विकसित देशों में उनके अनुयायियों में संतति-निरोध का तेज़ी से प्रसार हो रहा था। लेकिन हाल में कम-विकसित देशों में आबादी के विस्फोट की स्थिति की जानकारी प्राप्त होने से और इन देशों में निरन्तर आर्थिक विकास को सम्भव बनाने के लिए जन्म-दर घटाने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कम्युनिस्टों और कैथोलिक दोनों के लिए, तथा अन्य धार्मिक समूहों के लिए भी, संतति-निरोध के विरोध की नीति को जारी रख पाना कठिन हो गया।

लेकिन अन्य ऐसे अनेक निषेध हैं, जो सरकारों को संतति-निरोध के प्रसार की सार्वजनिक नीति को प्रभावशाली ढंग से लागू करने से रोकते हैं।[34]

इनमें से कुछ निषेध तथ्यों के बारे में गलत अथवा बढ़ा-चढ़ाकर प्रकट किये गये विश्वासों पर आधारित हैं। जिन देशों में मनुष्य और भूमि का अनुपात नीचा है, जैसे इन्दोनेशिया और अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के अधिकांश देश, वहाँ निरन्तर यह तर्क दिया जाता है कि उनके सामने आबादी की कोई समस्या नहीं है। इतना ही नहीं, कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि विकास के लिए इन देशों को ऊँची जन्म-दर की आवश्यकता है।

ये लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि लोगों को बसाने और उन्हें रोज़गार देने पर कितनी लागत आती है तथा अक्सर इस काम में कितना लम्बा समय लगता है। और वे यह भी भूल जाते हैं कि कम जन्म-दर का आर्थिक स्तरों को ऊँचा उठाने में क्या योगदान होता है। यह लाभ तुरन्त प्राप्त होता है और हमने आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने में संतति-निरोध के प्रसार के महत्त्वपूर्ण योगदान का उल्लेख किया है।

एक विश्वास—जो पूरी तरह से निराधार नहीं है—यह है कि काम सम्बन्धी आचरण जैसे अत्यन्त निजी मामले में लोगों के आचरण को प्रभावित करना अत्यन्त कठिन और यहाँ तक कि असम्भव भी है, विशेषकर उस स्थिति में जब लोग गरीब, अनपढ़ और रूढ़िग्रस्त हों। पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में भारत की परिवार नियोजन नीति के जन्म-दर को पर्याप्त प्रभावित करने में असफल रहने के कारण आसानी से यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है।[35]

पूरी तरह निराशा से ग्रस्त न हो जाने की बात को सोचते हुए इस विश्वास के साथ अक्सर यह पूरी तरह भ्रमपूर्ण विचार जोड़ दिया जाता है कि जैसे-जैसे रहन-सहन के स्तर ऊँचे होते जायेंगे, संतति-निरोध का स्वयं प्रसार होने लगेगा।

जब लेटिन अमरीका के देशों में उच्च वर्ग के लोग और परिणामतः उनकी सरकारें संतति-निरोध के सामान्य लोगों में प्रसार की सार्वजनिक नीति निर्धारित करने से हिचकिचाते रहे, तो सम्भवतः इसका कारण यह झूठे विश्वास अधिक हैं और कैथोलिक चर्च द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण कम।

लेकिन इस बात में सन्देह नहीं है कि चर्च सामान्य लोगों को संतति-निरोध के उपाय अपनाने के विरुद्ध राज़ी करने में निःसन्देह अधिक प्रभावशाली ढंग से

बाधा उत्पन्न कर सकती है और इस प्रकार लोगों को ये उपाय अपनाने का प्रोत्साहन देने वाली नीति की प्रभावशालिता को कम करने में सहायक बन सकती है। यह उस स्थिति में निश्चयपूर्वक होगा यदि सरकार की नीति का निर्धारण करने वाले उच्च वर्ग समूह यह विश्वास करें कि इससे उनके निषेधों को समर्थन प्राप्त होगा।

सदा की तरह, विश्वास अवसरवादी हैं। वे सामान्यतया पूर्वाग्रहों और तात्कालिक आवश्यकताओं के हित साधन की दृष्टि से तर्कसम्मत बनाये जाने का प्रयास होते हैं। लेकिन विश्वासों का शुद्धिकरण किया जा सकता है, चाहे इस कार्य के लिए तथ्यों को खुले रूप से प्रकट करने और विश्लेषण करने में प्रतिरोध का सामना ही क्यों न करना पड़े। नीति निर्माताओं के विश्वासों को सही रास्ते पर लाने वाली सबसे प्रभावशाली शक्ति स्वयं आबादी का विस्फोट और आसानी से प्रेक्षण योग्य इसके प्रभाव हैं।

लेकिन यह जान लेना चाहिए कि अवसरवादी और झूठे विश्वासों का आश्रय लेना बहुत प्रलोभनकारी होगा और यह बात कम-विकसित देशों के लिए विशेष रूप से सही है। इन देशों की सरकारें अनेक प्रकार की तात्कालिक महत्त्व की राजनीतिक चिन्ताओं से ग्रस्त हैं। ये सरकारें प्रायः निरन्तर कायम रहने वाले संकट के अन्तर्गत काम करती हैं, यह बात प्रायः सब सरकारों के बारे में सही है, यद्यपि कम-विकसित देशों की सरकारों पर यह बात कहीं अधिक लागू होती है।

भविष्य में बहुत आगे देखने और उचित नीति-निर्धारण की अत्यधिक भारी जिम्मेदारी निभाने का कार्य, जो तात्कालिक महत्त्व की समस्त समस्याओं के अलावा होगा, निश्चय ही स्वागत योग्य नहीं होगा, विशेषकर इस दृष्टि से क्योंकि प्रायः सर्वत्र आबादी का प्रश्न विवादग्रस्त है।[36] जहाँ कहीं सम्भव हो, विवाद से बचना हर सरकार की स्वाभाविक इच्छा होती है।

यदि यह मान लिया जाये कि किसी कम-विकसित देश की सरकार अपने समस्त निषेधों और संकोचों पर काबू पाकर जन-सामान्य में संतति-निरोध का प्रसार करने की सशक्त और प्रभावशाली नीति अपनाने का निश्चय करेगी, तो भी स्वयं जन-सामान्य की ओर से इस नीति को लागू करने के मार्ग में बहुत बाधाएँ उपस्थित होती हैं। सरकार को करोड़ों दम्पतियों को अपने एक अत्यधिक निजी आचरण को बदलने के लिए राज़ी करने का प्रयास करना होगा। बच्चों की पैदाइश के सम्बन्ध में जन-सामान्य को आवश्यक जानकारी देने का यह कार्य तर्कसंगत दृष्टि से जानबूझकर किया जाना चाहिए और इस सम्बन्ध में बहुत-आमूल परिवर्तन किये जाने चाहिए। यह भी आवश्यक है कि विवाहित स्त्री-पुरुषों को जिस दिशा में प्रेरित करना है, उसके लिए उनके आचरण को प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण करना होगा। यह कार्य किसी एक अवसर के लिए नहीं, बल्कि निरन्तर योजनाबद्ध तरीके से किया जाना चाहिए।

और यह कार्य उन आबादियों के मध्य किया जाना है, जो अत्यधिक गरीब,

निरक्षर अथवा अर्द्ध-साक्षर हैं तथा अक्सर जिनका स्वास्थ्य खराब रहता है और उनकी शक्ति क्षीण रहती है तथा जो अधिकांशतया गतिहीन, रूढ़िवद्ध और अवरुद्ध समाजों में रहते हैं तथा जो असमान और कठोर सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे में बँधे हुए हैं। ये सब ऐसी बातें हैं, जो भाग्यवाद और उदासीनता को जन्म देती हैं। यदि संतति-निरोध की नीति का वांछित प्रभाव प्राप्त करना है, तो इसे जन-सामान्य तक पहुँचाना होगा।

आबादी सम्बन्धी नीति के हिचकिचाहट भरे और प्रयोग के दौर में इस सम्बन्ध में वड़ी संख्या में अध्ययन किये गये कि आम लोग संतति-निरोध को किस सीमा तक स्वीकार करने को तैयार हैं। यह कार्य कम-विकसित संसार के अनेक भागों, और विशेषकर दक्षिण एशिया में हुआ। अक्सर यह कार्य पश्चिम की संस्थाओं ने किया अथवा उनके सहयोग से यह कार्य किया गया। यद्यपि इन अध्ययनों को पूरी तरह निर्णायक और पूर्ण नहीं कहा जा सकता।[37]

पर इन अध्ययनों से सामान्य आभास यह मिलता है कि संतति-निरोध के तरीके अपनाने के प्रति आरम्भ में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण साधारणतया दिखायी पड़ता है, जिससे बच्चों के जन्म को सीमित करने की अस्पष्ट इच्छा प्रकट होती है। लेकिन नये गर्भाधान को रोकने और इसी रास्ते पर दृढ़ता से आगे बढ़ने के लिए जिस सकारात्मक और निर्णायक संकल्प की आवश्यकता होती है, वह सामान्यतया दिखायी नहीं पड़ता।

इस उभयाभाविता में कम-विकसित देशों की वर्तमान और विकसित देशों की उस स्थिति का बुनियादी अन्तर दिखायी पड़ता है, जब वहाँ संतति-निरोध का प्रसार हो रहा था। इस स्थित को नीति द्वारा समाप्त किया जाना चाहिए। वस्तुतः लूप इस कार्य को आसान बना रहा है और इससे भी अधिक गोलियाँ तथा टीके इस कार्य को आसान बनायेंगे, जब ये अधिक लम्बी अवधि के लिए प्रभावशाली हो जायेंगे; क्योंकि उस स्थिति में केवल एक निर्णय पर्याप्त लम्बी अवधि के लिए गर्भाधान रोकने के लिए पर्याप्त होगा।

किसी भी कम-विकसित देश की सरकार को संतति-निरोध की प्रभावशाली नीति के प्रसार के लिए बहुत बड़े पैमाने पर कार्य करना होगा।

पहली बात यह है कि किसी भी ऐसी सरकार को विकास आयोजन में जनन-क्षमता में कमी के अत्यधिक महत्त्व को समझना होगा। उसे उन संकोचों और निषेधों पर काबू पाना होगा, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसे संतति-निरोध के प्रसार के लिए एक सशक्त सार्वजनिक नीति अपनाकर कार्रवाई करने का दृढ़ निश्चय करना होगा।

दक्षिण एशिया के देशों के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने या तो यह निर्णय ले लिया है अथवा यह निर्णय लेने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन पश्चिम एशिया, लेटिन अमरीका और अफ्रीका में बहुत कम देश ही इस स्थिति में हैं, जहाँ उनकी सरकारों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार निर्धारित कर लिये हैं और एक दृढ़ निर्णय ले लिया है। यद्यपि उन सब देशों में निजी संगठन

इस दिशा में सक्रिय हैं और कभी-कभी इस कार्य में उन्हें सरकार की मान्यता और समर्थन भी मिल रहा है।[38]

निर्णय लिये जाने के बाद उसे प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार को दूसरी बात यह करनी होगी कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त प्रशासनिक व्यवस्था करे। राजधानी में स्थित नौकरशाही और गाँवों अथवा शहरों की गन्दी बस्तियों के परिवारों के बीच बड़ी लम्बी दूरी होती है। यह बात भारत और पाकिस्तान जैसे बड़े देशों के बारे में विशेष रूप से सही है,[39] जिन्हें आबादी के बड़े आकार के कारण बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

कम-विकसित देशों में प्रशासन, विशेषकर निचले स्तरों पर, बहुत सशक्त स्थिति में नहीं है, क्योंकि ये सब देश, 'नरम राज्य' (देखिए अध्याय 7) हैं। जब जन्म-दर को घटाने के निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं होते, जैसाकि भारत और पाकिस्तान में हुआ तो इसका अक्सर यह कारण होता है कि प्रशासनिक व्यवस्था असफल रही।[40]

इस पर्याप्त और प्रभावशाली प्रशासनिक व्यवस्था करने की दूसरी आवश्यकता में यह तीसरी आवश्यकता भी निहित है कि इस कार्य में बड़ी संख्या में डॉक्टरों और उनके सहायक कर्मचारियों को लगाया जाये। अनेक कारणों से ये कर्मचारी अक्सर स्त्रियाँ ही होनी चाहिए। इन लोगों को जनता की भाषा में ही बात करनी चाहिए और यह एक ऐसी बात है जो भारत जैसे देश में, जहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं उन लोगों के चुनाव को बहुत सीमित बना देती है, जिनका उपयोग किया जा सकता है।

इस तीसरी आवश्यकता को पूरा करना विशेष रूप से कठिन होगा, क्योंकि कम-विकसित देशों में ऐसे कर्मचारियों की बेहद कमी है और इनकी अपने नियमित चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए बहुत अधिक ज़रूरत पड़ती है। अनेक कर्मचारी, विशेषकर डॉक्टर, शहरों में ही जमे रहते हैं और अक्सर शहरों के उच्च वर्ग की आवश्यकताओं को ही पूरा करते हैं। और इन्हें तथा अन्य कर्मचारियों को गाँवों में भेज पाना बड़ा कठिन होता है।[41] डॉक्टरों की कमी उस समय विशेष रूप से बाधक होती है, जब ऑपरेशन के ऊपर ही निर्भर किया जाये और सम्भवतः लूप लगाने में इससे भी अधिक बाधा सामने आये। अनेक कम-विकसित देशों से हाल में रिपोर्टें प्राप्त हुई हैं कि लूप उतनी लम्बी अवधि तक प्रभावशाली नहीं रहा, जितनी आशा की जाती थी। इसका कारण यह है कि इन्हें लगाने की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया और सम्भवतः लगभग चौथाई मामलों में इसके विपरीत प्रभावों पर तो इतना भी ध्यान नहीं दिया गया। (ये विपरीत प्रभाव रक्तस्राव, ऐंठन अथवा पीठ के दर्द के रूप में प्रकट हुए)।

ऐसे प्रत्येक मामले के साथ यह अफवाह और तेज़ी से फैलती है कि लूप खतरनाक है। इसके परिणामस्वरूप और अधिक स्त्रियाँ इसे निकलवा डालना चाहेंगी, चाहे इसका उनके ऊपर कोई भी बुरा प्रभाव न पड़ा हो। इस प्रकार लूप को और अधिक व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने के मार्ग में बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है।

जिन देशों को इन कठिनाइयों का बड़े पैमाने पर सामना करना पड़ा है और

अपने निर्धारित लक्ष्यों से बहुत पीछे रह गये हैं, उनमें भारत भी है।[42]

अब यहाँ आकर यह ज़ोर देना महत्त्वपूर्ण है कि कम-विकसित देशों की सरकारों को स्वयं यह कार्य करने चाहिए। इस सम्बन्ध में विकसित देश सहायता और तकनीकी सहायता के माध्यम से वस्तुतः बहुत कम कार्य कर सकते हैं।

हाल के वर्षों में विकसित देशों में समाचारपत्रों और लोकप्रिय विचार-विमर्श में जो सामान्य शोरगुल मचाया गया है, और जिस बात को अक्सर अधिकारियों और राजनीतिज्ञों ने बार-बार दोहराया है वह यह है कि सहायता देते समय उन्हें कम-विकसित देशों में संतति-निरोध के प्रसार को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। वस्तुतः यह एक ऐसी बात है, जिसमें इस कार्य की सच्ची विशालता और ज़िम्मेदारी का निर्वाह किसे करना चाहिए इस बात की सूझ-बूझ दिखायी नहीं पड़ती।

सबसे पहले तो किसी कम-विकसित देश की सरकार को स्वयं यह दृढ़ निर्णय लेना होगा कि वह सार्वजनिक नीति के रूप में संतति-निरोध का प्रसार करेगी। लेकिन इसका निश्चय ही यह भी अर्थ होना चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य विकसित देश, तथा विश्व बैंक और अन्य अन्तर सरकार संगठनों को ऐसी किसी भी नीति के सम्बन्ध में अब अधिकाधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

यद्यपि कृषि नीति के सम्बन्ध में राजनयिक और अन्य कारणों से उनकी स्थिति कम-विकसित देशों में प्रतिक्रियावादी नीति के अधिकाधिक समर्थन का आधार बन गयी है (देखिए अध्याय 4, अनुभाग 3), पर आबादी सम्बन्धी नीति के बारे में हाल के वर्षों में इन देशों और संगठनों ने दूरगामी सुधारों के पक्ष में आवाज़ उठायी है।

यही कारण है कि आबादी के प्रश्न पर कम-विकसित देशों पर कुछ सीमा तक दबाव डालने की बात को स्वीकार किया जा सकता है। जब विश्व बैंक कम-विकसित संसार सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में आबादी सम्बन्धी नीति को उच्च प्राथमिकता देता है, तो इसका केवल यह अभिप्राय नहीं होता कि इस नीति को लागू करने के कार्य को आसान बनाने के लिए वह सहायता देने को तैयार है, पर यह सहायता बहुत अधिक नहीं हो सकती। इसका यह अर्थ भी होता है कि बैंक कम-विकसित देशों से अपने समस्त व्यवहारों में और अपने अधीनस्थ संगठनों के माध्यम से भी निरन्तर दूरगामी आबादी सम्बन्धी नीति को लागू करने के तात्कालिक महत्त्व और आवश्यकता पर निरन्तर जोर देता रहेगा।

पर इस समस्या के बारे में सही परिप्रेक्ष्य को बनाये रखने के लिए यह स्मरण रखना उपयोगी होगा कि आबादी सम्बन्धी नीति की समस्या के बारे में अपने वर्तमान दृष्टिकोण को अपनाने में विकसित देशों ने कितना अधिक विलम्ब

किया ।[43]

संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न संगठनों में कम्युनिस्ट और कैथोलिक देशों—जिनमें लेटिन अमरीका के देश भी शामिल थे—के बीच साँठ-गाँठ ने कम-विकसित देशों में आबादी की समस्या के प्रति कोई व्यावहारिक और प्रभावशाली दृष्टिकोण अपनाने के मार्ग में लम्बी अवधि तक बाधा डाली । अभी भी ये संगठन जनसंख्या नीति को लागू करने सम्बन्धी गतिविधियों में हिस्सा नहीं ले पाते, उन्हें इस कार्य के लिए रोका जाता है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि ये संगठन अनुसन्धान और आयोजन के अलावा अन्य कुछ नहीं कर पाते ।

ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बहुसंख्यक प्रोटेस्टेंट देश भी अक्सर अपने कथोलिक अल्पसंख्यकों के दबाव के समक्ष झुकते रहे । लम्बे अर्से तक लूथेरन समाज और अधिक धर्मनिरपेक्ष नीति अपनाने वाले स्कैंडिनेविया के देशों ने ही कम-विकसित देशों में संतति-निरोध का समर्थन किया—और स्वयं अपने देशों में भी इस नीति को समर्थन दिया—तथा अपनी तरफ से कुछ सहायता भी दी ।

संयुक्त राज्य अमरीका में सन् 1959 तक में राष्ट्रपति ड्वाइट डी० आइज़नहावर का प्रशासन एक समिति की रिपोर्ट में बड़े सतर्क ढंग से इस सुझाव को स्वीकार करने से पीछे हट गया कि जिन देशों को सैनिक सहायता दी जाती है यदि वे स्वयं अनुरोध करें तो सैनिक सहायता की कुछ राशि का उपयोग परिवार नियोजन के लिए किया जा सकता है ।

सन् 1963 में ही राष्ट्रपति जान एफ० कैनेडी के व्यक्तिगत नेतृत्व के कारण यह नीति अपनायी जा सकी कि कम-विकसित देशों को अमरीकी सरकार आबादी सम्बन्धी नीति के आयोजन और अनुसन्धान के लिए सहायता देगी । केवल राष्ट्रपति जान्सन के कार्य-काल में ही संयुक्त राज्य अमरीका की नीति इस सम्बन्ध में समस्त संकोचों और निषेधों से मुक्त हो सकी ।

जैसाकि मैंने पहले कहा है केवल कम्युनिस्ट ही नहीं, बल्कि कैथोलिकभी अपने विचारों में परिवर्तन कर रहे हैं । हाल में पोप ने संतति-निरोध के विरुद्ध जो परिपत्र जारी किया है, सम्भवतः उसके कारण ही कैथोलिक देशों में इस विचार-परिवर्तन में कुछ विलम्ब हो रहा है । और अब क्योंकि कम्युनिस्ट देश भी इसी प्रकार तेज़ी से बदल रहे हैं,[44] अन्तर सरकार संगठनों को भी कम-विकसित देशों में संतति-निरोध के कार्यक्रम चलाने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाना चाहिए ।

लेकिन यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि सब विकसित देशों में आज कम-विकसित संसार में संतति-निरोध के प्रसार के लिए जो यह नया उत्साह दिखायी पड़ रहा है, और जो इतने विलम्ब से दिखायी पड़ा है, उससे निश्चय ही इन देशों में, विशेषकर भारत में व्यंग्यपूर्ण विचारों को जन्म मिलेगा, क्योंकि भारत ने बहुत पहले ही आबादी को सीमित रखने की नीति अपनायी थी ।[45] श्री नेहरू ने अक्सर अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में इन व्यंग्यपूर्ण विचारों को व्यक्त किया था ।

यदाकदा प्रतिक्रिया व्यंग्यपूर्ण विचारों से कहीं अधिक आलोचनात्मक हो सकती है । अन्य देशों की तरह ही कम-विकसित देशों के बुद्धिवादी 'विशाल' और 'महान्' के बीच अन्तर कर पाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं और अक्सर

'संख्या की भ्रान्ति' से ग्रस्त रहते हैं।[46]

इस बात में सन्देह नहीं है कि गरीब देशों में आबादी में वृद्धि में कमी करने के बारे में अमीर देशों में जो दिलचस्पी व्याप्त है, यदाकदा उसका विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है। ये अमीर देश स्वयं अपने देशों में ऐसी कोई नीति दृढ़तापूर्वक न अपना पाने के कारण गरीब देशों में संकोचों और निषेधों को समर्थन प्रदान करते हैं।

उस स्थिति में यह प्रतिक्रिया प्रायः कटु हो उठती है जब हम यह ध्यान देते हैं कि इसके साथ ही अमीर देश स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए अपनी सहायता में कमी कर देते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता सम्बन्धी गतिविधि में अनेक वर्षों से स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों को चुपचाप नीचे दर्जे पर रख दिया गया है अथवा अत्यधिक घने बसे कम-विकसित देशों में इस कार्यक्रम को धीरे-धीरे लागू किया जा रहा है, जबकि परिवार नियोजन कार्यक्रम को बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। जब सहायता के कुल बजट में निरन्तर कमी की जा रही है (देखिए अध्याय 11) और जबकि परिवार नियोजन के लिए अधिकाधिक धन खर्च किया जा रहा है, तो यह होना प्रायः स्वाभाविक है।

पर चिकित्सा विशेषज्ञ इस प्रवृत्ति और स्थिति के विरुद्ध निरन्तर अपनी आवाज़ उठा रहे हैं।[47] और वे इस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि बेहतर स्वास्थ्य का श्रम के उपयोग में वृद्धि पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है और यह गरीब लोगों को विकास के प्रयासों के प्रति अधिक सजग बनाता है और विशेष रूप से यह बात महत्त्वपूर्ण है कि बच्चों की मृत्यु-दर में कमी संतति-निरोध के प्रसार की प्रायः एक शर्त है।

कम-विकसित देशों में चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए अधिक सहायता देने के साथ-साथ इन देशों में प्रतिक्रिया स्वरूप जो प्रभाव उत्पन्न होते हैं, उनका मुकाबला तर्क और लेखन में अधिक राजनयिक रवैया अपनाकर नहीं किया जाना चाहिए। कम-से-कम उन पुस्तकों और लेखों में, जिनमें विद्वत्तापूर्ण विवेचन का स्वाँग रचा जाता है, यह कार्य एकदम नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास है कि यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इस विषय के अध्येता और अधिकारी दोनों यह समझें तथा इस बात को व्यक्त भी करें कि संतति-निरोध की नीति के प्रसार के मार्ग में कम-विकसित देशों को किन विशाल कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

सब सम्बन्धित लोगों को यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि कम-विकसित देशों में संतति-निरोध के कार्यक्रमों को लागू करने में विकसित देश, स्वयं अपनी ओर से अथवा अन्तर-सरकार संगठनों के माध्यम से जो अंशदान दे सकते हैं, वे अपेक्षाकृत सीमित हैं।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अनुसन्धान रहा है और रहेगा। विशेषकर संतति-निरोध की वर्तमान विधियों को हर दृष्टि से पूर्ण बनाने के अनुसन्धान। आबादी सम्बन्धी और आर्थिक अनुसन्धान भी महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषकर जनता को प्रबुद्ध

बनाने और कम-विकसित देशों की सरकारों के संकोचों और निषेधों को समाप्त करने के लिए इसकी आवश्यकता है। आर्थिक दृष्टि से इन दोनों प्रकार के अनुसन्धानों पर बहुत खर्च बैठता है।

जन-सामान्य में संतति-निरोध के प्रसार के निर्माण को कार्यरूप देने के लिए उचित प्रशासनिक व्यवस्था का कठिन कार्य स्वयं इन देशों को करना होगा। कुछ ऐसे देश हैं, जो इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों की सलाह का लाभ उठा सकते हैं। लेकिन कम-विकसित देशों को इस प्रकार की सलाह के अनेक निरर्थक और यहाँ तक कि दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों को देख लेने के बाद, क्योंकि यह सलाह इन देशों की विशिष्ट और अत्यधिक भिन्न परिस्थितियों के पूर्ण ज्ञान के बिना दी जाती है, मैं सरकारों को यह सलाह दूंगा कि वे ऐसी सलाह देने से दूर ही रहें। आर्थिक दृष्टि से ऐसी किसी भी सलाह का कोई विशेष अर्थ नहीं होता।

डॉक्टरों और उनके सहायक कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए कुछ सहायता दी जा सकती है, लेकिन यह कार्य भी बड़े पैमाने पर नहीं हो सकता, विशेषकर इस कारण से क्योंकि सब विकसित देशों में भी स्वयं ऐसे कर्मचारियों की कमी है और भाषा सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण ये लोग सम्बन्धित देशों के अपने डॉक्टरों और कर्मचारियों का स्थान मुश्किल से ही ले सकते हैं।

विकसित देश अनुदान के रूप में गर्भ-निरोध के उपकरण दे सकते हैं। और इस समय यह कार्य पर्याप्त बड़े पैमाने पर हो भी रहा है। लेकिन ये उपकरण बड़े सस्ते हैं और अनेक कम-विकसित देश इन्हें स्वयं बना सकते हैं। इस स्थिति में यदि हम सहायता के सामान के रूप में जीप, डॉक्टरी के औजार आदि दें तो आवश्यक सामान की सूची पूरी हो जाती है।

विकसित देशों का सच्चा बड़ा योगदान संतति-निरोध के नये उपायों के बारे में अनुसन्धान है, जो चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। हमने यह देखा है कि संयुक्त राज्य अमरीका में यह कार्य सरकार के किसी निर्णय पर पहुँचने से बहुत समय पहले से निजी संस्थाओं की सहायता से चल रहा है।

विकसित देश अपेक्षाकृत कितना कम योगदान कर सकते हैं—अनुसन्धान, जनता को प्रबुद्ध बनाकर और कम-विकसित देशों की सरकारों पर दबाव डालकर आदि बातों को छोड़कर—इस बात का उल्लेख करने का मेरा यह इरादा नहीं है कि ये देश जो कुछ कर सकते हैं, उन्हें वह भी न करने की चेतावनी दी जाये। इसके विपरीत मैं यह जोर देकर कहना चाहता हूँ कि कम-विकसित देश स्वयं कितना अधिक कार्य कर सकते हैं और वे इस कार्य को तेजी से तथा दृढ़ता से करें यह बात कितनी महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक महत्त्व की है।

इन्हीं कारणों से मैंने इस विषय पर इस पुस्तक के उस भाग में विचार किया है, जिसमें कम-विकसित देशों में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता पर विचार हुआ है।

अध्याय : ६

शिक्षा

1. आरम्भिक प्रेक्षण

कम-विकसित देशों में शिक्षा की समस्या के अध्ययन का संकल्पना सम्बन्धी ढाँचा उसी प्रकार तर्कसंगत कठिनाइयों से प्रायः मुक्त होना चाहिए, जिस प्रकार आबादी सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण।

कितने लोग साक्षर हैं और कितने बच्चे स्कूल जाते हैं तथा ये बच्चे कितने वर्षों के लिए स्कूल जाते हैं, स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से दुविधा-रहित प्रश्न दिखायी पड़ते हैं। शिक्षा सम्बन्धी उपलब्ध सुविधाओं—स्कूल की इमारतें, अध्यापन सामग्री और उपकरण, अध्यापक आदि—की मात्रा और यहाँ तक कि उनका गुणात्मक स्तर उस प्रकार की तर्कसंगत आपत्ति को जन्म नहीं देता, जिससे हमारा 'आर्थिक' समस्याओं पर दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण द्वारा विचार की आलोचना के समय सामना हुआ है।

इसके बावजूद जब शिक्षा सम्बन्धी आँकड़े विकास की कमी और विकास सम्बन्धी प्रायः किसी भी अन्य क्षेत्र के आँकड़ों की तरह और भी कम सन्तोषजनक हैं, तो इसका स्पष्टीकरण आंशिक रूप से यह है कि स्पष्ट परिभाषाओं को अपनाने में आश्चर्यजनक असावधानी बरती गयी है। यद्यपि इन परिभाषाओं का प्रतिपादन बहुत कठिन नहीं है। आंशिक रूप से यह भी कहा जा सकता है कि व्यापक प्रक्षणों और गणनाओं की बेहद कमी है और प्रायः इनका अभाव ही है।

दोनों दृष्टियों से अवसरवादी हितों का सर्वोत्तम हितसाधन होता है, चाहे वास्तविक स्थिति छिपी रहे अथवा इसे ऐसे रूप में प्रकट किया जाये जिससे शिक्षा नीति में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव न हो।

कम-विकसित देशों में शिक्षा की स्थिति और विकास के बारे में जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें दो संकल्पनाओं को बुनियादी स्थान दिया जाना है—साक्षरता और शिक्षा संस्थाओं में भरती।

साक्षरता की परिभाषा देना औरअन्तर्राष्ट्रीयतुलनाओं के लिए इसपरिभाषा का मानकीकरण करना अपने-आपमें कठिन नहीं दिखायी पड़ना चाहिए। जनगणना करने वालों द्वारा इस परिभाषा को व्यवहार में लाने और जिन लोगों से जनगणना सम्बन्धी सवाल पूछे जाते हैं, उन्हें यह परिभाषा समझाना निश्चय ही बड़े कठिन व्यावहारिक कार्य हैं। लेकिन साक्षरता के सम्बन्ध में अधिक सार्थक और सही आँकड़े प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[1]

एक ऐसा उदाहरण देने के लिए कि साक्षरता के बारे में किस प्रकार आँकड़े पूरी तरह से अविश्वसनीय हो सकते हैं, मैं 1951 और 1961 के दो जनगणना

वर्षों के बीच भारत में 30 वर्ष से अधिक उम्र के पुरुषों के समस्त आयु-समूहों में साक्षरता में प्रकट रूप से प्रभावशाली वृद्धि का उल्लेख कर सकता हूँ।[2] प्रत्येक आयु-समूह में जिस वृद्धि को रेकार्ड किया गया, वह समान थी। पर साक्षरता में इस प्रकार की वृद्धि कल्पनातीत है।

यदि वयस्क शिक्षा के लिए व्यापक और कार्य-कुशल प्रयास भी किये जाते—जो वस्तुतः नहीं हुए—तो भी, अधिक स्थूलों की व्यवस्था की तरह, कुछ खास आयु-समूहों को ही विशेष रूप से प्रभावित करते। यह बात बड़ी स्पष्ट है और इसका आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाना चाहिए। यदि यह कार्य स्वयं भारत में नहीं होता, तो कम-से-कम यूनेस्को को यह कार्य करना चाहिए, जो इन आँकड़ों को प्रचारित करता है और इन पर अपनी टिप्पणियाँ देता है। पर यह कहना होगा कि भारत के साक्षरता सम्बन्धी आँकड़ों को अन्य अधिकांश कम-विकसित देशों के आँकड़ों से कम सही नहीं कहा जा सकता।

पर साक्षरता सम्बन्धी आँकड़ों का वे अर्थशास्त्री विशेष रूप से व्यापक पैमाने पर उल्लेख कर रहे हैं, जो शिक्षा के क्षेत्र में कदम रख रहे हैं। लेकिन इस उल्लेख में इन आँकड़ों की सटीकता के बारे में कुछ नहीं कहा जाता। अनेक वर्षों तक यह माना जाना चाहिए कि कम-विकसित देशों में साक्षरता सम्बन्धी आँकड़े साक्षरता के वास्तविक प्रसार से कहीं अधिक ऊँची स्थिति को व्यक्त करते रहेंगे। लेकिन यूनेस्को के एक लेखक का विपरीत विश्वास है।[3] कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय अधिकारियों अथवा व्यक्तिगत अध्येताओं ने किसी सीमित क्षेत्र के लिए भी प्रकाशित आँकड़ों की जाँच नहीं की यद्यपि यह जाँच करना बहुत आसान होना चाहिए।

कम-विकसित देशों में शिक्षा पर विचार में प्रयुक्त दूसरी प्रमुख संकल्पना स्कूलों में बच्चों की भरती की है।[4] सम्बन्धित साहित्य में यह सामान्यतया, अबोध और सूक्ष्मता से जाँच किये बिना ही मान लिया जाता है कि स्कूलों में बच्चों की भर्ती के प्रकाशित आँकड़े पर्याप्त सही हैं और ये आँकड़े—जिन्हें कभी-कभी कुल आबादी के औसत के रूप में दिया जाता है और जिसमें कम-विकसित देशों में आयु के असमान वितरण की उपेक्षा कर दी जाती है—इस बात की माप प्रस्तुत करते हैं कि बच्चे किस सीमा तक स्कूल जाते हैं। किसी कम-विकसित देश में शिक्षा की स्थिति के बारे में बहुत अधिक आशावादी निर्णय और हाल में शिक्षा की स्थिति में सुधार के बारे में निर्णय विद्यार्थियों की भरती के आँकड़ों पर आधारित होते हैं।

स्कूलों में विद्यार्थियों की भरती के आँकड़े कितने अविश्वसनीय हो सकते हैं, इस बात को एक और उदाहरण से समझाया जा सकता है: पाकिस्तान की 1961 की जनगणना के अनुसार 5 से 9 वर्ष की उम्र के 15 प्रतिशत से भी कम बच्चे स्कूल जाते थे, जबकि भरती के आँकड़ों के अनुसार एक ज़रा से भिन्न उम्र-वर्ग 6 से 10 वर्ष के उम्र-वर्ग में 30 प्रतिशत बच्चे स्कूलों में जाते थे। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि पाकिस्तान में माध्यमिक स्कूलों से सम्बद्ध प्राइमरी कक्षाओं के विद्यार्थी प्राइमरी स्कूलों की भरती के आँकड़ों में शामिल नहीं किये जाते, जबकि इनकी संख्या माध्यमिक स्कूलों के सब विद्यार्थियों के 20 प्रतिशत से अधिक होती है।[5]

सम्भवतः आँकड़ों सम्बन्धी यह खामी विशेष रूप से पाकिस्तान में मौजूद है, जो दक्षिण एशिया क्षेत्र में शिक्षा के क्षेत्र में उपलब्धि और आर्थिक स्तर दोनों दृष्टियों से सबसे नीचे है।[6] एक जाँच से पता चला है कि अक्सर भर्ती के आँकड़ों में स्कूल के वास्तविक कार्य को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है। यदि इसका यह अर्थ समझा जाये कि जिन आँकड़ों का उल्लेख होता है, सचमुच उतने बच्चे वास्तव में स्कूल जाते हैं, तो यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

यह बात प्राइमरी स्कूलों और इससे भी अधिक लड़कों के स्कूलों की तुलना में लड़कियों के स्कूलों के बारे में दिखायी पड़ती है। अब क्योंकि स्कूलों में भर्ती के आँकड़ों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की यह प्रवृत्ति अत्यधिक गरीब देशों में सर्वाधिक दिखायी पड़ती है और इन देशों में शिक्षा की सबसे कम सन्तोषजनक व्यवस्था है, जैसे पाकिस्तान और भारत में, प्रकाशित आँकड़े इस क्षेत्र के अत्यधिक गरीब और कम गरीब देशों के बीच वर्तमान अन्तर को कम करके दर्शाने की प्रवृत्ति दिखाते हैं। यही बात इन देशों के भीतर विभिन्न अवकलों के बारे में भी सही है।

दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि स्कूलों में लड़कियों, गाँवों में बच्चों और साधारणतया अधिक गरीब ज़िलों और देशों में बच्चों के स्कूल जाने की दर उस समय बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखायी जाती है, जब स्कूलों में भर्ती की संख्या के आधार पर इसकी गणना की जाये। यदि हम विभिन्न वर्गों के आधार पर जानकारी एकत्र करते तो यह निश्चय ही स्पष्ट हो जाता कि गरीब परिवारों के बच्चों की संख्या कम रहती है और यह बात भी स्पष्ट हो जाती कि इस कम संख्या को अधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है।

एशियन ड्रामा में मैंने इस महत्त्वपूर्ण पहलू के बारे में अपने अनुमान लगाये हैं: स्कूल की शिक्षा के किसी विशेष चरण के अन्त में स्कूलों में हाज़िरी और विद्यार्थियों के निरन्तर स्कूल आने की स्थिति। भर्ती के आँकड़ों का उपयोग करते हुए, मैंने उस व्यापक जानकारी पर अपने अनुमानों को आधारित किया, जो मुझे इन देशों में सरकारी और गैर-सरकारी लोगों से बातचीत के दौरान हासिल हुई। ये अनुमान, वस्तुतः, अत्यधिक अनिश्चित हैं। लेकिन सम्भवतः ये भर्ती के आँकड़ों पर आधारित संख्याओं से बेहतर हैं। इनसे वास्तविक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित होता है और इस प्रकार ये सरकारी आँकड़ों में सुधार के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करते हैं।

मेरी राय में कम-विकसित देशों में शिक्षा-प्रणाली में दूरगामी सुधार करना विवेकपूर्ण और तर्कसंगत आयोजन के लिए एक बड़ी शर्त है और इस कार्य के लिए बहुत अधिक बेहतर आँकड़ों की आवश्यकता है, जिनसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में सही जानकारी मिलती है। उदाहरण के लिए, इस कार्य को जनगणना सम्बन्धी अध्ययनों से कहीं अधिक ऊँची प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यही कारण है कि मैंने इस अध्याय का समारम्भ शिक्षा सम्बन्धी आँकड़ों पर विचार से किया है।

शिक्षा, विकास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस बात को शिक्षा-शास्त्री और इतिहासकार सदा से समझते रहे हैं। प्राचीन लेखकों के समय से ही अर्थशास्त्री भी इस महत्त्व को समझते आ रहे हैं।[7] लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद

के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुसार अर्थशास्त्रियों ने इस बात को उस समय अधिकांशतः भुला दिया, जब उन्होंने कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं का अध्ययन शुरू किया। यह दृष्टिकोणों, संस्थाओं और रहन-सहन के अत्यधिक नीचे स्तर के उत्पादकता पर प्रभाव जैसी बातों के प्रति चिन्ता न दिखाने के सामान्य परिणाम के फलस्वरूप हुआ। रहन-सहन के निचले स्तर से शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ भी सम्बद्ध हैं।

हाल के वर्षों में अर्थशास्त्रियों के एक समूह ने विकास प्रक्रिया में शिक्षा के महत्त्व का पुनर्अनुसन्धान किया है। यह अपने-आपमें एक प्रशंसनीय कार्य है।

जैसाकि मैंने अध्याय-1 में कहा है कि इस स्थिति में उन लोगों ने अपने सतही विकास नमूनों में पूँजी निवेश की संकल्पना को केवल कुछ और व्यापक बनाया और इसमें भौतिक निवेश के साथ-साथ 'मनुष्य के लिए निवेश' को भी शामिल कर लिया और मनुष्य की भलाई के लिए निवेश को शिक्षा का ही दूसरा स्वरूप मान लिया गया। पर इसका यह परिणाम निकला कि इस स्थिति में इसे एक ऐसा वित्तीय खर्च समझ लिया गया, जिससे वित्तीय लाभ की अपेक्षा की गयी।[8]

समस्या कुछ विरोधाभासपूर्ण है, यद्यपि कम-विकसित देशों में अधिकांश वास्तविक आयोजन, और अधिकांश आर्थिक साहित्य इस विचार पर ही आधारित चला आ रहा है कि भौतिक निवेश के माध्यम से ही विकास किया जा सकता है। पर आज ऐसे अर्थशास्त्रियों की संख्या में वृद्धि हो रही है जो इस मत की निन्दा करते हैं और कम-विकसित देशों में विकास को बुनियादी तौर पर एक शिक्षा प्रक्रिया मानते हैं। लेकिन इसके बाद वे तुरन्त इस प्रक्रिया को वित्तीय मुद्रा सम्बन्धी आयोजन की बेड़ियों में कसकर दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप आचरण करने लगते हैं, जिसकी अपर्याप्तता को अध्याय-1 में स्पष्ट किया गया है।

कुछ अत्यधिक विकसित देशों में शिक्षा पर हुए व्यय के वित्तीय लाभ को मापने में इस दृष्टिकोण का उपयोग किया गया है—और यह तरीका भी सन्देह से ऊपर नहीं है।[9] किसी भी कम-विकसित देश में उपलब्ध आँकड़े इस रूप में मौजूद नहीं हैं कि इस प्रकार की किसी भी गणना का प्रयास किया जा सके।

अत्यधिक विकसित देशों में जो अध्ययन हुए, उन्हीं को उदाहरण मानकर इस 'सिद्धान्त' को कम-विकसित देशों पर भी लागू करने का प्रयास किया गया, यद्यपि इन देशों की परिस्थितियाँ हर दृष्टि से बेहद भिन्न हैं। अक्सर यह भी जोर देकर कहा जाता है कि इस दृष्टिकोण में जो विचार निहित है वह कम-विकसित देशों के लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। मात्रा के आधार पर निर्धारण की किसी भी सम्भावना के बिना दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण का यह नवीनतम रूप इस प्रकार केवल एक साधारण और अनियत अभ्युक्ति भर रहा है और यह फतवा विकास के लिए शिक्षा के अतिरिक्त महत्त्व के बारे में दिया गया है। अनेक उचित कारणों से इस दृष्टिकोण का किसी भी वास्तविक अनुसन्धान में उपयोग नहीं किया गया।

यद्यपि इस प्रकार यह हाल का दृष्टिकोण अस्पष्ट सामान्य बातों के क्षेत्र तक ही सीमित रहा, पर इससे कुछ ऐसी अनावश्यक मान्यताएँ स्पष्ट हुई जिनका स्वरूप अनुसन्धान में अवसरवादिता का समावेश करता है। इस प्रकार शिक्षा को

एक समरूप परिमाण मान लिया जाता है, जिसको वित्तीय व्यय के सन्दर्भ में लागत की दृष्टि से मापा जा सकता है। लेकिन, जैसाकि एशियन ड्रामा में बड़े विस्तार से दर्शाया गया है, और इस बात का नीचे भी उल्लेख किया गया है, शिक्षा में जिन प्रमुख सुधारों की आवश्यकता है उनका स्वरूप गुणात्मक है।

सबसे पहली बात यह है कि शिक्षा सम्बन्धी इन सुधारों का सम्बन्ध शिक्षा की मात्रा से नहीं है और वित्तीय व्यय के रूप में इसे मापने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न ज़िलों, सामाजिक वर्गों और लड़के-लड़कियों में शिक्षा का उचित प्रसार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में भी सुधार होने चाहिए कि क्या पढ़ाया जाता है, इस पढ़ाई का क्या उद्देश्य है, इसकी क्या भावना है और इसका क्या प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए, इस सम्बन्ध में शारीरिक श्रम करने की तत्परता पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश इन देशों में अधिकांश शिक्षा अब स्पष्ट रूप से कुशिक्षा बन गयी है और इससे विकास के मार्ग में निश्चित बाधा पड़ेगी।

अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पूंजी और उत्पादन के फारमूले की तरह मनुष्य में निवेश नमूना यह दर्शाता है कि वर्तमान दृष्टिकोण और संस्थाएँ तथा शिक्षा की सुविधाओं के अलावा रहन-सहन के स्तर से सम्बन्धित अन्य विषय इस समस्या के लिए कोई महत्त्व नहीं रखते और शिक्षा की समस्या के अध्ययन में अन्य समस्त नीति सम्बन्धी उपायों को भुलाया जा सकता है।[10]

अब, क्योंकि ये मान्यताएँ तर्क की दृष्टि से असंगत और यथार्थ की दृष्टि से अपर्याप्त हैं, अतः पूंजी और उत्पादन का यह विस्तारित नमूना यथार्थवादी और तर्कसंगत अनुसन्धान के मार्ग में बाधा डालता है। यद्यपि यह सूत्र अनुभवजन्य ज्ञान से पूरी तरह वंचित है, विशेषकर उत्पादन की दृष्टि से, पर यह पूरी तरह से दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुरूप कार्य करता है और अध्याय-1 में जिन अनेक अवसरवादी पूर्वाग्रहों के समूह का उल्लेख किया गया है, उनका नमूना प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि यह कम-विकसित और विकसित दोनों प्रकार के देशों में इतना अधिक लोकप्रिय बन गया है।

2. विरासत

आर्थिक समस्याओं के बारे में मैंने जो गहन अध्ययन किया है, उसका सम्बन्ध कम-विकसित संसार के उस विशाल भाग से है, जिसे मैंने दक्षिण एशिया के नाम से पुकारा है। इस अध्ययन के परिणामों को पर्याप्त विस्तार से एशियन ड्रामा के अध्याय-29 और 31-33 में दिया गया है।[11] आगामी पृष्ठों में इन समस्याओं का जो संक्षिप्त विवेचन हुआ है, वह भी इसी क्षेत्र के देशों पर केन्द्रित रहेगा और केवल इस अध्याय के अन्त में अन्य क्षेत्रों के कम-विकसित देशों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी की जायेगी।

उपनिवेशी युग की समाप्ति के समय तक जनसामान्य का किसी भी औपचारिक या विधिवत् शिक्षा से प्रायः कोई सम्पर्क नहीं हुआ था।[12] यह बात इस क्षेत्र के विशालतम देशों, भारत, पाकिस्तान और इन्दोनेशिया पर लागू होती है। इन देशों ने साक्षरता की बहुत नीची दर के साथ आज़ादी के युग में प्रवेश किया। सम्भवतः उस समय वयस्क आबादी का पाँचवें से भी कम हिस्सा

साक्षर था।

फिलीपाइन में विभिन्न कैथोलिक सम्प्रदायों के स्पेनी पादरियों और सन्तों ने नागरिक अधिकारियों के साथ घनिष्ठ सहयोग से प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में शताब्दियों से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और उच्च शिक्षा का भी प्रसार किया।[13] संयुक्त राज्य अमरीका ने भी फिलीपाइन द्वीपों में एक उपनिवेशी सत्ता के रूप में अपने थोड़े से शासनकाल में अंग्रेज़ों, डचों और फ्रांसीसियों के विपरीत जन-सामान्य की शिक्षा के ऊपर बहुत अधिक ज़ोर दिया।

श्रीलंका और दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों ने अपेक्षाकृत कुछ अधिक ऊँची साक्षरता दर के साथ स्वतन्त्रता के युग में पदार्पण किया और इसका कारण आंशिक रूप से ईसाई पादरियों की गतिविधियाँ था। यहाँ पादरियों ने देशी भाषाओं का उपयोग किया था। यद्यपि श्रीलंका में बौद्ध मठों में स्कूलों के संचालन की परम्परा ने शिक्षा के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। बर्मा और थाईलैंड में बौद्ध मठों में शिक्षा की व्यवस्था के कारण ही इन देशों में साक्षरता का ऊँचा स्तर कायम हो सका।

ऊपर जिन विविधताओं का उल्लेख किया गया है, उनके अलावा इन नये राष्ट्रों के समक्ष सर्वाधिक कठोर समस्या यही थी कि उपनिवेशी शासन से मुक्ति के समय जनसामान्य को स्वयं अपनी आबादियों के बारे में जानकारी नहीं थी। विभिन्न सीमाओं तक सब उपनिवेशी शक्तियों ने अपने शासित क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार में कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान किया। लेकिन उनकी प्रमुख दिलचस्पी का विषय—फिलीपाइन में अमरीकियों को छोड़कर—लोगों को ऐसी शिक्षा देना नहीं था, जो उनके विकास में सहायक हो सके। उनका लक्ष्य क्लर्कों, हर प्रकार के छोटे अफसरों और, विशेषकर ब्रिटिश उपनिवेशों में उच्च प्रशासनिक अधिकारियों और कुछ सीमा तक विभिन्न पेशों के लोगों को भी प्रशिक्षण देना था।[14]

इस कार्य के लिए माध्यमिक स्कूल (जिनके साथ सामान्यतया प्राथमिक स्कूल भी सम्बद्ध रहते थे) और माध्यमिक से आगे की शिक्षा देने वाले स्कूल चालू किये गये। यह बात ज़ोर देकर कहना महत्त्वपूर्ण होगा कि इन उपनिवेशों के उच्च वर्गों ने उपनिवेशी शक्तियों के अपने हित साधन के इस रुझान के साथ पूरा सहयोग किया। इन उच्च वर्गों के लोग अपने स्वामियों की सेवा कर अधिकतम लाभ उठाने के लिए बड़े व्यग्र थे।

उच्च वर्ग के बच्चों की शिक्षा के ये स्कूल नियमित रूप से 'साहित्यिक' अथवा 'शास्त्रीय' किस्म के स्कूल थे। और इस क्षेत्र में इन स्कूलों के लिए 'सामान्य' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। उस जमाने में उपनिवेशी शक्तियों के स्वयं अपने देशों में जिस प्रकार के स्कूल थे, ये स्कूल उससे भी कहीं अधिक साहित्यिक थे।[15] विज्ञान की ओर नाममात्र का ध्यान दिया गया और तकनीकी विषयों पर तो इतना भी ध्यान नहीं दिया गया। जब आगे चलकर चिकित्सा और इंजीनियरी के स्कूल शुरू हुए और अन्य प्रशिक्षण संस्थान खोले गये तो ये भी 'शास्त्रीय' स्वरूप से मामूली से ही भिन्न थे।

विद्यार्थी सामान्यतया यह आशा करते थे—और उनसे यह आशा की भी जाती थी कि वे दफ्तरों में मेज़-कुर्सी पर बैठकर काम करेंगे और मेहनत-मजदूरी के काम में अपने हाथ गन्दे नहीं करेंगे। यह प्रवृत्ति और समस्त स्कूलों

को साहित्यिक और शास्त्रीय स्वरूप प्रदान करने की स्पष्ट नीति भी उपनिवेशी शक्तियों के अपने शासित प्रदेशों में उद्योग-धन्धे शुरू करने को प्रोत्साहन न देने की नीति के अनुरूप ही थी।[16]

इसके अलावा यह उल्लेखनीय है कि माध्यमिक और माध्यमिकोत्तर शिक्षा की यह दिशा उपनिवेशकाल से पहले की सांस्कृतिक स्वाँग करने की प्रवृत्तियों और इन उपनिवेशों के उच्च वर्ग के लोगों के शारीरिक श्रम करने के विरुद्ध गहरे पूर्वाग्रह से, जो आज भी मौजूद है, मेल खाती थी। विद्यार्थियों को अध्यापकों का भाषण सुनना, पुस्तक पढ़ना और उन्हें कण्ठ करना ही सिखाया जाता था और उन्हें किसी भी प्रकार आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने और स्कूल से बाहर अपनी पढ़ायी-लिखायी जारी रखने तथा अपना शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने का कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। ये बातें उपनिवेशी युग से पहले की प्रवृत्तियों से विरासत में मिली थीं और उपनिवेशी प्रभाव ने उस स्थिति को जारी रखा।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जनसामान्य की शिक्षा की उपेक्षा कर शिक्षित उच्च वर्ग का निर्माण करके उपनिवेशी सरकारों ने निहित स्वार्थों वाले प्रभावशाली उच्च वर्ग और जनसामान्य के बीच की अलंघ्य खाई को और अधिक गहरा बनाने तथा उसे कायम रखने में सहायता दी। आनुवंशिक सामन्ती परिवारों और उच्च वर्ग के लोगों ने ही सामान्यतया अपने बच्चों को माध्यमिक स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ने भेजा।

यह तथ्य कि उच्च वर्ग अपने कार्य और अपने सामाजिक जीवन में जिस भाषा का प्रयोग करता था वह विदेशी थी, अतः वर्गों का अलगाव निरन्तर बढ़ता गया। इस सम्बन्ध में फिलीपाइन का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ उपनिवेशी शक्तियों ने—पहले स्पेन और आगे चलकर अमरीका—विदेशी भाषा को समस्त जनता की भाषा बनाने का प्रयास किया।

अध्याय-3 में मैंने उस प्रक्रिया की चर्चा की है, जिसके द्वारा उपनिवेशी शक्ति प्रायः स्वचालित ढंग से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से समर्थन की अपेक्षा करती थी और इस समर्थन को प्राप्त करने के लिए वह नये विशेषाधिकारों तक की सृष्टि करती थी। वस्तुतः उपनिवेशी शक्तियों के दृष्टिकोण से, शिक्षा प्रणाली की ग्राह्यता का एकमात्र पैमाना 'उपयोगिता' थी। यह उच्च वर्गों की दृष्टि से भी 'उपयोगी' थी, क्योंकि ये उच्च वर्ग इस प्रकार उपलब्ध लाभ का फायदा उठा सकते थे।

यहाँ एक और बात जोड़नी आवश्यक है। उपनिवेशी युग में स्कूलों की समस्त प्रणाली कॉलेजों से प्रभावित थी। जिनमें सामान्य, और गैर-पेशेवर तीसरे स्तर की शिक्षा दी जाती थी, जो सार्वजनिक सेवाओं में भर्ती के लिए आवश्यक होती थी।[17] यह जनसामान्य की शिक्षा में दिलचस्पी न रखने का एक पहलू था।

परीक्षा पास करने और समाज में अपना महत्त्व बढ़ाने को ही महत्त्व दिया जाता था और जीवनयापन तथा कार्य के लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण देने की उपेक्षा की जाती थी। सबसे अधिक यह भावना उच्च शिक्षा संस्थाओं में पढ़ायी और अध्यापन में व्याप्त थी। लेकिन यह भावना माध्यमिक स्कूलों में भी संक्रमित होती थी, जहाँ मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को इस दृष्टि से तैयार करना होता था

कि वे कॉलेज़ में भर्ती की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायें। इसी प्रकार प्राइमरी स्कूलों में भी इसी आवश्यकता पर ज़ोर दिया जाता था कि विद्यार्थियों को माध्यमिक स्कूलों में भर्ती के लिए तैयार किया जाये। यही कारण है कि शिक्षा हर स्तर पर 'साधारण', 'साहित्यिक' और 'शास्त्रीय' ही वनी रही। यह बात ब्रिटेन के उपनिवेशों की स्कूल प्रणाली पर विशेष रूप से लागू होती है, लेकिन हालैण्ड और फ्रांस के उपनिवेशों में भी इसकी कमी नहीं थी और यही वात थाईलैंड पर भी लागू होती है।

इसके परिणामस्वरूप शिक्षा ने हर स्तर पर जो रूप धारण किया, वह स्वाधीनता के युग में भी अधिक नहीं वदला है और भारत, पाकिस्तान तथा श्रीलंका में भी इसमें न्यूनतम परिवर्तन हुआ है। जैसाकि भारत की एक माध्यमिक शिक्षा समिति ने स्पष्टीकरण दिया :

"एक ओर विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं के अत्यधिक प्रभावशाली प्रभाव और दूसरी ओर सार्वजनिक सेवाओं में भर्ती के वर्तमान तरीकों का केवल माध्यमिक शिक्षा के स्वस्थ विकास पर ही वुरा प्रभाव नहीं पड़ा, वल्कि देश में समस्त शिक्षा के ऊपर वुरा प्रभाव पड़ा।"

इस समिति ने कहा कि भारत की शिक्षा-प्रणाली "परीक्षाग्रस्त है और परीक्षा का मृतभार (सर्वोच्च स्तर पर और समस्त स्कूल प्रणाली में भी) अध्यापकों की पहल करने की क्षमता पर अंकुश लगाता है, पाठ्यक्रम को घिसा-पिटा वना डालता है, अध्यापन के यान्त्रिक और प्रभावहीन तरीकों को प्रोत्साहन देता है, प्रयोग करने की समस्त भावना को निरुत्साहित करता है और शिक्षा में ग़लत अथवा महत्त्वहीन वातों पर ज़ोर देता है।" इस समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत हुए 10 वर्ष का समय वीत गया है और इस अवधि में कोई वड़ा परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ा।

इस प्रकार अनेक तरीकों से शिक्षा का नीचा स्तर शिक्षा-प्रणाली से सम्बन्धित है लेकिन, स्वयं शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के विरासत में प्राप्त वर्गस्वरूप से सम्बन्धित है। विद्यार्थी और माता-पिता, तथा प्रशासकों और अध्यापकों ने भी सब स्तरों पर पाठ्यक्रम में प्रस्तावित परिवर्तनों का विरोध किया है। और विशेषकर उन प्रस्तावों का विरोध किया है, जिनमें माध्यमिक और कॉलेज़ के स्तरों पर तकनीकी और व्यवसायोन्मुख प्रशिक्षण पर ज़ोर दिया गया है।

शिक्षा के लिए प्रभावशाली माँग 'शिक्षित' और अपनी आवाज़ उठाने में सक्षम उच्च वर्ग से ही उठती है और इसी वर्ग के हाथ में स्थानीय, प्रान्तीय और राष्ट्रीय सरकारों में अधिकांश राजनीतिक सत्ता है। 'परीक्षा का पागलपन' केवल छोटे स्कूलों पर कॉलेज़ों के अनावश्यक प्रभाव को ही प्रतिबिम्बित नहीं करता, वल्कि प्राथमिक रूप से एक असमानतावादी और आज भी अधिकांशतया गतिहीन समाज में अपनी हैसियत की चिन्ता प्रकट करता है।

दक्षिण एशिया में जहाँ कहीं अच्छा स्वतन्त्रता आन्दोलन चला वहाँ शिक्षा में सुधार को स्वतन्त्रता आन्दोलन कार्यक्रम में ऊँचा स्थान दिया गया।[18] भारत

में उपनिवेशी युग के अन्तिम दशकों में शिक्षा में ऐसे सुधार की दिशा में प्रयत्न शुरू हुए, जब अंग्रेज़ों ने प्रान्तीय स्वशासन की पर्याप्त छूट दी। यह छूट शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से दी गयी।

स्वाधीनता की प्राप्ति पर श्री नेहरू ने और अन्य देशों के नेताओं ने इस बात पर ज़ोर दिया कि समस्त शिक्षा-प्रणाली को 'क्रान्तिकारी रूप से बदल डालना चाहिए।'[19] लेकिन वस्तुतः यह कार्य भारत अथवा दक्षिण एशिया के अन्य किसी देश में नहीं हुआ। बस, श्रीलंका में कुछ सीमा तक यह काम हुआ। उपनिवेशी युग से जिस रूप में शिक्षा-प्रणाली विरासत में मिली थी, उसमें प्रमुख सुधार करने का कार्य आज भी अधिकांशतया अधूरा पड़ा है।

भारत के एक प्रमुख अर्थशास्त्री, जे० पी० नायक ने, जो आगे चलकर शिक्षा आयोग के सदस्य-सचिव बने, 1965 में इन शब्दों में यह विचार व्यक्त किया :

"पिछले 16 वर्षों में (भारत में) जो कुछ हुआ है, वह पहले की प्रणाली का विस्तार भर है और शिक्षा की विषयवस्तु और शैली में कुछ मामूली से ही परिवर्तन किये गये हैं।"

वस्तुतः इसका स्पष्टीकरण यह है कि स्वाधीनता ने लोगों अथवा उनके समाज में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। शिक्षा व्यवस्था कहीं अधिक विशाल संस्थागत प्रणाली का एक अंग है, जिसमें सामाजिक और आर्थिक वर्गीकरण, सम्पत्ति का वितरण और सत्ता का संगठन शामिल है। शिक्षा-प्रणाली में क्रान्ति का यह अभिप्राय होगा कि इन देशों में एक सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भी हो और अक्सर ग़लत ढंग से यह कहा जाता है कि ये देश इस क्रान्ति से गुज़र रहे हैं (अध्याय-3)।

वस्तुतः स्कूल प्रणाली के बाहरी ढाँचे तक को उसी प्रकार सुरक्षित रखा गया है। कॉलिज़ों की परीक्षा प्रणाली के माध्यम से हर स्तर पर शिक्षा के निरन्तर प्रभावित रहने के कारण, विद्यार्थियों को सार्वजनिक सेवाओं में भर्ती करने के प्रभाव का उल्लेख किया जा चुका है।

उपनिवेशीयुग की विरासत के एक अंग के रूप में हर स्तर पर अनेक स्कूल, जिनमें कॉलिज़ भी शामिल हैं, निजी प्रबंध के अधीन काम करते हैं, यद्यपि इन्हें अधिकांश सहायता सार्वजनिक कोष से मिलती है।[20] इसके परिणामस्वरूप निर्देशन, निरीक्षण और नियन्त्रण की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और इनसे स्कूल प्रणाली के सुधारों के मार्ग में सामान्यतया बाधा पड़ती है।

श्रीलंका को छोड़कर दक्षिण एशिया के किसी भी देश में इन समस्याओं को सुलझाया नहीं जा सका है। श्रीलंका ने लगभग 10 साल पहले केवल उन कुछ गिने-चुने निजी स्कूलों को छोड़कर, जिन्होंने राज्य से कोई भी सहायता न लेने का निश्चय किया, अन्य सब स्कूलों के मध्य समन्वय स्थापित करने का निर्णय किया। इसका उद्देश्य "उपलब्ध सुविधाओं का अधिक न्यायोचित वितरण करने और द्वीप के समस्त भागों के बच्चों को शिक्षा की समान सुविधाएँ उपलब्ध कराने" की गारण्टी देना था।

जब भारत में केरल की प्रथम सम्मिलित सरकार ने इसी दिशा में कार्रवाई करने के लिए कानून बनाने के लिए कदम उठाया तो उसे उग्र-प्रदर्शनों का सामना करना पड़ा और आगे चलकर नयी दिल्ली की केन्द्रीय सरकार ने सरकार की

अपदस्थ कर दिया और राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया। केरल सरकार ने अपनी कार्रवाई में योजना आयोग की उन सामान्य सिफारिशों पर कार्रवाई की थी, जिनका उल्लेख दूसरी पंचवर्षीय योजना में किया गया था, लेकिन यह बात केरल की कम्युनिस्ट सरकार के लिए सहायक सिद्ध नहीं हुई। इस बात से भी सहायक नहीं बन पाती कि समस्त विकसित देशों में स्कूल प्रणाली के ऊपर राज्य सत्ता का यह प्रभाव कायम है। और अनेक देशों में तो एक शताब्दी या इससे भी अधिक समय से यह स्थिति है।

उपनिवेशी काल की एक और विरासत सार्वजनिक और निजी, दोनों प्रकार के स्कूलों में विद्यार्थियों से ली जाने वाली फीस है।[21] यहाँ भी श्रीलंका की स्थिति भिन्न है। इसने समस्त स्कूलों में, जिनमें उच्च शिक्षा संस्थाएँ अर्थात् कॉलिज भी शामिल हैं, निःशुल्क शिक्षा का सिद्धान्त स्वीकार किया है। यह सिद्धान्त केवल उन गिने-चुने निजी स्कूलों पर लागू नहीं होता, जिन्होंने सरकार से कोई भी सहायता न लेने का निश्चय किया है। अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दक्षिण एशिया के अन्य देशों में भी प्राइमरी शिक्षा निःशुल्क होती जा रही है, क्योंकि ये स्कूल सार्वजनिक हैं।

ये बातें और उपनिवेशी युग से विरासत में प्राप्त स्कूल प्रणाली को सामान्यतया बड़ी निष्ठा से उसी रूप में बनाये रखने का प्रयास, संस्थागत ढाँचे के रूप में इसकी अत्यंन्त निष्क्रियता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस प्रणाली में प्रशासकों, अध्यापकों, विद्यार्थियों और सबसे अधिक शक्तिशाली उच्च वर्ग के परिवारों के शक्तिशाली स्वार्थ निहित हैं, जो यह नहीं चाहते कि किसी भी रूप में उनकी प्रभावशाली स्थिति पर आँच आये, जिसे उपनिवेशी युग से विरासत में मिली इस शिक्षा-प्रणाली से अत्यन्त सहारा मिलता है।

पर एक विचार ऐसा है, जिसे प्रकट रूप से बड़े संकल्प के साथ निरन्तर अभिव्यक्त किया जाता है और प्रायः कभी भी इसका विरोध नहीं होता : लोकप्रिय शिक्षा का विस्तार और निरक्षरता की समाप्ति।

सन् 1960 से आरम्भ दशक के आरम्भिक वर्षों के आँकड़ों के अनुसार—यही आँकड़े अधुनातन हैं—दक्षिण एशिया में साक्षरता की दर[22] अनेक देशों के आर्थिक स्तरों के साथ-साथ कम और ज्यादा होती जाती है।[23] इस क्षेत्र के सबसे गरीब देश पाकिस्तान में 15 वर्ष से अधिक उम्र के केवल तिहाई पुरुष और केवल 6 प्रतिशत स्त्रियाँ ही साक्षर थीं; अथवा इनके साक्षर होने का दावा किया गया। भारत के लिए ये आँकड़े क्रमशः 40 और 13 और इन्दोनेशिया के लिए लगभग 60 और 30 हैं। बर्मा के सम्बन्ध में ये आँकड़े, जो सम्भवतः सबसे कम सही होंगे, लगभग 80 और 40 हैं।

ऊपर के आर्थिक स्तरों में श्रीलंका 80 और 60 से ऊपर पहुँच गया है और मलाया[24] भी अधिक पीछे नहीं होना चाहिए। यद्यपि उपलब्ध आँकड़े 1950 से आरम्भ दशक के अन्तिम वर्षों के ही हैं। मध्यम आर्थिक स्तर के रूप में थाईलैण्ड से 80 और 60 के आँकड़े प्राप्त हुए और फिलीपाइन में स्त्री और पुरुषों, दोनों के लिए 70 का आँकड़ा दिया गया। अधिक गरीब देशों ने, लेकिन सदा सबसे अधिक गरीब देशों ने नहीं, (और बर्मा ने भी) गाँवों की आबादी के लिए पर्याप्त नीची संख्याएँ दिखायीं और शहरी इलाकों के लिए इनसे अधिक ऊँचे आँकड़े दिये

गये ।

मैंने साक्षरता सम्बन्धी ये आँकड़े, जिन्हें अधिकांशतया जनगणना की रिपोर्टों से लिया गया है, इसलिए उद्धृत किये हैं क्योंकि इनसे दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों के स्तरों का मोटे तौर पर आभास मिल सकता है। यद्यपि बर्मा और सम्भवतः थाईलैण्ड को भी बहुत ऊँचा दर्शाया गया है। अधिक सामान्य दृष्टि से, जैसाकि मैं उल्लेख कर चुका हूँ, इन आँकड़ों के सही होने के बारे में ही अधिकतम सन्देह नहीं है, बल्कि इन आँकड़ों के अर्थ के बारे में भी इसी प्रकार सन्देह बना हुआ है। अधिकांश मामलों में ये साक्षरता के स्तर को बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाते हैं और यदि इस शब्द के साथ 'उपयोगी साक्षरता' के विचार को जोड़ दिया जाये तो यह और भी अधिक बढ़े-चढ़े दिखायी पड़ने लगते हैं, क्योंकि उपयोगी साक्षरता के अर्थ के अनुसार साक्षर व्यक्ति में अपने जीवन और कार्य में अपनी साक्षरता का किसी-न-किसी सीमा तक उपयोग करने की क्षमता होनी चाहिए। साक्षरता की समस्त परिभाषाएँ पढ़ने और लिखने की क्षमता के रूप में ही दी जाती हैं। पर यह स्पष्ट है कि गणना करने की क्षमता जीवन की अधिकांश परिस्थितियों में केवल इतनी ही नहीं, बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक होती है।

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में निरक्षरता को समाप्त करने को प्रमुख स्थान दिया गया था।[25] स्वतन्त्रता के बाद भी इस आदर्श को निरन्तर सामने रखा गया है। दक्षिण एशिया के अन्य समस्त देशों ने अनेक क्षेत्रीय सम्मेलनों में इसी लक्ष्य को पूरा करने के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये हैं।[26]

देश की समस्त आबादी को यथाशीघ्र साक्षर बनाने के लक्ष्य को सर्वोच्च महत्त्व देना, उपनिवेशी युग की विशिष्ट लोगों की विचारधारा से अत्यन्त प्रमुख रूप से भिन्न विचार है। यह विचार आधुनिकीकरण के आदर्शों से मेल खाता है, जिन्हें मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में अध्याय-1 में वर्णित कारणों से अंगीकार किया गया है।[27]

समस्त व्यवसायों में, जिनमें कृषि भी शामिल है, उच्च कुशलता प्राप्त करने के लिए साक्षरता की आवश्यकता होती है। इसके अलावा सरकार जिन अनेक प्रकार के स्थानीय और कार्य सम्बन्धी सहयोगों को चालू करने का प्रयास कर रही है, उन्हें अधिक कार्यकुशल बनाने के लिए भी साक्षरता की आवश्यकता है। वस्तुतः, यह समस्त मानव सम्बन्धों में अधिक तर्कसंगत दृष्टिकोण प्राप्त करने और अपनाने के लिए जरूरी है।

यह सच है कि किसी भी देश के लिए केवल 'यन्त्रवत् साक्षरता' का प्रायः कोई महत्त्व नहीं है। इस बात पर यूनेस्को ने उस लम्बी अवधि में जोर दिया, जब साक्षरता के महत्त्व का अधिक बखान न करते हुए 'बुनियादी शिक्षा' अथवा 'सामाजिक शिक्षा' का प्रचार किया गया।[28] लेकिन साक्षरता को लोकप्रिय शिक्षा के अन्य समस्त अच्छे उद्देश्यों की समता में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि बुनियादी तौर पर यह एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा अन्य कुशलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

लेकिन यदा-कदा यह कहा जाता है कि आर्थिक विकास के लिए सबसे पहले कम-विकसित देशों को माध्यमिक शिक्षा के विस्तार की आवश्यकता होती है। चाहे इसका अर्थ प्राथमिक और वयस्क शिक्षा के विस्तार की गति को धीमा

करना ही क्यों न हो। विकास पर इस ज़ोर के बावजूद, यह विचार, और जिसके बारे में पश्चिम के विशेषज्ञों में कुछ सहमति है, बड़ी घनिष्ठता से उस पुरानी उपनिवेशी व्यवस्था का समर्थन करता है, जिसमें उच्च शिक्षा प्राप्त विशिष्ट लोगों की सेवा के लिए सहायकों के रूप में काम करने वाले निचले स्तर के तकनीकी कर्मचारियों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था रहती थी, चाहे जन-सामान्य अज्ञान के गर्त में ही क्यों न पड़ा रहे।

इस प्रकार की तर्क प्रक्रिया के विरुद्ध यह बात कही जा सकती है कि अनुभव यह दर्शाता है कि इस तरीके से पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास नहीं होगा, बल्कि अर्थव्यवस्था के भीतर कुछ हिस्सों का विकास होगा और शेष भाग विकास से वंचित बना रहेगा। जनता के व्यापक सहयोग से एक संगठित राष्ट्र के निर्माण के किसी भी प्रयास में बहुत व्यापक साक्षरता की आवश्यकता होती है। प्रभावशाली राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना के किसी भी प्रयास में इसकी आवश्यकता इसी प्रकार स्पष्ट है।

यदि व्यापक साक्षरता को यथासम्भव पूरा किया जाने वाला लक्ष्य स्वीकार किया जाये, तो हमें यह देखना होगा कि जिन नीतियों को अपनाया जाता है वे किस सीमा तक इस लक्ष्य से मेल खाती हैं।

लम्बे अरसे तक यूनेस्को और अधिकांश कम-विकसित देशों ने, जिनमें दक्षिण एशिया के देश भी शामिल हैं, इस लक्ष्य को "निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के माध्यम से सार्वभौम साक्षरता" बताकर इसकी परिभाषा दी। दूसरे शब्दों में, उन्होंने इस लक्ष्य को पूरा करने का यह अभिप्राय समझा कि साक्षरता की स्थापना के लिए प्राइमरी स्कूलों में जाने वाले बच्चों की संख्या में बहुत अधिक लम्बी अवधि में वृद्धि की जाये।[29]

इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि दक्षिण एशिया के देशों ने वयस्क शिक्षा को बहुत नीचा स्थान दिया, विशेषकर साक्षरता कक्षाओं को।[30] मेरी राय में यह एक बहुत गम्भीर गलती है।

स्वयं यूनेस्को ने यह संकेत दिया है कि यदि हर वर्ष पर्याप्त संख्या में निरक्षर वयस्कों को साक्षरता पाठ्यक्रम के माध्यम से लिखना-पढ़ना सीखने का अवसर दिया जाये तो पर्याप्त कम समय में निरक्षरता को समाप्त करने की अच्छी सम्भावना है। विकसित देशों की तुलना में, जहाँ प्रायः सब लोग साक्षर हैं, कम-विकसित देशों में वयस्क शिक्षा केवल अधिक महत्त्वपूर्ण ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि इससे बिल्कुल भिन्न समस्याएँ सामने आती हैं।

एक बात यह भी है कि वयस्क शिक्षा, जिसमें साक्षरता पर ज़ोर दिया जाये, बच्चों की स्कूली शिक्षा को और अधिक प्रभावशाली बनायेगी। हमें जो भी जानकारी उपलब्ध है, उससे यह स्पष्ट होता है कि निरक्षर माता-पिता के बच्चे पढ़ाई-लिखाई में पिछड़ जाते हैं और अक्सर ये स्वयं निरक्षरता के गर्त में जा गिरते हैं।

निरक्षर परिवार और गाँव के वातावरण का हानिकारक प्रभाव स्कूल से पहले के वर्षों में शुरू हो जाता है और ये ऐसे वर्ष हैं, जो बच्चे की अभिरुचि के निर्माण में सहायक बनते हैं। इन्हीं वर्षों में उसके दृष्टिकोणों का निर्माण होता है, जो निरन्तर कायम रहने की प्रवृत्ति दिखाता है। इसके अलावा निरक्षर माता-

पिता अक्सर अपने बच्चों को स्कूलों में भर्ती कराने और उन्हें निरन्तर स्कूल जाने देने के प्रति कम उत्सुक होते हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे इस बात को समझाया जा सकता है कि प्राइमरी स्कूलों में नाम लिखवाने के बाद बड़ी संख्या में बच्चे बाद में स्कूल जाना बन्द कर देते हैं और अनेक बच्चे बार-बार एक ही कक्षा में पढ़ते हैं। यह स्थिति अधिक गरीब देशों, जिलों और वर्गों में विशेष रूप से विद्यमान है, जहाँ साक्षरता की दर नीची है।[31] हम इस समस्या पर आगे विचार करेंगे।

दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों में ऐसे अनेक संगठन हैं, जो वयस्क शिक्षा के प्रसार में लगे हैं और अधिकांश योजनाओं में इस विषय की पूरी उपेक्षा भी नहीं हुई है। लेकिन इसका विशेष लाभ भी नहीं मिला है। भारत में जे० पी० नाइक ने 1965 में इन शब्दों में स्थिति को व्यक्त किया :

"वयस्क निरक्षरता को समाप्त करना राष्ट्रीय विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है और इस पर कृषि उत्पादन, परिवार नियोजन आदि अनेक कार्यक्रम निर्भर करते हैं। इस क्षेत्र की अपराध की सीमा तक उपेक्षा हुई है और यह अत्यन्त वांछनीय है कि इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कार्यक्रम चलाया जाये और कुछ ही वर्षों में व्यापक निरक्षरता को समाप्त कर दिया जाये—अधिक से अधिक 5 अथवा 10 वर्षों में यह काम पूरा किया जाना चाहिए।" आगे चलकर शिक्षा आयोग (1963-66) ने अपने सदस्य-सचिव के इन विचारों का समर्थन किया और बहुत दूरगामी महत्त्व के व्यावहारिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किये और चौथी पंचवर्षीय योजना की तैयारी के समय वयस्क शिक्षा के लिए 12 गुनी अधिक राशि निर्धारित करने का प्रस्ताव किया गया। समस्त शिक्षा परिव्यय में इसके हिस्से को 1.4 प्रतिशत से बढ़ाकर 5.6 प्रतिशत कर दिया गया। पर इन दूरगामी प्रस्तावों को इसके बाद चुपचाप दफ़ना दिया गया।

कुछ सीमा तक इन्दोनेशिया इसका अपवाद है। इन्दोनेशिया ने इस क्षेत्र में साक्षरता के निम्नतर स्तरों से ऊपर उठने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह कार्य प्रशंसनीय गति से किया गया। फिलीपाइन तक में वयस्क शिक्षा के बारे में कहीं अधिक दिलचस्पी दिखायी गयी और यह दिलचस्पी उसी समय से प्रदर्शित की गयी, जब फिलीपाइन अमरीकी उपनिवेश था।

समग्र दृष्टि से यह आलोचना 'स्वतन्त्र संसार' के प्रायः सब कम-विकसित देशों पर लागू होती है। यद्यपि इस पुस्तक में मैंने सामान्यतया कम्युनिस्ट देशों से तुलनाएँ नहीं की हैं, लेकिन यह बात उल्लेखनीय है कि कम्युनिस्ट देशों में इस सम्बन्ध में बिलकुल भिन्न तरीका अपनाया गया है। जब कभी किसी देश में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना होती है तो सामान्यतया कुछ ही वर्षों के भीतर देश के समस्त लोगों को साक्षर बनाने का सशक्त अभियान छेड़ दिया जाता है।

इस नीति में कोई भी बात खास कम्युनिस्ट ढर्रे की नहीं है। इसका मूल ज़ारशाही के अन्तिम दशकों में रूस के विद्रोही विद्यार्थियों के कार्यों में निहित है। ये विद्यार्थी गाँवों में जाते थे और किसानों को पढ़ना, लिखना और गणना करना सिखाते थे। जब कम्युनिस्टों के हाथ में सत्ता आयी तो उन्होंने इस तरीके को सरकारी नीति बना दिया। उन्होंने साक्षरता अभियान को समाप्त किया पर उस समय तक रूस में प्रायः सार्वभौम साक्षरता की स्थिति कायम हो चुकी

थी। कम-से-कम युवा पीढ़ी के बारे में यह बात सही थी।

डब्ल्यू० एस० वोयतिन्स्की ने भारत सम्बन्धी अपनी एक पुस्तक में अपनी युवावस्था के रूस के अनुभवों का स्मरण करते हुए विचार प्रकट किये हैं :

"हमें भारत में इस अभियान जैसी कोई बात दिखायी नहीं पड़ी। हमने विश्वविद्यालयों के युवक स्नातकों की व्यापक बेरोजगारी की शिकायतें सुनीं, लेकिन हमें इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला : '10 लाख ग्रेजुएटों को गाँवों में लोगों को पढ़ाने के लिए क्यों संगठित नहीं किया जा सकता ?' यदि भारत के बुद्धिवादी गाँवों में प्राथमिक शिक्षा की उस तात्कालिक आवश्यकता का अनुभव करते, जो मेरी जवानी के दिनों में रूस के बुद्धिवादी करते थे तो इस प्रकार शिक्षित नवयुवकों को संगठित करना कठिन न होता।"[32]

वोयतिन्स्की के प्रश्न का यही उत्तर है कि भारत और गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित संसार के अधिकांश शेष देशों के युवक बुद्धिवादी उस कठोरता से गठित विशिष्ट लोगों और वर्ग पर आधारित ढाँचे से, जिसमें उनका लालन-पालन हुआ है, इस प्रकार प्रभावित हैं कि वे उस प्रकार अपने देश के गरीब लोगों से गहराई से स्वयं को सम्बद्ध अनुभव नहीं करते, जिस प्रकार रूस के बुद्धिवादी अनुभव करते थे। ये उस समय भी यह अनुभव नहीं करते, जब कुछ देशों में इन्हें बड़ी गहराई से आमूल परिवर्तनवादी विचारों का पाठ पढ़ाया जाता है। यह सशक्त वर्गों पर आधारित समाज के विनाशकारी प्रभावों का एक उदाहरण है, जो इन देशों को उपनिवेशी युग से विरासत में मिला है।

केवल संयुक्त राज्य अमरीका में ही नहीं, बल्कि पश्चिम के अन्य विकसित देशों में भी संगठित 'शान्ति दलों' की समस्याओं पर विचार के बिना ही यह उल्लेख किया जा सकता है कि मेजबान देशों को यह विचार कैसा विचित्र लगता होगा। पश्चिम के विकसित देशों के शिक्षित युवकों को टोलियों में संगठित कर हज़ारों मील दूर कम-विकसित देशों में भेजा जाता है। अक्सर इन्हें गाँवों में जाकर गरीब लोगों को सहायता देने और पढ़ाने के लिए भेजा जाता है। पर इस बीच स्वयं इन देशों के स्नातक यह करने की बात तक नहीं सोचते, बल्कि 'शिक्षित बेरोजगारों' के रूप में शहरों में भीड़ बढ़ाने के लिए इकट्ठा रहते हैं[33] अथवा अपनी सरकारों पर इस बात का ज़ोर डालते हैं कि वे उनके लिए 'उपयुक्त' नौकरियों की व्यवस्था करने के लिए प्रशासनिक कर्मचारियों की संख्या में आवश्यकता से अधिक वृद्धि करें।

एक बात निश्चित है : 'शिक्षित' लोगों के दृष्टिकोणों में बुनियादी परिवर्तन आये बिना, कम-विकसित देशों में बड़े पैमाने पर वयस्क शिक्षा अभियान सम्भव नहीं हैं। स्वयं विश्वविद्यालयों को इस प्रयास में लगना चाहिए। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि अपने देशों की अत्यधिक जटिल और तात्कालिक समाधान की अपेक्षा रखने वाली समस्याओं के समीप जाकर अध्यापकों और विद्यार्थियों, दोनों का भला होगा। और इस प्रकार इनका अध्ययन और इनका जीवन अधिक उद्देश्यपूर्ण और अधिक सार्थक हो सकेगा।

यदि यह मान लिया जाये कि ऐसा बुनियादी परिवर्तन लाया जा सकता है, तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार किसी ऐसे कम-विकसित देश में, जहाँ बहुत निरक्षरता हो, एक बड़ा वयस्क शिक्षा कार्यक्रम किस प्रकार

संगठित किया जा सकता है। पश्चिमी देशों के तरीकों और व्यवहारों को जैसे का तैसा अपनाना बुद्धिमत्ता नहीं होगी, जहाँ वयस्क शिक्षा का एकदम भिन्न कार्य है और जहाँ बिल्कुल भिन्न किस्म का विद्यार्थी होता है।[34]

प्रायः पूरी तरह से नये दृष्टिकोणों की आवश्यकता हो सकती है। पश्चिम के शहरीकृत देशों से प्राप्त नमूनों को, जिनके अनुसार केवल बच्चों को स्कूलों में रखा जाता है और इसके बाद वयस्कों के लिए 'कक्षाओं' की व्यवस्था की जाती है, कम-विकसित देशों में इसी रूप में स्वीकार करना सम्भव न होगा। यह बहुत सम्भव दिखायी पड़ता है कि परिवारों अथवा पूरे समुदायों को एक साथ पढ़ाना अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

लेकिन, बुनियादी प्रश्न फिर भी कायम रहता है : वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में इससे पहले कुछ भी ठोस कार्य कर पाना कैसे सम्भव है, जब तक अधिकांश कम-विकसित देशों में निरन्तर अधिक असमान होता जा रहा सामाजिक और आर्थिक ढाँचा दूरगामी सुधारों अथवा क्रान्ति के द्वारा तोड़ नहीं डाला जाता? यह वैसी ही समस्या है, जिसे हमने अध्याय-4 में उठाया और यह स्पष्ट किया कि कृषि सम्बन्धी सुधारों का अभाव किस प्रकार खेती की उन्नति के मार्ग में निषेधों और बाधाओं का निर्माण करता है।

3. स्कूल प्रणाली

जब वयस्कों को शिक्षा देने के प्रयासों को एक ओर उठाकर रख दिया गया—और यह बात वस्तुतः स्कूलों की नौकरशाही व्यवस्था के निहित स्वार्थों के अनुरूप थी—तो साक्षरता के लक्ष्य को प्राइमरी स्कूलों में बच्चों की भर्ती की संख्या में तेजी से वृद्धि के कार्यक्रम में बदल दिया गया।[35]

भारत के 1950 के संविधान में बड़े साहस से यह बात कही गयी थी कि 10 वर्ष की अवधि में 14 वर्ष तक की उम्र के समस्त बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था हो जानी चाहिए। 1951 में इन्दोनेशिया की सरकार ने 1961 तक समस्त बच्चों के लिए सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य अपने सामने रखा।

दक्षिण एशिया के अन्य देश इससे कुछ अधिक सावधान रहे, यद्यपि उनके देशों में साक्षरता का अधिक ऊँचा स्तर था और प्राथमिक स्कूलों की संख्या भी अधिक थी। लेकिन 1959 की तथाकथित कराची योजना में यूनेस्को के एशियाई सदस्य देशों के शिक्षा मन्त्रियों ने इस व्यवस्था पर सहमति प्रकट की कि कम-से-कम सात वर्ष की अनिवार्य, सार्वभौम और निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा की 1980 तक व्यवस्था हो जानी चाहिए।

इन अवास्तविक लक्ष्यों को पूरा करने में बहुत पीछे रहने के लिए इनमें से अधिकांश देशों की आलोचना करने की कोई तुक नहीं है। प्राइमरी स्कूलों में विद्यार्थियों की भर्ती में अधिक वृद्धि करने की कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं। विशेषकर अधिक गरीब देशों में। साधारणतया, दक्षिण एशिया में सब बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करना विकसित देशों की तुलना में एक कहीं अधिक कठिन और व्ययसाध्य कार्य होगा। एक बात तो यह है कि स्कूल जाने वाले बच्चों का आबादी में बहुत ऊँचा प्रतिशत है।

दूसरी बात यह है कि दक्षिण एशिया के देशों और विशेषकर इनमें से सबसे

अधिक गरीब देशों में वह आधार विशेषकर मौजूद नहीं है, जिस पर आगे निर्माण किया जा सके। इन सब देशों को प्राइमरी स्कूलों में बच्चों के बहुत छोटे अनुपात से कार्य आरम्भ करना है। इसके अलावा स्कूल चलाने के लिए जिन चीज़ों की आवश्यकता होती है, उनकी भी कमी है: स्कूल की इमारतें, अध्यापक, पाठ्यपुस्तकें, लिखने का कागज़ आदि।

लेकिन इससे भी अधिक उचित आलोचना दूसरी हीहै। यद्यपि प्राइमरी शिक्षा को प्राथमिकता देने का घोषित उद्देश्य यह था कि आवादी की साक्षरतादर को ऊँचा उठाया जा सके। लेकिन वास्तव में यह हुआ कि माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या कहीं तेज़ रफ्तार से वढ़ी और कॉलेजों में विद्यार्थियों की संख्या तो इससे भी तेज़ी से बढ़ी।[36]

इस वात की पर्याप्त स्पष्ट प्रवृत्ति मौजूद रहती है कि प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा की व्यवस्था के जो लक्ष्य योजनाओं में रख जाते हैं, वे पूरे नहीं होते। जवकि माध्यमिक और विशेषकर कॉलेज़ स्तर पर इनकी प्रस्तावित से भी कहीं अधिक वृद्धि होती है। यह कार्य इस तथ्य के वावजूद हुआ कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था से 3 से 5 गुना अधिक व्ययसाध्य होती है और कॉलेज शिक्षा पर माध्यमिक शिक्षा से 5 से 7 गुना अधिक व्यय आता है।[37]

यह तथ्य और भी विलक्षण है कि ये प्रवृत्तियाँ पाकिस्तान, भारत, वर्मा और इन्दोनेशिया जैसे निर्धनतम देशों में अधिक तीव्र दिखायी पड़ती हैं, जिनमें प्राइमरी स्कूलों में जाने वाले वच्चों की संख्या वहुत कम है और जिन्हें इसी कारण से प्राइमरी शिक्षा के कार्यक्रम को सर्वोच्च प्राथमिकता देकर लागू करना चाहिए। निर्धनतम देश ही प्राथमिक शिक्षा पर सबसे कम, तुलनात्मक दृष्टि से भी सबसे कम, धन खर्च कर रहे हैं।[38]

ये प्रेक्षण मुख्यतया भर्ती के आँकड़ों पर आधारित हैं, लेकिन वित्तीय आँकड़ों पर भी इन्हें आधारित किया गया है, पर दुर्भाग्यवश ये आँकड़े पूरी तरह अनिश्चित हैं। लेकिन जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भर्ती के आँकड़ों में प्राइमरी स्कूलों के सम्वन्ध में स्कूलों में उपस्थिति को वढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया जाता है, यद्यपि यह वात माध्यमिक स्कूलों के वारे में इतनी सही नहीं है। ये आँकड़े निर्धनतम देशों में अधिक वढ़ा-चढ़ाकर दर्शाये गये हैं, जहाँ सबसे कम विद्यार्थी स्कूलों में भर्ती हुए हैं।[39] इन दोनों कारणों से अधिक निर्धन देशों में उससे कहीं कम प्राथमिक शिक्षा का प्रचार हुआ है, जितना भर्ती के आँकड़ों से दर्शाया जाता है। अपने लक्ष्यों और घोषित कार्यक्रम की तुलना में तो वृद्धि और भी कम बैठती है।

जव यह होता है तो इसका यह अभिप्राय निकलता है कि स्कूल प्रणाली को परम्परागत मुक्त व्यापार के तरीके से आगे बढ़ने की छूट दी गयी है और उन पहले से प्रवाहित धाराओं में विद्यार्थियों की संख्या को बिना किसी हस्तक्षेप के निरन्तर वढ़ने दिया गया है। और यदि कहीं कोई प्रयास किया गया तो केवल यह कि जहाँ समाज का अधिकतम दबाव था वहाँ इन धाराओं को और चौड़ा वना दिया गया।[40] जो लोग दबाव डाल सकते हैं, वे उच्च वर्ग के विद्यार्थी और माता-पिता हैं। उच्च स्कूल और कॉलेज उच्च वर्ग के लोगों की ही आवश्यकताओं

को पूरा करते हैं और यह बात निर्धनतम देशों के बारे में विशेष रूप से सही है। यहाँ हम यह देखते हैं कि किस प्रकार स्कूल प्रणाली का निर्धारण असमान आर्थिक और सामाजिक वर्गीकरण तथा सत्ता के असमान वितरण के द्वारा होता है।

दक्षिण एशिया के अनेक देशों में शिक्षा की प्रगति के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लक्ष्यों को पूरा करने में जो अन्तर हैं, उनका आर्थिक स्तरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस क्षेत्र के दो छोटे और अपेक्षाकृत सबसे कम गरीब देशों, श्रीलंका और मलाया में, अब यह स्थिति आ गयी है, जब बड़ी संख्या में बच्चे प्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा में नाम ही नहीं लिखाते, बल्कि पाठ्यक्रम की समाप्ति तक पढ़ते भी हैं। वस्तुतः, इन देशों में बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा का बड़ी तेजी से वह स्तर कायम होने जा रहा है, जो कुछ पीढ़ी पहले पश्चिम के विकसित देशों में था।[41]

दूसरी ओर भारत और पाकिस्तान में तथा सामान्य रूप से अधिक गरीब देशों में प्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा में अपेक्षाकृत कम बच्चे भर्ती होते हैं। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस बात को बर्बादी और 'गतिहीनता' कहा जाता है, उसकी दर इस क्षेत्र में बड़ी ऊँची है। जो बच्चे नाम लिखवाते हैं, वे कुछ समय के बाद स्कूल जाना बन्द कर देते हैं अथवा नियमित रूप से कक्षाओं में नहीं आते। यदि वे स्कूल आना बन्द नहीं करते, तो बार-बार एक ही कक्षा में पढ़ते रहते हैं, जो अक्सर स्कूल से हट जाने की भूमिका होती है।[42] सामान्यतया जितने बच्चे आरम्भ में प्राइमरी स्कूल में अपना नाम लिखाते हैं, उनमें से आधे से कम ही प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पूरी करते हैं। अधिकांश अधिक गरीब देशों में प्राइमरी स्कूलों में पढ़ाई की अवधि भी कम होती है।

जो बच्चे प्राइमरी स्कूलों की शिक्षा पूरी नहीं कर पाते और वे भी जो पूरी कर लेते हैं, उन्हें अधिक उपयोगी साक्षरता प्राप्त नहीं होती। एक ऐसे वातावरण में, जहाँ अधिकांश वयस्क निरक्षर हैं, इस बात का खतरा बना रहता है कि उन्होंने जो कुछ साक्षरता प्राप्त की है, वह भी समाप्त हो जाये।[43] भारत के शिक्षा आयोग ने अपनी 1966 की रिपोर्ट में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया :

"......[भारत में] प्राइमरी शिक्षा-प्रणाली पहले की तरह ही प्रभावहीन और बर्बादी से भरी हुई है और जो अनेक बच्चे इस प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त करते हैं उन्हें या तो उपयोगी साक्षरता प्राप्त नहीं होती अथवा इसके जल्दी बाद ही फिर निरक्षरता की स्थिति में पहुँच जाते हैं। यदि हम निरक्षरता की समाप्ति के लिए केवल इसी कार्यक्रम पर अपनी निर्भरता जारी रखेंगे तो हम सन् 2000 ई० तक भी अपना लक्ष्य पूरा नहीं कर सकेंगे।"

पाकिस्तान में तो स्थिति इससे भी बहुत बुरी है। जबकि भारत में सम्भवतः 3 में से 1 बच्चा ही प्राइमरी स्कूलों में अपना नाम लिखवाता है और प्राइमरी शिक्षा पूरी करता है पर पाकिस्तान में 6 में से एक बच्चा यह कार्य करता है। बर्मा इन दोनों के बीच कहीं है। फिलीपाइन और थाइलैण्ड में, जहाँ अपेक्षाकृत अधिक बच्चे पहली कक्षा में नाम लिखाते हैं, बच्चों के बीच में ही स्कूल छोड़ देने का बहुत ऊंचा प्रतिशत कायम है। इन्दोनेशिया की स्थिति कुछ बेहतर है,

लेकिन बहुत बेहतर नहीं है।

अनियमित हाजिरी, एक ही कक्षा में बार-बार पढ़ना और बीच में ही स्कूल छोड़ जाना, साधनों की अत्यधिक बर्बादी कराता है। यदि प्राइमरी स्कूलों पर होने वाला व्यय ऐसे प्रति बच्चे पर शिक्षा की लागत के रूप में व्यक्त किया जाये, जो सफलतापूर्वक प्राइमरी स्कूल की शिक्षा को पूरा करता है, तो प्रति विद्यार्थी शिक्षा की लागत उससे कहीं अधिक ऊँची बैठेगी जितनी सामान्यतया गणना की जाती है। दुर्भाग्यवश इस प्रकार गणना करने पर अधिक गरीब देशों और देहाती इलाकों में प्रति विद्यार्थी शिक्षा की लागत विशेष रूप से ऊँची बैठेगी। उन स्थानों पर बर्बादी सबसे अधिक है, जहाँ इस बर्बादी की सबसे कम गुंजाइश है।

इस समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। दक्षिण एशिया के देशों में अनिवार्य शिक्षा के बारे में जो कानून बनाये गये हैं, उन्हें प्रायः कहीं भी लागू नहीं किया जाता।[44] अधिक गरीब देशों और अधिक गरीब जिलों में समस्त स्कूल प्रणाली में विशेष रूप से कार्य-कुशलता का और अनुशासन का व्यापक अभाव दिखायी पड़ता है।

दक्षिण एशिया के प्राइमरी स्कूलों के शिक्षा के स्तर पर जिन विभिन्न सुविधाओं की उपलब्धि का प्रभाव पड़ता है उनकी माप के लिए प्रायः कोई आँकड़े अथवा विस्तृत अध्ययन मौजूद नहीं है।[45] सामान्य प्रेक्षणों और सरकारी रिपोर्टों में छितरी जानकारी से और व्यापक साहित्य में उपलब्ध जानकारी से जो आभास मिलता है, वह यह है कि दक्षिण एशिया में सर्वत्र स्कूल की इमारतों, पाठ्य-पुस्तकों, लिखने के कागज़ और बच्चों को पढ़ाने के लिए आवश्यक शिक्षा-उपकरणों की बड़ी कमी है। लेकिन स्थिति निर्धनतम देशों में बहुत बुरी है और समस्त देशों में देहाती इलाकों में स्थिति सबसे खराब है, जहाँ इस क्षेत्र के अधिकांश बच्चों का लालन-पालन होता है।

पर्याप्त प्रशिक्षित और अपने लक्ष्य के प्रति सजग अध्यापकों का उपलब्ध होना प्राइमरी स्कूलों में प्रभावशाली पढ़ाई की कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है।[46] दक्षिण एशिया के सब देशों में ऐसे शिक्षकों की संख्या बहुत बड़ी है, जिन्हें 'अप्रशिक्षित' कहा जाता है। अध्यापकों के प्रशिक्षण की वर्तमान उपलब्ध सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए, केवल फिलीपाइन और सम्भवतः श्रीलंका और मलाया ही लगभग अगले एक दशक में गैर-प्रशिक्षित अध्यापकों के स्थान पर प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति कर सकेंगे, यदि फिलहाल शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं की क्षमता में प्रस्तावित वृद्धि से कहीं अधिक तेज़ी से वृद्धि नहीं की जाती।

इसके अलावा जिन अध्यापकों को 'प्रशिक्षित' की कोटि में रखा जाता है, उन पर भी अत्यधिक सन्देह से विचार करना चाहिए। इनमें से अधिकांश, विशेष-कर अधिक निर्धन देशों में, अच्छी तरह से प्रशिक्षित नहीं होते। प्रशिक्षित अध्यापकों का जमाव शहरों और इससे भी अधिक व्यापक रूप से उच्च साक्षरता वाले क्षेत्रों में बना हुआ है।

भारत और इससे भी अधिक पाकिस्तान में, श्रीलंका, फिलीपाइन, थाईलैण्ड और यहाँ तक कि इन्दोनेशिया से भी भिन्न सीमाओं तक, प्राइमरी स्कूलों के

अध्यापकों के वेतन अत्यधिक कम हैं और इनका सामाजिक दर्जा बेहद नीचा है। इसका अध्यापकों की भर्ती और देहाती इलाक़ों में जाकर काम करने की इच्छा और उनकी कार्यक्षमता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यहाँ भी हम विभिन्न देशों और जिलों के पारस्परिक आर्थिक स्तरों और उपनिवेशी युग से विरासत में मिली स्कूल-प्रणाली के संचालन के बीच व्यापक सम्वन्ध देखते हैं।

अधिक गरीब देशों में अध्यापकों के प्रशिक्षण कॉलेजों में तत्काल सुधार करने की आवश्यकता है। साथ ही यह भी जरूरी है कि प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों का आर्थिक और सामाजिक दर्जा ऊँचा उठाया जाये। इससे प्रतिभाशाली युवकों को इस पेशे में आने का प्रोत्साहन मिलेगा और अध्यापकों द्वारा बच्चों और समाज को प्रभावित करने की सम्भावना बढ़ जायेगी।

अध्यापकों के प्रशिक्षण को बेहतर बनाने के लिए ऐसी अनेक चीजों की आवश्यकता होती है, जिन्हें एक गरीब देश में पूरा करना कठिन होता है: प्रशिक्षण संस्था में प्रवेश से पहले स्कूल में बेहतर तैयारी, अक्सर प्रशिक्षण की लम्बी अवधि और सबसे अधिक प्रशिक्षण कार्यक्रम में आमूल और दूरगामी सुधार और वस्तुतः उस समस्त भावना में परिवर्तन जिसके आधार पर इसका संचालन होता है। वेतन वृद्धि गरीब देशों में विशेष कठिनाइयों को जन्म देती है; क्योंकि अध्यापकों का वेतन, यद्यपि यह बेहद कम है, स्कूलों के व्यय की कुल लागत का बहुत बड़ा प्रतिशत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्कूलों के लिए आवश्यक उपकरणों और पढ़ाई में सहायक अन्य साधनों पर बेहद कम पैसा खर्च किया जाता है।

प्राइमरी स्तर पर भी दक्षिण एशिया के देशों में भाषा सम्बन्धी जटिलता अध्यापन में गम्भीर जटिलताएँ पैदा करती है।[47] यह तथ्य भी मौजूद है कि दो बहुत बड़े देश, भारत और पाकिस्तान, जो सबसे निर्धन देश भी हैं, इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कठिनाइयों का अनुभव करते हैं, क्योंकि इन्हें अनेक भाषाएँ—और लिपियाँ—पढ़ानी पड़ती हैं और प्राइमरी स्कूलों में अक्सर यह कार्य ऐसे अध्यापक करते हैं जो इन दोनों दृष्टियों से अधिक कुशल नहीं होते।

स्कूलों में अनेक अथवा दो भाषाएँ पढ़ाने के राजनीतिक कारण चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों, और इन दो विशाल देशों में राष्ट्रीय एकता और सरकार के संचालन में जनता के हिस्सा लेने की आवश्यकता इस बात की अपेक्षा भी करती है,[48] पर इस स्थिति को उचित रूप से ही 'शिक्षा की प्रगति के मार्ग में बाधा' कहा गया है। "अन्य किसी भी विषय की शिक्षा देने से पहले बच्चे को भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ पढ़ना पड़ता है और उसका पाठ्यक्रम उसके लिए भारी हो जाता है।" इस कारण से—और उपनिवेशी शासन से पहले की और उपनिवेशी काल की बुरी परम्परा और ऐसी ही अन्य परिस्थितियों के कारण—स्कूलों की शिक्षा बहुत अधिक किताबी हो जाती है, यद्यपि बच्चों को बहुत कम पुस्तकें और लिखने का कागज़ उपलब्ध होता है।

भारत में गांधीजी का इरादा स्कूलों के पाठ्यक्रम को समाज के जीवन से अधिक सम्वद्ध करने का था और वे इसमें शारीरिक श्रम का भी समावेश करना चाहते थे। लेकिन इस काम में सफलता नहीं मिली। जिस परिवर्तित रूप में बेसिक स्कूल शुरू भी किये गये उनका उच्च वर्ग के परिवारों ने अधिकांशतया

वहिष्कार किया।[49] गरीब देशों और गरीब जिलों में, जहाँ दक्षिण एशिया के अधिकांश बच्चों का लालन-पालन होता है, प्राइमरी स्कूलों को अत्यधिक निराशा-जनक कहा जा सकता है।

माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा[50] का कार्य इस गम्भीर खामी के साथ शुरू होता है कि विद्यार्थी की सामान्यतया सन्तोषजनक तैयारी नहीं हुई। उन देशों में यह खामी और बड़ी है, जहाँ प्राइमरी स्कूल की अवधि 5 वर्ष या इससे भी कम होती है, जैसाकि पाकिस्तान, भारत के अधिकांश भाग और बर्मा में होता है।

भाषा सम्बन्धी जटिलताओं के कारण प्रभावशाली अध्यापन के मार्ग में जो वाधा खड़ी होती है, वह माध्यमिक स्कूलों में और भी जटिल हो जाती है। भाषाओं में कुशलता, शिक्षा की उपलब्धि का पैमाना बन जाती है। यह एक कारण है कि उपनिवेशी शासन से विरासत में प्राप्त 'साधारण' स्कूलों को अधिक व्यावहारिक किस्म के स्कूलों में वदलना इतना कठिन क्यों सिद्ध हुआ।

माध्यमिक स्कूलों के लिए आवश्यक उपकरणों और साज-सामान के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इमारतों, पुस्तकालयों, विज्ञान प्रयोगशालाओं और अध्यापन के लिए आवश्यक उपकरणों, विशेषकर पाठ्य-पुस्तकों और लिखने के कागज़ के बारे में आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इस सम्बन्ध में जो सामान्य धारणा है और उपलब्ध साहित्य से जो छिटपुट जानकारी मिलती है, उसके आधार पर यह पता चलता है कि इन स्कूलों को अधिक व्यावहारिक किस्म के स्कूलों में वदलने में इतनी अधिक कठिनाई का अनुभव क्यों किया गया।

माध्यमिक स्कूलों को जो भौतिक साधन उपलब्ध हैं, उनके बारे में कोई आँकड़े नहीं मिलते; जैसे इमारतें, पुस्तकालय, विज्ञान प्रयोगशालाएँ और अध्यापन में सहायक उपकरण, विशेषकर पाठ्य-पुस्तकें और लिखने का काग़ज। जो सामान्य बातें मालूम हैं और सम्बन्धित साहित्य में जो छिटपुट जानकारी मिलती है, यह साधन यद्यपि पर्याप्त नहीं हैं, फिर भी प्राइमरी स्कूलों को प्राप्त साधनों से मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से बेहतर हैं। माध्यमिक स्कूल अधिकतर शहरी इलाकों में हैं और इनके विद्यार्थी उच्च वर्ग के होते हैं—यहाँ उच्च वर्ग का प्रयोग उस व्यापक अर्थ में किया गया है, जिसकी परिभाषा अध्याय-3 में दी जा चुकी है।

एक और धारणा यह है कि भौतिक साधनों का स्तर और अध्यापकों की योग्यताएँ, यद्यपि साधारणतया नीचे स्तर की हैं, लेकिन यह अधिकतर उन देशों में अधिक ऊंचा है जिनका आर्थिक स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा है—विशेषकर मलाया और श्रीलंका—और अधिक निर्धन देशों में भी उन गैर-सरकारी स्कूलों में यह स्तर अधिक ऊँचा है, जिनमें मुख्यतया उच्च-उच्च वर्ग के विद्यार्थी पढ़ते हैं और जिन स्कूलों को अंग्रेज़ों की विचित्र परम्परा के अनुसार अक्सर 'पब्लिक स्कूल' कहा जाता है।

औपनिवेशिक युग से प्राप्त हानिप्रद परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए जो बहुत घटिया तरीके से तयार विद्यार्थी माध्यमिक स्कूलों में प्रवेश करते हैं तथा अधिकांशतया अयोग्य और निराशाग्रस्त अध्यापकों तथा कई भाषाएँ और लिपियाँ पढ़ाने का असाधारण भार ऐसा है, जिसके फलस्वरूप यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि दक्षिण एशिया में अधिकांश माध्यमिक स्कूलों में अध्यापन या पढ़ाई ऊँचे स्तर की नहीं है और यह बात अधिक गरीब और अधिक बड़े देशों के

बारे में विशेष रूप से सही है।

माध्यमिक स्कूलों में पढ़ाई को बेहतर बनाने के प्रयासों में जो एक गतिशील कारक विशेष रूप से बाधक है, वह माध्यमिक स्कूलों में अकल्पित और अनियोजित रूप से विद्यार्थी की संख्या में बेहद तेजी से वृद्धि है, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। गरीब देशों और गरीब जिलों में स्कूलों की संख्या में वृद्धि ने पहले से ही नीचे अध्यापन के स्तर को और अधिक नीचा कर दिया है।

महायुद्ध के बाद की अवधि में पढ़ाई को व्यावहारिक जीवन के अनुरूप बनाने, उपयोगी दस्तकारियाँ सिखाने और विशेष रूप से विभिन्न व्यवसायों की और तकनीकी शिक्षा देने के समस्त प्रयासों के बावजूद दक्षिण एशिया में माध्यमिक स्कूलों की बहुत बड़ी संख्या अभी भी 'साधारण' शास्त्रीय और साहित्यिक स्वरूप धारण किये हुए है, जिसकी स्थापना उपनिवेशी युग में उच्च वर्ग की विशिष्ट प्रकार की शिक्षा के रूप में हुई थी।[51]

इस क्षेत्र के किसी भी देश में ऐसा कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ता कि आमूल परिवर्तन होने जा रहा है। समग्र संख्या की दृष्टि से विभिन्न व्यवसायों का प्रशिक्षण देने वाले और तकनीकी स्कूलों में विद्यार्थियों की भर्ती की संख्या—यद्यपि प्रतिशत की दृष्टि से यह अधिकांशतः अधिक है—अपेक्षाकृत छोटी रही है। साधारण माध्यमिक स्कूलों का पाठ्यक्रम, जहाँ अधिकांश विस्तार हुआ है, प्रायः कहीं भी उल्लेखनीय रूप से आधुनिक नहीं बनाया गया है।

यह बात बड़ी आश्चर्यजनक दिखायी पड़ सकती है, क्योंकि राजनीतिक नेताओं और विशेषज्ञों के बीच सर्वसम्मति से यह सहमति रही कि इस दृष्टि से आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है—अंग्रेजी शासन के दौर में भी भारत में प्रायः एक शताब्दी तक सरकारी रिपोर्टों में ऐसी माँगें उठायी गयीं।[52] इस पुरातनपन्थी आचरण का स्पष्टीकरण अनेक तथ्यों में निहित है।

इस सम्बन्ध में हम कॉलेजों और शिक्षा-प्रणाली के प्रभावों का पहले ही जिक्र कर चुके हैं और इसके साथ यह प्रश्न भी जुड़ा है कि माध्यमिक स्कूलों में जो विद्यार्थी प्रवेश करते हैं, उन्हें तैयार करने के लिए और अधिक सामान्य शिक्षा की आवश्यकता है। यह आवश्यकता अधिक गरीब देशों में विशेष रूप से मौजूद है, जहाँ प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा की अवधि छोटी है और यह शिक्षा प्रभावशाली भी नहीं है। प्राइमरी स्कूलों की तरह ही भाषा का अध्ययन अन्य विषयों के लिए पाठ्यक्रम में कोई स्थान ही नहीं छोड़ता और यह बात भी अधिक गरीब देशों पर विशेष रूप से लागू होती है।

एक और कठिनाई ऐसे व्यक्तियों की कमी है जो तकनीकी विषय पढ़ा सकें, विशेषकर इस दृष्टि से क्योंकि उनकी सरकार और उद्योग में भी आवश्यकता होती है, जहाँ उन्हें अधिक ऊँचा वेतन और सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है। इसके अलावा विज्ञान और तकनीकी तथा व्यावसायिक विषयों की शिक्षा के लिए व्ययसाध्य प्रयोगशालाओं और अन्य तकनीकी उपकरणों की आवश्यकता होती है।

इसके साथ ही उपनिवेशी युग और उससे पहले के युगों की परम्परा का भारी भार भी जुड़ा हुआ है। परम्परा को उन लोगों के निहित स्वार्थ और मजबूत बना देते हैं, जिन्हें वर्तमान स्कूल प्रणाली में रोजगार मिला है। इनमें से अधिकांश लोगों के पास परिवर्तन का विरोध करने के अच्छे कारण हैं, क्योंकि

इस परिवर्तन से उनका प्रशिक्षण और अध्यापन के तरीके बहुत कम वांछनीय रह जायेंगे।

अधिक बुनियादी बात यह है कि प्रभावशाली उच्च वर्ग, जो 'शिक्षित' और अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखता है, 'शिक्षित' लोगों और सामान्य जन-समुदाय के बीच खाई बनाये रखने में अपना निहित स्वार्थ देखता है। ये तथ्य कि अधिक व्यावहारिक और व्यावसायिक आधार पर संगठित माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में शारीरिक श्रम की अक्सर आवश्यकता पड़ती है, और जिससे घृणा की जाती हैं, और ये स्कूल, यह माना जाता है कि विद्यार्थियों को ऐसे कार्यों के लिए तैयार करते हैं, जिनमें शारीरिक श्रम, नियमित दिनचर्या का एक अंग होता है, ऐसे कारण हैं जो इन स्कूलों को परम्परागत साधारण स्कूलों की तुलना में कम लोकप्रिय बनाने में सहायता देते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि औद्योगिक प्रबन्ध के बीच के स्तर पर प्रशिक्षित कर्मचारियों की निरन्तर कमी बनी रहती है। माध्यमिक स्कूलों से उत्तीर्ण होने वाले वे विद्यार्थी, जो कॉलेजों में अपनी शिक्षा जारी नहीं रखते, लेकिन जो उपनिवेशी परम्परा के अनुसार 'क्लर्कों' के रूप में काम तलाश करते हैं, दफ्तरों के काम की आधुनिक आवश्यकताओं तक को पूरा करने के लिए प्रशिक्षित नहीं होते क्योंकि इनमें आशुलिपि, टंकण, फाइलों को व्यवस्थित करने आदि का कोई ज्ञान नहीं होता।

इस स्थिति में अधिकांशतया कोई सुधार नहीं हो रहा है; जैसा कि भारत की हाल की एक रिपोर्ट में बताया गया है :

"शिक्षा-प्रणाली और हमारी विकासशील अर्थव्यवस्था की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं के बीच अन्तर और अधिक बढ़ गया है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि शिक्षित बेरोज़गारों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी बनी हुई है।"[53]

कॉलेज स्तर पर शिक्षा का प्रसार और अधिक तेज़ हुआ है और यह कार्य अधिक गरीब देशों में भी बहुत अधिक हुआ है।[54] इसके साथ ही कॉलेज शिक्षा को माध्यमिक स्कूलों में अपर्याप्त तैयारी के कारण क्षति पहुँच रही है, विशेषकर अधिक गरीब देशों में, जहाँ माध्यमिक स्कूलों को प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा की छोटी अवधि के कारण अपर्याप्त रूप से तैयार विद्यार्थियों को पढ़ाने में सामने आने वाली कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और माध्यमिक तथा प्राइमरी दोनों प्रकार के स्कूलों में कार्य-कुशलता के नीचे स्तर भी कॉलेज शिक्षा के मार्ग में बाधक बन रहे हैं। कॉलेज स्तर पर भाषा सम्बन्धी बाधाएँ भी बहुत बढ़ जाती हैं, जहाँ एक विदेशी भाषा को पढ़ने और बोलने की पर्याप्त योग्यता—जो सामान्यतया अंग्रेजी होती है—आवश्यक है। यद्यपि यदाकदा ही यह आवश्यकता सन्तोषजनक ढंग से पूरी हो पाती है।

इमारतों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं, साज़-सामान और अध्यापन में सहायक उपकरणों में बहुत बड़ी राशि लगाने के बावजूद इन देशों में विद्यार्थियों की संख्या में तेज़ी से वृद्धि के कारण शिक्षा का नीचा स्तर कायम है और वस्तुतः अक्सर यह स्तर और नीचा होता जाता है।[55] अध्यापकों की क्षमता नीचे स्तर की है और इसमें और अधिक ह्रास की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती रहती है।[56]

माध्यमिक स्कूलों की तुलना में कॉलेजों में ऐसे विद्यार्थियों का प्रतिशत बहुत ऊँचा रहता है, जो कॉलेज की शिक्षा पूरी नहीं कर पाते ।[57]

माध्यमिक स्तर से भी अधिक कॉलेज स्तर पर शिक्षा संस्थाओं को व्यवसायोन्मुख बनाया जाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि ये कॉलेज विद्यार्थियों को खास पेशों के लिए तैयार करें। प्रायः सब विशेषज्ञ यह शिकायत करते हैं, और इनमें दक्षिण एशिया के और विदेशी विशेषज्ञ भी शामिल हैं कि कॉलेज निरन्तर साधारण शिक्षा प्राप्य विद्यार्थियों को आवश्यकता से अधिक बड़ी संख्या में तैयार किये जा रहे हैं । इन विद्यार्थियों को साहित्य आदि विषयों, कानून, सामाजिक विज्ञानों और 'शास्त्रीय' विज्ञान का प्रशिक्षण मिलता है और ये लोग कम योग्यता प्राप्त प्रशासकों, क्लर्कों और 'शिक्षित बेरोजगारों' की संख्या में वृद्धि करते जाते हैं ।[58] इसके साथ ही हर स्तर पर इंजीनियरों, कृषि तकनीशियनों, डॉक्टरों, दन्त चिकित्सकों, औषधि निर्माताओं और स्वयं अध्यापकों तक की आवश्यकता रहती है। कुछ अपवादों को छोड़कर यह बात दक्षिण एशिया के सब देशों के बारे में सही है।

युद्ध के बाद की अवधि में स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। समस्त उच्च शिक्षा संस्थाओं को अपनी भर्ती की संख्या तेजी से बढ़ाने की छूट रही है। तकनीकी और विभिन्न पेशों की शिक्षा अपेक्षाकृत अधिक तेजी से अपना विस्तार करने में सफल हुई है ।[59] लेकिन इस क्षेत्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग, कृषि, की विशेष रूप से उपेक्षा की गयी है ।

उच्च शिक्षा के स्वरूप में विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से परिवर्तन करने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं, वे वैसी ही हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है और जो माध्यमिक स्कूलों को व्यावसायिक अथवा कम-से-कम अधिक व्यावहारिक और कम शास्त्रीय बनाने के प्रयासों के मार्ग में बाधा डालती हैं : इमारतों और साज-सामान की ऊँची लागत तथा सरकार और उद्योग की होड़ में अध्यापकों की भर्ती की कठिनाई। कॉलेजों का कला और कानून जैसे विषयों में, जहाँ प्रति विद्यार्थी सीमान्त लागत कम होती है, अधिक विद्यार्थियों को भरती करना वित्तीय दृष्टि से आकर्षक होता है, क्योंकि ये कॉलेज विद्यार्थियों से ऊँची फीस लेते हैं । इन समस्त कठिनाइयों के साथ ये परम्परागत विचार भी जुड़े हैं कि उच्च वर्ग के विशिष्ट लोगों की शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए और ये विचार उपनिवेशी युग से विरासत में प्राप्त हुए हैं ।

4. सुधार कार्यक्रम

दक्षिण एशिया की शिक्षा सम्बन्धी स्थिति का जो विवरण अब तक प्रस्तुत किया गया है, उसमें एक बात निरन्तर स्पष्ट रही है कि किसी देश के आर्थिक स्तर और शिक्षा के क्षेत्र में इसकी उपलब्धियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दो कम गरीब देश, श्रीलंका और मलाया, अपने समस्त बच्चों को छह वर्ष की प्राइमरी शिक्षा देने की प्रायः स्थिति में आ गये हैं। श्रीलंका में उन विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है, जो प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करते हैं । अपेक्षाकृत ऊँची साक्षरता दरों से आरम्भ कर अब वे युवा पीढ़ियों में व्यापक साक्षरता की स्थिति में आ रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप समानता और विकास के मार्ग में बाधक उस गम्भीर बाधा को समाप्त

करना अधिक सम्भव होगा जो 'शिक्षित' लोगों को शारीरिक श्रम से घृणा करने का आधार है। जब शिक्षित होना एक छोटे से उच्च वर्ग का ही एकाधिकार नहीं रह जायेगा तो वर्ग सम्बन्धी यह बाधा धीरे-धीरे समाप्त करना अधिक आसान हो जायेगा कि कौन व्यक्ति शारीरिक श्रम करता है और कौन व्यक्ति अपने हाथ गन्दे करने को तैयार नहीं है।

युद्ध के बाद श्रीलंका और मलाया में मात्रा की दृष्टि से कॉलेज शिक्षा की कम-विकसित प्रणाली मौजूद थी और हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियों का एक छोटा प्रतिशत ही कॉलेजों में पढ़ने जाता था और इन कॉलेजों का स्तर अक्सर ऊँचा होता था। ये देश कॉलेज शिक्षा के लिए अपने विद्यार्थियों को विदेशों में भेजने पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर करते रहे। अब ये दोनों देश अपनी कॉलेज-प्रणाली का तेज़ी से निर्माण कर रहे हैं और इनका ऊँचा स्तर बनाये हुए हैं। अब क्योंकि अधिक बच्चे माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, अतः उच्च वर्ग के उच्च शिक्षा पर एकाधिकार के समाप्त होने की स्थिति आ गयी है। श्रीलंका ने शिक्षा को लोकतन्त्री बनाने की दिशा में यह निर्णय लेकर कि हर स्तर पर शिक्षा निःशुल्क होगी, महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है।

लेकिन समग्र दृष्टि से ये दोनों देश अधिक निर्धन देशों की तुलना में कॉलेज शिक्षा में परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुए हैं और माध्यमिक स्कूलों को साधारण स्कूलों से बदलकर व्यावहारिक और व्यवसायोन्मुख स्कूल बना देने में भी उन्हें इतनी सफलता नहीं मिली है।[60] इतना ही नहीं, प्राइमरी शिक्षा का पाठ्यक्रम भी अनावश्यक रूप से 'शास्त्रीय' है। इस बात में सन्देह नहीं है कि तीनों स्तरों पर शिक्षा की परम्परागत और सामान्य प्रणाली में परिवर्तन के द्वारा शारीरिक श्रम के विरुद्ध पूर्वाग्रह को तेज़ी से समाप्त किया जा सकता है, लेकिन यह कार्य तभी हो सकता है जब यह परिवर्तन साहसपूर्वक लागू किया जाये।

इन दो छोटे और कम गरीब देशों के बच्चों को छोड़कर दक्षिण एशिया के बच्चों का विशाल बहुमत या तो किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाता अथवा स्थायी और उपयोगी साक्षरता प्राप्त करने से पहले ही उनकी पढ़ाई बन्द हो जाती है। पर फिलीपाइन और थाईलैण्ड, श्रीलंका और मलाया का अनुकरण कर सकते हैं, यदि वे बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की तेजी से बढ़ती हुई संख्या में कमी कर सकें। इन्दोनेशिया यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक गरीब है, प्राइमरी शिक्षा की दृष्टि से बेहतर स्थिति में है, क्योंकि यह एक ऐसा देश है, जहाँ आयोजन और सामान्य नीति के अत्यधिक नीचे स्तरों के बावजूद, शिक्षा में सुधार करने के प्रति कहीं अधिक और व्यापक उत्साह रहा है।[61]

फिलीपाइन अपने युवक-युवतियों के एक बहुत बड़े हिस्से को माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा देने की दृष्टि से विशेष रूप से बेहतर स्थिति में है। यद्यपि यह शिक्षा सदा उच्च स्तर की नहीं होती, लेकिन अपेक्षाकृत उच्च 'शिक्षित' लोगों के श्रम बाजार में अधिक बड़ी संख्या में पहुँचने से कालान्तर में उनकी शारीरिक श्रम करने की अनिच्छा समाप्त हो जायेगी। संयुक्त राज्य अमरीका के अधीन औपनिवेशिक युग से ही फिलीपाइन ने अपने समाज में अध्यापकों और स्कूलों को अधिक ऊँचा स्थान दिया है और अध्यापन को आधुनिक और बेहतर बनाने के प्रयासों में अधिक दिलचस्पी दिखायी है। यह दिलचस्पी प्राथमिक स्तर

पर विशेष रूप से दिखायी गयी है और इन्दोनेशिया को छोड़कर, इस क्षेत्र के अन्य समस्त देशों की तुलना में वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ अधिक प्रगति की है।[62]

यद्यपि यहाँ जिन देशों का उल्लेख किया गया है, उनके समक्ष शिक्षा सम्बन्धी नीति की समस्याएँ मौजूद हैं, लेकिन इस क्षेत्र के निर्धनतम देशों, पाकिस्तान, भारत और बर्मा में ये समस्याएँ अधिक जटिल और अधिक बड़ी हैं। इन देशों में ही इस क्षेत्र की अधिकांश आबादी रहती है। नीति सम्बन्धी निष्कर्षों पर विचार के समय मैं इस क्षेत्र के विशाल और अधिक गरीब हिस्से को मुख्यतया अपने सामने रखूँगा, लेकिन अन्य अनेक प्रश्नों की दृष्टि से यह निष्कर्ष अन्य देशों पर भी लागू होंगे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

अधिक गरीब देशों में शिक्षा की जो दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है उसका आंशिक स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से और प्रत्यक्ष रूप से उनकी गरीबी में निहित है। शिक्षा नीति को लागू करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन समस्या इससे कहीं अधिक जटिल है। इन देशों में असमानता भी कहीं अधिक है और एक शिक्षित उच्च वर्ग और सामान्य जन-समुदाय के बीच कहीं गहरी खाइयाँ मौजूद हैं।

अध्याय-3 में मैंने गरीबी और समानता के सामान्य सम्बन्ध का उल्लेख किया था। शिक्षा पर एकाधिकार—और इसके साथ ही भूमि स्वामित्व पर एकाधिकार—असमानता का सर्वाधिक बुनियादी आधार है और इसका शिकंजा अधिक गरीब देशों में कहीं अधिक कड़ाई से कसा हुआ है। जब लोकप्रिय शिक्षा उपलब्ध कराने का अधिक व्यापक प्रयास किया जाता है तब भी यह स्थिति मौजूद रहती है।[63] जो विद्यार्थी शिक्षा पूरी नहीं कर पाते, उनमें भी वर्ग सम्बन्धी पूर्वाग्रह दिखायी पड़ता है अर्थात् ये विद्यार्थी छोटे वर्गों से सम्बन्धित होते हैं और अधिक गरीब देशों में यह स्थिति और अधिक स्पष्ट और व्यापक दिखायी पड़ती है। ये विद्यार्थी बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं, एक ही कक्षा में दोबारा पढ़ते हैं, अथवा परीक्षाओं में असफल हो जाते हैं।

कम गरीब देशों में जो अपेक्षाकृत कम बच्चे प्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा में नाम लिखाते हैं, उनमें लड़कियों, देहाती इलाकों के बच्चों और सामान्यतया निर्धनतम परिवारों के बच्चों की संख्या कम होती है। इन्हीं श्रेणियों के बच्चों की अनियमित उपस्थिति रहती है। वे एक ही कक्षा में दोबारा पढ़ते हैं और बीच में ही पढ़ाई बन्द कर देते हैं। सब बच्चों का एक छोटा प्रतिशत ही प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पूरी कर पाता है और अधिक गरीब देशों और विशेषकर इनके अधिक गरीब ज़िलों में प्राइमरी स्कूलों की शिक्षा की अवधि कम होती है और इसका स्तर भी नीचा होता है।

इस प्रकार शिक्षा के आरम्भिक चरण में ही चुनाव की एक कठोर प्रक्रिया चालू रहती है और इस प्रकार कम सौभाग्यशाली वर्गों के बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्टीकरण आसान हो जाता है कि जो विद्यार्थी प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पूरी करते हैं, उनका इतना बड़ा हिस्सा माध्यमिक स्कूलों में क्यों भरती होता है। माध्यमिक स्कूलों में बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने और आगे चलकर मैट्रिक की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने से इसी प्रकार चुनाव का क्रम और आगे बढ़ता है। इस प्रकार जो अपेक्षाकृत कम विद्यार्थी मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करते हैं उनका एक बड़ा हिस्सा कॉलेजों में भरती होता है। एक बार फिर

इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है। कॉलेजों में निम्न सामाजिक और आर्थिक स्तर के जो अपेक्षाकृत कम विद्यार्थी भरती होते हैं उनमें से ही अधिकांशतया विद्यार्थी पढ़ाई पूरी नहीं कर पाते अथवा परीक्षाओं में असफल हो जाते हैं।[64]

चुनाव की इस प्रक्रिया में अनेक आर्थिक और सामाजिक कारक क्रियाशील रहते हैं, जिनमें घर का वातावरण भी शामिल होता है।[65] कुछ गिने-चुने समृद्ध और 'शिक्षित' परिवारों और कहीं अधिक बहुसंख्यक छोटे वर्ग के परिवारों के घरेलू वातावरण के बीच बेहद अन्तर है। यह अन्तर विकसित देशों के इन वर्गों के अन्तरों से कहीं अधिक बड़ा है। यदि स्कूल बहुत अच्छे भी हो जायें तो भी गरीब परिवारों के बच्चों के समक्ष इन स्कूलों में भरती होने, इनमें अपनी पढ़ाई जारी रखने और परीक्षाओं में सफल होने के मार्ग में गम्भीर समस्याएँ बनी रहेंगी।

इसका परिणाम उच्च वर्ग के अत्यधिक पक्ष में मौजूद पूर्वाग्रह है और यह पूर्वाग्रह शिक्षा पर इस वर्ग के एकाधिकार को और अधिक मजबूत बना देता है। भारत में उच्च शिक्षा पर विशेष रूप से विचार करते हुए, लेकिन इस बात के प्रति भी सजग रहते हुए कि यह पूर्वाग्रह प्राइमरी स्तर से ही शुरू हो जाता है, पी० सी० महालनवीस लिखते हैं :

"सामान्यतया केवल अमीर लोगों को ही यह अवसर प्राप्त है कि वे अपने बच्चों को उस प्रकार की शिक्षा दे सकें जो देश में प्रभावशाली और उत्तरदायी पदों के लिए आवश्यक होती है।"

वे आगे लिखते हैं :

"......सर्वोच्च स्तर पर बैठे लोगों के एक छोटे-से समूह की सत्ता और विशेषाधिकार केवल कायम रहने की ही प्रवृत्ति नहीं दर्शाता, बल्कि यह और अधिक मज़बूत होते जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है......इस प्रकार प्रभावशाली लोगों का एक समूह बन गया है, जो, जैसाकि स्वाभाविक है, अपनी विशेषाधिकार की स्थिति और सत्ता को बनाये रखना चाहता है।"

जे० पी० नाइक एक विशेष अध्ययन का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकालते हैं :

"......हमारी शिक्षा-प्रणाली का सर्वाधिक लाभ लड़कों, शहरी इलाकों के लोगों तथा मध्यम और उच्च वर्ग को ही मिल रहा है।"

और एक अन्य सन्दर्भ में वे लिखते हैं :

"शिक्षा का विकास......'सम्पन्न' लोगों को 'निर्धन' लोगों की तुलना में अधिक लाभ पहुँचा रहा है। यह सामाजिक न्याय और 'योजनाबद्ध विकास की प्रक्रिया' का नकार है।"

और 1966 की शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में यह जोर देकर कहा गया है :

"अमीर और गरीब देशों के बीच की सामाजिक दूरी तथा शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच की सामाजिक दूरी बहुत बड़ी है और यह निरन्तर बढ़ रही है......स्वयं शिक्षा ही सामाजिक अलगाव को बढ़ाने और वर्ग भेदभाव की खाई को और चौड़ा बनाने की प्रवृत्ति दिखा रही है......इससे भी बुरी बात यह है कि यह अलगाव......सम्पन्न वर्गों और जन-सामान्य के बीच की खाई को बढ़ा रहा है।"

पाकिस्तान में स्थिति भिन्न नहीं है, बल्कि और बुरी है। यद्यपि इस समस्या पर वहाँ इतना परिष्कृत विचार-विमर्श नहीं होता। इन दोनों देशों में एक छोटा उच्च शिक्षा प्राप्त विशिष्ट उच्च वर्ग है। इसके साथ ही इन देशों के जन-सामान्य को बहुत कम अथवा कोई शिक्षा प्राप्त नहीं है। जन-समुदाय का अज्ञान इन देशों के आर्थिक विकास के मार्ग में गम्भीर निषेधों और बाधाओं के रूप में खड़ा है और इसके फलस्वरूप ये देश गरीबी के गर्त में पड़े हुए हैं। इसके साथ ही इन देशों में विद्यमान कठोर असमानता—जो विभिन्न स्तरों में विभाजित है और शिक्षा पर उच्च वर्ग के प्रायः एकाधिकार के कारण निरन्तर मज़बूत होती जा रही है—शिक्षा को लोकतन्त्री बनाने के उद्देश्य से किये जाने वाले सुधारों को प्रभावहीन बना देती है।

पिछले पृष्ठों में हमने उच्च वर्ग की सत्ता की इस प्रक्रिया को कार्यरूप में देखा है : घोषित लक्ष्यों के विपरीत वयस्क शिक्षा के महत्त्व को घटा दिया गया है; प्राइमरी शिक्षा की तुलना में अधिक व्ययसाध्य माध्यमिक और विशेष रूप से कॉलेज शिक्षा को कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ने की इजाजत दी गयी है; सब स्तरों पर स्कूलों को कम 'सामान्य' और माध्यमिक तथा कॉलेज स्तर पर अधिक व्यावहारिक, तकनीकी और व्यवसायोन्मुख बनाने के प्रयासों को निष्फल कर दिया गया है, आदि। नीति सम्बन्धी प्रमुख निष्कर्षों का उल्लेख करने से पहले, जिनका पूर्वाभास शिक्षा सम्बन्धी खामियों के वक्तव्यों में मिल चुका है, मैंने एक असमानतावादी समाज में, जहाँ जन-समुदाय अत्यन्त निर्धन है, उच्च वर्ग की सत्ता की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करना आवश्यक समझा।

इन्हीं देशों में शिक्षा सम्बन्धी सुधारों की सबसे अधिक आवश्यकता है और यहीं इन्हें सबसे अधिक प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। निर्धनता से ग्रस्त जन-समुदाय के हाथ में प्रायः कोई सत्ता नहीं है। ये जनसमुदाय अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त नहीं कर पाते और निष्क्रिय बने रहते हैं। न तो व्यक्तिगत रूप से और न ही सामूहिक रूप से ये लोग शिक्षा के सुधार की आवश्यकता के प्रति सजग हैं 'बढ़ती हुई आकांक्षाओं की क्रान्ति' के विचार की तरह ही उनकी 'शिक्षा के लिए मूल' का विचार अधिकांशतया मिथ्या कल्पना है और इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि पश्चिम और दक्षिण एशिया के समृद्ध लोग किस प्रकार यह सोचते हैं कि यदि स्वयं उनको इन भयंकर कष्टपूर्ण स्थितियों में रहना पड़ता तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती।[66]

मैंने इस अध्याय का समारम्भ अधिक विश्वसनीय आँकड़ों की आवश्यकता पर ज़ोर देने के साथ किया था और ये आँकड़े ऐसे होने चाहिए जिनसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में आवश्यक जानकारी मिलती हो। लेकिन ऐसी पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है—जिसे ऊपर आंशिक रूप से संक्षेप में बता दिया गया है और जिसे एशियन ड्रामा में अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया गया है—जिसके आधार पर नीति सम्बन्धी प्रमुख निर्णयों को मोटी रूपरेखा के रूप में प्रस्तुत किया जा सके।[67]

अपने निष्कर्षों के समर्थन में मैं 1966 की भारतीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट का विशेष रूप से हवाला दूंगा। यह रिपोर्ट इस बात का एक सर्वाधिक विशिष्ट उदाहरण है कि आजादी के युग में भी ब्रिटिश भारत के जमाने की निष्ठापूर्ण, व्यापक और गहराई से की जाने वाली सार्वजनिक जाँचों की महान् परम्परा जारी है। यह रिपोर्ट इतने विलम्ब से उपलब्ध हुई कि एशियन ड्रामा में मैं केवल पाद-टिप्पणियों में हवाला देने के लिए ही इसका उपयोग कर सका। लेकिन इसने उन निष्कर्षों पर मेरी निर्भरता को और अधिक मजबूत बना दिया, जिन पर मैं अपने स्वतन्त्र अनुसन्धान के द्वारा पहुँचा था।

एक बड़ा निष्कर्ष समस्त शिक्षा-प्रणाली में आमूल और दूरगामी परिवर्तन करने की आवश्यकता का है।[68] जैसाकि इस रिपोर्ट में ज़ोर देकर कहा गया है।

"भारतीय शिक्षा के व्यापक पुनर्गठन की आवश्यकता है, प्रायः एक क्रान्ति की आवश्यकता है......इसके लिए कृतसंकल्प और बड़े पैमाने पर कार्रवाई की आवश्यकता है। वर्तमान स्थिति में मामूली-सा फेर-बदल और अनिश्चय की स्थिति में आगे बढ़ना और प्रस्तावित सुधारों के प्रति विश्वास की कमी स्थिति को पहले से और बिगाड़ सकती है।"

यह बात भारत की तरह ही पाकिस्तान और बर्मा के बारे में सच है और इसी प्रकार, यद्यपि कम ज़ोरदार तरीके से, थाईलैण्ड, इन्दोनेशिया और फिलीपाइन के मध्यम समूह पर भी लागू होती है।

शिक्षा नीति को योजनाओं से सम्बद्ध करने का वर्तमान प्रयास अधिकांशतया निरर्थक रहा है।[69] इसने विकास सम्बन्धी इस प्रमुख बात की ओर से भी ध्यान हटाने की प्रवृत्ति दिखायी है कि समस्त आबादी का साक्षरता का स्तर ऊँचा करना आर्थिक विकास के लिए लाभकारी है। तुरन्त आवश्यकता इस बात की है कि समस्त शिक्षा के सुधार के लिए आयोजन किया जाये।[70] पहली आवश्यकता शिक्षा के स्तर को कायम रखने और ऊँचा उठाने की है। और कम-से-कम शिक्षा के ऐसे विस्तार को अनुमति न दी जाये जो वास्तविक न हो अथवा जो शिक्षा के स्तर के लिए हानिप्रद हो, जैसाकि स्वाधीनता के समस्त युग में नियमतः हुआ है।[71] जैसाकि चौथी पंचवर्षीय योजना के मसौदे (1966) में कहा गया है :

"संख्या की दृष्टि से विस्तार......के साथ-साथ गुण की दृष्टि से ह्रास हुआ है......यह स्पष्ट है कि निकट भविष्य में शिक्षा की स्थिति को दृढ़ बनाने, स्तर ऊँचा उठाने, विविध बनाने और शिक्षा की समाप्ति के प्रभाव और शिक्षा को व्यवसायोन्मुख बनाने के लिए उससे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से ध्यान देना होगा जितना अब तक दिया गया है।"

दूसरी आवश्यकता, जो पहली आवश्यकता के साथ ही उत्पन्न होती है, शिक्षा के तीनों स्तरों के बीच सन्तुलन बनाये रखने की है। इसके अलावा कार्य-क्रमों के बारे में जो घोषणाएँ की गयी हैं, उनमें प्राइमरी शिक्षा को जो प्राथमिकता दी है उसे वास्तविकता बनाया जाये। इसके लिए यह आवश्यक है कि माध्यमिक स्कूलों और कॉलिजों में भरती में तेज़ी से वृद्धि को रोका जाये अथवा भरती में कमी तक की जाये।[72]

दक्षिण एशिया के माध्यमिक स्कूल और कॉलेज बहुत बड़ी संख्या में 'सामान्य शिक्षा प्राप्त' लोग तैयार करते हैं। अतः ऐसा कोई कारण नहीं है कि

तकनीकी, व्यावसायिक और विभिन्न पेशों सम्बन्धी प्रशिक्षण को पर्याप्त मात्रा में वर्तमान अथवा इससे भी छोटी माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत न बढ़ाया जा सके। इस प्रकार अधिक अध्यापकों, कृषि विस्तार कर्मचारियों और डॉक्टरों आदि की अधिक व्यवस्था की जा सकती है। ये कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें अधिक प्रशिक्षित युवक-युवतियों की तत्काल आवश्यकता है।

माध्यमिक स्कूलों और कॉलेजों में अपेक्षाकृत कम विद्यार्थियों की भर्ती का यह असर भी होना चाहिए कि इन स्कूलों और कॉलेजों में भरती हुए विद्यार्थियों की तैयारी और योग्यता के ऊँचे स्तर कायम रहें। और इस प्रकार एक ही कक्षा में दूसरी या तीसरी बार पढ़ने, बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने और परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाने में कमी की जा सके। इस प्रकार इन स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा का उच्च स्तर कायम किया जा सकता है।

इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए और अधिक साधन उपलब्ध किये जा सकेंगे। लेकिन इस स्थिति में भी, और अच्छी तरह प्रशिक्षित अध्यापकों की वर्तमान कमी को ध्यान में रखते हुए, इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए कि कुछ समय के लिए पहली कक्षा में भरती होने वाले बच्चों की संख्या में कमी की जाये।[73]

इसके बाद दो परस्पर सम्बन्धित उद्देश्यों को पूरा करना आसान होगा; एक, प्राइमरी स्कूलों में समस्त भौतिक सुविधाओं के अत्यन्त नीचे स्तर तो ऊँचा उठाना, और, दो, बीच में ही पढ़ाई बन्द कर देने वाले और एक ही कक्षा में बार-बार पढ़ने वाले विद्यार्थियों के रूप में भयंकर बर्बादी को कम करने के लिए भरपूर प्रयास करना। जैसाकि भारत के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में ज़ोर देकर कहा गया है :

"......आगामी वर्षों में प्राथमिक स्तर पर जिस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम को लागू किया जाना चाहिए, वह शिक्षा के स्तर और गुण में सुधार करना तथा बर्बादी को न्यूनतम करना है।"

प्राइमरी स्कूलों में भरती में वृद्धि में कुछ कमी केवल अस्थायी ही होनी चाहिए और इसका उपयोग नये विस्तार के लिए किया जाना चाहिए। जैसे ही माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा के विस्तार में कुछ कमी और दिशा परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के लिए अधिक साधन उपलब्ध होते हैं, और ये साधन अधिक बेहतर योग्यता वाले अध्यापकों की अधिक बड़ी संख्या के रूप में भी उपलब्ध होंगे, और जैसे ही प्राथमिक शिक्षा-प्रणाली में बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने वाले और बार-बार एक ही कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के रूप में होने वाली बर्बादी को कम कर दिया जाता है, प्राइमरी शिक्षा में नया विस्तार किया जाना चाहिए। यदि इस प्रक्रिया को लम्बा किया गया, तो अनेक गरीब ज़िलों के लोगों को अधिक समय तक अपने बच्चों को प्राइमरी स्कूलों में भेजने के अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी।

पूरे दक्षिण एशिया में, और केवल इस क्षेत्र के उस विशाल भाग में ही नहीं, जो अत्यधिक गरीब है और प्राइमरी शिक्षा की दृष्टि से कम-से-कम उन्नत है, प्रौढ़ शिक्षा के लिए प्रभावशाली प्रयास करने की आवश्यकता है।[74] यह कार्य साक्षरता बढ़ाने तथा इनके बच्चों को प्राइमरी स्कूलों में बनाये रखने और उन्हें

फिर निरक्षरता के गर्त में गिरने से रोकने के लिए आवश्यक है। ये प्रयास वस्तुतः स्कूलों की गतिविधियों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने चाहिए और इन्हें स्कूलों की गतिविधि के एक अतिरिक्त अंग के रूप में किया जाना चाहिए।

स्कूल प्रणाली के सुधार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या और योग्यता में वृद्धि करना है।[75] शिक्षा आयोग ने निरन्तर इस बात पर ज़ोर दिया है कि शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य बच्चों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना और अन्त में देश के समस्त लोगों के दृष्टिकोण में, 'समस्त जनता के मानव मूल्यों में' परिवर्तन करना है। आयोग 'सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति' की आवश्यकता को स्वीकार करता है, जो आधुनिकीकरण के आदर्शों की ओर उन्मुख होनी चाहिए। यह कार्य उन अध्यापकों के अभाव में सम्भव नहीं है जो केवल अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थितियों से ही सन्तुष्ट न हों और जिन्हें अपने समुदाय का बौद्धिक और नैतिक नेता समझा जाये। बल्कि जो निष्ठावान्, उत्साही तथा उपयोगी और व्यावहारिक ज्ञान के प्रसार की भावना से ओतप्रोत हों तथा जिन्होंने आगे बढ़ने का दृढ़संकल्प ले लिया हो।

इस दृष्टिकोण से शिक्षक, शिक्षण संस्थाओं का शिक्षा सम्बन्धी सुधार में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये संस्थाएँ ऐसे 'बिजलीघर' होनी चाहिए, जिनसे लोगों को विकास के लिए तैयार करने के वास्ते अपने विद्यार्थियों में नैतिक और बौद्धिक शक्ति उत्पन्न की जा सके।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए जिन सुधारों की योजना बनायी जाये और जिन्हें लागू किया जाये, उनके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा संस्थाओं पर सरकार का अधिक कड़ा नियन्त्रण हो और बेहतर प्रशासन की व्यवस्था की जाये।[76] इस क्षेत्र में केवल श्रीलंका ही इस समस्या को सुलझाने की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

इन तरीकों से शिक्षा-सुधार के लिए धन की आवश्यकता होगी।[77] यह सच है कि सुधार कार्यक्रम का एक आवश्यक तत्त्व उस बर्बादी से बचना होना चाहिए, जो आज हो रही है। केवल मात्रा की दृष्टि से विस्तार में कमी से ही साधनों की बचत होगी और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने और अधिक विद्यार्थियों को स्कूलों में बने रहकर अपनी शिक्षा पूरी करने तथा परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होगी वे इस प्रकार स्वयं उपलब्ध हो जायेंगे। लेकिन, सुधारों को वस्तुतः प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षा के लिए सचमुच राष्ट्र के साधनों का एक बड़ा भाग निर्धारित करना होगा।

यदि यह विश्वास करने के कारण भी मौजूद हों कि विकास को निश्चित बनाने और उसकी गति को तीव्र करने के लिए शिक्षा की स्थिति में सुधार करना महत्त्वपूर्ण है, तो भी पर्याप्त समय के बाद ही इसके प्रभाव महत्त्वपूर्ण रूप से सामने आ सकते हैं। और विलम्ब से प्राप्त होने वाले इन प्रभावों की वित्तीय 'लाभ' के रूप में गणना करना वस्तुतः सम्भव नहीं है। अतः शिक्षा के लिए अधिक धन की माँग को अन्य माँगों के साथ प्राथमिकता प्राप्त करने की दृष्टि से होड़ करनी होगी, विशेषकर ऐसी माँगों से जिनका सम्बन्ध ऐसे भौतिक विनियोगों से है, जिनके लाभ की गणना की जा सकती है और जो लाभ अपेक्षाकृत कम छोटी अवधि में प्राप्त होते हुए दिखायी पड़ते हैं।

इन समस्याओं पर विचार के समय हमारे मन में अत्यधिक गरीब और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए देशों की ही बात है, जिनमें प्रभावशाली उच्च वर्ग पहले ही 'शिक्षित' है और अपने बच्चों को 'शिक्षित' बनाता है। उसे इन सुधारों को लागू करने की तात्कालिक आवश्यकता अनुभव ही नहीं होती।

यद्यपि ऊपर जिस कार्यक्रम का विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके प्रत्येक मुद्दे पर सामान्य रूप से सहमति पर पहुँचना सम्भव होगा। लेकिन इन देशों में आज सत्ता का जो गठन है, उसमें इन सुधारों के प्रति प्रतिरोध विद्यमान है। इस अध्याय के पिछले पृष्ठ, जिनमें शिक्षा की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों की समीक्षा की गयी है, इस मान्यता के प्रति चेतावनी समझे जाने चाहिए कि आवश्यक सुधारों पर आसानी से निर्णय लिया जा सकता है और इन्हें लागू किया जा सकता है।

भारत का शिक्षा आयोग 'शिक्षा में क्रान्ति' की माँग करता है और यह विश्वास करता है, जो मेरे विचार से बिल्कुल सही है, कि यह क्रान्ति यदि इसे सचमुच लागू किया जाये, 'तो इसके परिणामस्वरूप अत्यन्त वांछित सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति का समारम्भ हो जायेगा।'[78] लेकिन 'सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति' का आरम्भिक अभाव स्वयं अपने-आपमें 'शिक्षा में क्रान्ति' को प्रोत्साहन देने के मार्ग में एक विराट् निषेध प्रस्तुत करता है। यह दुविधा उन समस्याओं में भी निहित है, जिन पर हम विकास की राजनीति सम्बन्धी चौथे खण्ड में आगे विचार करेंगे।

भारत के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में निम्नलिखित तरीके से आमूल और दूरगामी सुधारों के लिए अनुरोध किया गया है :

"हमें प्राइमरी शिक्षा की प्रभावशालिता में बहुत अधिक सुधार करना है; सामान्य शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में कार्य सम्बन्धी अनुभव की व्यवस्था करनी है; माध्यमिक शिक्षा को व्यवसायोन्मुख बनाना है; सब स्तरों पर अध्यापकों के स्तर में सुधार करना है और पर्याप्त संख्या में शिक्षक उपलब्ध कराने हैं; निरक्षरता समाप्त करनी है; उच्च अध्ययन के केन्द्रों को मज़बूत बनाना है और कम-से-कम अपने विश्वविद्यालयों में अधिक ऊँचे अन्तर्राष्ट्रीय मानक कायम करने का प्रयास करना है; कृषि और सम्बन्धित विज्ञानों में अध्यापन और अनुसन्धान में समन्वय के ऊपर विशेष रूप से ज़ोर देना है। इन सब कार्यों के लिए कृतसंकल्प और बड़े पैमाने पर कार्रवाई की आवश्यकता है।"

अपनी रिपोर्ट के अन्त में, जिसमें आयोग ने बड़े विस्तार से यह बताया है कि उसके सुझावों का क्या अभिप्राय है, यह भी कहा गया है कि यह रिपोर्ट 'कार्रवाई का स्थान नहीं ले सकती।'

जहाँ तक शिक्षा सुधार के समयबद्ध कार्यक्रम का प्रश्न था, रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया "······देश का भविष्य अधिकांशतया इस बात पर निर्भर करता है कि अगले दस वर्षों अथवा लगभग इतने ही समय में शिक्षा के सम्बन्ध में क्या किया जाता है।" रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद चार वर्ष का जो समय गुजर गया है, उसमें भारत के आयोजन और राजनीति में इस दिशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। दक्षिण एशिया के अन्य अत्यन्त गरीब देशों में भी कोई इससे अधिक भिन्न बात नहीं हुई है।

कम-विकसित संसार के अन्य भागों के बारे में मैं फिलहाल इतने सटीक ढंग से बातें कहने की स्थिति में नहीं हूँ जिस प्रकार दक्षिण एशिया के बारे में हूँ। पर सम्बन्धित साहित्य के सरसरी तौर पर अध्ययन से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है कि प्रायः सर्वत्र मोटे तौर पर ऐसी ही समस्याएँ मौजूद हैं। यद्यपि दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में हमने जिस प्रकार की समस्याओं को देखा है, ये उससे बेहद भिन्न हैं, विशेषकर कम गरीब और बहुत अधिक गरीब देशों के बीच के अन्तर के सम्बन्ध में।

प्रायः सर्वत्र इस बात पर सामान्य सहमति है कि यथासम्भव कम समय में सार्वभौम साक्षरता का लक्ष्य पूरा करने को उच्च राष्ट्रीय प्राथमिकता दी जानी चाहिए। गैर-कम्युनिस्ट देशों में इसके बावजूद वयस्क शिक्षा को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। प्राइमरी शिक्षा का विस्तार हो रहा है, लेकिन अक्सर यह काम बहुत नीचे स्तर के स्कूलों की स्थापना के द्वारा किया जा रहा है। बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने और एक ही कक्षा में बार-बार पढ़ने के रूप में जो बर्बादी होती है, विशेषकर अधिक गरीब देशों और अधिक गरीब जिलों में, वह बहुत सामान्य बात बन गयी है और इसमें वृद्धि के भी लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं।

माध्यमिक शिक्षा और विशेष रूप से कॉलेज शिक्षा को कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ने दिया गया है, लेकिन इसके साथ ही शिक्षा के स्तर का बलिदान दे दिया गया है और उन विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई है जो परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। प्रायः सर्वत्र स्कूलों को कम 'साधारण' बनाने और माध्यमिक तथा कॉलेज शिक्षा को अधिक व्यावहारिक और विभिन्न पेशों से सम्बन्धित बनाने के प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं।

सामान्यतया जिन लक्ष्यों की घोषणा की जाती है, उनके अनुरूप शिक्षा में सुधार के प्रयास न हो पाना प्रायः सर्वत्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरीकरण के ऊपर आधारित है, जिससे एक छोटे से उच्च वर्ग को बड़ी प्रभावशाली स्थिति प्राप्त हो गयी है। हैसियत और डिग्रियों को अनावश्यक महत्त्व दिया जाता है, जिससे एक विशिष्ट लोगों से प्रभावित समाज में विविधतापूर्ण प्रणाली का दर्शन होता है।

लेटिन अमरीका, पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अन्य अनेक प्रभावित करने वाले कारक बहुत भिन्न हैं और इस कारण से शिक्षा की स्थिति में पर्याप्त समानताएँ आश्चर्यजनक दिखायी पड़ती हैं। सर्वत्र एक यह समानता दिखायी पड़ती है कि एक छोटे-से उच्च वर्ग का राजनीतिक प्रभुत्व कायम है। सहारा के दक्षिण में स्थित अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र देश अभी भी 'जन्म लेने की प्रक्रिया' से गुजर रहे हैं, लेकिन फिर भी इनमें से अनेक देशों में एक विशिष्ट वर्ग के गठन के अपवादजनक लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं।

कम-विकसित देशों में शिक्षा सम्बन्धी जिन सुधारों की आवश्यकता है, उनके लिए स्वयं इन देशों के भीतर ही संघर्ष करना होगा, योजनाएँ बनानी होंगी और इन पर अमल करना होगा।

आबादी सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में, और स्वास्थ्य नीति के बारे में भी, मैंने अध्याय-5 में यह कहा है कि विकसित देश और विशेषकर संयुक्त राज्य

अमरीका सन्तति-निरोध के उपायों में वस्तुतः प्रभावशाली परिवर्तन लाकर कम-विकसित संसार की ठोस सहायता करने की स्थिति में थे। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी किसी सहायता की बहुत कम गुंजाइश है।[79]

स्वास्थ्य, सेक्स और सन्तति-निरोध का सम्बन्ध सीधी-सादी जैविक प्रक्रियाओं से है। इन प्रक्रियाओं के बारे में निश्चित वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध है, जो नये अनुसन्धान के द्वारा निरन्तर दृढ़ होती जा रही है और इसके आधार पर कहीं अधिक चिकित्सा टेक्नालॉजी का विकास हो रहा है, जिसे सर्वत्र लागू किया जा सकता है। इसके विपरीत शिक्षा की समस्याओं का सम्बन्ध लोगों के मन-मस्तिष्क से होता है, केवल उनके शरीरों से नहीं।

और उनका मन-मस्तिष्क एक बहुत भिन्न संस्कृति से प्रभावित है और इस संस्कृति को समाप्त नहीं किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए। परम्परागत संस्कृति को इस प्रकार प्रभावित करना एक बड़ी जटिल समस्या है कि इसमें आधुनिकीकरण के लिए स्थान बन जाये। इसके लिए शिक्षा के नये परिष्कृत तरीकों की आवश्यकता होती है और पश्चिमी संसार में प्रचलित तरीकों को जैसे का तैसा नहीं अपनाया जा सकता।

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में सन्तति-निरोध के उपायों जैसा कोई विकल्प मौजूद नहीं है, जिसके सम्बन्ध में विकसित देशों के अनुसन्धानकर्ता प्रयोग कर सकें और इसके बाद कम-विकसित देशों को उनके उपयोग के लिए इन प्रयोगों के परिणामों को प्रस्तुत कर सकें। इन देशों में परिस्थितियाँ और इसके परिणाम-स्वरूप लोग इतने भिन्न हैं कि पश्चिम के शिक्षा विशेषज्ञ शिक्षा के तरीकों के बारे में मुश्किल से ही कोई योगदान कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए कम-विकसित देशों में वयस्क शिक्षा की केवल अधिक आवश्यकता ही नहीं है, बल्कि एक भिन्न प्रकार की वयस्क शिक्षा की ज़रूरत है। साधारणतया, बच्चों और वयस्क लोगों को पढ़ाने के तरीके भिन्न होंगे और अक्सर नये तरीकों की कल्पना करनी होगी। अन्य क्षेत्रों की तुलना में पश्चिम के शिक्षा विशेषज्ञ शिक्षा के क्षेत्र में इन देशों में पूरी तरह से अनुपयुक्त हैं। यद्यपि इतने भयंकर रूप से नहीं, जैसे जॉन कैनेथ गालब्रेथ के उपन्यास 'दि ट्रायम्फ' में दर्शाया गया है। अब यह उपन्यास लेटिन अमरीका में सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों की कोटि में पहुँच गया है और इसे पढ़कर लोग खूब हँसते हैं।

इसके महत्त्वपूर्ण अपवाद भी हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब टेक्नालॉजी को वित्तीय सहायता से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रव्य और दृश्य उपकरण अध्यापक की कार्य-कुशलता में वृद्धि कर सकते हैं, चाहे उसे कुछ भी क्यों न पढ़ाना हो और उसका पढ़ाने का तरीका चाहे कैसा भी क्यों न हो। पढ़ाई के लिए अन्य अनेक प्रकार के भौतिक उपकरण भी आवश्यक होते हैं, जिनमें पुस्तकें और कागज़ भी शामिल हैं और यदि मुफ्त अथवा रियायती दरों पर ये वस्तुएँ कम-विकसित देशों को दी जायें तो बहुत सहायता पहुँच सकती है। यदा-कदा स्वयं इन देशों में इन वस्तुओं को तैयार करने के लिए वित्तीय सहायता देना विकास के कहीं अधिक अनुरूप होगा।

शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में सुधार करने के लिए भी आर्थिक सहायता महत्त्वपूर्ण हो सकती है। ऐसे सुधारों के लिए, जैसे अध्यापकों को अधिक वेतन,

सामान्यतया विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः यह कहा जा सकता है कि उन्हें विदेशी सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं है, बल्कि जैसाकि अन्य अनेक सुधार सम्बन्धी नीतियों के बारे में होता है, ऐसी धनराशि की आवश्यकता है, जो विदेशों से किसी खास कार्य के लिए प्राप्त न हो।

लेकिन इस बात में सन्देह नहीं कि शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के लिए विशेष रूप से दी गयी और केवल इसी कार्य के लिए निर्धारित विदेशी सहायता देने वाले संगठनों अथवा देशों के लिए यह सम्भव बना सकती है कि वे कम-विकसित देशों पर यह दबाव डालें कि वे शिक्षा के क्षेत्र में अधिक साहस से आगे बढ़ें, बशर्ते सहायता देने वाले देश इतने अधिक प्रबुद्ध हों कि वे केवल उसी दिशा में प्रभाव डालेंगे, जो सही है।

विकसित देशों ने कम-विकसित देशों के विद्यार्थियों को अपने विश्वविद्यालयों में अध्ययन की सुविधा देकर महान् उदारता दिखायी है। इस प्रकार की विदेशी सहायता के पीछे निःसन्देह कम भाग्यशाली युवक-युवतियों को सहायता पहुँचाने की सद्भावना का शानदार उद्देश्य रहता है। अक्सर यह भी आशा की जाती है कि इस तरीके से उन्हें उन राजनीतिक विचारों का समर्थक बनाया जा सकता है, जो सहायता देने वाले देशों में मान्य हैं। लेकिन, यह एक ऐसी आशा है जो सदा पूरी नहीं होती। फिर महान् उदार परम्परा के अनुरूप कोई भी अनुभवी प्रोफेसर संसार के किसी भी भाग के विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालयों के दरवाजे बन्द कर देने की बात नहीं कहेगा।

लेकिन, प्रश्न यह उठता है कि इस कार्य के लिए पर्याप्त सहायता देना क्या सचमुच व्यावहारिक और लाभकारी है। अनेक क्षेत्रों में···विशेषकर सामाजिक विज्ञानों में और उदाहरण के तौर पर कृषि के क्षेत्र में भी···कम-विकसित देशों के विद्यार्थियों को ऐसा प्रशिक्षण देना जो उनके देशों की आवश्यकताओं के अनुरूप न हो, निरर्थक है। अक्सर इसका अभिप्राय कुशिक्षा ही होता है। यदि ये विद्यार्थी, जैसाकि अक्सर होता भी है, उच्च वर्ग के हैं और इनके 'अच्छे सम्बन्ध' हैं, तो इन्हें अपने देश में ऐसे पद मिल सकते हैं, जिनके लिए इन्हें सर्वोत्तम प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हुआ। अथवा ये विद्यार्थी स्वदेश नहीं लौटना चाहेंगे और विदेशों में ही कार्य करना पसन्द करेंगे। इसके परिणामस्वरूप उनके देश उनकी सेवाओं से वंचित हो जायेंगे। इसके अलावा विदेशी विशेषज्ञों द्वारा तकनीकी सहायता, सर्वोत्तम मामले में, शिक्षा के लिए सहायता कही जा सकती है।

पर इस सम्बन्ध में इस मुद्दे पर जोर दिया जाना चाहिए कि शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी सहायता का केवल बहुत मामूली महत्त्व ही हो सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कम-विकसित देश स्वयं क्या निर्णय लेते हैं और शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के इन निर्णयों को किस सीमा तक लागू करने में सफल होते हैं। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि वे आज अपने देशवासियों को जो शिक्षा दे रहे हैं केवल उसे और अधिक बढ़ा दें, बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि अपनी शिक्षा-प्रणाली के स्वरूप, दिशा और विषयवस्तु में बुनियादी परिवर्तन करें।

अध्याय : 7

नरम राज्य

1. एक व्यापक तथ्य

विभिन्न सीमाओं तक सब कम-विकसित देश 'नरम राज्य' हैं। यह बात उन अन्य अनेक परिस्थितियों के साथ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में मौजूद रहती है, जो एक साथ मिलकर किसी देश को कम-विकसित बनाती हैं। यह स्पष्ट है कि और अधिक सामाजिक अनुशासन के बिना विकास के मार्ग में बहुत बड़ी कठिनाइयाँ आयेंगी और कम-से-कम हर स्थिति में विकास में विलम्ब तो अवश्य ही होगा।[1]

'नरम राज्य' का अभिप्राय विभिन्न प्रकार की उस सामाजिक अनुशासनहीनता से है, जो इन रूपों में प्रकट होती है : कानून की खामियाँ और विशेषकर कानून के पालन और उसे लागू करने की खामी; विभिन्न स्तरों पर सरकारी अफसरों द्वारा उन नियमों और निर्देशों की व्यापक अवहेलना जो उन्हें दिये जाते हैं, और अक्सर उनकी ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों से साँठ-गाँठ, जिनके आचरण को नियमित बनाने की जिम्मेदारी इन अफसरों पर होती है। 'नरम राज्य' की संकल्पना के अन्तर्गत भ्रष्टाचार भी आता है, जिस पर इस अध्याय के दूसरे अनुभाग में विचार किया जायेगा। आचरण के ये विभिन्न स्वरूप इस दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं कि ये एक-दूसरे को समग्र प्रभाव उत्पन्न करने वाले चक्रीय कार्य-कारण की अनुमति ही नहीं देते, बल्कि उसके लिए एक-दूसरे को प्रेरित तक करते हैं।[2]

किसी भी ऐसे राष्ट्रीय समुदाय में, जिसे नरम राज्य कहा जा सके, ढील और मनमाना आचरण उन लोगों के लिए शोषण का साधन बनता है जिनके हाथों में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सत्ता है। यद्यपि नरम राज्यों में बड़े पैमाने पर शोषण की जो सम्भावनाएं मौजूद रहती हैं, उनका लाभ केवल उच्च वर्ग ही उठा पाता है, लेकिन समाज में बहुत नीचे दर्जे के लोगों को भी छोटे-मोटे लाभ उठाने का मौका मिल जाता है। पर इन व्यक्तिगत स्वार्थों के अलावा एक नरम राज्य में प्रत्येक स्तर पर लोगों के भीतर सार्वजनिक नियन्त्रण और उसे लागू करने के प्रति व्यापक प्रतिरोध का भाव रहता है। इस अत्यधिक जटिल स्थिति पर सामान्य विचार का केन्द्रबिन्दु भी दक्षिण एशिया के देश ही रहेंगे, जिनकी परिस्थितियों का मैंने अधिक गहराई से अध्ययन किया है। नरम राज्य कम विकास की समस्त समस्याओं का एक पहलू है और इस अध्याय में एशियन ड्रामा के पर्याप्त सन्दर्भ देना विशेष रूप से कठिन होगा। कम-विकसित संसार के दूसरे भागों के बारे में केवल कुछ संक्षिप्त टिप्पणियाँ ही की जायेंगी।

किसी कम-विकसित देश की इस विशेषता का अर्थात् उसके नरम राज्य होने का प्रकट रूप से प्राय: इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होता कि वहाँ किस प्रकार की सरकार है। थाईलैंड अथवा इंदोनेशिया जैसे निरंकुश शासन के अधीन देश, 1966 की वसंत ऋतु से पहले की और इसके बाद की हिंसापूर्ण घटनाओं के बावजूद, उसी प्रकार नरम हो सकते हैं, जिस प्रकार हमारी परिभाषा के अनुसार भारत अथवा श्रीलंका, जहाँ संसदीय सरकारें हैं और नियमित चुनाव कराये जाते हैं। ये राज्य और भी नरम हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए, यह सच है कि सन् 1958 में पाकिस्तान में सेना ने जब सत्ता हथियाई तो सार्वजनिक मामलों में व्यापक अनैतिकता आ चुकी थी और लोगों का हौसला टूट चुका था। यह कार्य इससे पहले के 'लोकतन्त्री' शासन के दौरान हुआ था और सेना द्वारा सत्ता हथियाने को व्यवस्था और आत्मविश्वास कायम रखने के लिए आवश्यक बताया गया।[3] इसके अलावा साधारणतया सैनिक शासन इस दिशा में तुरन्त कुछ कामयाबी दिखा सकता है, जिस प्रकार पाकिस्तान में अयूब खान की सरकार ने और वर्मा में 1958 में पहली सैनिक सरकार ने प्रदर्शित किया।[4]

लेकिन, जैसाकि इन देशों में प्रकट हुआ, यह कामयाबी स्थायी नहीं होती अथवा नहीं हो सकती। यह बात इस तथ्य से असम्बन्धित नहीं है, और जिस पर मैंने अध्याय-3 में विचार किया है, कि सरकार में परिवर्तन अथवा सरकार के प्रकार में परिवर्तन, जन-सामान्य के सिर के ऊपर होता है, उससे कोई सलाह नहीं ली जाती और मुख्यतया इसका यह अर्थ होता है कि जिस उच्च वर्ग का सत्ता पर अधिकार है, उसके एक समूह के स्थान पर दूसरे समूह ने सत्ता पर कब्जा कर लिया है।[5]

आगे बढ़ने से पहले मैं आरम्भिक अध्यायों से भी कहीं अधिक इस बात को महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि इस तथ्य का जोर देकर उल्लेख करूँ कि नरम राज्य के विश्लेषण के निम्न प्रयास को नैतिकतावादी उपदेश के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। अन्य बातों की तरह सामाजिक अनुशासन के बारे में भी कम-विकसित देश अपनी वर्तमान हालत में इस कारण से नहीं हैं कि इन देशों के लोगों के चरित्र में कुछ विशेष बुराइयाँ पैठी हुई हैं, वल्कि यह एक लम्बे इतिहास का परिणाम है, जो पश्चिम के विकसित अथवा कम्युनिस्ट देशों से वहुत भिन्न है, जिसकी अवधि में एक विशेष प्रकार का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सत्ता का ढाँचा विकसित हुआ।[6]

मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के दृष्टिकोण से कार्य-कारण का जो पारस्परिक सम्बन्ध है अथवा इनकी जो प्रक्रिया प्रकट होती है, सामाजिक अनुसन्धान का कार्य उसे पूरी तरह प्रकट करना है न कि आरोप लगाना अथवा क्षमा कर देना। प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि अनुसन्धान किसी भी प्रकार का समझौता किये विना यथार्थवादी हो, राजनयिक दृष्टिकोण अथवा आवश्यकताओं से प्रेरित नहीं। जब विकास सम्बन्धी लेखन में इस विषय को भद्दा और उलझन-भरा मानकर सामान्यतया छोड़ दिया जाता है, तो इससे दूसरे महायुद्ध के बाद के आर्थिक अनुसन्धान में निहित पूर्वाग्रहों का एक और बड़ा उदाहरण प्रकट होता है, जिस पर अध्याय-1 में विचार किया गया है और इन पूर्वाग्रहों के

कारण इस आर्थिक अनुसन्धान के परिणाम अत्यधिक दोषपूर्ण और सतही सिद्ध हुए हैं।

उपनिवेशी युग से पहले दक्षिण एशिया के ग्रामीण इलाकों में निःसन्देह एक प्रकार की 'एकता' थी, जैसी यूरोप में मध्य युग से पहले और मध्य युग के दौरान थी। पर्याप्त सीमा तक 'स्वशासन' था और यह स्वशासन अपने किस्म का था। आधुनिक युग में प्रशासन का जो अर्थ समझा जाता है वैसा नहीं था। पर सत्ता का आधार और वितरण और एक अधिक केन्द्रीय सत्ता से इसके सम्बन्ध चाहे कैसे भी क्यों न रहे हों, इस प्रणाली ने एक गतिहीन और अधिकांशतया आत्मनिर्भर समुदाय में सामाजिक और आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने का काम किया।[7]

इसका सार अनेक प्रकार के उत्तरदायित्वों में निहित था। सबसे पहले इसे खेती करने के अधिकार को नियमित बनाना पड़ता था और इसके साथ ही सड़कों, नहरों, तालाबों और ऐसी अन्य सुविधाओं को अच्छी स्थिति में रखना था, जिनका मिलजुलकर उपयोग किया जाता है। ऐसे देशों में—जैसे वर्मा और श्याम—जहाँ अधिक समानतावादी ढाँचा मौजूद था, श्रम में एक-दूसरे की सहायता करने के परम्परागत नियम थे। यह एक प्रकार की 'सहकारिता' थी, लेकिन यह सहकारिता आधुनिक युग की इस सहकारिता से भिन्न थी, जिसका आज दक्षिण एशिया में विकास के लिए उपयोग करने का प्रयास किया जा रहा है। यह उत्तरदायित्व अधिकांशतया व्यक्तियों, परिवारों अथवा समूहों के बीच थे, जिनकी सामाजिक हैसियत भिन्न होती थी। ये उत्तरदायित्व पूरे समाज के सामूहिक हितों को ध्यान में रखते हुए नहीं निभाये जाते थे।

इन परम्परागत विचारों और दायित्वों के संरक्षण तथा इनके उल्लंघन के लिए दण्ड देने और सुधार करने के लिए व्यवस्था थी। यूरोप की तरह दक्षिण एशिया में उत्तरदायित्व आबादी के गरीब वर्ग पर सर्वाधिक भारी रूप से डाले जाते थे। यद्यपि विभिन्न देशों और विभिन्न युगों में सदा बड़ा अन्तर रहा। पर ऐसा लगता है कि उत्तरदायित्वों के निर्वाह में पर्याप्त ढील बरती जाती थी, विशेषकर उन देशों में जहाँ आर्थिक और सामाजिक असमानताएँ सबसे अधिक हैं—जैसे उस उपमहाद्वीप में जो आज भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजित हो गया है। निचले वर्ग के लोगों के प्रति क्रूरता के साथ-साथ इन वर्गों के लोगों द्वारा मामूली ढंग से बाधाएँ डालने और अनुशासनहीनता की स्थिति मौजूद थी तथा दूसरी ओर विशेषाधिकार प्राप्त समूह इन लोगों की नीचे दर्जे की कार्य-क्षमता, कार्यकुशलता और समय की पाबन्दी के प्रति कृपा भाव दर्शाते थे।

यूरोप और दक्षिण एशिया का वर्तमान अन्तर धीरे-धीरे अस्तित्व में आया। पश्चिम यूरोप में, ह्रास के युगों के बावजूद, विरासत में प्राप्त अधिकारों और उत्तरदायित्वों की प्रणालियों को पूर्ण बनाने और व्यक्ति, पारिवारिक अथवा समूह के सम्बन्धों पर आधारित उत्तरदायित्वों को पूरे समुदाय के उत्तरदायित्वों में बदलने का लम्बी अवधि का प्रयास किया गया। यह सामाजिक और सांस्कृतिक

क्रम-विकास का एक पहलू था, जो व्यापार-व्यवस्था और उदारतावाद, उद्योगीकरण और शहरीकरण के माध्यम से प्रकट हुआ और जिसे, समष्टिभाव समाजशास्त्रियों ने 'हैसियत' से 'ठेके', 'यन्त्रवत' से 'संगठित' एकता, 'जेमीनशाफ्ट' से 'जेसेलशाफ्ट' में परिवर्तन बताया है।

अमरीका में आरम्भ से ही, सीमा की बस्तियों तक में, इस आधुनिक सामुदायिक व्यवस्था की स्थापना हुई। राजनीतिक लोकतन्त्र पर आधारित हितकारी राज्य की ओर पश्चिम के देशों का हाल में आगे बढ़ने का यह अभिप्राय है कि अधिकारों और उत्तरदायित्वों की आरम्भिक प्रणालियों की अधिक सटीक परिभाषा देने की दिशा में आमूल और दूरगामी कार्रवाई हुई है, ढील और मनमाने आचरण में अत्यधिक कमी आयी है तथा भार का अधिक समानतावादी वितरण हुआ है। आज कोई भी व्यक्ति चाहे उसकी सामाजिक हैसियत कुछ भी क्यों न हो, समाज के इन मजबूत नियन्त्रणों की प्रणाली से बच नहीं सकता।

दक्षिण एशिया में आदिम और गतिहीन ग्राम संगठन से इस प्रकार क्रम-विकास नहीं हुआ। इसके विपरीत उपनिवेशवाद ने साधारणतया प्राचीन ग्राम संगठन का ह्रास कर दिया, लेकिन इसके स्थान पर किसी भी उचित संगठन की व्यवस्था नहीं की। अप्रत्यक्ष शासन ने साधारणतया प्रत्यक्ष शासन की तुलना में परम्परागत व्यवस्थाओं को अधिक सुरक्षित रखा। उपनिवेशी नीति के दो प्रकारों के भिन्न प्रभावों के अतिवादी उदाहरणों के रूप में क्रमशः इंदोनेशिया और बर्मा का उल्लेख किया जा सकता है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि पश्चिम के नमूने पर भूस्वामित्व लागू करने का दबाव, कुछ आर्थिक सम्बन्धों का आंशिक रूप से मुद्रीकरण, इन दो परिवर्तनों के परिणामस्वरूप रुपया कर्ज देने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलना, आन्तरिक प्रवास, कुछ देशों में 'पूर्व के देशों के लोगों' का आगमन, और उपनिवेशी शासन का थोपा जाना, जिसका लक्ष्य मुख्यतया कर वसूलना और शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना था, इन देशों में अधिकारों और उत्तरदायित्वों, कानूनों और कानून प्रक्रियाओं को कमजोर बना डालने का आधार बना और कुछ क्षेत्रों में तो ये व्यवस्थाएं पूरी तरह समाप्त हो गयीं। पश्चिम के नमूने पर स्थानीय स्वशासन की स्थापना के अनेक प्रयास, जो उपनिवेशी युग के बाद के दशकों में विशेष रूप से किये गये, प्रायः सर्वत्र असफल रहे।

उपनिवेशी युग से पहले की निरंकुश परम्परा—जो सामाजिक स्तरीकरण में असमानता की सीमा के अनुसार सशक्त अथवा कमजोर होती थी लेकिन जो सदा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी—उपनिवेशी शासन से और मजबूत हुई तथा इसने अवांछित हस्तक्षेप का रूप धारण कर लिया। ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत लोग हुक्म मानने के आदी हो गये, लेकिन इसके साथ ही वे अपने फायदे के लिए जो कुछ कर सकते थे वह करने से भी नहीं चूके। जनता के जीवन और कार्य में उपनिवेशी सरकार का हस्तक्षेप अबन्ध-नीति सम्बन्धी इस धारणा से प्रभावित था कि उपनिवेशी सरकारों को सामाजिक और धार्मिक मामलों में अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए—लोकप्रिय स्तर पर धर्म, सामाजिक सम्बन्धों में यथास्थिति बनाये रखने की प्रमुख शक्ति था।

इस सीमा के भीतर और उपलब्ध कर्मचारियों और धन की सीमाओं के भीतर उपनिवेशी अफसरों की यह स्वाभाविक भूमिका थी कि वे अपने-अपने तरीकों से हस्तक्षेप करें और लोगों के हित के प्रति आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप का रवैया अपनायें। इन अफसरों के हाथ में प्रशासनिक नियन्त्रण थे, जिनमें स्वयं अपने विवेक से कार्य करने की बहुत अधिक छूट दी गयी थी। ये अफसर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता से काम करते थे, जिसका निचले स्तरों पर निरन्तर विस्तार होता जाता था। इन कर्मचारियों में सम्बन्धित देशों के लोग भी शामिल थे और यह कार्य उपनिवेशी सरकार के विश्वासप्राप्त सामन्ती तत्त्वों की सहायता से भी किया जाता था। इन्दोनेशिया को छोड़कर भ्रष्टाचार व्यापक रूप से फैला हुआ था, विशेषकर निचले स्तरों पर। इससे भी इस शासन प्रणाली में मनमाने आचरण को सहायता मिली।

उपनिवेशी शासन के अन्तिम दशकों में, विदेशी शासन से मुक्ति के आन्दोलन, जैसे अंग्रेजों के शासन के अधीन भारत में (जिसमें वर्तमान पाकिस्तान भी शामिल है), इन्दोनेशिया और इससे भी अधिक लम्बी अवधि तक फ्रांसीसी हिन्द-चीन में, विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाये रहे। सत्ता की अवज्ञा उनका स्वाभाविक हथियार था।

भारत में मोहनदास गांधी ने असहयोग के राजनीतिक हथियार के दर्शन और सिद्धान्त का विकास किया। दक्षिण एशिया के ऐसे देशों में जहाँ कोई गांधी नहीं था अथवा स्वतन्त्रता आन्दोलन भी नाममात्र को ही चल रहा था, इसके वावजूद अवज्ञा और असहयोग शक्तिशाली उपनिवेशी ढाँचे के विरुद्ध विरोध प्रकट करने का और अपनी रक्षा का स्वाभाविक तरीका था। ये बातें व्यापक जनसमुदाय में अधिक प्रभावशाली ढंग से इसलिए फैल सकती थीं क्योंकि ये बातें परम्परागत निरंकुशतावाद में निहित सामान्य उदासीनता और उपेक्षा के अनुरूप थीं। इसके परिणामस्वरूप अधिक अराजकतावादी दृष्टिकोणों की एक विरासत कायम हो गयी, जो आज स्वयं स्वदेशी सरकारों के आड़े आ रही है।[8]

पर ये सरकारें विकास करना चाहती हैं और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए योजनाएं बनाती हैं। चाहे ये सरकारें अपनी सत्ता स्वतन्त्र चुनावों के माध्यम से प्राप्त करती हों, जैसाकि भारत और श्रीलंका में होता है अथवा ये किसी भी प्रकार की तानाशाही सरकारें हों, जैसाकि पाकिस्तान और बर्मा में है, ये सरकारें विकास का प्रयास करती हैं और अपने इस प्रयास को 'लोकतन्त्री आयोजन', 'विकेन्द्रीकरण', अथवा 'बुनियादी लोकतन्त्र' जैसे नामों से पुकारती हैं।[9] इस बात के अच्छे और स्पष्ट कारण मौजूद हैं कि ये सरकारें जनसामान्य का सहयोग और समर्थन क्यों चाहती हैं, क्योंकि यह जनसमुदाय निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा, जिसका उसे अच्छा प्रशिक्षण प्राप्त है, विकास के प्रयासों को निष्फल बना सकता है। मैंने जिस विरासत के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है उसके कारण (और भ्रष्टाचार से ग्रस्त अपने कमजोर प्रशासनों के कारण), यह बात समझी जा सकती है कि ये सरकारें सामुदायिक उत्तरदायित्वों की किसी प्रणाली का निर्माण करने और उसे मजबूत बनाने के प्रयासों से बचती हैं, यद्यपि अब आधुनिकीकरण के दृष्टिकोण से ये उत्तरदायित्व इन सब देशों के लिए स्पष्ट रूप से आवश्यक दिखायी पड़ते हैं।

भारत जैसे देश तक में, जहाँ हाल तक आयोजन को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा और जहाँ एक के बाद एक योजना में अत्यधिक विविध विषयों पर ध्यान दिया गया, यह देखने के लिए कि क्या कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ की गयी हैं, जिनके द्वारा गाँव वालों पर उत्तरदायित्व डाला गया हो, बड़ी गहरायी से योजनाओं का अध्ययन करना होगा। पहली दोनों योजनाओं में इस वांछनीयता का उल्लेख किया गया है कि राज्य, जिनके ऊपर कृषि नीतियाँ निर्धारित करने का उत्तरदायित्व है, भू-प्रवन्ध सम्बन्धी ऐसे कानून बनाये, जिससे भूमि को क्षति से बचाया जा सके। लेकिन यह सिफारिश, जिसे बिना किसी विश्वास और संकल्प के पेश किया गया था, लागू नहीं की गयी। केवल कुछ राज्यों में अस्थायी तौर पर इस बारे में कानून बनाये गये और वहाँ भी इन कानूनों को लागू नहीं किया गया।

समग्र दृष्टि से सार्वजनिक विचार विनिमय में अधिक अनुशासन की आवश्यकता पर विचार करने से विधिवत् बचा जाता है—भारत में आज वस्तुतः यह बात गांधी के युग से कहीं अधिक हो रही है। इसके स्थान पर अनेक प्रकार के प्रलोभनों का सहारा लिया जाता है : उपदेश, शिक्षा, प्रशिक्षण और उपदान। श्रम, पूंजी और उत्पादन की दृष्टि से बाजारों के अभाव अथवा इनके अत्यधिक अपूर्ण होने के कारण सामान्य और मनमाने हस्तक्षेप से मुक्त दाम प्रक्रिया के माध्यम से सरकारी उपदान शायद ही कभी दिये जा सकते हैं।[10]

अन्य व्यक्तिगत प्रलोभनों सहित सरकारी उपदान का वितरण उन नियन्त्रणों के माध्यम से किया जाता है, जिन्हें मैं अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर नियन्त्रण कहता हूँ और यह वितरण सामुदायिक विकास, सहकारिता और स्थानीय स्वायत्त शासन के नये संगठनों के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार भारत में लाखों प्रकार के उपदान वितरित किये जाते हैं। ये नीतियाँ कमजोर प्रशासन पर आवश्यकता से अधिक भार डाल रही हैं और भ्रष्टाचार के विशाल और नये-नये रास्ते खोल रही हैं।

इनका उद्देश्य गरीब वर्गों को सहायता देना रहा है, लेकिन असमान सामाजिक वर्गीकरण और सत्ता के स्वरूप के कारण इन देशों में इसका लाभ अपेक्षाकृत समृद्ध लोगों को मिला है,[11] जैसाकि अध्याय-4 में स्पष्ट किया गया है। आंशिक रूप से इस कारण से ग्रामोत्थान के कार्यक्रम में शिक्षा के जो प्रलोभन शामिल किये गये हैं, उनका निराशाजनक परिणाम निकला है।[12] इस प्रभावहीनता का एक सामान्य कारण यह भी रहा है कि इनके पूरक के रूप में सामुदायिक उत्तरदायित्वों की प्रणाली का निर्माण करने का प्रयास नहीं किया गया। सिद्धान्त की दृष्टि से दक्षिण एशिया के अन्य देशों में नीतियाँ भिन्न नहीं रही हैं।

जन-समुदाय को केवल प्रलोभन देने और उसके ऊपर कड़ाई न बरतने की यह नीति अपनाने की बात को उपनिवेशी युग की विरासत और उन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर समझाया जा सकता है, जिनमें इन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। सम्भवतः यह भी समझा जा सकता है कि इन देशों ने उस बात को एक अच्छाई बना दिया, जिसे कुछ सीमा तक एक आवश्यकता समझा गया था। इन सरकारों के नीति सम्बन्धी पूर्वाग्रह को बड़े गर्व से यह कहकर समझाया जाता है कि नई

सरकार लोगों को वाध्य करने के तरीके से घृणा करती है और वह लोगों को समझाने-बुझाने और प्रोत्साहन देने के सकारात्मक तरीकों से ही काम करने के लिए कृतसंकल्प है।[13]

शीतयुद्ध के वातावरण में यह बात साम्यवाद के विरुद्ध मोर्चा लेने की इच्छा प्रदर्शित करने का अवसर सिद्ध हुई और इसे आतंक और जनता को पूरी तरह से सरकारी आदेशों का गुलाम बना देने जैसी बातों के विरुद्ध अपनायी गयी नीति के रूप में भी प्रकट किया गया। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति, जो समानतावादी सुधारों को लागू करने में राज्य की शक्ति के उपयोग को रोकना चाहता है और ऐसे सब लोग जो इन सुधारों के मार्ग में आने वाली राजनीतिक और संस्थागत बाधाओं से परिचित होने के कारण निराशावादी हो जाते हैं, केवल ऊपर से तर्कसंगत दिखायी पड़ने वाली इस व्याख्या में अपना निहित स्वार्थ देखने लगते हैं।

पश्चिम के देशों में, जो कम-विकसित संसार को साम्यवाद से बचाने की चिन्ता में लगे हुए थे, अनिवार्यताओं के विरुद्ध निर्णय लेने की बात को बड़े सीधे-सादे ढंग से जैसे का तैसा स्वीकार कर लिया गया और स्वयं कम्युनिस्टों की भी अधिक कड़े कानून अनिवार्य रूप से लागू करने में कोई दिलचस्पी नहीं है। सम्भवतः वे भी यह विश्वास करते हैं कि यह कार्य क्रान्ति हो जाने तक नहीं किया जा सकता और वर्तमान दौर में वे इस बात का प्रचार नहीं करना चाहते। इस प्रकार इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श उलझन में ही फँसा रहता है।

वास्तविक और अत्यधिक गम्भीर दुविधा, जिसके ऊपर स्वेच्छा के आदर्श का मौखिक आवरण डाला जाता है, यह है कि दक्षिण एशिया में अधिक सामाजिक अनुशासन के विना तेजी से विकास की प्रायः कोई आशा नहीं है और यह अनुशासन कानून और नियमन के विना कायम नहीं हो सकता और इन कानूनों को वलपूर्वक लागू करना होगा। इन सब देशों ने, चाहे इनमें कैसी भी शासन प्रणाली है, सामान्यतया पश्चिम के देशों की तुलना में अपने देशवासियों के ऊपर बहुत कम उत्तरदायित्व डाले हैं और जो उत्तरदायित्व डाले भी गये हैं, उन्हें भी प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किया जाता। अमरीका के अत्यधिक सम्मानित और पुराने न्यायविद लर्नेड हैंड की यह उक्ति दक्षिण एशिया के अधिकांश विशिष्ट बुद्धिवादियों को पसन्द नहीं आयेगी अथवा उनकी समझ में नहीं आयेगी कि 'कानून हिंसा ही है'।[14]

सिद्धान्त रूप में किसी देश में चाहे किसी भी सीमा तक लोकतन्त्र कायम क्यों न हो, उसके भीतर सामाजिक अनुशासन कायम किया जा सकता है। अन्ततः लोकतन्त्र के लिए सामाजिक अनुशासन के अभाव से अधिक खतरनाक बात दूसरी नहीं हो सकती। लेकिन इन देशों में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसे कानून नहीं बनने देतीं जो लोगों के ऊपर अधिक उत्तरदायित्व डालते हों। जब कभी कानून बन भी जाते हैं तो उनका पालन नहीं होता और इन्हें लागू करना आसान नहीं होता। 'नरम राज्य' से मेरा अन्ततः यही अभिप्राय है।

दक्षिण एशिया के देशों की यह विशेषता परम्परागत है और उपनिवेशी युग से पहले और उपनिवेशी युग के दौरान की परिस्थितियों से प्रभावित है। लेकिन सामाजिक अनुशासनहीनता को समाप्त करने के विरुद्ध जो प्रतिरोध है उसे प्रभावशाली निहित स्वार्थों का भी समर्थन प्राप्त है। यह समर्थन मुख्यतया

उच्च वर्ग से मिलता है। लेकिन सामान्य जन-समुदाय के कुछ हिस्सों से भी यह समर्थन प्राप्त होता है।

दक्षिण एशिया में अपने देशवासियों को राज्य द्वारा निर्धारित खास और कठोर उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत रखने, इन देशों की बाध्य करने वाले नियमों के प्रति घोषित घृणा, और प्रलोभन के ऊपर इनकी निर्भरता के विपरीत यह विचित्र तथ्य मौजूद है कि दक्षिण एशिया के सब देशों में विभिन्न सीमाओं तक सामान्य ढंग के ऐसे व्यापक कानून तैयार करने और उन्हें स्वीकार करने की महत्त्वाकांक्षा रही है, जिनका उद्देश्य अपने समाजों को आधुनिक बनाना और विशेषकर निरंकुश शासन, अनावश्यक हस्तक्षेप, अपने स्वार्थों को विशेष महत्त्व देने और अराजकतावाद की विरासत का प्रतिरोध करना है, जिसका मैंने ऊपर संकेत किया है।

इन समस्त देशों ने ऐसे संविधान बनाये हैं अथवा बनाने को तैयार हैं, जिनमें व्यापक वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गयी है और नागरिक स्वतन्त्रताओं की गारण्टी दी गयी है। दक्षिण एशिया के अनेक देशों में आधुनिक परिवार सम्बन्धी प्रायः पूर्ण कानून तैयार किया गया और बनाया गया। अधिकांश मामलों में इस कानून का उद्देश्य स्त्रियों को पुरुषों के बराबर दर्जा देना था। भारत में संविधान की व्यवस्था के द्वारा जाति को समाप्त कर दिया गया और एक विशेष कानून के द्वारा जाति के आधार पर भेदभाव करने की प्रथाओं को समाप्त कर दिया गया। समस्त देशों ने स्वयं को भूमि-सुधार के पक्ष में घोषित किया और धीरे-धीरे इस भूमि-सुधार को लागू करने के कानून भी बनाये गये।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सुधार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जो उक्त कानून बनाये गये, उनका उद्देश्य विशेषाधिकारों से वंचित जन-समुदाय के हितों की रक्षा करना था। लेकिन इनके परिणामस्वरूप उससे कहीं कम सामाजिक परिवर्तन हुआ, जितना परिवर्तन लाने का उनमें लक्ष्य रखा गया था अथवा जिन परिवर्तनों के पूरा हो जाने का स्वाँग रचा गया।

जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है, उच्च वर्ग के लोगों ने ही आधुनिकीकरण के आदर्शों और विशेषकर समानतावादी आदर्श का प्रसार किया। स्वाधीनता के आरम्भिक दौर में सत्तारूढ़ राजनीतिक दृष्टि से विशिष्ट लोगों ने ये नये कानूनी अधिकार लोगों को दिये। लेकिन ये लोग इन अधिकारों को वास्तविकता के आधार पर स्थापित करने के लिए इतने उत्सुक नहीं थे। इस काम से बच निकलना आसान भी था, क्योंकि नीचे से कोई दबाव नहीं था।

पश्चिम यूरोप के अधिकांश देशों में व्यापक वयस्क मताधिकार, इस अधिकार से वंचित लोगों के कई दशकों के संगठित संघर्षों के बाद प्राप्त हुआ। अधिकांशतया पहले महायुद्ध के बाद तक पूरी तरह इन्हें अधिकार प्राप्त नहीं हुआ। नागरिक कानून सम्बन्धी मामलों में इसी प्रकार, स्त्रियों को अधिक समानता इससे भी कहीं अधिक लम्बी अवधि तक संघर्ष के बाद प्राप्त हुई।

इसका यह अभिप्राय था कि अन्ततः जब ये अधिकार प्राप्त हुए तो संगठित नागरिकों के ऐसे समूह मौजूद थे जो इन अधिकारों का पूर्ण उपभोग करने के लिए तैयार और उत्सुक थे।

दक्षिण एशिया के देशों में यह नहीं हुआ। इनमें से अनेक देशों में लोकतन्त्र के स्थान पर कहीं अधिक निरंकुश शासन की स्थापना हुई। इस निरंकुश शासन के अनेक रूप थे। इन देशों में विशिष्ट वर्ग के लोगों ने व्यापक वयस्क मताधिकार की बात उठायी, लेकिन सामान्य जन-समुदाय ने यह अधिकार नहीं माँगा अथवा उन्होंने इस अधिकार के बारे में सोचा तक नहीं।

साधारणतया यह बात ज़ोर देकर कही जा सकती है कि चाहे राजनीतिक शासनों में कैसे भी परिवर्तन क्यों न हुए हों, वे सब परिवर्तन समाज के सर्वोच्च वर्ग के लोगों के बीच आपसी झगड़े के परिणामस्वरूप हुए, जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है। कहीं भी गरीब जन-समुदाय द्वारा अपने उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह के परिणामस्वरूप ये परिवर्तन नहीं आये। केवल विएतनाम में ही 25 वर्ष के सशस्त्र विद्रोह के बाद ये परिवर्तन आये। विएतनामियों ने पहले फ्रांसीसियों के खिलाफ और इसके बाद अमरीकियों के विरुद्ध यह संघर्ष किया और ये दोनों देश इस संघर्ष में विएतनाम के उच्च वर्ग के विशेषाधिकार प्राप्त समूहों के समर्थन पर निर्भर रहे। भारत में, जहाँ व्यापक वयस्क मताधिकार पर आधारित संसदीय प्रणाली अभी भी सुरक्षित है, मतदाताओं के विशाल भाग को अपने हितों की रक्षा में आवाज़ उठाने के लिए संगठित नहीं किया जा सका है। भारत में जिस रूप में संसदीय लोकतन्त्र चलता आ रहा है, वह सामाजिक और आर्थिक यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में एक शक्ति सिद्ध हुआ है।

इसी प्रकार जाति पर आधारित भेदभाव की समाप्ति के लिए जो कानून बनाया गया, वह अस्पृश्य लोगों द्वारा संचालित किसी संगठित आन्दोलन के आधार पर नहीं हुआ। इनमें से अधिकांश आज भी यह मानते चले आ रहे हैं कि उनकी वर्तमान नीची और बुरी स्थिति का विधान ईश्वर और उनके कर्मों ने किया है। निराशापूर्ण और निरुद्देश्य असन्तोष एक प्रभावशाली सामाजिक और आर्थिक शक्ति का स्थान नहीं ले सकता। अब, क्योंकि जनगणना में जाति के बारे में पूछताछ नहीं की जाती, अतः इस कानून का एक प्रमुख परिणाम यह हुआ है कि भारतीय बुद्धिवादी, विशेषकर विदेशों में, इस बात का दावा कर सकते हैं कि जाति समाप्त हो गयी है। लेकिन, वास्तविकता यह है कि जाति प्रथा पहले से भी कहीं अधिक प्रभावशाली हो गयी है, विशेषकर गाँवों में।[15] चुनावों में मतदान और अन्य अनेक परिवर्तनों ने जाति को अपना प्रभाव दिखाने का एक नया क्षेत्र उपलब्ध कराया है।

इसी प्रकार स्त्रियों के लिए समान अधिकार के कानून के परिणामस्वरूप गाँवों अथवा शहरों में जन-समुदाय के बीच प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नीचे वर्गों की कुछ स्त्रियों को ही शायद यह आभास हो कि ये अधिकार मौजूद हैं अथवा ये अधिकार क्या हैं।

एक दृष्टि से भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी कानूनों की भी यही स्थिति है। शायद ही किसी क्षेत्र के बारे में यह कहा जा सकता हो कि भूमिहीन लोगों के प्रभावशाली आन्दोलन के फलस्वरूप ये कानून बनाये गये।[16] इन कानूनों

के बारे में बौद्धिक और राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के अधिक आमूल और दूरगामी परिवर्तन चाहने वाले लोगों ने प्रचार किया। एक आरम्भिक युग में इस विचार को इतना अधिक सम्मान प्राप्त हुआ और इसे इतना अधिक विवेक-सम्मत और न्यायोचित माना गया कि भविष्य में इसे कार्यरूप देने के लिए इसकी आवश्यकता को स्वीकार कर लिया गया। उदाहरण के लिए, भारत में यह सिद्धान्त कि जमीन पर जोतने वाले का स्वामित्व होना चाहिए, आजादी से बहुत पहले कांग्रेस के कार्यक्रम में शामिल था और कभी इस सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया।

पर यह अन्तर मौजूद है कि यदि इन सुधारों को वस्तुत: लागू किया जाता तो ये बहुत आमूल और दूरगामी तरीके से सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण में प्रभावशाली परिवर्तन लाते। इन्हें, जाति पर आधारित भेदभाव की समाप्ति अथवा स्त्रियों के समान अधिकारों सम्बन्धी कानूनों की तरह, केवल सजावट के लिए बिना किसी अधिक व्यावहारिक महत्त्व और उपयोग के नहीं रखा जा सकता था।

इससे इन प्रस्तावों की भिन्न स्थिति और नियति स्पष्ट हो जाती है।[17] भूमि-सुधार सम्बन्धी कानून बनाने में विलम्ब किया गया, उदाहरण के लिए, इन्दोनेशिया में, अथवा भूमि की अधिकतम सीमा बहुत ऊँची रखकर उसे बहुत सीमित उपयोग का बना दिया गया, जैसे पश्चिम पाकिस्तान में हुआ। अथवा, जैसाकि सर्वत्र हुआ, विविध प्रकार की ऐसी व्यवस्थाएँ भी इस कानून में की गयी, जिनका सहारा लेकर इस कानून के बाध्यकारी प्रभावों से बचा जा सकता था। अथवा, इस कानून को बस लागू ही नहीं किया गया, और यह कार्य भी प्राय: सर्वत्र हुआ। अधिकारियों और जमींदारों के बीच साँठगाँठ के कारण साधारणतया इस कानून को लागू नहीं किया गया। जैसाकि अध्याय-4 में कहा गया है, अधिकांश कम-विकसित देशों में भूस्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार केवल नाटक भर रहे। केवल तभी अन्तर हुआ जब इन कानूनों को किसी प्रकार की क्रान्तिकारी स्थिति में बनाया गया। कुछ सीमा तक यह पूर्व-पाकिस्तान में हुआ, जहाँ जमींदारों में बड़ी संख्या हिन्दुओं की थी और विभाजन के बाद जिन्हें वहाँ से खदेड़ दिया गया था।

आय और सम्पत्ति पर कर सम्बन्धी जो कानून बनाये गये हैं, उन पर भी भूस्वामित्व और काश्तकारी में सुधार सम्बन्धी कानूनों जैसी बातें लागू होती हैं: यदि इन कानूनों को कड़ाई से बनाया जाता और प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाता, तो इनका सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण पर निश्चित प्रभाव पड़ता। लेकिन, केवल इसी कारण से बहुत बड़े पैमाने पर निहित स्वार्थों ने संगठित होकर इन कानूनों को प्रभावहीन बना दिया।[18]

समारम्भ कानून बनाने से होता है। अक्सर इन कानूनों में ऐसी व्यवस्थाएँ होती हैं जिनका सहारा लेकर वे लोग बच निकलते हैं, जिन पर इनका विपरीत प्रभाव पड़ता है अथवा इन कानूनों में ऐसे अपवाद जोड़ दिये जाते हैं जो इनकी प्रभावशालिता को समाप्त कर देते हैं। अक्सर जानबूझकर इन कानूनों को ऐसी अस्पष्ट शब्दावली में प्रकट किया जाता है कि करों से बच निकलने में आसानी हो जाती है। इसके बाद कर से बच निकलने और निर्धारित कर न चुकाने की बारी आती है। करों से बच निकलने के इन तरीकों को आश्चर्यजनक रूप

से उदार दण्ड के कारण प्रोत्साहन मिलता है। और कर की राशि का निर्धारण करने और कर वसूल करने के लिए जो प्रशासनिक व्यवस्था है, वह पर्याप्त नहीं है और आवश्यकता के अनुरूप इसमें कार्यकुशलता भी नहीं है। अधिकारियों के कम वेतन रिश्वत की सम्भावना को बढ़ा देते हैं।

वस्तुतः विकसित देशों में भी कर से बचने और पूरा कर न देने के उदाहरण मौजूद हैं। लेकिन दक्षिण एशिया में और सामान्यतया सब कम-विकसित देशों में यह तरीका बहुत अधिक व्यापक हो गया है। चाहे हिसाब-किताब रखने की राष्ट्रीय व्यवस्था कितनी भी कमजोर क्यों न हों, आँकड़ों के माध्यम से इस बात को दर्शाया जा सकता है; वैसे इस सम्बन्ध में अनिश्चितता के लिए पर्याप्त स्थान रखना होगा। इन देशों के शिक्षित और प्रभावशाली लोगों को इस स्थिति की पूरी जानकारी है। समाचारपत्र, जब ये भारत और फिलीपाइन की तरह स्वतन्त्र हों, निरन्तर इस बात पर जोर देते हैं और इसे एक राष्ट्रीय बुराई के रूप में पेश करते हैं। लेकिन, इसके बावजूद इस स्थिति को सुधारने के लिए कोई भी कारंवाई विधिवत् नहीं की जाती।

जब कभी निचले वर्ग के लोगों की स्थिति में सुधार के लिए नीति सम्बन्धी उपाय किये जाते हैं तो यह होता है कि या तो इन्हें लागू ही नहीं किया जाता अथवा इनके स्वरूप को इस प्रकार विकृत कर दिया जाता है कि इनका लाभ कम गरीब लोगों को मिलता है और इनसे जनसमुदाय को लाभ नहीं पहुँचता।[17] अध्याय-4 में हमने विशाल कृषि क्षेत्र के सम्बन्ध में इस स्थिति पर विचार किया है। यही बात कृषि क्षेत्र के बाहर अनेक सहायता कार्यक्रमों के बारे में भी मोटे तौर पर सच है।

समृद्ध लोगों के बजाय गरीब लोगों को सहायता पहुँचाने के किसी कानून की पहले से स्पष्ट कठिनाइयाँ अथवा इन कानूनों को लागू करने की असम्भवता, इन कानूनों को विधान सभाओं में वस्तुतः पारित कराने को सचमुच आसान बना देती है; क्योंकि वे लोग भी, जिन्हें इन कानूनों के बन जाने के परिणामस्वरूप बलिदान करना चाहिए, इस बात से आश्वस्त रहते हैं कि कोई खास परिवर्तन नहीं होगा। इस प्रकार भारत के किसी राज्य की विधानसभा न्यूनतम कृषि मजदूरी अथवा फसल में जमींदार के अधिकतम हिस्से अथवा सूदखोर के अधिकतम ब्याज की सीमा बाँधकर भूमिहीन और गरीब किसानों के प्रति अपनी उदारता प्रदर्शित कर सकती है। और इसमें इस बात की कोई जोखिम नहीं रहेगी कि इन कानूनों को सच्चे अर्थों में कभी लागू किया जायेगा कि नहीं। जहाँ तक इसके व्यावहारिक प्रभावों का सम्बन्ध है, समस्त राजनीतिक, कानूनी और प्रशासनिक प्रणाली इस प्रकार विधिवत् और बड़े प्रभावशाली ढंग से गरीब लोगों के व्यापक जनसमुदाय के विरुद्ध दिखायी पड़ती है। यह स्थिति कानूनों को लागू न करने और नीति सम्बन्धी उपायों को विकृत बनाने के कारण उत्पन्न होती है।

कानून और नीति सम्बन्धी उपाय समानता के आदर्श को पूरा करने के विचार से प्ररित होते हैं और अधिक सामान्य रूप से उन्हें आधुनिकीकरण के आदर्शों से प्रेरणा मिलती है, जिन्हें शिक्षित उच्च वर्ग ने सामान्यतया स्वीकार कर लिया है और इसी उच्च वर्ग के बुद्धिवादी और राजनीतिक दृष्टि से विशिष्ट लोगों ने ही इन आदर्शों का प्रचार-प्रसार किया है। लेकिन जब बात वस्तुतः

इन कानूनों को बनाने तथा नीति को कार्यरूप देने और इससे भी अधिक जब इन कानूनों को वास्तविक रूप में लागू करने की बात आती है तो ये लोग सामान्यतया अपने संकीर्ण निहित स्वार्थों की रक्षा करते हैं।

जनसमुदाय में निराशापूर्ण असन्तोष हो सकता है।[20] लेकिन, इनमें अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने की क्षमता नहीं है, ये निष्क्रिय और असंगठित हैं। इस प्रकार नीचे से दबाव की कमी समानतावादी स्वाँग और भयंकर तथा निरन्तर बढ़ती हुई असमानताओं के बीच विचित्र विरोधाभास प्रस्तुत कर देती है, जिस पर हमने अध्याय-3 में टिप्पणी की है।

जब निचले वर्गों, जिनमें अत्यधिक निर्धन लोग भी शामिल हैं, के उपर राज्य की सत्ता द्वारा निर्धारित निश्चित उत्तरदायित्वों को डालने से राज्य बचता है और प्रलोभनों तथा स्वेच्छा से किये जाने वाले कार्यों पर ही निर्भर रहता है, तो इससे उच्च वर्ग के लोगों को अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करने का इस दृष्टि से एक बहाना मिल जाता है कि गरीब वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए जो कानून और नीतियाँ बनायी गयी हैं, यदि उन्हें लागू नहीं किया जाता तो विशेष बुरी बात नहीं होगी, क्योंकि इन लोगों के ऊपर उत्तरदायित्व भी नहीं डाले गये हैं। यह तथ्य कि अधिकारों से वंचित लोगों के हितों के लिए जिन सुधारों के बारे में कानून बनाये जाते हैं, उन्हें कानून बनाने और लागू करने के दोनों स्तरों पर प्रभावहीन बना दिया जाता है, सरकार और बुद्धिवादी विशिष्ट वर्ग के उन सदस्यों को जो समानतावादी आदर्श के प्रति सर्वाधिक निष्ठा रखते हैं, ऐसे उपायों के प्रति उदासीन बना देता है, जिनमें गरीब जनसमुदाय से कुछ काम करने और उपलब्धियाँ दिखाने की अपेक्षा की जाती है।

यद्यपि इन तथा अन्य कारणों से मामला बड़ा जटिल हो गया है, लेकिन बुनियादी तौर पर नरम राज्य का स्पष्टीकरण यह है कि समस्त सत्ता उच्च वर्ग के हाथों में है, जो समानतावादी कानून और नीति सम्बन्धी उपाय कर सकते हैं, लेकिन उनकी ऐसी स्थिति है कि वे इन्हें लागू होने से पूरी तरह रोक सकते हैं और उनकी इस सर्वोपरि सत्ता को कोई चुनौती भी नहीं दिखायी पड़ती। इस राजनीतिक प्रक्रिया, इसके कारणों और इसके विकास सम्बन्धी प्रभावों के प्रेक्षण और विश्लेषण से विधिवत् बचे रहने का प्रयास महायुद्ध के बाद के अवसरवादी दृष्टिकोण के पूर्वाग्रहों का एक बड़ा परिणाम है, जिस पर मैंने अध्याय-1 में विचार किया है।

शहरी समुदायों में ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठान हैं, जिन्हें अर्थव्यवस्था का 'संगठित' और 'आधुनिक', अथवा 'आधुनिकीकृत' क्षेत्र बताया जाता है।[21] जब हम इसमें केवल आधुनिक निजी और सरकारी उद्योगों को ही नहीं, जो बड़े पैमाने पर विनिर्माण, खनन, निर्माण, यातायात, वाणिज्य और वित्त जैसे कार्यों में लगे हैं, बल्कि बागानों[22] को भी जोड़ देते हैं, तो भी यह क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा ही रहता है, विशेषकर उस श्रम शक्ति की दृष्टि से जो इसमें लगी है।

यद्यपि दक्षिण एशिया के सब देशों में परम्परागत क्षेत्र—जिसमें विनिर्माण करने वाले क्षेत्र भी शामिल हैं[23]—बहुत विशाल हैं पर आयोजन की दृष्टि से संगठित क्षेत्र विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, इसी प्रकार इस क्षेत्र का विस्तार करना और, अन्ततः, परम्परागत क्षेत्रों को इसके अधिक तर्कसम्मत आर्थिक व्यवहार को आयोजन के प्रमुख लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा देना भी महत्त्वपूर्ण है। योजनाओं में निजी अर्थव्यवस्था पर संचालन सम्बन्धी नियन्त्रणों[24] के बारे में जो थोड़ा बहुत विचार-विमर्श हुआ है वह प्रायः पूरी तरह से संगठित क्षेत्र से सम्बन्धित है, यद्यपि अक्सर यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही जाती है।[25]

पर 'संगठित' अथवा 'आधुनिकीकृत' जैसे शब्द इस क्षेत्र के उद्यमों की पश्चिम के ऐसे ही उद्योगों से समानता को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित करने का प्रयास हैं। निजी उद्योगों में मालिकों और निजी तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के उद्योगों में प्रबन्धक पूँजीवाद से पहले के अनावश्यक हस्तक्षेप और भाई-भतीजावाद के लक्षण प्रदर्शित करते हैं। जाति, परिवार और अपने सम्बन्धियों के प्रति वफादारी पर्याप्त भूमिका निभाती है। 'सम्बन्ध या परिचय' भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। विदेशी स्वामित्व के अधीन बागानों, खानों और अन्य औद्योगिक तथा वाणिज्यिक संस्थानों में भी अर्द्ध-सामन्ती बातें दिखायी पड़ती हैं।

अतः कुछ शर्तों के साथ ही यह जोर देकर कहा जा सकता है कि संगठित क्षेत्रों के उद्योगों का संचालन दाम सम्बन्धी उत्प्रेरणा के तर्कसंगत विचार के अनुसार किया जाता है, क्योंकि यह लागत और लाभ को प्रभावित करता है। इसके अलावा ये उद्यम उस कहीं अधिक विशाल 'असंगठित' अर्थव्यवस्था से पूरी तरह अलग-अलग नहीं हैं और इस असंगठित अर्थव्यवस्था के बीच टापुओं की तरह विद्यमान हैं। इनकी श्रम और मैनेजरों तथा टेक्नीशियनों के लिए माँग उस प्रकार संचालित नहीं होती, जिससे पश्चिम के विकसित देशों से उनकी घनिष्ठ समानता प्रकट होती हो। और यही बात विभिन्न वस्तुओं की माँग पर भी लागू होती है। सामान के उत्पादन की दृष्टि से भी बाज़ार अक्सर विभिन्न तरीकों से और विभिन्न सीमाओं तक अपूर्ण होते हैं।

इन शर्तों के साथ संगठित क्षेत्र में दाम सम्बन्धी नीतियाँ[26] और अधिकारियों द्वारा अपने विवेक के अनुसार कार्रवाई सम्बन्धी सामान्य नियन्त्रणों से मुक्त उपाय सर्वाधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। लेकिन हम यह देखते हैं कि सरकारें इन उद्यमों को नियन्त्रित करने का प्रयास कर रही हैं—ये सरकारें इन उद्योगों को प्रोत्साहन देने, विशेष दिशाओं में संचालित करने और अपने अंकुश में रखने का भी प्रयास कर रही हैं—और इसके साथ ही बड़ी संख्या में अधिकारियों के प्रशासनिक निर्णयों पर आधारित नियन्त्रणों (जिन्हें अधिकांशतया 'प्रत्यक्ष' अथवा 'भौतिक' नियन्त्रण कहा जाता है) की भरमार है, जिसके परिणामस्वरूप कोई भी बड़ा निर्णय, यहाँ तक कि कोई मामूली व्यापार सम्बन्धी निर्णय भी प्रशासनिक अधिकारियों की पूर्व-अनुमति के बिना नहीं लिया जा सकता अथवा यदि कोई निर्णय लिया जाता है तो बाद में इसके अस्वीकार हो जाने की जोखिम बनी रहती है। इस कारण से आधुनिकीकृत क्षेत्र में भी, दक्षिण एशिया में व्यापार उससे बिल्कुल भिन्न है, जैसा सामान्यतया पश्चिम के देशों में होता है।

इस विशेष स्थिति को मोटे तौर पर स्पष्ट करने वाली प्रक्रिया इस प्रकार

है।[27] उद्यम और विनियोग का बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रकार के सकारात्मक प्रलोभन दिये जाते हैं : सस्ती दर पर विदेशी मुद्रा और आयात सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाकर विदेशी कम्पनियों की होड़ से संरक्षण, व्याज की नीची दर, सार्वजनिक क्षेत्र से उपलब्ध सेवाओं और सामान का कम दाम, एक निर्धारित अवधि के लिए कर से मुक्ति और लाभ पर सामान्य या कम प्रभावशाली दर से कराधान।

ये प्रलोभन इतनी उदारता से दिये जाते हैं कि सामान्य नियमों के अनुसार इन्हें नहीं दिया जा सकता। इस सम्वन्ध में प्रशासनिक निर्णय का सहारा लेना होगा कि किसे विदेशी मुद्रा दी जायेगी और किसे ऋण मिलेगा—अक्सर यह ऋण रियायती दरों पर दिया जाता है—और किसे सार्वजनिक क्षेत्र से कम लागत पर सेवाएँ उपलब्ध होंगी। अव क्योंकि अक्सर यह भी पर्याप्त नहीं होता, अतः अनेक प्रकार के नकारात्मक नियन्त्रणों का सहारा लेना पड़ता है ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि किसको विनियोग करने और उत्पादन करने की अनुमति दी जायेगी, क्या और कहाँ उत्पादन करना होगा, और वह किस देश से पूँजीगत माल तथा उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य साज-सामान का आयात करेगा।

इस प्रकार एक विचित्र स्थिति का निर्माण हो जाता है। जवकि प्रत्येक व्यक्ति उद्यम को प्रोत्साहन देने की चर्चा करता है, और जवकि इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अनेक प्रकार के प्रलोभनों की व्यवस्था की जाती है, अधिकांश अफसरों को अपना अधिकांश समय और शक्ति उद्यमों को सीमित रखने अथवा रोकने में लगानी पड़ती है। यह एक ऐसी कार चलाने जैसी वात है, जिसका एक्सिलिरेटर पूरी तरह से दवा देने के साथ-साथ ब्रेक भी लगा दिये गये हों।

इस सम्वन्ध में इस वात पर जोर देना महत्त्वपूर्ण है कि व्यावहारिक सीमाओं से आगे उद्यम को प्रोत्साहन देने के लिए उद्यम को नियन्त्रण में रखने के वास्ते एक विशाल प्रशासनिक निर्णयों पर आधारित नियन्त्रणों की नौकरशाही प्रणाली की आवश्यकता होती है। कुछ प्रलोभनों को समाप्त कर अथवा उनमें ढील देकर, इनमें कटौती की सम्भावना को घटाया जा सकता है और दाम सम्वन्धी नीतियों और अन्य नियन्त्रण के द्वारा प्रलोभनों और कटौतियों दोनों की व्यवस्था की जा सकती है।

परस्पर विरोधी नियन्त्रणों का व्यापक अस्तित्व यह प्रकट करता है कि अधिक नियन्त्रणों की आवश्यकता है और इनमें से अधिकांश नियन्त्रण ऐसे होंगे जो अधिकारियों के विवेक पर और उनके निर्णयों पर आधारित होंगे। भिन्न स्थिति में इनकी आवश्यकता नहीं होगी। यह वात विकास की दृष्टि से विशेष रूप से दुर्भाग्यपूर्ण है कि दक्षिण एशिया के देशों में योग्य और ईमानदार प्रशासकों की कमी के रूप में सर्वाधिक गम्भीर अवरोध उत्पन्न हो गया है।

जो वातें ऊपर कही गयी हैं उनके वारे में एक महत्त्वपूर्ण शर्त का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा। इसमें सन्देह नहीं कि विकसित देशों से अधिक दक्षिण एशिया के देशों को विवेक पर आधारित नियन्त्रणों और यदा-कदा ऐसे नियन्त्रणों की आवश्यकता होती है जो परस्पर विरोधी होते हैं—इसी प्रकार विकसित देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था पर युद्ध के प्रभाव के परिणामस्वरूप ऐसे ही

प्रभाव का अनुभव किया था।[28] बुनियादी कारण उनकी गरीबी और विकास की कमी है, जो अपूर्ण बाजारों में प्रतिबिम्बित होती है, जहाँ अवरोध और फालतू माल, माँग और पूर्ति के बीच सन्तुलन से अधिक सामान्य बात होते हैं।[29]

लेकिन यह बात भी इसी प्रकार निश्चित है कि विवेक पर आधारित इन नियन्त्रणों पर यह निर्भरता उस सीमा तक आवश्यक नहीं होगी जिस सीमा तक आज इसका सहारा लिया जा रहा है। यद्यपि योजनाओं में परिचालन सम्बन्धी नियन्त्रणों की साधारणतया उपेक्षा कर दी जाती है[30]—जो इस बात का प्रमुख कारण है कि योजनाओं को परिचालन के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता— पर यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में प्रशासनिक विवेक पर आधारित नियन्त्रणों के इस अनावश्यक विकास को साधारणतया आयोजन का सार समझ लिया जाता है। भारत में और उन अन्य देशों में भी जो 'समाजवादी समाज' की स्थापना के प्रति वचनबद्ध हैं, किसी सरकार द्वारा विवेक पर आधारित नियन्त्रणों के प्रयोग को विशेष रूप से 'समाजवादी' लक्षण समझा जाता है। यह एक ऐसी भ्रान्ति है, जिससे पश्चिम के वे लेखक अक्सर सहमत रहते हैं, जो स्वयं को इस बात से आश्वस्त करने में सफल हो जाते हैं कि इन नियन्त्रणों का मूल 'मार्क्सवाद' में है।

विदेशी मुद्रा की कमी साधारणतया सबसे बड़ा अवरोध होती है। अतः हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि अधिकांशतया अधिकारियों के विवेक पर आधारित परस्पर विरोधी नियन्त्रणों सहित नौकरशाही का विस्तार सबसे अधिक भारत, पाकिस्तान, बर्मा और इन्दोनेशिया में हुआ है। मलाया, फिलीपाइन और थाईलैण्ड में विवेक पर आधारित निर्णय के रूप में ऐसी व्यवस्था नहीं है, लेकिन ये देश जो प्रलोभन देते हैं, उदाहरण के लिए, नये कल-कारखानों के लिए करों से छूट, वे असाधारण रूप से राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय पर आधारित होते हैं।

निजी व्यापार पर इस प्रकार व्यक्तिगत, प्रशासनिक, विवेक पर आधारित नियन्त्रण, निरंकुश शासन और अनावश्यक हस्तक्षेप की उस विरासत के रूप में मौजूद है, जो उपनिवेशी युग से पहले के युगों और उपनिवेशी युग से विरासत में मिली है। लेकिन जहाँ तक सम्भव हो, सामान्य तथा अधिकारियों के निर्णय से मुक्त नियन्त्रणों का उपयोग न करना एक ऐसी बात है जिसके लिए इतिहास का यह हवाला पर्याप्त नहीं होगा और इससे अधिक स्पष्टीकरण की जरूरत होगी।

निजी व्यापार के आधुनिकीकृत क्षेत्र के ऊपर सरकारी नियन्त्रणों के एक विश्लेषण का यह खाका उस समय तक अत्यधिक अपूर्ण रहेगा, जब तक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाने से हम बचते रहेंगे : किसका लाभ ? निजी व्यापार पर सार्वजनिक नियन्त्रण की इस व्यवस्था का लाभ किसे मिल रहा है ?[31]

इसके बाद हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अन्य देशों की तरह ही दक्षिण एशिया के देशों के व्यापारी भी सरकारी हस्तक्षप और नौकरशाही

नियन्त्रणों की शिकायतें करेंगे। पर ये शिकायतें बहुत दबी जबान से और कमजोर तरीके से की जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप यह सन्देह उठता है कि ये लोग गम्भीरता से शिकायत नहीं कर रहे हैं।

'आवश्यकता से अधिक' प्रलोभन, जिनके पूरक के रूप में कुछ कटौतियाँ भी की जाती हैं, 'आवश्यकता से अधिक' लाभ को जन्म देते हैं। यह लाभ उससे कहीं अधिक ऊँचा होता है, जितना आयोजन की दृष्टि से किसी उद्योग को मिलना चाहिए।[32] इसके अलावा इन 'आवश्यकता से अधिक ऊँचे' लाभों को प्रभावशाली कराधान के द्वारा सोख नहीं लिया जाता क्योंकि कर सम्बन्धी कानूनों में कुछ ऐसी सुविधाजनक खामियों की व्यवस्था कर दी जाती है, और इस कारण से भी कि बड़े पैमाने पर कर देने से बचना एक नियम बन गया है। अनेक कारणों से जमे-जमाये व्यापारिक संस्थान और विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठान ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थिति में आ गये हैं कि उन्हें ही प्रलोभनों और अनुमतियों दोनों के लिए चुना जाता है। इससे प्रतियोगिता सीमित हो जाती है, व्यापार में एकाधिकार अथवा कुछ घरानों के एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न होती है और निहित स्वार्थों को बल और बढ़ावा मिलता है। ये व्यापारिक प्रतिष्ठान 'व्यापारी वर्ग के जनमत' पर ही नहीं, बल्कि 'सामान्य जनमत' पर भी अपना नियन्त्रण रखते हैं।[33]

वस्तुतः जब कभी ये प्रतिष्ठान कोई परमिट, लाइसेंस, ऋण अथवा विदेशी मुद्रा का कोटा प्राप्त करने में सफल होते हैं तो यह बात एक उपहार के समान होती है। जिस रूप में इस प्रणाली का संचालन हो रहा है, ये प्रतिष्ठान ही ऐसी सर्वोत्तम स्थिति में होते हैं कि कागज के वे टुकड़े प्राप्त कर सकें जिनका मूल्य धन के रूप में बहुत बड़ा होता है। और यही कारण है कि प्रशासनिक विवेक पर आधारित नियन्त्रणों के जंगल की बाधाओं को पार कर भीतर प्रवेश करना उनके लिए बड़ा लाभदायक होता है। यद्यपि नियन्त्रणों रूपी जंगल को उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए ही रोपा गया था, पर इसका उद्देश्य पूंजी निवेश को उस सीमा तक नीचे स्तर पर रखना था, जहाँ माँग को पूर्ति के द्वारा सन्तुष्ट किया जा सके।

इसके अलावा जो अधिकारी और राजनीतिज्ञ प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों का संचालन करते हैं उनके इन नियन्त्रणों को बनाये रखने में निहित स्वार्थ हैं और इसके परिणामस्वरूप इन नियन्त्रणों का और अधिक बढ़ना स्पष्ट हो जाता है। इन नियन्त्रणों के माध्यम से उन लोगों को सत्ता की सम्पदा प्राप्त होती है और सत्ता सदा आकर्षक लगती है। इस दृष्टि से यह सत्ता और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि नियन्त्रण योजनाओं से समन्वित नहीं होते और इन नियन्त्रणों के उपयोग के निर्देश अस्पष्ट होते हैं: इसके बाद आवेदन पर विचार प्रशासनिक निर्णय का ही मामला अधिक हो जाता है।

एक ऐसी व्यवस्था में, जहाँ जाति, परिवार, आर्थिक और सामाजिक हैसियत और इससे भी अधिक व्यापक रूप से, 'ताल्लुकात' इतने अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, व्यापारियों और अधिकारियों के बीच साँठ-गाँठ एक स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। अक्सर इसका परिणाम भ्रष्टाचार होता है। इसके बाद भ्रष्ट लोगों का इस प्रणाली में निहित स्वार्थ कायम हो जाता है।

चाहे बड़े-बड़े लाभ केवल उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों को ही क्यों न प्राप्त होते हों, पर इनके मध्य व्याप्त भ्रष्टाचार में निचले स्तरों तक फैलने की प्रवृत्ति होती है और भ्रष्टाचार गाँवों तक में फैल जाता है। कम-से-कम सार्वजनिक कर्मचारियों के निचले स्तरों पर मामूली भ्रष्टाचार को समाप्त कर डालने के किसी भी प्रयास के मार्ग में यह शक्तिशाली निषेध या बाधा सिद्ध होता है।

2. भ्रष्टाचार[34]

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के पूर्वाग्रहग्रस्त होने का एक सर्वाधिक भयंकर उदाहरण कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं के विश्लेषण में भ्रष्टाचार के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को शामिल करने का पूर्ण निषेध है। जैसांकि अध्याय-1 में कहा गया है कि आप विकास की कमी और विकास की समस्याओं के बारे में सैकड़ों पुस्तकें और लेख पढ़ जाइए पर आपको 'भ्रष्टाचार' शब्द देखने तक को नहीं मिलेगा।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के पूर्वाग्रह के दो प्रमुख स्रोतों के बीच—अनुसन्धान में राजनय का सहारा लेना और पश्चिम के ऐसे नमूनों का उपयोग जो दृष्टिकोण और संस्थाओं को विशेष रूप से निकाल दिये जाने के कारण यथार्थ के अनुरूप नहीं रह जाते—यहाँ जो गठजोड़ हुआ है, उससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है, जो वैज्ञानिक कार्य में सत्यान्वेषण की भावना के विपरीत है और यह विवेकसम्मत नीतियों के निर्माण में भी सहायक नहीं होता।

जब कभी पश्चिम के अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री भ्रष्टाचार की समस्या पर यदा-कदा विचार भी करते हैं—और यह कार्य लेखन से कहीं अधिक बातचीत के द्वारा होता है—तो इसे गम्भीर मामले के रूप में स्वीकार न करने के जो बहाने बनाये जाते हैं, वे असंगत, प्रकट रूप से निरर्थक और स्पष्ट रूप से झूठे होते हैं।[35] कुछ गिने-चुने अर्थशास्त्री तो—ये अधिकांशतया अमरीकी होते हैं, क्योंकि पश्चिम के अर्थशास्त्री अपने लेखन में इस विषय पर प्रायः पूरी तरह से मौन ही रहते हैं—अपने गलत विचारों को छपवा तक डालते हैं। उदाहरण के लिए, ये कहते हैं, कि "व्यवधानों से भरे प्रशासन में रिश्वत······ आवश्यक चिकनाई होती है, हानिकारक बात नहीं।" जबकि सच्चाई यह है कि भ्रष्टाचार उन कारणों में से है, जिनकी वजह से प्रशासन व्यवधान बन गया है।[36]

इन देशों के अध्ययनकर्ता अक्सर इसी प्रकार बड़ी नम्रता से—अथवा क्षमायाचनापूर्वक अपने लेखन में इस निषेध का पालन करते हैं। मुझे स्मरण है कि एक बार मैंने भारत में युवक समाजशास्त्रियों की एक टोली को इस सम्बन्ध में अनुभवजन्य अनुसन्धान करने के लिए प्रेरित करने की कोशिश की ताकि इस बात को सूक्ष्मतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सके कि यदि कोई गरीब भूमिहीन मजदूर अथवा बटाई पर खेती करने वाला गरीब किसान भूस्वामी अथवा सूदखोर से अपना वाजिब अधिकार प्राप्त करने पर जोर दे तो उसे किन-किन कठिनाइयों का सामना करना होगा। मेरे इस सुझाव में किसी ने कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी। इनमें से एक व्यक्ति ने कहा कि "बिना अध्ययन के ही

हम लोग इस बारे में सब कुछ जानते हैं।" यह निश्चय ही एक वैज्ञानिक के लिए बड़ा विचित्र दृष्टिकोण है।

कम-विकसित संसार में सिंगापुर उन गिने-चुने स्थानों में है, जहाँ भ्रष्टाचार से मुक्त सरकार ने प्रकट सफलता के साथ उस भ्रष्टाचार का मुकाबला किया, जो अन्य देशों की तरह ही सामान्य बात थी और जिसके बढ़ने के भी पूरे आसार थे। एशिया के सार्वजनिक कर्मचारियों के मजदूर संघों के नेताओं की एक बैठक में सिंगापुर के विदेश और श्रम मन्त्री एस० राजरत्नम् ने बड़े साहसपूर्वक अपने भाषण का शीर्षक : 'ब्यूरोक्रेसी वर्सेस क्लिपटोक्रेसी'[37] अर्थात् 'नौकरशाही बनाम चोरशाही' बताया। भ्रष्टाचार पर विचार न करने का अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने जो निषध कर रखा है, उसकी उन्होंने आलोचना की।

"यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि एशिया और अफ्रीका के विकास की समस्याओं के बारे में अन्यथा अत्यधिक अच्छे अध्ययनों में भ्रष्टाचार के तथ्य के गम्भीरतापूर्वक उल्लेख से बचा गया है। यह बात नहीं है कि लेखकगण भ्रष्टाचार के अस्तित्व से परिचित न हों। लेकिन ऐसा लगता है कि भ्रष्टाचार के राजनीतिक स्थिरता और तेजी से आर्थिक विकास के प्रयत्न से सम्बद्ध होने की बात को पूरी तरह नहीं समझा गया है। यह भी हो सकता है कि इस विषय के गम्भीर अध्ययन से इसलिए बचा गया कि कहीं इससे एशिया के लोगों की भावनाओं को चोट न पहुँचे।"

इसके बाद राजरत्नम ने उन अपवादजनक लेखकों का उल्लेख किया, जिन्होंने भ्रष्टाचार के विषय पर विचार किया था और यह कहा था कि यह विश्वास करना कि भ्रष्टाचार हानिकारक है, गर-वैज्ञानिक 'नतिकतावाद' है।

"इन लोगों का तर्क है कि नौकरशाहों को रिश्वत देना विकासशील देशों में नौकरशाही कुशलता, नवीकरण की प्रवृत्ति और तेजी से आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने में सहायक हो सकता है······(जिसके सम्बन्ध में राजरत्नम ने कहा) मुझे अभी तक इस बात का कोई आश्वासनदायक प्रमाण देखना शेष है कि भ्रष्टाचार आर्थिक विकास में सहायक होता है अथवा राजनीतिक स्थिरता को मजबूत बनाता है।"

उन्होंने एक अन्य लेखक का उद्धरण देते हुए कहा :

"···भ्रष्टाचार असंगत बातों का समूह नहीं है, बल्कि एक राजनीतिक प्रणाली है, जिसे सत्तारूढ़ व्यक्ति सह्य सूक्ष्मता से संचालित कर सकते हैं।"

,राजरत्नम ने इसका यह उत्तर दिया :

'यह कहना कि 'इसका संचालन सह्य सूक्ष्मता' से किया जा सकता है, उन तथ्यों के विपरीत बात है जो हम एशिया के बारे में जानते हैं। एक चोरशाही अधिकाधिक भ्रष्टाचार में प्रवृत्त होगी, चाहे सत्तारूढ़ व्यक्ति इसे चाहें अथवा नहीं, और अन्ततः इसका परिणाम आर्थिक और राजनीतिक अव्यवस्था होगा। पिछले 20 वर्षों में एशिया के समाजों का यही जीवन-चक्र रहा है।"

अर्थशास्त्रियों का भारी बहुमत भ्रष्टाचार के तथ्यों के प्रति जो उदासीनता दिखाता है, उसके एक विचित्र विरोधाभास के रूप में दक्षिण एशिया के देशों के साधारण शिक्षित लोग अत्यधिक दिलचस्पी दिखाते हैं।[38] शायद ही कुछ अन्य मामले इस मामले की तरह समस्त 'शिक्षित' लोगों के मन-मस्तिष्क में

गहराई से पैठे हुए हों और यह बात उन लोगों के बारे में भी सही है, जो अन्य दृष्टियों से नाममात्र को सतर्क हैं। शायद ही कुछ अन्य मामलों पर इस प्रकार उत्तेजनापूर्वक बहस होती हो। जहाँ कहीं विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है, जैसे भारत और फिलीपाइन में, समाचारपत्र भ्रष्टाचार के कथित मामलों के विस्तृत समाचार देते हैं। कुछ लोकप्रिय पत्रिकाएँ तो ये समाचार देने में बड़ी विशेषज्ञता प्राप्त कर चुकी हैं। कभी-कभी मुझे लगता है कि इन देशों में भ्रष्टाचार ने वही स्थान बना लिया है, जो समकालीन अमरीकी सभ्यता में सैक्स और जाति का है।

जहाँ कहीं राजनीतिक विधानसभाएँ हैं, वहाँ इस मामले पर बहुत अधिक समय खर्च किया जाता है और दिलचस्पी दिखायी जाती है। कभी-कभी भ्रष्टाचार विरोधी अभियान भी छेड़े जाते हैं। कानून बनाये जाते हैं, सतर्कता संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं, दुराचरण के मामलों की जाँच के लिए विशेष पुलिस-दल गठित किये जाते हैं। कभी-कभी अफसरों पर, जो अधिकांशतः निचले वर्गों के होते हैं, मुकदमा चलाया जाता है और उन्हें सजाएँ दी जाती हैं। और यदा-कदा किसी मन्त्री को इस्तीफा देना पड़ता है तथा यह सुझाव देने के लिए कि भ्रष्टाचार का मुकाबला किस प्रकार किया जा सकता है, समितियाँ बनायी जाती हैं।

इन समस्त देशों में अपने विचार प्रकट करने की क्षमता रखने वाले लोग इस बात में विश्वास करते हैं कि भ्रष्टाचार व्यापक रूप से फैला हुआ है, कि यह बढ़ रहा है, विशेषकर उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों में, जिनमें विधानसभाओं और संसद के सदस्य तथा मन्त्री शामिल हैं। भ्रष्टाचार को रोकने के दिखावटी प्रयास और इस बात का जोर देकर उल्लेख कि भ्रष्ट लोगों के साथ वही व्यवहार किया जा रहा है, जो उनके साथ किया जाना चाहिए, लोगों के मन में उपेक्षापूर्ण उदासीनता के भाव को जन्म देता है। विशेषकर, इस दृष्टि से कि आखिर भ्रष्टाचार समाप्त करने के इन प्रयासों का बड़े लोगों पर क्या असर पड़ रहा है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सिंगापुर का छोटा-सा द्वीप (राज्य) एक अपवाद है और इस क्षेत्र में भ्रष्टाचार से मुक्त यही एक देश है। यह बात भी स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार से मुक्ति के कारण वहाँ की सरकार मजबूत बनी है।

भ्रष्टाचार के बारे में लोगों के विश्वास और इन विश्वासों से सम्बन्धित भावनाएँ अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य हैं। इनके अपने कारण और अपने प्रभाव भी हैं और ऐसा कोई कारण नहीं है कि इन्हें गहन अनुसन्धान का विषय न बनाया जाये। यही बात सार्वजनिक नीति सम्बन्धी उपायों पर भी लागू होती है : यह राजनीतिक, वैधानिक, प्रशासनिक और न्यायिक कार्रवाइयों पर लागू होती है। दोनों प्रकार के सामाजिक तथ्यों की पुष्टि और विश्लेषण करना पर्याप्त आसान होना चाहिए, क्योंकि ये सामाजिक यथार्थ की सतह पर मौजूद हैं।

अनुसन्धान का यह पहला कार्य होना चाहिए। दक्षिण एशिया के देशों में इस सम्बन्ध में सार्वजनिक बहस पूरी तरह प्रकट और स्पष्ट होने के कारण तथा इन सबमें अफवाहों का बड़ा स्थान होने के कारण भ्रष्ट आचरण के विभिन्न मामलों के तथ्यों का पता लगाना कठिन नहीं होना चाहिए। पर अधिक व्यापक अनुसन्धान कार्य का लक्ष्य सम्बन्धित देश में भ्रष्टाचार के स्वरूप और व्यापकता

का पता लगाना और यह निर्धारित करना होना चाहिए कि आर्थिक जीवन के विभिन्न स्तरों और शाखाओं में यह किस सीमा तक घुस गया है। इसके अलावा प्रकट प्रवृत्तियों पर भी ध्यान देना चाहिए।

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए जिस बुनियादी अनुसन्धान को आधार बनना है, वह अभी प्रायः हुआ ही नहीं है, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अध्येताओं ने इस निषेध को एक सीमा तक अंगीकार किया है। एशियन ड्रामा में भ्रष्टाचार के तथ्यों[39] के बारे में जो कुछ कहा गया है, और इस संक्षेप में मैंने जिसका उल्लेख भी किया है, वह संसद की कार्रवाई, समितियों की रिपोर्टों, समाचारपत्रों के व्यापक अध्ययन तथा इससे भी अधिक दक्षिण एशिया के जानकार लोगों से बातचीत, जिनमें पश्चिम के व्यापारी भी शामिल हैं, तथा कुछ सीमा तक प्रत्यक्ष व्यक्तिगत प्रेक्षण पर आधारित है।

दक्षिण एशिया के कुछ देशों में भ्रष्टाचार के आपेक्षिक स्तर का किसी निश्चितता के साथ मूल्यांकन करना फिलहाल सम्भव नहीं है। पर सब देशों में भ्रष्टाचार का स्तर बहुत ऊँचा है और पश्चिम के विकसित देशों और कम्युनिस्ट देशों की तुलना में इसका स्तर कहीं अधिक निर्विवाद रूप से ऊँचा है। पश्चिम के देशों में संयुक्त राज्य अमरीका को भी शामिल किया गया है। स्वाधीनता के बाद दक्षिण एशिया के देशों में भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई, विशेषकर उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों में। लगता है कि प्रवृत्ति निरन्तर भ्रष्टाचार में वृद्धि की ओर ही है।

जहाँ तक दक्षिण एशिया की सरकारों के प्रशासन की विभिन्न शाखाओं का सम्बन्ध है, यह बात साधारणतया स्वीकार की जाती है कि दक्षिण एशिया के सब देशों में सार्वजनिक निर्माण विभाग और खरीद करने वाले सरकारी संगठन विशेष रूप से भ्रष्ट हैं और इस प्रकार रेल विभाग, आयात लाइसेंस तथा अन्य परमिट जारी करने वाले दफ्तर और कर तथा सीमाशुल्क का मूल्यांकन और वसूली करने वाले विभाग भी इसी प्रकार भ्रष्ट हैं। भ्रष्टाचार न्यायालयों और विश्वविद्यालयों में भी फैल गया है।

सामान्य लोगों के मध्य कार्यकारण के रूप में भ्रष्टाचार के फलस्वरूप अवांछित कार्यों ने जन्म लिया है। व्यापारी लोग राजनीतिज्ञों और उच्चाधिकारियों में भ्रष्टाचार फैलाने में विशेष रूप से सक्रिय हैं। सरकारी रिपोर्टें और सार्वजनिक बहस जिस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के बारे में मौन हैं, वह दक्षिण एशिया के देशों में बाजारों के लिए प्रतियोगिता करने वाले पश्चिम के व्यापारियों की भ्रष्टाचार फैलाने में भूमिका से सम्बन्धित है। पश्चिम के ये व्यापारी इन देशों के उद्योगों में स्वतन्त्र रूप से अथवा स्थानीय कम्पनियों या सरकारों के साथ मिलकर पूंजी विनियोग भी करते हैं।

पश्चिम के व्यापार प्रतिनिधि कभी भी सार्वजनिक रूप से इस बात का उल्लेख नहीं करते, लेकिन मैं व्यक्तिगत रूप से यह कह सकता हूँ कि निजी बातचीत में वे इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि कुछ व्यापारिक सौदों को स्वीकार कराने के लिए उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों को रिश्वत देना जरूरी होता है तथा अपने उद्योगों को बहुत अधिक बाधाओं और कठिनाइयों के बिना चलाने के लिए बड़े और छोटे अफसरों को रिश्वत देनी पड़ती है।

ये लोग स्वयं अपने और दूसरी कम्पनियों के अनुभवों के बारे में स्पष्ट रूप से बातें करते हैं। इन लोगों का कहना है कि दक्षिण एशिया के देशों में व्यापार करने पर जो कुल लागत आती है, उसमें रिश्वत का कोई मामूली हिस्सा नहीं होता। यद्यपि शायद ही कोई विदेशी कम्पनी इस बात का दृढ़ नियम बना सके कि वह रिश्वत नहीं देगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि रिश्वत देने की इच्छा की दृष्टि से केवल विभिन्न कम्पनियों के बीच ही नहीं बल्कि विभिन्न देशों के बीच भी बड़ा अन्तर है।

पश्चिम के देशों में फ्रांस, अमरीका और विशेषकर पश्चिम जर्मनी की कम्पनियों के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि व्यापारी सौदे करने के लिए उन्हें रिश्वत देने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। कहते हैं कि जापानी कम्पनियाँ रिश्वत देने के लिए इनसे भी अधिक तत्पर रहती हैं। दूसरी ओर मैंने यह कभी नहीं सुना कि कम्युनिस्ट देशों के वाणिज्य संगठनों ने किसी व्यक्ति को रिश्वत देने का प्रस्ताव किया अथवा रिश्वत दी। यह व्यापक राय दक्षिण एशिया की सामाजिक भावभूमि का अंग बन गयी है। यह उसी प्रकार भावभूमि का अंग बन गयी है, जिस प्रकार भ्रष्टाचार सम्बन्धी चर्चा की अन्य बातें। अनुसन्धान के द्वारा ही इस बात को प्रमाणित किया जा सकता है कि किस सीमा तक ये बातें वास्तविक वाणिज्य सम्बन्धी व्यवहार को प्रकट करती हैं।

पश्चिम की सरकारों और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने जो अनुदान दिये हैं, वे अक्सर व्यापक भ्रष्टाचार के कारण बर्बाद हो गये हैं। यह बात लाओस, दक्षिण विएतनाम, थाईलैण्ड और यहाँ तक कि फिलीपाइन पर भी लागू होती है। यह बात सब लोग जानते हैं और अमरीका की स्पष्ट परम्परा के अनुसार इस आशय के समाचार केवल अखबारों में ही नहीं छपे, बल्कि संसद द्वारा की गयी जाँच में भी इनका उल्लेख हुआ।

प्रकट रूप से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और संयुक्त राष्ट्र के अन्य संगठन समग्र दृष्टि से भ्रष्ट लोगों के हाथों में खेलने से बचे रहे हैं। लेकिन जब जिन्स के रूप में सहायता दी गयी तो यदा-कदा यह भी देखा गया कि यह जिन्स अपने गन्तव्य पर पहुँचने के बजाय काले बाजार में पहुँच गयी। विशेष रूप से विश्व बैंक ने इस ओर अपने प्रभाव का अधिकाधिक इस्तेमाल किया है कि उसके ऋणों का उपयोग माल की सप्लाई करने वालों के मध्य उचित प्रतियोगिता बनाये रखने के लिए किया जाये।

भ्रष्टाचार के किस्सों, राजनीतिक, प्रशासनिक और न्यायिक दृष्टि से लोकप्रिय विश्वासों और भावनाओं की गूंज, अनेक देशों में भ्रष्टाचार की वास्तविक व्याप्ति और वर्तमान प्रवृत्तियाँ ऐसे सामाजिक तथ्य हैं, जिनका स्पष्टीकरण दक्षिण एशिया की अन्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में सामान्य रूप में दिया जाना चाहिए।[40]

भ्रष्टाचार बुनियादी तौर पर नरम राज्य की एक विशेष अभिव्यक्ति के

अलावा अन्य कुछ नहीं है, जिसकी ऊपर परिभाषा दी गयी है और जिसकी सामान्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी मैंने प्रस्तुत किया है। नरम राज्य की साधारण परिस्थितियाँ भ्रष्टाचार को सम्भव बनाती हैं, जबकि चक्राकार कार्य-कारण सम्वन्धों का समग्र प्रभावों सहित यह असर होता है कि ये समस्त देश नरम राज्य ही बने रहते हैं।

इस संक्षिप्त विवरण में केवल एक ही मुद्दे पर जोर दिया जायेगा। इन देशों में जीवन के एक स्वरूप के रूप में भ्रष्टाचार से लोकाचार का यह अन्तर प्रकट होता है कि कहाँ, कव और कैसे व्यक्तिगत लाभ उठाया जा सकता है। जव एक ओर कम-विकसित देशों में उचित लाभ के उद्देश्य और वाजार के आचरण को जीवन के उस क्षेत्र में—अर्थात् व्यापार के क्षेत्र में—मूर्त करना कठिन हुआ है, जिसमें इसका संचालन विकसित देशों में होता है, तो दूसरी ओर उस क्षेत्र में जहाँ विकसित देशों में व्यक्तिगत लाभ की इच्छा को समाप्त कर दिया गया है, इसे समाप्त करना उसी प्रकार कठिन सावित हुआ है। यह दूसरा क्षेत्र सार्वजनिक जिम्मेदारी और सत्ता का है।

दोनों अन्तर एक-दूसरे के पूरक हैं तथा कुछ सीमा तक इनसे एक-दूसरे को सहायता मिलती है। वस्तुतः ये पूँजीवाद से पहले के परम्परागत समाज के अवशेष हैं। जहाँ कहीं वाजार नहीं हैं और जहाँ कहीं ये अत्यधिक अपूर्ण रूप से मौजूद हैं, वहाँ व्यापकतम अर्थों में 'ताल्लुकात' के स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था करनी होगी। 'एकाधिक जाति वाले समाजों में' इसका अभिप्राय वफ़ादारी का विभाजन होता है और, विशेषकर, पूरे समाज के प्रति, चाहे यह स्थानीय स्तर पर हो चाहे राष्ट्रीय स्तर पर, वफ़ादारी नहीं रह जाती।

व्यक्तिगत, पारिवारिक अथवा 'समुदाय' के (इस शव्द का प्रयोग दक्षिण एशिया में प्रचलित अर्थों में किया गया है) लाभ के लिए किसी मन्त्री, संसद सदस्य, विधानसभा सदस्य अथवा किसी उच्चाधिकारी की सत्ता कहीं अधिक उपयोगी हो सकती है क्योंकि कोई लाइसेंस प्राप्त करने अथवा व्यापारिक सौदा करने के लिए उनकी सहमति अथवा सहयोग की आवश्यकता होती है। अथवा यह सहयोग किसी ऐसे मामूली से क्लर्क का भी हो सकता है, जो किसी अर्जी पर कारंवाई में विलम्व कर सकता है अथवा इसे रोक सकता है। यह बात रेल यात्रा के लिए टिकट देने अथवा रेल पटरी पर बने फाटक को तत्परता से खोलने के ऊपर भी लागू होती है।

दक्षिण एशिया में भ्रष्टाचार की मौजूदगी का स्पष्टीकरण देते समय परम्परागत समाज की विरासत को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। लेकिन एक सिद्धान्त के रूप में यह सामाजिक सांख्यिकी के क्षेत्र तक ही सीमित है। भ्रष्टाचार में निरन्तर वृद्धि का, जिसके बारे में अक्सर समाचार दिये जाते हैं, गतिशील अर्थों में स्पष्टीकरण दिया जाना चाहिए। भ्रष्टाचार में वृद्धि ने इन्दोनेशिया को भ्रष्टाचार से अधिकांशतया मुक्त देश से बदलकर, जो यह उपनिवेशी काल में था,[41] हाल के वर्षों में पूरी तरह भ्रष्ट वना दिया है। स्वाधीनता के युग में प्रायः जो कुछ हुआ है, उसने भ्रष्टाचार को अधिक प्रोत्साहन और कहीं अधिक अवसर दिया है। यह वात राजनीतिज्ञों और वड़े अधिकारियों के बीच व्याप्त बड़े पैमाने पर रिश्वतखोरी पर लागू होती है और यह रिश्वत-

खोरी निचले स्तरों पर मामूली रिश्वत का रूप धारण किये हुए है।

दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों में स्वाधीनता प्राप्ति और उपनिवेशी शासन से स्वशासन में संक्रमण से पहले बड़े पैमाने पर उथल-पुथल हुई। इसके साथ ही सर्वप्रथम राजनीतिज्ञ अपनी सत्ता के कारण महत्त्वपूर्ण बने। स्वाधीनता के बाद उपनिवेशी देशों के अफसरों के बड़ी संख्या में अपने देश वापस लौट जाने से दक्षिण एशिया के नव-स्वतन्त्र देशों में ऐसे गिने-चुने योग्य प्रशासक ही रह गये, जिन्हें पश्चिम के कड़े मानदण्डों के अनुसार कार्यकुशल कहा जा सकता है। यह कमी फिलीपाइन, भारत और श्रीलंका की तुलना में इन्दोनेशिया, बर्मा और यहाँ तक कि पाकिस्तान में भी अधिक व्यापक और अधिक हानिकारक सिद्ध हुई। वास्तविक आय की दृष्टि से अधिकारियों के वेतनों में निरन्तर गिरावट की प्रवृत्ति, और यह गिरावट निचले और मध्यम दर्जे के कर्मचारियों के वेतन में भी आयी, एक दूसरा निर्णायक परिवर्तन सिद्ध हुई।

इसके साथ ही बड़े पमाने पर प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों को अपनाने के कारण, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, प्रशासन से बहुत अधिक अपेक्षाएँ की जाने लगीं। ये नियन्त्रण भ्रष्टाचार को स्वतः जन्म देते हैं। भ्रष्टाचार का प्रसार भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और बेईमान अधिकारियों तथा उनके ग्राहकों, विशेषकर व्यापारियों, के मध्य इन नियन्त्रणों को कायम रखने और बढ़ाने के लिए निहित स्वार्थ का निर्माण करता है।

इसके साथ ही पश्चिम के निजी कोषों का धन भी कम-विकसित देशों में लगता है और उनका व्यापार भी यहाँ होता है, पर जिस पर अब पश्चिम के सम्बन्धित देशों के अधिकारियों का नियन्त्रण नहीं होता। ब्रिटेन और हालैण्ड के उपनिवेशों में अधिकांशतया ये अधिकारी भ्रष्ट नहीं थे और पश्चिम के व्यापारियों के ऊपर कुछ सीमा तक इनका अंकुश रहता था। लेकिन अब नियन्त्रण स्थानीय राजनीतिज्ञों और अधिकारियों के हाथों में है, जिन्होंने ऐसी ईमानदारी का प्रदर्शन नहीं किया है।

इसी प्रकार साधारणतया चक्राकार कार्यकारण सम्बन्ध मोजूद रहता है, जिसका भ्रष्टाचार के ऊपर सामूहिक प्रभाव पड़ता है। 'परिष्कृत' लोगों के लिए यह स्थिति इस विचार के अनुसार तर्कसम्मत बन सकती है कि किसी भी 'विकासशील देश' में भ्रष्टाचार से बचा नहीं जा सकता। इसके परिणामस्वरूप दूसरे लोगों की कठिनाइयों के प्रति उदासीनता का भाव फैलता है और रिश्वत देने और लेने के प्रति प्रतिरोध कम हो जाता है।

व्यापक' भ्रष्टाचार की जानकारी और ऊपर वर्णित इस भावना का, कि अपराधियों को दण्ड देने के लिए प्रभावशाली कार्रवाई नहीं की जाती, विशेषकर उन लोगों के विरुद्ध यह कार्रवाई नहीं की जाती जो सर्वोच्च पदों पर आसीन हैं, एक प्रभाव, यद्यपि एकमात्र प्रभाव नहीं, यह हुआ कि दूसरे के कष्टों के प्रति उदासीनता को विशेष रूप से सहारा मिला।[12] यह स्थिति एक ऐसे राष्ट्रीय नेता को भी इस सीमा तक हतोत्साहित कर सकती थी, जो स्वयं भ्रष्ट न हो और जो भ्रष्टाचार की व्यापकता को जानता हो, कि वह सरकार तथा प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को अधिक साहसपूर्वक और विधिवत् समाप्त कर डालने के प्रयासों का प्रतिरोध करने लगे। ऐसा लगता है कि जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध

में ऐसा ही हुआ।

"चिल्ला-चिल्लाकर केवल यह कहना कि हर व्यक्ति भ्रष्ट है, भ्रष्टाचार के वातावरण का निर्माण करता है। लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि वे भ्रष्टाचार के वातावरण में रह रहे हैं और इस कारण वे स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं। एक सामान्य व्यक्ति अपने-आपसे कहता है: 'ठीक है अगर हर आदमी भ्रष्ट दिखायी पड़ता है, तो मैं भी भ्रष्ट क्यों न बनूँ।' यही वातावरण तैयार करने का प्रयास किया जा रहा है और यह नहीं होने देना चाहिए।"

भ्रष्टाचार के बारे में जो किस्से प्रचारित होते हैं उनके तात्कालिक प्रभाव का यह विश्लेषण सम्भवतः सही है। लेकिन नेहरू का यह व्यावहारिक निष्कर्ष कि उन्हें उच्च स्तरों पर भ्रष्टाचार के विरुद्ध अपनी जबर्दस्त व्यक्तिगत सत्ता का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए और इस भ्रष्टाचार के विरुद्ध दूरगामी कार्रवाई करने की जो आवाज़ उठायी जा रही है उसे स्वीकार कर कार्रवाई नहीं करनी चाहिए, सम्भवतः उनकी एक गम्भीर गलती थी और उनके अनेक मित्रों ने यह बात उनसे कही भी।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भ्रष्टाचार की समस्या के बारे में यह कहकर कि यह महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है, तत्सम्बन्धी अनुसन्धान की उपेक्षा करने के अवसरवादी प्रयास और दक्षिण एशिया की वर्तमान परिस्थितियों में विकास के लिए भ्रष्टाचार की तथाकथित उपयोगिता गलत धारणाएँ हैं। मेरा विश्वास है कि यह विचार—जिसके समर्थन में कार्यकारण सम्बन्धों के रूप में कोई भी मान्य विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया गया है—पूरी तरह से गलत है और यह बात स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार विकास के लिए अत्यधिक हानिकारक है।[13]

कम-विकसित देशों में जो साधारण परिस्थितियाँ हैं और जो इन्हें नरम राज्य बनाती हैं, भ्रष्टाचार उसका एक अनिवार्य अंग है। यह एक बड़ा निषेध है और सामाजिक अनुशासन को बढ़ाने के समस्त प्रयासों के मार्ग में गम्भीर बाधाएँ प्रस्तुत करता है। भ्रष्टाचार से केवल राजनीतिज्ञ और अधिकारी ही नहीं, बल्कि व्यापारी भी और वस्तुतः समस्त आबादी प्रभावित है।

भ्रष्टाचार समस्त आयोजन और योजनाओं के लक्ष्यों को पूरा करने में तर्कहीनता के तत्त्व का समावेश कर देता है, क्योंकि भ्रष्टाचार विकास प्रक्रिया को अथवा इसके वास्तविक मार्ग को इस प्रकार प्रभावित करता है कि यह अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। यदि ऐसे किसी प्रभाव की पूर्व-कल्पना की जाती है तो उससे योजना की व्यापकता सीमित हो जाती है।

सार्वजनिक जिम्मेदारी के पद का अनुचित लाभ उठाने का एक सामान्य तरीका बाधा डालना और विलम्ब करना है। इस प्रकार भ्रष्टाचार निर्णय लेने और इसे हर स्तर पर लागू करने की प्रक्रियाओं के मार्ग में बाधा डालता है। इसके कारण बेईमान अफसरों को नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता बढ़ती है और ईमानदार अधिकारी निर्णय लेने से हिचकिचाता है। दोनों स्थितियों में प्रशासन बाधाजनक और धीमा हो जाता है।

प्रशासन की प्रक्रिया को धीमा बनाने और सत्ता के तर्कसंगत वितरण के मार्ग में बाधा डालने में भ्रष्टाचार दक्षिण एशिया में विशेष रूप से सहायक बना है, जहाँ एक ओर, कुशल प्रशासकों की कमी है और उसके साथ ही, दूसरी ओर, बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे सार्वजनिक नियन्त्रणों को लागू करने की प्रवृत्ति है, जो प्रशासकों के अपने विवेक के आधार पर निर्णय लेने की आवश्यकता को बढ़ा देते हैं।

जब इन देशों में 'आवश्यकता से अधिक व्यापक नौकरशाही व्यवस्था' को उपनिवेशी युग की देन कहा जाता है, तो यह केवल आंशिक सच्चाई ही होती है। भ्रष्टाचार बढ़ाने की प्रवृत्ति को ही इसका अधिकांश दोष दिया जाना चाहिए। जब पश्चिम के अत्यधिक कुशल प्रशासनिक विशेषज्ञ भी इस सम्बन्ध का उल्लेख नहीं करते,[44] तो यह उस अवैज्ञानिक राजनय का एक अंग होता है, जिसकी मैंने इस पूरी पुस्तक में आलोचना की है।

पर भ्रष्टाचार का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव सरकार की स्थिरता को ख़तरा पहुँचाना है। नई सरकारों को ऐसा परम्परागत समाज विरासत में मिला, जिसमें वफ़ादारियाँ विभाजित थीं। इन सरकारों के विकास के प्रयासों में इस विभाजन को समाप्त करने के लिए लोगों के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने का प्रयास भी शामिल होना चाहिए। लेकिन भ्रष्टाचार, और व्यापक भ्रष्टाचार की जानकारी, राष्ट्रीय सुदृढ़ता के प्रयासों में बाधक बनते हैं और, विशेषरूप से, सरकार के प्रति सम्मान और निष्ठा में कमी आती है।

दक्षिण एशिया की कोई भी सरकार तब तक अपना दृढ़ नियन्त्रण कायम नहीं रख सकती जब तक वह अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता रखने वाले वर्गों को इस बात से आश्वस्त न कर दे कि सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार को समाप्त करने की प्रभावशाली कार्रवाई की जा रही है। यह एक तथ्य है कि एशिया में —उदाहरण के लिए, पाकिस्तान और बर्मा में तथा दक्षिण एशिया के बाहर चीन में—जहाँ कहीं किसी शासन की समाप्ति हुई, राजनीतिज्ञों और प्रशासकों की भ्रष्टता और उसके परिणामस्वरूप व्यापारियों और जन-सामान्य में व्यापक रूप से ग़ैर-कानूनी तरीकों से काम करने की प्रवृत्ति एक बड़ा और अक्सर निर्णायक कारण रही।[45] आज दक्षिण एशिया की प्रत्येक सरकार के लिए भ्रष्टाचार के विरुद्ध प्रभावशाली कदम उठाना शब्दशः आत्मरक्षा का एक प्रश्न है।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं वे दक्षिण एशिया के विशाल कम-विकसित संसार सम्बन्धी मेरे प्रेक्षणों पर आधारित हैं। लेटिन अमरीका के देशों में अतीत की विरासत ने भिन्न रूप धारण किया है।

फिर भी, और यद्यपि कोई विस्तृत सर्वेक्षण उपलब्ध नहीं है, मैंने इन देशों में जो कुछ देखा है और जो कुछ पढ़ा है, उससे मुझे यही आभास मिलता है कि कुछ अतिरेकों को छोड़कर, अन्तिम परिणाम लेटिन अमरीका में भी दक्षिण एशिया जैसा ही रहा : व्यापक और समग्र दृष्टि से निरन्तर बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—एक नरम राज्य रही और आज भी है।

दक्षिण एशिया की तुलना में लेटिन अमरीका में विदेशी शासन कहीं लम्बे अरसे तक और अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। और यहाँ शासन करने वाले यूरोप के देशों की असैनिक सेवाओं का इसके ऊपर किसी उल्लेखनीय सीमा तक बाधाजनक प्रभाव नहीं पड़ा।

भ्रष्टाचार के बारे में सामान्यतया जिन बातों पर विश्वास किया जाता है और जिनके बारे में बहुत से किस्से प्रचारित हैं, वे समान रूप से प्रभावशाली हैं। यहाँ स्थिति और अधिक उत्तेजनापूर्ण है, क्योंकि यहाँ भ्रष्टाचार का विदेश के प्रभावों से कहीं अधिक सम्बन्ध है और इसका सबसे अधिक सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमरीका के प्रभाव से है। भ्रष्टाचार के प्रभावों के सम्बन्ध में इसके कारणों की तुलना में कहीं अधिक समानताएँ हैं।

साथ ही, अनेक व्यक्तिगत कोटियों और अन्तरों सहित, अनेक बातें ऐसी हैं जो संसार के सब कम-विकसित देशों के बारे में सच्ची दिखायी पड़ती हैं। अफ्रीका के अधिकांश नव-स्वतन्त्र देश बड़ी तेज़ी से व्यापक भ्रष्टाचार के गर्त में गिर गये, क्योंकि शिक्षित लोगों के नये उच्च वर्ग समूहों के लिए आजादी के युग में अपनी सत्ता का अनुचित लाभ उठाने का प्रलोभन त्याग देना सम्भव न हो सका।

नरम राज्य और भ्रष्टाचार की सच्चाई जानने के लिए व्यापक और गहन अनुसन्धान के निषेध को समाप्त करने की मेरी माँग कम-विकसित संसार के इन हिस्सों के बारे में भी उसी प्रकार मौजूद है। जब तक हम अर्थशास्त्रियों को यह पता नहीं चलेगा कि जीवन के इन तथ्यों की क्या सच्चाई है तो हम इन देशों की परिस्थितियों को सही ढंग से नहीं समझ सकेंगे और इनके लिए तर्कसंगत विकास सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित नहीं कर सकेंगे। इस जानकारी के अभाव में हम पहले की तरह ही पूर्वाग्रहग्रस्त दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुसार इन देशों की विकास की समस्याओं पर विचार करते रहेंगे। दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की सिद्धान्त के आधार पर आलोचना अध्याय-1 में प्रस्तुत की गयी है।

इस अध्याय में अब तक कही बातों और पूरी पुस्तक में जो स्थापना करने का प्रयास किया गया है और जिसे एशियन ड्रामा में अधिक विस्तार से प्रमाणित और विकसित किया गया है, उसका उद्देश्य तथ्यों और तथ्यगत सम्बन्धों को आधुनिकीकरण के आदर्शों पर विचार की दृष्टि से स्थापित करना है। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में इनके उपयोग की दृष्टि से इन्हें स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है और इनके लक्ष्यों को भी व्यक्त किया गया है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके आधार पर तर्कसम्मत नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और ये निष्कर्ष निकालने में भी तथ्यों के बारे में उपलब्ध ज्ञान सहित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को सामने रखा जाता है। जो व्यक्ति यथार्थ को भिन्न तरीके से देखता है उसे अपने इस भिन्न दृष्टिकोण और अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख करना होगा और किन कारणों से प्रेरित होकर उसने इन दृष्टिकोणों और मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को अपनाया,

यह स्पष्ट करना होगा। 'दिलचस्पीरहित' अथवा 'तटस्थ' दृष्टिकोण तर्कसम्मत कारणों से सम्भव नहीं है।[46]

यह एक तथ्य है कि पश्चिम के विकसित देशों में कम-विकसित देशों की तुलना में आधुनिकीकरण के आदर्शों को कहीं अधिक व्यापकता से साकार कर लिया गया है। एक 'कठोर' और 'सशक्त' राज्य के भीतर, जहां भ्रष्टाचार के महत्त्व को बहुत अधिक कम कर दिया जाता है, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास होता है। यह बात स्कैंडिनेविया के छोटे प्रोटेस्टेंट देशों के बारे में विशेष रूप से सही है और यह बात ब्रिटेन और हालैण्ड पर भी लागू होती है।

एक दृष्टि से यह कहना सच है कि हमने अपने विश्लेषण के लिए जो दृष्टिकोण चुना है वह पश्चिमी दृष्टिकोण है। यदाकदा इस बात को आलोचना के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह आलोचना न तो सही है और न ही उचित। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में आधुनिकीकरण के जिन आदर्शों को चुना गया है, वे कहीं अधिक बुनियादी दृष्टि से स्पष्ट रूप से तर्कसंगत हैं, यदि हमारा लक्ष्य विकास करना है। इन्हें पश्चिम के देशों में अधिक सीमा तक व्यवहार में लाया जा चुका है, इस बात को भी प्रकट करता है कि ये देश अधिक विकसित भी हैं। जब कम-विकसित देशों ने वस्तुत: अपने लिए विकास के लक्ष्यों के रूप में इन आदर्शों को चुना, तो इसका कारण यही था कि उन्होंने इन आदर्शों को विकास के लिए तर्कसम्मत समझा। इनका चुनाव इस कारण नहीं किया गया कि ये पश्चिम के हैं।

अपने आकार और पश्चिम के विकसित संसार तथा कम-विकसित संसार के समस्त सम्बन्धों के व्यावहारिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, यह बात कही जानी चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका कानून प्रणाली, कानून के पालन और कानून को लागू करने के सम्बन्ध में ऐसे लक्षण प्रदर्शित करता है, जो इसे कुछ दृष्टियों से कम-विकसित देशों की स्थिति के अधिक निकट ले जाते हैं। इस प्रकार अमरीका उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों की तुलना में कम-विकसित देशों के कहीं अधिक समीप पहुंच जाता है; यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों की स्थिति से बहुत दूर है और उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और विचारधारा सम्बन्धी पृष्ठभूमि बहुत भिन्न है। 25 वर्ष से भी अधिक समय पहले 'एन अमेरिकन डीलेमा' के लेखन के समय और अमरीकी आदर्शों सम्बन्धी इस पुस्तक के पहले अध्याय की रूपरेखा तैयार करते समय, मैंने संयुक्त राज्य अमरीका की विचित्र कानूनी परम्परा पर अनेक अनुभागों में सामान्य दृष्टिकोणों से विचार किया।[47] अपनी इस आरम्भिक पुस्तक का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूँ क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को इस प्रकार विकसित और प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

अमरीका के लोग, कम-विकसित देशों के लोगों की तरह लेकिन उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों के लोगों के विपरीत, अपने कानूनों में ऐसे आदर्शों को स्थान देते हैं, जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका में कभी भी प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किया गया। और यह कार्य अक्सर होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रशासन कभी भी बहुत अधिक प्रभावशाली नहीं रहा। इसके बावजूद अथवा इन बातों के रहते इस देश ने बड़ी तेज़ गति से आर्थिक उन्नति की। यह उन अनेक

परिस्थितियों के कारण सम्भव हुआ, जो आज के गरीवी से ग्रस्त कम-विकसित देशों से बहुत भिन्न थीं ।[48] और संयुक्त राज्य अमरीका आज भी भ्रष्टाचार से, विशेषकर राज्य और नगर स्तरों पर, उस सीमा तक मुक्त नहीं है जिस सीमा तक यूरोप के वे देश मुक्त हैं, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है ।

यह अन्तिम सांस्कृतिक कमी अनेक परस्पर सम्बन्धित तथ्यों के कारण है । इन तथ्यों में राष्ट्रपति एण्ड्रू जैक्सन के समय से चालू स्पायल्स सिस्टम अर्थात् नये राष्ट्रपति द्वारा समस्त कर्मचारी वृन्द में परिवर्तन की प्रणाली; इसके परिणामस्वरूप दृढ़ता से स्थापित और राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र असैनिक सेवा की अपेक्षाकृत कमी; नगरों में अश्वेतों और अन्य प्रवासी समूहों का जमाव; मशीनों पर आधारित राजनीति का विकास; और विशेषकर, इसकी अभी भी बहुत असमान आबादी के निचले वर्गों के एकीकरण का अपेक्षाकृत अभाव शामिल हैं ।[49]

दक्षिण एशिया और अन्य कम-विकसित देशों के विकास की समस्याओं के बारे में अधिकांश अनुसन्धान कार्य अमरीकी विश्वविद्यालयों में, अमरीकी विद्यार्थियों द्वारा होता है । सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि इस अनुसन्धान में जो पूर्वाग्रह मौजूद हैं और विशेषकर, नरम राज्य और भ्रष्टाचार की समस्याओं के प्रति उपेक्षा का जो भाव दिखाया जाता है, उसका कारण अमरीकी सभ्यता की अपनी विशिष्ट भाव-भूमि में विकसित अवसरवादी अन्धता हो सकती है ।

लेकिन यह सन्देह वांछनीय नहीं है । सबसे पहले इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि ऊपर जिन अन्य देशों के अध्ययनकर्त्ताओं का उल्लेख किया गया है उनके लेखन में कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं के संस्थागत पहलुओं में कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखायी गयी । इसके अलावा अमरीकी अध्ययनकर्त्ताओं ने स्वदेश में इन महत्त्वपूर्ण समस्याओं के प्रति आँख बन्द नहीं की है, बल्कि इसके विपरीत, आरम्भिक समय के कीचड़ उछालने वाले लोगों के समय से लेकर इन समस्याओं को अध्ययन का महत्त्वपूर्ण विषय बनाया है । इस तथ्य से पूरी तरह असम्बन्धित रूप से लेकिन अमरीकी समाज में हुए अन्य परिवर्तनों के अनुरूप, राज्य हाल के दशकों में निरन्तर कम नरम होता गया है, जबकि कम-विकसित देशों में यह प्रक्रिया उलटी दिशा में हुई है ।

इन परिस्थितियों में मुझे इस आशा के कारण दिखायी पड़ते हैं कि अमरीकी अध्ययनकर्त्ता कम-विकसित देशों में नरम राज्य के तथ्यों को उद्घाटित करने में वस्तुतः महत्त्वपूर्ण अंशदान करना शुरू करेंगे और इस बात का व्यावहारिक और राजनीतिक समस्याओं की दृष्टि से भी अनुसन्धान करेंगे कि राज्य को सशक्त और कठोर बनाकर किस प्रकार विकास की सम्भावनाओं को धीरे-धीरे बेहतर बनाया जा सकता है । जिस समाज में उनका लालन-पालन हुआ है, उसकी जानकारी होने के कारण उनके पास इस अध्याय में उठायी गयी समस्याओं को समझने की अधिक आरम्भिक सूझ-बूझ होनी चाहिए ।

3. नीति

कम-विकसित देशों को अपने राज्यों को कम नरम बनाने के लिए एक बड़े

मोर्चे पर संघर्ष करना होगा।

इस कार्य के लिए उन्हें अपने कानून को अधिक उपयोगी, लोगों के आचरण को निर्धारित करने के अपने उद्देश्यों को पूरा करने की अधिक क्षमता रखने वाला, कानून का उल्लंघन करने वालों के बच निकलने की कम गुंजाइश छोड़ने वाला और प्रभावशाली व्यवस्थाओं से समन्वित बनाना होगा। अनेक मामलों में इसका अर्थ कर्मचारियों की छटनी हो सकता है। ऐसे सुधारों के लिए कानून बनाना सन्देहपूर्ण उपयोगिता का होता है, जिसे फिलहाल कार्यरूप देने की कोई गुंजाइश न हो।

ऐसे सुधारों की कल्पना का, जिन्हें केवल भविष्य में ही लागू किया जा सकता है, राजनीतिक पार्टियों, अनेक प्रकार के संगठनों, कुछ व्यक्तिगत राजनीतिज्ञों और विद्वानों के राजनीतिक कार्यक्रमों में उचित स्थान हो सकता है। यह वयस्क शिक्षा के लिए प्रेरणा का स्रोत भी बन सकता है, जिसे, अन्य हर प्रकार की शिक्षा की तरह, लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन का प्रयास करना चाहिए।

लेकिन ऐसे आदर्शों के लिए कानून बनाना, जिन्हें लागू करने की कोई सम्भावना न हो अथवा जिन्हें लागू करने का इरादा ही न हो, दूसरे लोगों के कष्टों के प्रति उदासीनता के भाव को जन्म देता है और इससे उस स्थिति में राज्य के भीतर अनिश्चितता और मनमाने आचरणों के नये तत्त्वों का समावेश होता है, जब इन आदर्शों को केवल कुछ ही मामलों में लागू करने की सम्भावना हो। इससे उन लोगों को, जिनके मन में सामाजिक परिवर्तन के प्रति विरोध का भाव होता है, यह बहाना मिल जाता है कि इन आदर्शों को लागू कर दिया गया है। वस्तुतः यदि कम-विकसित देश राज्य को कठोर और शक्तिशाली बनाना चाहते हैं, तो उन्हें इस प्रकार के नये कानून कभी नहीं बनाने चाहिए।

सब कम-विकसित देशों को अपने प्रशासन में सुधार करने की आवश्यकता है। वस्तुतः बड़े पैमाने पर प्रशासनिक सुधार विकास को सम्भव बनाने और तेज करने के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों में शामिल हैं।

सबसे पहले यह प्रश्न उठाना महत्त्वपूर्ण होगा कि प्रशासन से क्या अपेक्षा की जाती है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि कम-विकसित देश विभिन्न सीमाओं तक यह प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हैं कि राज्य निजी व्यापार को जो दिशा देना चाहता है, उसे प्रशासनिक अधिकारियों के विवेक पर आधारित निर्णयों के द्वारा नियन्त्रित किया जाये। इन नियन्त्रणों को 'प्रत्यक्ष' अथवा 'भौतिक' नियन्त्रण कहा जाता है। ये नियन्त्रण दाम सम्बन्धी नीतियों, सीमा शुल्क और उत्पादन शुल्क तथा नीति सम्बन्धी सामान्य रूप से प्रभावी उपायों के द्वारा लागू नहीं किये जाते। इस कोटि के नियन्त्रण ऐसे होते हैं, जिनमें अधिकारियों को अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने की गुंजाइश नहीं रहती।

यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाये कि इन देशों की स्थिति ऐसी है कि विभिन्न दृष्टियों से विवेक पर आधारित निर्णयों के द्वारा नियन्त्रणों की आवश्यकता होती है, तो भी जिस सीमा तक इनका उपयोग किया जाता है, उसकी आवश्यकता नहीं होती। यह कहने का अभिप्राय निजी व्यापार पर कम नियन्त्रण की माँग करना नहीं है, बल्कि इस नियन्त्रण को भिन्न उपायों से और अधिक प्रभावशाली ढंग से लागू करने की माँग करना है। जैसाकि ऊपर दर्शाया जा

चुका है, अधिकारियों के विवेक पर आधारित अत्यधिक नियन्त्रण की वर्तमान प्रणाली वस्तुतः मुट्ठी भर जमे-जमाये और बड़े व्यापारियों को अधिक शक्ति प्रदान करती है तथा इन्हें परमिटों का लाभ भी प्राप्त होता है, जो आयोजन की दृष्टि से 'बेहद ऊँचा' होता है।

सब कम-विकसित देशों में योग्य और ईमानदार प्रशासकों की कमी है, यद्यपि यह कमी कुछ देशों में दूसरे देशों की तुलना में अधिक है। जहाँ तक सम्भव हो, किसी व्यक्ति के निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों के स्थान पर सामान्य और अनिवार्य नियन्त्रणों को लागू करने से ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी, जिसमें कुशल और ईमानदार प्रशासकों-रूपी अल्पसाधन की माँग में कमी हो जायेगी और इन व्यक्तियों को ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगाया जा सकेगा जो अभी तक नहीं किये जा सके हैं। प्रशासन प्रणाली में अधिक कार्य-कुशलता की आवश्यकता पूरी करने के लिए कम जटिल नौकरशाही तरीकों का उपयोग और नीचे के स्तर के अधिकारियों को अधिक अधिकार देना भी अधिक सम्भव हो सकेगा।

जिस एक अन्य प्रशासनिक सुधार की तुरन्त आवश्यकता है वह कर्मचारियों की छटनी से सम्बन्धित है। निःसन्देह किसी भी कम-विकसित देश में योग्य और ईमानदार प्रशासक अधिक संख्या में नहीं हैं। लेकिन प्रशासन को अधिकारियों के विवेक पर आधारित अनावश्यक नियन्त्रणों के भार से लादने और अकार्यकुशल कार्य-विधि तथा नीचे के दर्जे के अधिकारियों को अधिक अधिकार न देना, जो आंशिक रूप से परम्परागत है और आंशिक रूप से उक्त नियन्त्रणों की भरमार के कारण होता है, ऐसी स्थिति है, जिसने कम योग्यता वाले और कम ईमानदार लोगों की नियुक्ति से अधिकारी वर्ग को कमजोर बना दिया है।

सर्वत्र प्रशासन के निचले स्तरों पर सार्वजनिक कर्मचारियों की संख्या में बेहद वृद्धि हुई है। दक्षिण एशिया में यह अत्यधिक व्यापक हो गया है।[50] लेटिन अमरीका तक में और कम-विकसित संसार के अन्य हिस्सों में भी यही प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। यह राजनीतिक दबाव के कारण हुआ है। सामान्य कर्मचारियों के रूप में सार्वजनिक कार्यालयों में नियुक्ति को शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में कमी करने का साधन बनाया गया है। समाज की आवश्यकताओं की उपेक्षा करने वाली स्कूल प्रणाली के कारण इन शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि हुई है, जैसाकि अध्याय-6 में विचार किया गया है।

जब मैंने इस समस्या के बारे में भारत के एक महत्त्वपूर्ण मन्त्री से बातचीत की तो उन्होंने मुझे बताया कि सर्वोच्च स्तर से नीचे का उनका समस्त कर्मचारी-वृन्द प्रायः किसी उपयोग का नहीं है। आधे अथवा यहाँ तक कि तिहाई कर्मचारियों से उनका मन्त्रालय कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से काम कर सकता है, लेकिन राजनीतिक दृष्टि से इन कर्मचारियों को बर्खास्त करना और अपने कर्मचारी-वृन्द में कमी करना सम्भव नहीं था। यद्यपि यह कमी व्यावहारिक होती और इससे खर्च में भी कमी आती।

निचले स्तरों पर बहुत बड़ीसंख्या में सार्वजनिक कर्मचारियों की नियुक्ति की इस प्रणाली का सम्बन्ध इन कर्मचारियों के अत्यधिक नीचे वेतन से भी है। यह कम वेतन उन्हें रिश्वत लेने के लिए और अधिक प्रेरित करता है। इन लोगों की संख्या में पर्याप्त छटनी के साथ वेतनों में भी पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है और

इसके साथ ही भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए भी प्रभावशाली कारंवाई की जानी चाहिए।

साधारणतया भ्रष्टाचार प्रशासनिक कार्यकुशलता को नीचे स्तर पर बनाये रखने में निर्णायक भूमिका निभाता है और अधिकारियों के उच्च स्तर पर भी यही स्थिति है। बेईमान अफसर का यह निहित स्वार्थ होता है कि वह निजी व्यापार के ऊपर प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों को बनाये रखें। अब क्योंकि समग्र दृष्टि से ये नियन्त्रण जमे-जमाये और बड़े व्यापारियों के हित में होते हैं, अतः प्रमुख व्यापारियों द्वारा इसका प्रायः कोई विरोध नहीं किया जाता।

बेईमान अफसर का सामान्यतया यह भी निहित स्वार्थ होता है कि ऐसी जटिल प्रशासनिक कार्यविधि कायम रहे, जिससे विलम्ब करने की अधिक सम्भावनाएँ रहें। दुर्भाग्यवश, ईमानदार अफसर भी इस निहित स्वार्थ में हिस्सा बँटाता है। यदि वह किसी ऐसे प्रशासन में कार्य करता है, जिस पर भ्रष्ट होने का व्यापक सन्देह किया जाता है तो वह 'सुरक्षा' की दृष्टि से काम करेगा और स्वयं व्यक्तिगत जिम्मेदारियाँ लेने से बचेगा।[51]

प्रशासन को मजबूत और बेहतर बनाने के सब प्रयासों में और अन्य सब ऐसे प्रयासों में जिनका उद्देश्य राज्य को कम नरम बनाना हो, भ्रष्टाचार की समाप्ति का निर्णायक और महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों में दो सौ वर्ष पहले राज्य उससे कम नरम था, जितना आज कम-विकसित देशों में है। लेकिन उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों में, जहाँ आज भ्रष्टाचार सीमित है, उस आरम्भिक युग में काफी भ्रष्टाचार था। इससे कुछ समय बाद भी यही स्थिति थी। वस्तुतः वाणिज्यवाद, जिसमें सामन्त-वाद के अनेक अवशेष निहित थे, और आधुनिक हितकारी राज्य के मध्य उदार दृष्टिकोण अपनाने तक यह स्थिति बनी हुई थी। बीच के उदारतावादी दौर में सशक्त और कठोर राज्य अस्तित्व में आया। उदार राज्य की एक विशेषता राजनीतिक और प्रशासन की एक ऐसी प्रणाली का निर्माण थी, जो उच्च व्यक्तिगत ईमानदारी और कुशलता पर आधारित थी।

यद्यपि उत्पादन और व्यापार को उदार बनाने तथा विशेष रूप से दस्तकारों के संघों की प्रणाली की समाप्ति और पिछले युग से विरासत में प्राप्त शहरों के उद्योग-वाणिज्य को संरक्षण देने की व्यवस्थाओं का इतिहासकारों ने गहराई से अध्ययन किया है, पर उन्होंने इस बात में बड़ी कम दिलचस्पी दिखायी है कि किस प्रकार भ्रष्ट राज्य एक सशक्त और भ्रष्टाचार से मुक्त उदार राज्य में बदल गया। सम्भवतः यह कार्य उच्च स्तरों पर नैतिकता में दृढ़ता, तथा कड़ी कानूनी व्यवस्था, निचले स्तर के कर्मचारियों के वेतन में सुधार के द्वारा हुआ। निचले स्तर के कर्मचारियों के वेतन में सुधार का कार्य अक्सर परम्परागत रिश्वत को कानूनी फीस में बदलकर किया गया।

निःसन्देह, कम-विकसित देशों को उन बातों से सबक मिल सकता है, जो

सौ वर्ष से कुछ अधिक समय पहले पश्चिम के इन देशों में हुईं। लेकिन आरम्भिक परिस्थितियों में एक बुनियादी अन्तर है। राजनीति और प्रशासन में ईमानदारी का अपेक्षाकृत ऊँचा स्तर उस समय कायम हो गया था, जब राज्य की गतिविधि को न्यूनतम कर दिया गया था। जब फिर राज्य ने बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप किया तो वहाँ ऐसी राजनीतिक और प्रशासनिक प्रणाली मौजूद थी, जिसके उच्च गुण को सुरक्षित और संरक्षित रखने की आवश्यकता थी।

इसके विपरीत आज कम-विकसित देशों को अपने इतिहास के एक ऐसे दौर में व्यापक भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष करना है, जहाँ प्रायः हर बात भ्रष्टाचार को और अधिक बढ़ाने की प्रवृत्ति दर्शाती है और जब विशेष रूप से राज्य की गतिविधियाँ निरन्तर अधिक व्यापक होती जा रही हैं। और जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकारियों के निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों को आवश्यकता से अधिक तरजीह दी जा रही है।

लेकिन कम-विकसित देशों के समक्ष अधिक से अधिक प्रयास करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं है। उन्हें सब कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए इस प्रवृत्ति को बदलना होगा और भ्रष्टाचार को घटाना होगा। अधिक व्यापक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उन्हें अपने राज्य को शक्तिशाली और कठोर बनाने के लिए, अपने कानून को अधिक प्रभावशाली और अपने प्रशासन को अधिक कार्यकुशल तथा विशेष रूप से कम भ्रष्ट बनाने का प्रयास करना होगा।

इन अनेक बातों के वीच पारस्परिक सम्बन्ध है, क्योंकि एक दिशा में सफलता दूसरी दिशा में सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। लेकिन यह निश्चय है कि भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए, क्योंकि भ्रष्टाचार फैलने से चारों ओर निषेधों का निर्माण होता है। इस दृष्टि से इस बात को निर्णायक और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए क्या किया जाना चाहिए इस सम्बन्ध में सुझावों की कमी नहीं है। अनेक कम-विकसित देशों में इस कार्य के लिए नियुक्त समितियों ने जो रिपोर्टें दी हैं, उनमें विस्तार से उपायों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए, भारत की भ्रष्टाचार निरोध समिति की रिपोर्ट (1964) का उल्लेख किया जा सकता है। यह रिपोर्ट उच्च कोटि की है। इसमें जो सुझाव दिये गये हैं, वे राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णयों के लिए अधिक सरल और अधिक सूक्ष्म नियमों, प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों की व्यवस्था में कमी, प्रशासनिक निर्णयों के बारे में अधिक व्यापक प्रचार, जिसमें आयकर का निर्धारण भी शामिल है, के बारे में हैं। विभिन्न बदनामी फैलाने वाली घटनाओं की तरह सुधार के प्रस्ताव भी उस समय बहुत उत्तेजना उत्पन्न करते हैं, जब उन्हें पेश किया जाता है। लेकिन जब कोई ठोस कार्रवाई नहीं होती तो यह उत्साह समाप्त हो जाता है।

एक मुद्दे पर प्रायः पूरी सहमति है। सबसे पहले उच्च स्तर के लोगों के भ्रष्टाचार को दण्डित किया जाना चाहिए। इन उच्च लोगों में मन्त्री और

बड़े अफसर आते हैं। इसके साथ ही व्यापारियों में जो लोग बड़े पैमाने पर रिश्वत देते हैं, उन पर भी अदालतों में मुकदमे चलाये जाने चाहिए। इस स्तर पर इस दोष पर प्रहार नहीं किया गया तो नीचे के समस्त स्तरों पर भ्रष्टाचार को संरक्षण मिलता रहेगा।

वस्तुतः सार्वजनिक प्रशासन की कुछ शाखाओं में विभिन्न स्तरों के सब अधिकारी रिश्वत में अपना-अपना हिस्सा बटाते हैं। जब रिश्वत की राशि को इस प्रकार नहीं बाँटा जाता, तब प्रत्येक अपने लाभ की रक्षा करता है और इन लोगों के बीच एक मौन साँठ-गाँठ कायम हो जाती है। सार्वजनिक विचार-विमर्श में जो निष्कर्ष व्यापक रूप से निकाला जाता है, वह यह है कि यदि राजनीतिज्ञों और उच्चाधिकारियों को ऊँचे दर्जे की व्यक्तिगत ईमानदारी प्रदर्शित करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, तो भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष निरर्थक है।

लेकिन, ये लोग और व्यापारी तथा वे व्यक्ति जिन्होंने इनसे साँठ-गाँठ कर रखी है, इन देशों में उस विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं जिसके हाथ में सत्ता है। साधारणतया ये लोग स्वयं अपनी रक्षा करने की क्षमता रखते हैं और अपने अधीन काम करने वाले सब छोटे-मोटे लोगों को भी बचाने की ताकत रखते हैं और इस प्रकार ये लोग अपने विरुद्ध कानूनी कार्रवाई से बच जाते हैं। यदा-कदा कोई बदनामी फैलाने वाली घटना सामने आती है और इनमें से कोई व्यक्ति इस्तीफा दे देता है। अधिक गम्भीर दृष्टि से, व्यापक भ्रष्टाचार ऐसी स्थिति के निर्माण में भी सहायक होता है, जिसमें सरकार का तख्ता उलटना सम्भव हो जाता है और शासन में परिवर्तन होता है, यह शासन अधिकांशतया किसी-न-किसी प्रकार की तानाशाही होता है। यदि अन्य कुछ नहीं बदलता, तो नया शासन भी कुछ ही समय में उतना ही भ्रष्ट होता है जितना वह शासन था, जिसे इसने समाप्त किया।

जिस समय उस स्तर पर भ्रष्टाचार पर प्रहार करना असम्भव हो जाता है, जिस स्तर पर भ्रष्टाचार विरोधी अभियान को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रहार करना आवश्यक है, तो फिर हमारे समक्ष कम-विकसित देशों का असमानतावादी सत्ता संगठन आ जाता है। यदि राजनीतिज्ञों और अधिकारियों तथा व्यापारियों और अन्य लोगों का बड़ा हिस्सा भ्रष्टाचार से कम अवधि में लाभ प्राप्त करने पर उतारू हो, तो भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता, चाहे शिक्षित और अपनी माँगों को उठाने की क्षमता रखने वाले अपेक्षाकृत नीचे स्तर के लोग कितने ही क्रोध से अपना विरोध प्रदर्शित क्यों न करें। जब तक क्रम-विकास अथवा क्रान्ति के द्वारा सत्ता के ढाँचे में परिवर्तन नहीं होता, भ्रष्टाचार को कम करना अथवा यहाँ तक कि इसकी निरन्तर वृद्धि के मार्ग में बाधा डालना कठिन होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात याद दिलाना उचित होगा। यह साधारणतया कहा जाता है कि किसी भी कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद भ्रष्टाचार को प्रभावशाली ढंग से समाप्त कर दिया जाता है—यद्यपि अक्सर इसके साथ ही भ्रष्ट लोगों को भी समाप्त कर दिया जाता है।[52] पर अक्सर एक नयी नौकरशाही व्यवस्था और एक नये उच्च वर्ग के विकास में अधिक समय नहीं

लगता और इसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद और छोटा-मोटा भ्रष्टाचार फिर शुरू हो जाता है, जैसाकि हमने सोवियत संघ और पूर्व यूरोप के अन्य कम्युनिस्ट देशों के सम्बन्ध में देखा है। सम्भवतः जनता द्वारा कम्युनिस्ट क्रान्ति को आरम्भ में स्वीकार करने का आंशिक कारण इस तथ्य में निहित होता है कि इससे लोगों को पहली बार भ्रष्टाचार से मुक्त शासन प्राप्त होता है।

जैसाकि वयस्क शिक्षा अभियान के मामले में होता है, जो कम्युनिस्ट क्रान्ति के बाद चलाया जाता है, इसे अपने-आपमें कोई भयावह घटना नहीं समझा जाना चाहिए, बल्कि एक सुधार-कार्य माना जाना चाहिए। और इसका गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशों को अनुसरण करना चाहिए, यद्यपि यह कार्य भिन्न साधनों से किया जाना चाहिए; क्योंकि हमें यह विचार स्वीकार नहीं करना चाहिए कि केवल साम्यवाद ही हमें भ्रष्टाचार से वचा सकता है।

किसी कम-विकसित देश में सामाजिक अनुशासन को दृढ़ बनाने और नरम राज्य होने के कारण इनके मार्ग में जो निषेध और बाधाएं आती हैं, उन्हें समाप्त करने के लिए स्वयं सम्बन्धित देश को ही कार्रवाई करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में विदेशी सहायता की प्रायः कोई गुंजाइश नहीं है। यदा-कदा कानूनी और प्रशासनिक सुधार की विभिन्न समस्याओं के बारे में विशेषज्ञों की सलाह अपनी भूमिका निभा सकती है। पर इस स्थिति में विकसित देशों से विशषज्ञों का चुनाव अत्यधिक सावधानी से किया जाना चाहिए। ये लोग केवल बहुत अच्छे वकील और उच्च कोटि के प्रशासन विशेषज्ञ ही नहीं होने चाहिए, बल्कि इन लोगों में सम्बन्धित कम-विकसित देश की अत्यधिक भिन्न परिस्थितियों को पूरी तरह समझ लेने की क्षमता भी होनी चाहिए। इन लोगों को इस देश की अपनी विशेष परम्पराओं, जो आरम्भ में अधिक भ्रष्टाचार के गर्त में पड़ गयी थीं; राष्ट्रीय समुदाय के प्रति निष्ठा की व्यापक कमी, जो इसके उच्च वर्ग, जिसमें उच्च अधिकारी और व्यापारी शामिल हैं, के अधिकांश भाग में भी मौजूद है और अन्ततः इस देश की अत्यधिक गरीबी और सामान्य जन-समुदाय में उपयोगी साक्षरता की कमी की समस्याओं को भी समझ लेना चाहिए। किसी कम-विकसित देश को कम योग्यता वाले विशेषज्ञों को उपलब्ध कराना केवल बहुत कम उपयोग का ही नहीं होता, बल्कि यह इन देशों के लिए हानिकारक भी होता है और जैसाकि, दुर्भाग्यवश, अनेक उदाहरणों से स्पष्ट भी है।

आर्थिक दृष्टि से ऐसी तकनीकी सहायता पर अधिक लागत नहीं आती। कुछ अपवादस्वरूप मामलों में जहाँ ऐसी योग्यताओं वाले विशेषज्ञ मौजूद हों, निर्धनतम देश भी स्वयं अपने साधनों से उनका वेतन चुकाने की क्षमता रखते हैं।

निःसन्देह यह भी महत्त्वपूर्ण होगा कि विकसित देश कम-विकसित देशों को अधिक सामाजिक अनुशासन कायम करने, विशेषकर, भ्रष्टाचार के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली कदम उठाने की दिशा में प्रेरित करने के लिए अपने

प्रभाव का इस्तेमाल करें। विश्व बैंक ने शुरू से ही इस दिशा में अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया है। और इस प्रभाव को और अधिक बढ़ाया जा सकता है।

पश्चिम के विभिन्न विकसित देशों की इस महत्त्वपूर्ण मामले में कोई सम्मानजनक स्थिति नहीं है, क्योंकि दुर्भाग्यवश कम-विकसित देशों में स्वयं अपने नागरिकों की गतिविधि के कारण उनकी प्रतिष्ठा पर धब्बा लगा है। जैसाकि मैं कह चुका हूँ, पश्चिम की निजी व्यापारी कम्पनियाँ सामान्यतया समस्त कम-विकसित देशों में राजनीतिज्ञों और अधिकारियों को भ्रष्ट करने के काम में व्यापक रूप से लगी हुई हैं।

यह गतिविधि, निःसन्देह, लम्बी अवधि की दृष्टि से पश्चिम के व्यापार और पश्चिम के देशों के हितों के लिए हानिकारक है। पहले ही इन देशों के प्रति कम-विकसित देशों के अनेक बुद्धिवादियों की यह धारणा है कि ये देश शोषण, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रतीक हैं। उच्च वर्ग के एक बड़े हिस्से में यह दृष्टिकोण मौजूद रहने के कारण ऐसी संरक्षणवादी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं कि स्वदेशी विशेषज्ञों और व्यापारियों को विदेशियों से प्रतियोगिता में हानि पहुँच रही है।

रोष प्रदर्शन के इन स्रोतों के साथ यह तथ्य जुड़ा हुआ है कि इन बुद्धि-वादियों की नजर में, विदेशी व्यापारी कम्पनियाँ उनके राजनीतिज्ञों और उच्च प्रशासनिक अधिकारियों की ईमानदारी को समाप्त करने के लिए षड्यन्त्र रचने में लगी हैं। वस्तुतः उस समय इस धारणा के क्षति पहुँचाने वाले प्रभाव और मजबूत हो जाते हैं, जब पश्चिम से मिलने वाली एकतरफा सार्वजनिक सहायता को इस दृष्टि से देखा जाने लगता है, जो, जैसाकि मैंने कहा है, कभी-कभी आवश्यक होती है।

इसके साथ ही एक और प्रभाव उत्पन्न होता है, जो पश्चिम के लिए हानि-कारक है। पश्चिम की ऐसी कोई कम्पनी जो व्यापार के उच्च मानक कायम रखना चाहती है, स्वयं को अनुचित प्रतियोगिता में फँसा हुआ पाती है और इसकी यह प्रतियोगिता उन दूसरी कम्पनियों से होती है जो बड़े पैमाने पर रिश्वत देने का सहारा लेती हैं। जहाँ तक राष्ट्रीय समस्या का सम्बन्ध है, धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अनुचित प्रतियोगिता को बर्दाश्त करना व्यापारिक समुदाय के हित में नहीं है। पश्चिम के सब देशों में रिश्वत विरोधी कानून को साधारणतया व्यापार संगठनों का पूरा समर्थन प्राप्त होता है।

यदि कोई बात निश्चित है तो यह कि पश्चिम के व्यापार को सामूहिक दृष्टि से इस प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता समाप्त कर दिये जाने से बहुत लाभ मिलेगा। मैंने इस समस्या पर पश्चिम के प्रबुद्ध व्यापारियों से विचार किया है और वे सिद्धान्त रूप में इस बात में सहमत हैं।

यह एक ऐसी समस्या है, जिसके सम्बन्ध में स्वयं इन व्यापारियों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ शामिल है, कोई कारंवाई कर सकते हैं। कुछ वर्ष पहले जब एक छोटे देश का एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ से भेंट के लिए आया तो मैंने प्रतिनिधिमण्डल के अध्यक्ष को इस वाणिज्य संघ से अनौपचारिक रूप से इस समस्या पर विचार करने को कहा और उन्होंने यह विचार किया भी। इस देश के व्यापारियों ने

अपने देश और विदेश में उच्च नैतिक आदर्शों का पालन करने में असामान्य दिलचस्पी दिखायी थी। इसके परिणामस्वरूप उनके व्यापार को अनुचित प्रतियोगिता से सर्वाधिक क्षति उठानी पड़ी, क्योंकि वे उच्च नैतिक आदर्शों का पालन कर रहे थे।

पर इस प्रतिनिधिमण्डल के अध्यक्ष ने मुझे बड़े दुख से बताया कि इस समस्या के बारे में वे कोई बात सुनने को भी तैयार नहीं थे और बैठक में सार्वजनिक रूप से इस पर विचार करने की सम्भावना का तो उन्होंने और भी उग्र विरोध किया। संयुक्त राज्य अमरीका का प्रतिनिधिमण्डल इस मामले को इसी प्रकार दबा रहने देने के लिए सबसे अधिक व्यग्र था। यह व्यापारियों और उनके संगठनों की स्वयं अपने हितों को तोलने की दृष्टि से अदूरदर्शिता का एक और उदाहरण है।

एक और उदाहरण दक्षिण अफ्रीका के प्रति इनका दृष्टिकोण है। दक्षिण अफ्रीका से व्यापार और इस देश में पूंजी विनियोग अमरीकी पूंजीवाद के लिए अत्यन्त मामूली बात है। लेकिन वे दक्षिण अफ्रीका के व्यापार में वृद्धि को शक्तिशाली प्रोत्साहन प्रदान करते हैं और अमरीकी सरकार को उस नीति का पालन करने से रोकते हैं जो अमरीका ने अन्य देशों के साथ मिलकर घोषित की है। और ये व्यापारी संयुक्त राज्य अमरीका और अमरीकी पूंजीवाद के नाम पर—एक मजदूर पार्टी की सरकार के ही शासनकाल में ब्रिटेन की तरह—संसार भर में बट्टा लगाते हैं। यह बात उस देश के सच्चे हित में नहीं हो सकती जो संसार के नेतृत्व की महत्त्वाकांक्षा रखता हो। लेटिन अमरीका के अनेक देशों में अमरीका की व्यापार कम्पनियों के तौर-तरीके और सरकारी नीति के तत्सम्बन्धी परिणाम ऐसी ही अदूरदर्शिता, असंगत और स्वयं को प्रभावहीन बना डालने वाले दृष्टिकोणों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस स्थिति में, उन देशों को, जिनमें अधिक प्रबुद्ध व्यापारी और अधिक कठोर सरकारी नेतृत्व है, विदेशों में अपने नागरिकों द्वारा भ्रष्टाचार की समाप्ति के लिए कार्रवाई करने में पहल करनी चाहिए। इन देशों को अपने नागरिकों द्वारा भ्रष्टाचार पर वही कानूनी प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जो स्वदेश में लगाये जाते हैं। जब इन देशों में अधिकारियों को रिश्वत देना एक गम्भीर अपराध समझा जाता है, तो कोई कारण नहीं कि विदेशी अधिकारियों को रिश्वत देने के कार्य पर दण्ड न मिले। कहीं भी कम्पनियों के कर का निर्धारण करने में अपने देश में दी गयी रिश्वतों की राशि पर छूट नहीं दी जाती। तो इस बात का कोई कारण नहीं हो सकता कि कम-विकसित देशों में राजनीतिज्ञों और प्रशासकों को दी गयी रिश्वत की राशि को 'व्यापारिक खर्च' बताकर कर-योग्य राशि में से घटा दिया जाये।

अन्ततः यह किसी भी देश के नागरिकों की नैतिकता का प्रश्न होता है और यह बात उठती है कि देश किस सीमा तक विदेशों में अपने नागरिकों को भ्रष्ट तरीके अपनाने की अनुमति दे सकता है। पश्चिम की सभ्यता में अधिक शुद्ध अन्तःकरण की प्राप्ति के लिए कुछ घाटा उठाना भी उचित होगा। निःसन्देह जिस देश में विदेशों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए कड़े नियम बनाये जायेंगे, आरम्भ में उसकी कम्पनियों को कुछ व्यापार से हाथ धोना पड़ेगा। पर

इस बात में भी सन्देह नहीं है कि कम-विकसित देशों में ईमानदार लोगों के बीच उन्हें सद्भावना के रूप में बहुत लाभ मिलेगा। इससे जल्दी ही खोये हुए अवसर पुनः प्राप्त करने में या पहले से भी अधिक अवसर प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

इसके साथ ही इस कार्रवाई से वे देश अपराधियों के रूप में संसार के समक्ष प्रकट हो जायेंगे जो व्यापार के भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। कम-विकसित देशों में राजनीतिज्ञों और अफसरों को बड़े पैमाने पर रिश्वत देने की समस्या को खुले रूप से सबके सामने रखने के अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। उस स्थिति में, उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ इस विषय को अपने विचाराधीन विषयों में रखने से नहीं बच सकेगा।

यहाँ इस समस्या पर पश्चिम के हितों की दृष्टि से विचार किया गया है। यह स्वयं प्रकट है कि पश्चिम की व्यापारिक कम्पनियों द्वारा कम-विकसित देशों के आर्थिक जीवन में रिश्वत देकर प्रवश करने का तरीका न अपनाना इन देशों को नरम राज्य की खामियों को समाप्त करने के प्रयासों में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। यह सहायता देने पर विकसित देशों को कुछ भी खर्च नहीं करना होगा और वस्तुतः यह बात स्वयं उनके लम्बी अवधि के हित में होगी।

यह बात भी स्वयं उद्घाटित है कि इससे कम-विकसित देशों में नरम राज्य होने की पूरी समस्या के वैज्ञानिक अध्ययन के वर्तमान निषेधों को भी समाप्त करने में सहायता मिलेगी।

●

अध्याय : 8

अन्यत्र स्थिति की दलील नहीं बल्कि एक चुनौती

इस पुस्तक में एशियन ड्रामा के जो अनेक सन्दर्भ दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि खण्ड दो में अब तक कम-विकसित देशों में दूरगामी सुधारों की आवश्यकता के बारे में जो कुछ कहा गया है—तर्कसंगत तथ्यों और इन तथ्यों के आधार पर तथा मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं से जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उन दोनों के सम्बन्ध में भी—उस पर एशियन ड्रामा में कहीं अधिक निर्णायक ढंग से और विस्तार से तथा सम्बन्धित सामग्री के उचित सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए विचार हुआ है। उस मूल ग्रन्थ के विशाल आकार के कारण नीति सम्बन्धी प्रमुख निष्कर्षों को संक्षेप में एक अन्तिम भाग में प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन अलग से हो रहा है, पर इसे यही कमी पूरी करने के उद्देश्य से लिखा गया है। कुछ सीमा तक यह पुस्तक चुनीदा रही है। उदाहरण के लिए, मैंने स्वास्थ्य-समस्या पर इसमें विचार नहीं किया।[1] उद्योगीकरण की समस्याओं तथा दस्तकारी और 'छोटे उद्योगों'[2] के बारे में कृषि सम्बन्धी अध्याय-4 में संक्षेप में बात कही गयी है।

कम-विकसित देशों की परिस्थितियों का यथार्थवादी आधार पर अनुशीलन करने के मेरे प्रयास से ऐसी बातें स्पष्ट हुईं, जिनसे विकास के दृष्टिकोण से गम्भीर खामियाँ प्रकट होती हैं। यही कारण है कि आमूल और दूरगामी सुधारों की आवश्यकता है। मेरे अनुभव के अनुसार जब कभी इन कमियों और दूरगामी सुधार की आवश्यकता का उल्लेख हुआ, पश्चिम के विकसित देशों में कम-विकसित देशों की घटनाओं में दिलचस्पी न लेने के औचित्य के रूप में इनका इस्तेमाल किया गया। विशेषकर, इस बात की आड़ लेकर विकास के लिए दी जाने वाली सहायता में वृद्धि के स्थान पर उसमें कमी कर दी गयी।

प्रतिक्रियावादियों द्वारा निकाले गये इस निष्कर्ष ने अधिक उदार विचार वाले लोगों को स्पष्टतया चिन्तित किया है। इस कोटि में विकास की समस्याओं के पेशेवर अध्ययनकर्त्ताओं की बड़ी संख्या आती है। वस्तुतः ऐसे किसी निष्कर्ष की आशंका ने निरन्तर विधिवत् उनकी विचारधारा को प्रभावित किया है। विकास सम्बन्धी समस्त साहित्य में आशावादी रुझान, जिसकी मैं आलोचना करता हूँ, वस्तुतः इस कारण से अधिक शक्तिशाली बना है, क्योंकि इसके लेखकों को यह भय है कि यदि कम-विकसित देशों की परिस्थितियों का अधिक यथार्थवादी विश्लेषण किया गया, तो इससे विकसित देशों के लोग इन्हें सहायता देने से

निरुत्साहित हो सकते हैं।

मेरी राय में ये दोनों दृष्टिकोण असंगत हैं। इस तथ्य को स्वीकार करना कि कम-विकसित देशों में स्थिति उससे कहीं अधिक गम्भीर है, जितनी इन देशों की समस्याओं के अध्ययनकर्त्ता सामान्यतया समझते हैं, विकसित देशों से इन्हें अधिक सहायता की आवश्यकता पर जोर पड़ता है। इससे इस सहायता के लिए अधिक सावधानी से आयोजन करने को भी प्रेरणा मिलेगी, ताकि इस सहायता से विकास को सर्वाधिक प्रेरित किया जा सके। यथार्थवादी दृष्टिकोण विकसित देशों के समक्ष अन्यत्र स्थिति की दलील या बहाना प्रस्तुत नहीं करता, वल्कि चुनौती प्रस्तुत करता है।

यह सच है, जैसाकि मैंने पिछले भाग में निरन्तर ज़ोर देकर कहा है कि जिन दूरगामी सुधारों की आवश्यकता है, उन्हें स्वयं कम-विकसित देशों को लागू करना चाहिए। उन्हें विशेषकर, विभिन्न क्षेत्रों में अपनी समस्त नीतियों को इस प्रकार संचालित करना होगा, ताकि उन आर्थिक और सामाजिक असमानताओं का मुकाबला कर सकें जो आज प्रायः सर्वत्र बढ़ रही हैं। इसकी केवल सामाजिक न्याय के लिए ही आवश्यकता नहीं है, बल्कि विकास के मार्ग में जो निषेध और वाधाएँ हैं, उन्हें समाप्त करने के लिए भी आवश्यकता है (देखिए अध्याय-3)।

इसके बाद इन देशों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपने गरीब देशवासियों की सहायता के लिए जो अनेक प्रयास किये जाते हैं, उन्हें कहीं इस प्रकार विकृत तो नहीं बना दिया जाता, जिससे समृद्ध लोगों को लाभ पहुँचने लगे। इस प्रकार की विकृति, जो आज कम-विकसित देशों में प्रायः एक नियम बन गयी है, उस प्रक्रिया का अंग बन गयी है, जो असमानता को बढ़ाने में कारक बनती है।

कृषि में उन देशों को मनुष्य और भूमि के बीच के सम्बन्ध को बुनियादी रूप से बदलना होगा, ताकि मनुष्य को भरपूर प्रयास करने और जो कुछ पूंजी वह जुटा सकता है, उसे लगाने के लिए प्रोत्साहन मिल सके। सबसे पहले उसे स्वयं अपना श्रम लगाना चाहिए। भूस्वामित्व और काश्तकारी की व्यवस्था में सुधार के विना, खेती में टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति से सामाजिक और आर्थिक खाइयों में और अधिक बढ़ोतरी होगी, जो आज भी खेती में लगे लोगों की निरन्तर तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के बीच मौजूद है (देखिए अध्याय-4)।

इन्हें सामान्य जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रचार-प्रसार करना चाहिए, जो कम-विकसित संसार के अधिकांश भाग में इससे कहीं अधिक कठिन कार्य है जितना साधारणतया विकसित देशों में समझा जाता है (देखिए अध्याय-5)।

इन देशों को अपनी आबादी से निरक्षरता को मिटा देने की महत्त्वाकांक्षा जगानी चाहिए और यह कार्य वयस्क शिक्षा की व्यवस्था कर कुछ ही वर्षों में पूरा किया जाना चाहिए। इन लोगों को अपने स्कूलों में भी इसी प्रकार दूरगामी तरीके से परिवर्तन और सुधार करना चाहिए (देखिए अध्याय-6)।

इन्हें अपने कानून बनाने के तरीकों और उन्हें लागू करने के तरीकों में भी सुधार करना चाहिए। इन्हें अपने राज्य को एकीकृत और सुदृढ़ बनाना चाहिए। इन्हें भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए संघर्ष छेड़ना चाहिए क्योंकि भ्रष्टाचार में वृद्धि हो रही है (देखिए अध्याय-7)।

इन देशों की स्थिति की गम्भीरता—और इस कारण से अनेक कार्य करने की आवश्यकता का औचित्य—इस तथ्य से महत्त्वपूर्ण तरीके से स्पष्ट हो जाती है कि सुधार राष्ट्रीय एकता और निरन्तर विकास की एक शर्त है और यह तथ्य भी मौजूद हैं, जैसाकि हम देख चुके हैं, कि समस्त सुधारों को प्रवल प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है, अधिकांशतया उच्च वर्ग के निहित स्वार्थों के कारण, जिसके हाथ में राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों स्तरों पर राजनीति का नियमित रूप से नियन्त्रण रहता है।

ये कठिनाइयाँ निर्धनतम देशों में अधिकतम हैं, जिन्हें सबसे अधिक विकास की आवश्यकता है। दूसरी ओर, क्योंकि विकास से सुधारों की सम्भावना में साधारणतया और वृद्धि होगी, इसका यह अर्थ होता है कि सुधार, एक बार चालू हो जाने पर, एक ऐसी समग्र प्रक्रिया को जन्म दे सकते हैं, जिसके चक्राकार प्रभाव के द्वारा विकास और सुधार का क्रम शुरू हो सकता है। हमने यह देखा है कि विकसित देश सुधारों की दृष्टि से केवल एक तरीके से ही कम-विकसित देशों की प्रत्यक्ष रूप से सहायता कर सकते हैं : ये देश अपने व्यापारियों को इन देशों के अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को भ्रष्ट बनाने से रोक कर यह सहायता दे सकते हैं। इस प्रकार भ्रष्टाचार में वृद्धि की वर्तमान प्रवृत्ति के एक प्रभावशाली कारण को समाप्त किया जा सकेगा। इस 'सहायता' पर विकसित देशों को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ेगा और वस्तुतः इससे स्वयं उनके हितों को वहुत लाभ पहुँचेगा (देखिए अध्याय-7)।

विकास के लिए आन्तरिक सुधारों का महत्त्व समझ लेने के साथ यह प्रश्न उठता है : क्या विकसित देश ऐसा कुछ कर सकते हैं कि कम-विकसित देश सुधारों की आवश्यकता समझने लगें और उन्हें इन सुधारों को लागू करने की प्रेरणा मिले ?

मैं सबसे पहले वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में परिवर्तन का उल्लेख करने के लिए क्षमा चाहता हूँ। इस समय यह कार्य जिस रूप में हो रहा है, साधारणतया उसमें कम-विकसित देशों की उन परिस्थितियों को छिपाने का प्रयास किया जाता है, जो आमूल और दूरगामी सुधारों की आवश्यकता को सबसे अधिक प्रमाणित करती हैं। कठिन और उलझन में डालने वाले तथ्यों पर ध्यान न देना और उनका विश्लेषण न करना कम-विकसित देशों के उच्च वर्ग के उन अप्रबुद्ध लोगों के हाथों में खेलना है, जो सुधारों का प्रतिरोध करते हैं और जो सुधार के समस्त प्रयासों को विकृत वनाते हैं, ताकि ये प्रयास उनके अदूरदर्शिता पर आधारित हितों के अनुरूप हो जायें। ये सुधार लम्बी अवधि की दृष्टि से स्वयं इन लोगों के हित में भी हैं। इस वात पर अध्याय-14 में आगे विस्तार से विचार होगा। ईमानदारी से किया गया गहन अनुसन्धान सुधारों को लागू करने की जो चुनौती प्रस्तुत करता है, उसे उभरने नहीं दिया गया है।

जैसाकि हम देख चुके हैं, दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण ने, जो आर्थिक अनुसन्धान के ऊपर छाया हुआ है, नरम राज्य और भ्रष्टाचार की

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का उल्लेख तक करने का निषध कर रखा है (अध्याय-7)।

इसने अर्थशास्त्र के एक पुराने पूर्वाग्रह का भी अनुसरण किया है। यह कार्य सीधे-सादे ढंग से यह मानकर किया गया है कि समानतावादी सुधार आर्थिक विकास के विपरीत हैं, जबकि स्थिति यह है, और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ये सुधार आर्थिक विकास को प्रेरणा देते हैं और इसकी गति तेज बनाते हैं। सर्वोत्तम मामले में इस दृष्टिकोण में इस मसले की उपेक्षा की गयी है (अध्याय-3)।

जहाँ तक कृषि नीति का सम्बन्ध है, अर्थशास्त्री घटिया प्रौद्योगिक आशावादिता का सामान्यतया शिकार बन गये हैं। हाल के वर्षों में उन्होंने भूस्वामित्व और काश्तकारी व्यवस्था के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समानता के प्रश्न पर विचार करने से दूर ही रहने की अधिक प्रवृत्ति दिखायी है तथा खेती की उन्नति में गाँवों के सामान्य लोगों के हिस्सा लेने के महत्त्व की उपेक्षा की गयी है (देखिए अध्याय-4)। इस प्रकार ये लोग एक ऐसे घटनाक्रम में साँठ-गाँठ करने वाले व्यक्ति बन रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप पहले से ही कठोर आर्थिक और सामाजिक अन्तर में और अधिक वृद्धि होगी और जो कालान्तर में केवल आर्थिक विकास को ही नहीं, बल्कि सामाजिक स्थिरता को भी खतरे में डाल देगा। यदि इस घटनाक्रम को जल्दी ही समानता के प्रश्न पर उचित ध्यान देकर सुधारा नहीं जाता, तो स्थिति बहुत बिगड़ सकती है।

जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी भी अर्थशास्त्री ने विकास के लिए वयस्क शिक्षा के अभियान के द्वारा तेज़ी से निरक्षरता को समाप्त करने की आवश्यकता के सर्वाधिक महत्त्व को नहीं देखा है। विभिन्न स्तरों पर स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने कम-विकसित देशों को 'मनुष्य में विनियोग' का पूरी तरह से सतही और झूठा सिद्धान्त दिया है। इससे कम-विकसित देशों में शिक्षा के स्तर की वस्तुतः अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर ध्यान न देने का बहाना मिल गया है। इसमें अध्ययन और अध्यापन की दिशा, विषयवस्तु और भावना पर ध्यान नहीं दिया गया है (देखिए अध्याय-6)। आज शिक्षा-प्रणाली की इस प्रकार योजना बनायी जाती है कि यह विकास के लिए हानिकारक हो जाती है।

उन विषयों के अनुसन्धान पर साधारणतया अधिक ध्यान दिया जाता है, जिन पर हमारे समाज की, जिसमें हम रहते हैं और जिसमें हम आय अर्जित करते हैं और अपना दर्जा बनाते हैं, राजनीतिक दिलचस्पियों का प्रभाव रहता है, यह बात स्वाभाविक है—चाहे, जैसाकि मैं कह भी चुका हूँ, कोई अध्ययनकर्त्ता यह इच्छा भी क्यों न करे कि हम अर्थशास्त्रियों को एक सामान्य व्यक्ति की तुलना में अधिक दूरदर्शिता दिखानी चाहिए और हमें आगामी घटनाओं के पूर्व संकेतों को समझकर कार्य करना चाहिए, ताकि सदा हमारे समाजों को अचानक उनके सामने आ जाने वाली परिस्थितियों में कठिनाई का अनुभव न हो और इन परिस्थितियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तुरन्त कोई अस्थायी नीति निर्धारित न करनी पड़े।

लेकिन जब अध्ययन का वह क्षेत्र, जिसे राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्व दिया जाता है, निर्धारित कर दिया जाता है, तो अध्ययनकर्त्ताओं के रूप में हमारा

यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम इन समस्याओं का गहराई से अध्ययन करें, इनके मूल में पैठें। हमें अपने समाज में व्याप्त सामान्य पूर्वाग्रहों की अखौंतिया बाँधकर काम नहीं करना चाहिए। सामान्य पूर्वाग्रहों को स्वीकार न कर हम नीति और राजनीति को और अधिक विवेकपूर्ण और तर्कसंगत बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं।

फिलहाल कम-विकसित देशों सम्बन्धी आर्थिक अनुसन्धान का प्रमुख पूर्वाग्रह—और मैं विकसित और कम-विकसित दोनों देशों के अपने हमपेशा लोगों के बारे में सोच रहा हूँ—यह है कि हम दृष्टिकोणों, संस्थाओं और रहन-सहन के निचले स्तर के उत्पादकता सम्बन्धी प्रभावों को अपने अनुसन्धान से अलग निकाल देते हैं (देखिए अध्याय-1)। यदि हम पूर्वाग्रह से मुक्त और सच्चा संस्थागत दृटिष्कोण अपनाने की दिशा में आगे बढ़ें तो मुझे इस बात में जरा भी सन्देह नहीं है कि हमारे अनुसन्धान का कम-विकसित देशों और विकसित देशों की नीतियों पर बड़ा स्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ेगा और यह प्रभाव बहुत व्यापक भी हो सकता है।

यह सच है कि लोग उस बात से प्रेरित होते हैं, जिस बात को वे अपने हित में समझते हैं। लेकिन लोगों के आदर्श भी होते हैं और वे विवेकपूर्ण और तर्कसंगत आचरण भी करना चाहते हैं। विशेषकर, वे लोग जो अपने लम्बी अवधि के और छोटी अवधि के हितों के बीच अन्तर करने की क्षमता रखते हैं और लम्बी अवधि के हितों के सर्वोपरि महत्त्व को भी समझ सकते हैं, यदि उन्हें यह बात स्पष्ट शब्दों में और आश्वासनदायक तरीके से समझाई जाये। अर्थशास्त्र में सदियों से जो गरिमापूर्ण परम्परा रही है वह यह है कि हमारे पेशे ने यह स्वीकार किया है कि हम स्वयं को भ्रान्तियों से मुक्त रखेंगे। हम समस्याओं और जनता से दूर नहीं रहेंगे, बल्कि लोगों को समस्याओं की वास्तविकता समझाने और उन्हें तथ्यों से आश्वस्त करने की अपनी जिम्मेदारी अनुभव करेंगे।

अन्ततः हमारे पेशे का विश्वास यह है कि हम यह विश्वास करते हैं कि सत्य लाभकारी होता है और अवसरवादी भ्रान्तियों से सदा क्षति पहुँचती है।

पूर्वाग्रहों से मुक्त और गहन अनुसन्धान के प्रयास का स्वयं कम-विकसित देशों में नीति निर्धारण पर प्रत्यक्षं प्रभाव पड़ेगा। साधारणतया इससे प्रगतिशील शक्तियों को और प्रोत्साहन मिलेगा जो आमूल और दूरगामी सुधारों की माँग करती हैं।

समझने योग्य कारणों से विकसित देशों में कम-विकसित देशों की तुलना में निहित स्वार्थ कम सर्वव्यापी है। इसी प्रकार वहाँ पूर्वाग्रह से मुक्त वैज्ञानिक अध्ययन का महत्त्व भी अधिक होना चाहिए। अब प्रश्न उठता है : विकसित देश कैसे और किस सीमा तक कम-विकसित देशों को आन्तरिक सुधारों में दिलचस्पी लेने के लिए प्रेरित करने के वास्ते स्वास्थ्यकर प्रभाव डाल सकते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमें सबसे पहले अपने-आपको यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि कम-विकसित देशों की आन्तरिक समस्याओं के प्रति एक

'तटस्थ' दृष्टिकोण अपनाना सही विकल्प नहीं है। हम तटस्थ नहीं हैं और न ही तटस्थ हो सकते हैं। यदि इन देशों की सहायता देने की कोई नीति न भी हो तब भी यही होगा। वस्तुतः सहायता सम्बन्धी नीति के मौजूद रहने के कारण यह और आवश्यक हो जाता है कि हम कम-विकसित देशों की आन्तरिक समस्याओं में और अधिक दिलचस्पी लें। सब विकसित देशों में इस बात को अच्छी तरह समझा जाता है कि सहायता सम्बन्धी नीतियाँ किसी देश की सामान्य विदेश नीति का एक हिस्सा होती हैं—यद्यपि अक्सर संयुक्त राज्य अमरीका में संसद की विभिन्न कारंवाइयों और प्रकाशनों में इसे बेहद कम निषेधों के साथ व्यक्त किया जाता है।

इसके बाद दूसरा प्रश्न यह उठता है: कम-विकसित देशों की नीतियों पर विकसित देश किस प्रकार प्रभाव डालें और इस प्रभाव की दिशा क्या होनी चाहिए ?

मान लीजिए—जैसाकि मैं मानता हूँ—कि विकसित देशों के लोग यह चाहते हैं कि संसार-भर में कम-विकसित देशों का यथासम्भव तेजी से विकास हो और इसके साथ ही, यह विकास इस प्रकार 'सन्तुलित' हो ताकि आर्थिक खाइयों का निर्माण न हो जो कालान्तर में केवल विकास के मार्ग में ही बाधक नहीं बनेंगी, बल्कि राष्ट्रीय एकता और आन्तरिक शान्ति तक को खतरे में डाल देंगी। इन मान्यताओं के बाद कम-विकसित देशों की आन्तरिक परिस्थितियों के बारे में बेहतर जानकारी से विकसित देश तर्कसंगत रूप से वे कार्य करने के लिए प्रेरित होने चाहिए, जिनसे कम-विकसित देशों में उन शक्तियों के हाथ मजबूत हों जो सुधारों की माँग करते हैं।

सहायता सम्बन्धी नीतियों से उस प्रभाव में वृद्धि होती है जो विकसित देश इस चुनाव के द्वारा कम-विकसित देशों पर डाल सकते हैं कि सहायता के लिए किन देशों का चुनाव किया जाना चाहिए और इस सहायता का क्या उद्देश्य होना चाहिए। यदि सहायता की राशि को बहुत बढ़ा दिया जाता है, जिसका मैं अध्याय-11 में प्रस्ताव करूँगा, तो यह प्रभाव और अधिक बढ़ सकता है।

विश्व बैंक समूह कम-विकसित देशों को पूँजी देने वाला प्रमुख स्रोत है और इसकी वर्तमान नीति बहुत छोटी अवधि में अपने ऋणों की राशि को तेजी से कई गुना बढ़ा देने की है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि बैंक के अध्यक्ष अब आबादी के नियन्त्रण की आवश्यकता पर जोर दे रहे हैं। यदि, जैसाकि मैंने अध्याय-5 में दर्शाया है, इस क्षेत्र में अधिक वित्तीय सहायता की गुंजाइश नहीं है—सन्तति-निरोध की बेहतर विधियों के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान को जारी रखने के लिए आवश्यक धनराशि को छोड़कर—और चाहे स्वयं कम-विकसित देशों की सरकारों पर अधिकांश जिम्मेदारी आती हो, फिर भी सही दिशा में दबाव डालने की बहुत गुंजाइश है।

सहायता के आवेदनों पर विचार करते समय, अब भविष्य में बैंक से यह आशा की जा सकती है कि बैंक इस बात पर विचार करेगा कि सहायता माँगने वाले देश की आबादी सम्बन्धी कोई नीति है अथवा नहीं और यदि कोई नीति है तो उसे लागू करने के लिए किस सीमा तक प्रभावशाली उपाय किये जा रहे हैं। यह बात बैंक के सीमित दृष्टिकोण से भी पर्याप्त तर्कसंगत है क्योंकि किसी देश

का आर्थिक विकास और उसकी सम्भावनाएँ अपने वित्तीय उत्तरदायित्वों को पूरा करने की क्षमता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। विश्व बैंक कम-विकसित देशों के आर्थिक विकास का सर्वेक्षण करने के लिए विशेषज्ञों की जो टोलियाँ भेजता है उन्हें ये निर्देश दिये जायें कि वे इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं करेंगी कि आवादी सम्वन्धी नीति के सम्बन्ध में इन देशों में क्या किया जा रहा है।

इसी प्रकार यह भी महत्त्वपूर्ण है कि बैंक शिक्षा के लिए दिये जाने वाले ऋणों को अव उच्च प्राथमिकता दे रहा है। यदि वैंक अपने-आपको 'मनुष्य में विनियोग' के पूर्वाग्रहग्रस्त और सतही सिद्धान्त से मुक्त करा लेता है और इस बात को समझ लेता है कि महत्त्वपूर्ण शिक्षा सम्बन्धी सुधारों का सम्वन्ध अन्य वातों से भी है—इसका उद्देश्य केवल धन खर्च करना और स्कूलों तथा विद्यार्थियों की संख्या में भर्ती करना ही नहीं है—तो बैंक का दबाव निर्णायक महत्त्व का हो सकता है। आबादी सम्बन्धी नीति से भी कहीं अधिक धन की उपलब्धि शिक्षा सम्बन्धी सुधारों को और अधिक आसान बना सकती है (देखिए अध्याय-6)।

इस बात का फिर उल्लेख किया जा सकता है कि लम्वी अवधि की दृष्टि से शिक्षा सम्वन्धी सुधार किसी देश के आर्थिक विकास की सम्भावनाओं के लिए महत्त्वपूर्ण होता है और इसी प्रकार यह सम्वन्धित देश की ऋण देने योग्य होने की वात अथवा न होने की वात पर निर्णय लेने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। अतः यह पूरी तरह विवेकपूर्ण और तर्कसंगत है कि वैंक की सर्वेक्षण टोलियाँ सम्वन्धित देश की शिक्षा सम्वन्धी नीतियों को अपने सर्वेक्षणों में महत्त्व दें।

वैंक खेती की प्रगति को जो उच्च प्राथमिकता देता है, वह भी सही उद्देश्य से प्रेरित है। कृषि टेक्नालॉजी के विकास के लिए बैंक चाहे जो भी कर सकता है और इसे लागू करने के लिए जो कार्रवाई कर सकता है, वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगी। लेकिन बैंक को इस खतरे के प्रति सजग रहना चाहिए कि टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति को किसी-न-किसी प्रकार के भूमि-सुधार की तत्काल आवश्यकता को भुला देने का बहाना नहीं वनने दिया जाना चाहिए। इससे नयी टेक्नालॉजी के व्यापकतम उपयोग की सम्भावना सीमित हो जायेगी। साथ ही, इससे गाँवों में उच्च वर्ग और सामान्य जन के बीच खाई वढ़ेगी और इससे केवल आर्थिक विकास के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक स्थिरता के लिए भी अकल्पित परिणाम उत्पन्न होंगे।

वस्तुतः अव जवकि वैंक के कार्यों में अधिकाधिक कल्पनाशीलता का उपयोग किया जा रहा है और यह कम-विकसित देशों को प्रगतिशील नीतियाँ अपनाने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल करने के लिए तत्पर दिखायी पड़ रहा है, तो यह एक कदम और आगे बढ़कर अपने कुछ साधनों का उपयोग कम-विकसित देशों को भूमि-सुधार लागू करने के लिए सहायता देने में कर सकता है। इससे उस स्थिति में एक आवश्यकता की पूर्ति होती है, जब प्रस्तावित भूमि-सुधार भूमि को, अथवा कुछ भूमि को जोतने वालों के बीच विभाजित करने अथवा सहकारी समितियों को दिये जाने या सार्वजनिक स्वामित्व और प्रवन्ध के अन्तर्गत लाने की व्यवस्था करता हो।

अव, क्योंकि अधिकांश कम-विकसित देशों में भूतपूर्व भूस्वामियों को मुआवजा दिये बिना उनकी जमीन ले लेने की सम्भावना नहीं है, अतः इन देशों के

सामने एक कठिन वित्तीय समस्या आ जाती है जो अनिवार्यतया भूमि-सुधार को रोक देगी अथवा इसकी गति को धीमा बना देगी। अपने कर सम्बन्धी कानून (और उसे लागू करने में) कुछ परिवर्तनों की शर्त लगाकर दिया गया बैंक का ऋण भूमि-सुधार को अधिक सम्भव बना सकता है और इससे कोई सुधार न होने अथवा सुधार का नाटक होने और एक प्रभावशाली सुधार के बीच का स्पष्ट अन्तर सामने आयेगा।

इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि बैंक ने दिलचस्पी दिखायी है और अपनी गतिविधि के सीमित क्षेत्र में यह भ्रष्टाचार का मुकाबला करने और उचित प्रतियोगिता को बनाये रखने में सफल हुआ है (देखिए अध्याय-7)। अब बैंक के लिए अगला कदम यह होगा कि अपने सर्वेक्षणों और साधारणतया कम-विकसित देशों से अपने सम्पर्कों में इस बात पर जोर दे कि ये देश कानून बनाने और प्रशासन को बेहतर बनाने के लिए क्या कर रहे हैं, अथवा क्या नहीं कर रहे हैं ताकि राज्य को कठोर और शक्तिशाली बनाया जा सके, विशेषकर भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और हर प्रकार के पक्षपात को समाप्त किया जा सके।

इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि बैंक की घोषित नीति को, इन और अन्य क्षेत्रों में प्रभावशाली रूप से लागू करने की बात को केवल मामूली-सी शिक्षा सम्बन्धी सलाह तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, चाहे यह कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि बैंक की नीति इस बात का चुनाव करने में प्रतिबिम्बित हो कि किन देशों को ऋण देने के लिए चुना जाता है, उन्हें कितनी राशि ऋण में दी जाती है और यह ऋण किन कार्यों के लिए दिये जाते हैं।

मैंने इस समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की गतिविधि के सम्बन्ध में विचार किया है। वस्तुतः ये सब बातें विभिन्न विकसित देशों को उनकी अपनी सार्वजनिक सहायता नीतियों में मार्गदर्शन दे सकती हैं। ये तरीके अपनाने से एक बात पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी कि भविष्य में पश्चिम के विकसित देशों और कम-विकसित देशों की प्रगतिशील शक्तियों के बीच घनिष्ठ सहयोग होगा। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह सहयोग इन दोनों प्रकार के देशों के लम्बी अवधि के हित में है।

लेकिन, यथार्थ में हमने अब तक जो कुछ देखा है, वह भविष्य की इस कल्पना से बहुत दूर की बात है। जैसाकि बार-बार कहा जा चुका है, अधिकांश कम-विकसित देशों में सत्ता पर कुछ विशिष्ट राजनीतिक समूहों का एकाधिकार है और यह विशिष्ट समूह एक छोटे से उच्च वर्ग का अंग हैं, जिसके छोटे अवधि के हित ईमानदारी से और प्रभावशाली ढंग से प्रगतिशील सुधारों को लागू करने के अनुरूप नहीं हैं। अतः इन सुधारों को लागू नहीं किया जा रहा है। जब दिखाने के लिए इन सुधारों के सम्बन्ध में कानून बनाये जाते हैं तो इन कानूनों में सुविधाजनक खामियाँ छोड़ दी जाती हैं अथवा इन कानूनों को लागू ही नहीं किया जाता। इन्हें लागू करने की प्रक्रिया में अक्सर इन्हें इस प्रकार विकृत बना

दिया जाता है कि इनका बिल्कुल उलटा प्रभाव होता है।

स्वदेश में यह सत्तारूढ़ समूह अक्सर अर्थशास्त्रियों और साधारणतया उन विचारकों और लेखकों का मुँह बन्द करने अथवा उनका समर्थन तक प्राप्त करने में सफल हुए हैं, जो 'जनमत' का निर्माण करते हैं। अधिकांश कम-विकसित देशों में यह अधिकांशतया उच्च वर्ग का ही मामला होता है। मैंने इस सम्बन्ध में कृषि नीति सम्बन्धी हाल के विचार-विमर्श का उदाहरण देकर बात को समझाने का प्रयास किया है, जहाँ भूमि-सुधार का प्रश्न अक्सर किसी-न-किसी बहाने से असफल बना दिया गया है (देखिए अध्याय-4)। जैसाकि हम देख चुके हैं, यही बात उन अधिकांश सुधारों पर लागू होती है, जिनकी तत्काल आवश्यकता है, उदाहरण के लिए, शिक्षा सम्बन्धी सुधार (देखिए अध्याय-6)। भ्रष्टाचार पर विकास सम्बन्धी विचार-विमर्श में निरन्तर बहुत कम विचार किया जा रहा है, जबकि सार्वजनिक जीवन के अपेक्षाकृत कुछ नीचे स्तर पर इस विषय पर बड़ी जबर्दस्त बहस जारी है (देखिए अध्याय-7)।

विकसित देशों में स्पष्टतया यह अनुभव किया जाता है कि सत्तारूढ़ लोगों के प्रति राजनयिक दृष्टिकोण अपनाना बुद्धिमत्तापूर्ण नीति है और किसी भी स्थिति में उन लोगों को सुधार लागू करने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण विकसित देशों के इतिहास और वर्तमान विचारधारा के बिलकुल विपरीत है। यह वस्तुतः असमान पैमाने से माप लेने का प्रयास है। वस्तुतः, यह अत्यधिक गम्भीर प्रकार का भेदभाव है, जिसका यह अभिप्राय होता है कि ऐसे प्रयास जो स्वयं विकसित देशों के लिए लाभकारी सिद्ध हो चुके हैं, और जिन्होंने वस्तुतः उनके समाजों को नया स्वरूप प्रदान किया है, कम-विकसित देशों के लिए ग्राह्य नहीं समझे जाते।

अध्याय-3 में मैंने स्पष्ट किया है कि जन-समुदाय की प्रायः यन्त्रवत् निष्क्रियता और कम-विकसित देशों में सुधारों के प्रयास का अभाव पश्चिम के उन व्यापारिक हितों को अच्छा लगता है, जो कम-विकसित देशों में अपनी पूँजी लगाना और अपने उद्योग चालू करना चाहते हैं। सत्तारूढ़ समूह इन कम्पनियों के स्वाभाविक सहयोगी होते हैं। यह उपनिवेशी नीति को उसी रूप में जारी रखने का प्रमाण है और इससे उस आरोप का औचित्य सिद्ध होता है, जो पश्चिम के व्यापारियों पर उन्हें 'नव-पूँजीवादी' कहकर लगाया जाता है।

उपनिवेशों में इसी प्रक्रिया के द्वारा उपनिवेशी शक्तियों ने सदा उन विशेषाधिकार प्राप्त समूहों का समर्थन प्राप्त किया, जो 'कानून और व्यवस्था बनाये रखने' में उनकी तरह ही दिलचस्पी रखते थे, जिसका अभिप्राय सदा यथा-स्थिति को बनाये रखना ही होता था। अबन्ध व्यापार की नीतियों का समानता-वादी सुधारों में कोई दिलचस्पी न लेना इस बात का आधार बना कि उपनिवेशों के लोगों के रीति-रिवाजों में, जिनमें धार्मिक क्रियाओं का समावश होता था, हस्तक्षेप करना उचित न होगा।

राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र कम-विकसित देशों से आज पश्चिम का पूँजी-वाद जिस प्रकार व्यवहार कर रहा है, उसमें उपनिवेशवाद से विरासत में प्राप्त उस प्रक्रिया की तार्किकता स्वतः प्रकट नहीं है। जब कभी किसी प्रतिक्रियावादी सत्तारूढ़ समूह के विरुद्ध विरोध प्रबल हो उठता है, चाहे यह उग्र हो या नहीं, तो

यह स्थिति विदेशी उद्यमों के लिए आरामदेह नहीं होती कि वे सत्तारूढ़ समूह से घनिष्ठ गठजोड़ की स्थिति में हों और उन्हें इस गठजोड़ का लाभ मिला हो। यदि पश्चिम के प्रबुद्ध व्यापारी केवल अपने यहाँ नियुक्त कर्मचारियों के वेतन और हित को आगे बढ़ाने और उन्हें संगठित बनाने का ही प्रयास न करें—जैसाकि वे अक्सर करते हैं—और अपने तथा सत्तारूढ़ समूह के बीच कुछ अधिक दूरी बनाये रखने का भी प्रयास करें तो यह बात बेहतर होगी और इसे समझा जा सकेगा।

फिलहाल यह अधिकांशतया एक अच्छा सपना-भर है। अपने व्यापार को उचित काय-कुशलता से चलाने के लिए ये लोग अक्सर सत्तारूढ़ समूहों से घनिष्ठ सहयोग करने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। अक्सर यह एक उचित नीति दिखायी पड़ सकती है—चाहे अन्ततः इसके परिणामस्वरूप कठिनाइयाँ भी क्यों न उत्पन्न हों। लेकिन, यह नीति उस समय कम उचित हो जाती है, जब राजनीतिज्ञों और अधिकारियों से अपने सहयोग को रिश्वत के आधार पर मजबूत बनाया जाता है। लम्बी अवधि की दृष्टि से रिश्वत देना पश्चिम के व्यापार के लिए हानिप्रद ही है, जैसाकि अध्याय-7 में जोर देकर कहा गया है।

इसके अलावा इस बात को बड़ी आसानी से देखा जा सकता है कि पश्चिम के व्यापारी अपने देशों में चाहे कितने भी उदार क्यों न हों, जब वे किसी कम-विकसित देश में काम करते हैं तो सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं। इनमें से अधिकांश लोगों को एक तानाशाही उच्च वर्ग का शासन, जो समस्त विरोध को कुचलता हो, अधिक अच्छा दिखायी पड़ता है, चाहे यह लोगों का अत्यधिक शोषण क्यों न करता हो। ऐसे शासन से मिलकर काम करना व्यापार में सहायक होता है, और सब कम-विकसित देशों में व्यापार काफी कठिन काम है। चाहे लम्बी अवधि की दृष्टि से यह तरीका और दृष्टिकोण, स्वयं अपने व्यापारिक हितों की दृष्टि से भी, विनाशकारी ही सिद्ध क्यों न हो, पर इस दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।

अधिकांश व्यापारिक कम्पनियों के नाम के साथ विवेकहीन शोषण, भ्रष्टाचार और पहले के जमाने की स्पष्ट जालसाजी का ऐतिहासिक भार भी जुड़ा होता है। जब आरम्भ में इन व्यापारों को शुरू किया गया तो सम्पत्ति और रियायतें प्राप्त करने के लिए ये तरीके अपनाये गये। यह ऐतिहासिक भार यदा-कदा फट पड़ता है, जैसाकि फिलहाल पीरु में अमरीका की तेल कम्पनियों के हितों के प्रति राजनीतिक प्रतिक्रिया के रूप में हो रहा है। लेकिन इसके अलावा अनेक ऐसी ही प्रवादजनक बातें हैं, जिन्हें विस्फोट से बचाने के लिए सत्तारूढ़ समूहों से घनिष्ठ सम्पर्क से काम किया जाता है और उन्हें अक्सर रिश्वत भी दी जाती है। लेटिन अमरीका में अक्सर यही स्थिति दिखायी पड़ती है, जहाँ कभी भी ऐसा उपनिवेशी शासन नहीं रहा, जो इन भयंकरतम बुराइयों को कुछ सीमा तक रोकता।

यह उल्लेखनीय है कि व्यापारियों की वर्तमान पीढ़ी स्वयं व्यक्तिगत रूप से अपने-आपको निर्दोष समझ सकती है। सम्भवत: वे स्वयं व्यापार के वे तरीके अब अपनाना नहीं चाहेंगे, जिन्हें अपने उद्यमों की नींव रखते समय उनकी कम्पनियों ने अपनाया था। लेकिन अपने इस दायित्व को चुकाना और अनुचित रूप से प्राप्त अधिकारों और सम्पत्तियों को त्याग देना आसान निर्णय नहीं है।

व्यापारी वर्ग अपने देशों की सरकारों के राजनयिक दवाव पर भी नियमित रूप से निर्भर कर सकता है और इस प्रकार वे अधिक ईमानदारी से काम करने का निर्णय ले सकते हैं। लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका ने सैनिक हस्तक्षेप की धमकी अथवा वास्तव में सैनिक हस्तक्षेप द्वारा यह दवाव डालने की पुरानी परम्परा निभायी है। इधर सैनिक कार्रवाई का स्थान सेण्ट्रल इण्टेलिजेंस एजेंसी (सी० आई० ए०) की तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों ने ले लिया है अथवा सी० आई० ए० इन कार्यों में मदद देती है।

संयुक्त राज्य अमरीका के लिए शीतयुद्ध और इसके परिणामस्वरूप संसार को साम्यवाद से बचाने की चिन्ता कम-विकसित देशों पर प्राय: हर प्रकार का दबाव डालने का सबसे महत्त्वपूर्ण वहाना वन गयी है। इससे विचारधारा सम्बन्धी एक ऐसी प्रवृत्ति सामने आयी है, जो संयुक्त राज्य अमरीका और स्वयं कम-विकसित देशों को समानतावादी सुधारों अथवा किसी भी प्रकार के सुधार से विमुख करती है।

दूसरे महायुद्ध के वाद की अवधि में अमरीकी सरकार कम-विकसित देश की एक ऐसी प्रतिक्रियावादी सरकार को भी अपने साथी के रूप में स्वीकार करने को तैयार थी, जो साम्यवाद के खिलाफ कड़ा रुख अपनाये। ऐसे किसी भी शासन से समानतावादी सुधारों अथवा भ्रष्टाचार की समाप्ति के सम्बन्ध में बहुत कम अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका ने पूरे संसार की आँखों में यह स्वरूप धारण कर लिया, और विशेषकर कम-विकसित देशों में, कि यह देश संसार-भर में प्रतिक्रियावाद का हामी है।

हम सब अब यह आशा कर सकते हैं कि शीतयुद्ध में कमी आयेगी। विशेषकर हम यह आशा कर सकते हैं कि मैकार्थी-डलेस युग में संयुक्त राज्य अमरीका की भूमिका के वारे में अमरीकियों ने जो व्याख्या अपनायी थी, उसमें परिवर्तन होगा। इसके वाद हमें यह अपेक्षा करने का अधिकार होगा कि संयुक्त राज्य अमरीका में उदारतावादियों को विदेश नीति में, और विशेषकर, विदेशों में पूंजी विनियोग सम्बन्धी नीति के वारे में अपना प्रभाव डालने का अवसर मिलेगा।

मैंने जिस वात को एक सपना कहा है वह पूरा हो सकता है अर्थात् विकसित देश कम-विकसित देशों में प्रगतिशील शक्तियों को मजबूत बनाने में अपने पर्याप्त प्रभाव का प्रयोग करें। खैर, वस्तुस्थिति यह है कि हमें इस दिशा में प्रयास करना चाहिए।

नीति में यह परिवर्तन वांछित आदर्शों के अनुरूप होगा और उन बातों के अनुरूप भी जो पश्चिम के विकसित देशों ने स्वयं अपने देशों में की हैं। मैं यह आशा नहीं करता कि प्रबुद्ध व्यापारी जो भविष्य की आवश्यकताओं को समझने की क्षमता रखते हैं, ऐसे किसी परिवर्तन के प्रति निश्चय ही उदासीन होंगे। यद्यपि इसका अर्थ उन विशेषाधिकारों और सम्पत्तियों का त्याग होगा, जिन्हें

शोषण के द्वारा और यदा-कदा धाँधली से प्राप्त किया गया है, विशेषकर लेटिन अमरीका में।

और यह भी निश्चय है कि इसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास का सिद्धान्त कुछ ऐसे प्रभावों से मुक्त हो जायेगा, जिसने इसके भीतर पूर्वाग्रहग्रस्त सीमाओं का प्रवेश किया है। इस सिद्धान्त में प्रगतिशील सुधारों का समावेश करने की दृष्टि से इसे संस्थागत वनना होगा।

कम-विकसित देशों को सहायता के इस विचार में इनके विकास के लिए और अधिक साधन उपलब्ध कराने पर जोर दिया गया है। इसके साथ कोई इरादा नहीं जुड़ा है। इसके विपरीत प्रायः प्रत्येक अन्य अर्थशास्त्री के साथ मिलकर मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि आज इन देशों को जो साधन उपलब्ध कराये जा रहे हैं, उनमें वृद्धि होनी चाहिए। इस पुस्तक के अगले भाग में सहायता, व्यापार और पूंजी के प्रवाह पर विचार से पहले मैं उन बातों की आलोचना करना चाहता हूँ जिन्हें मैं उस तरीके की गम्भीर खामियाँ समझता हूँ, जिस तरीके से आर्थिक विकास की परिभाषा दी जाती है और उसे मापा जाता है।

विकास को आर्थिक विकास के सीधे-सादे अर्थों में ही साधारणतया समझा जाता है—इसे उत्पादन के कुल राष्ट्रीय योग अथवा आय के कुल योग के रूप में ही देखा जाता है। आगे वढ़ने से पहले मैं पाठक को यह स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि अर्थशास्त्रियों ने सदा, और जान स्टूआर्ट मिल के समय से कहीं अधिक विधिवत्, सम्पत्ति और आय के वितरण के वारे में महत्त्वपूर्ण शर्तें लगायी है। इधर यह महत्त्वपूर्ण शर्त कम-विकसित देशों के आर्थिक विकास के विश्लेषण में अन्तर्धान होती हुई दिखायी पड़ी है।

लेकिन विकास के दूसरे आयाम भी होते हैं, जो उस समय निकाल दिये जाते हैं जव आर्थिक विकास को केवल उत्पादन अथवा आय में वृद्धि के समक्ष मान लिया जाता है। सामाजिक प्रणाली जटिल है, और इसमें सामान्य रूप से परस्पर सम्वन्धित अनेक परिस्थितियाँ मौजूद रहती है।[3] समस्त सूचक अंकों में जो सामान्य मनमानापन होता है, उसके अनुसार एक दूसरे पर निर्भर परिस्थितियों की सामाजिक प्रणाली का प्रवाह, सिद्धान्त रूप में, एक सूचक अंक द्वारा दर्शाया जा सकता है।

समस्त परिस्थितियों में परिवर्तन के आँकड़े इकट्ठा करना और महत्त्वपूर्ण मूल्यांकनों की दृष्टि से इन्हें तोलना वस्तुतः वर्तमान सम्भावनाओं से वहुत परे है। लेकिन हमें इस महत्त्वपूर्ण धारणा को कायम रखना चाहिए कि—जैसाकि हम उन निष्कर्षों की जाँच से आसानी से पता लगा सकते हैं जो निष्कर्ष हम निकालते हैं —विकास से हम सव लोगों का अभिप्राय समस्त सामाजिक प्रणाली के ऊपर उठने से होता है।

इस परिस्थिति में विकास के किसी आभास की ओर रुझान समर्थन योग्य हो सकता है, क्योंकि इसे किसी आदर्श सूचक अंक की तुलना में अधिक आसानी से जाँचा और मापा जा सकता है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय

की वृद्धि-दर इसके बाद स्वाभाविक पसन्द हो जाती है ।[4] लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस स्थिति में हम समस्त सामाजिक प्रणाली में कहीं अधिक जटिल परिवर्तन के रूप में एक मोटा और तयार सूचक इस्तेमाल में ला रहे हैं और इसका उपयोग उस जटिल परिवर्तन को मापने के लिए किया जा रहा है, जिसे हम मापना चाहते हैं। पर इस शर्त को नहीं समझा जाता अथवा विकास की सामान्यतया प्रयुक्त 'परिभाषाओं' में इसका ध्यान नहीं रखा जाता।

लेकिन इससे भी कहीं अधिक चिन्ता का विषय योजनाओं और साहित्य में इस परिभाषा का उपयोग है। विचार-विमर्श नियमित रूप से राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय में वृद्धि के आँकड़ों पर आधारित होता है, जिसका कोई पर्याप्त बुनियादी आधार नहीं होता। आर्थिक विकास सम्बन्धी ये आँकड़े 1 दशमलव अथवा 2 दशमलव तक दिये जाते हैं, जिसका अभिप्राय एक प्रतिशत का सौवाँ भाग है।

इतना ही नहीं, विभिन्न देशों के बीच अमरीकी डालर की सरकारी विनिमय दर के आधार पर साधारणतया तुलना की जाती है। अधिकांश कम-विकसित देशों में मुद्रा विनिमय और आयात के जो अनेक नियन्त्रण लागू हैं और अन्य सम्वन्धित परिस्थितियों में जो अनेक अन्तर हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए यह करना उचित नहीं है। इस समस्या के महत्त्व का उल्लेख तक साधारणतया नहीं किया जाता।

एशियन ड्रामा में मैंने उस तरीके का समालोचनात्मक विवेचन किया है, जिस तरीके से दक्षिण एशिया के देशों में राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय की गणना की जाती है ।[5] इस गणना में जिन संकल्पनाओं का उपयोग किया जाता है, उनमें स्पष्टता की कमी और बुनियादी सामग्री की जबर्दस्त खामियों के कारण मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा : "यह बात सन्देहास्पद है कि इन आँकड़ों का कोई सही और सूक्ष्म अर्थ है; किस सीमा तक गलती हुई है, इस बात का मोटे तौर पर अनुमान लगाने की कोई सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती।"

मैंने समग्र आँकड़ों के विभिन्न अंगों का जो अध्ययन किया—यद्यपि केवल कृषि और गैर-कृषि वर्गों में ही इसे विभाजित किया गया था—उससे इन आँकड़ों की भयंकर खामियों का प्रमाण सामने आया ।[6] बचत-अनुपात के बारे में सामान्य रूप से जिन आँकड़ों का उल्लेख किया जाता था, वे एकदम निरर्थक दिखायी पड़े ।[7] राष्ट्रीय उत्पादन और आय की दृष्टि से दक्षिण एशिया के अनेक देशों के बीच सामान्यतया प्रयुक्त तुलनाओं को सही करने का जो प्रयास किया गया, उससे अमरीकी डालर की सरकारी विनिमय दर के आधार पर दाम के स्तरों सम्बन्धी आँकड़ों को घटाकर जो आँकड़े पेश किये गये, उनसे यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के सब आँकड़े कितने अधिक अपरिष्कृत होते हैं ।[8] एशियन ड्रामा के समस्त अध्यायों में मैंने जान-बूझकर विकास की दरों और उन अन्य अनेक वस्तुओं के बारे में उन अधिकांश आँकड़ों का उपयोग नहीं किया है जो बहुत आसानी से उपलब्ध हैं और जिनका उपयोग मेरे सहयोगी

अत्यधिक सूक्ष्म अर्थों में निष्कर्ष निकालने के लिए सामान्यतया करते हैं। इसका कारण निश्चय ही मेरी आँकड़ों के आधार पर विवेचन के प्रति उदासीनता नहीं थी।[9] इसके विपरीत मैं यह समझता हूँ कि हमारे विषय का भावी विकास अधिकांशतया हमारी इस सफलता पर निर्भर करता है कि हम अपनी वर्तमान यथार्थ सम्बन्धी आवश्यकता से अधिक अस्पष्ट संकल्पनाओं को किस सीमा तक ठोस आँकड़ों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।

परम्परागत आर्थिक अनुसन्धान के विरुद्ध मेरा आरोप यह है कि इसमें उपलब्ध आँकड़ों की गहराई से आलोचनात्मक जाँच का अत्यन्त अभाव है। उत्पादन और आय के क्षेत्र में इस आलोचनारहित दृष्टिकोण ने विभिन्न कम-विकसित देशों की विकास की दर को एक प्रतिशत के छोटे-से-छोटे हिस्से तक लगातार एक के बाद एक वर्ष 'मापने' और तुलना करने को सम्भव बना दिया है। यह स्पष्ट रूप से मूर्खता है अथवा, यदि अधिक नम्र शब्दावली में कहा जाये तो अनावश्यक सूक्ष्मता है। यह बात उस समय कम नहीं हो जाती, जब इन आँकड़ों को प्रभावशाली दिखायी पड़ने वाले अर्थमितीय नमूनों के रूप में सजा-सँवारकर पेश किया जाता है। ये नमूने बहुत कमजोर और अस्पष्ट विचार-प्रक्रिया को प्रकट करते हैं, जबकि इन्हें विशेष रूप से गहन विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

कम-विकसित देशों के अन्य समस्त क्षेत्रों में समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का अभाव भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है। यह बात साक्षरता और स्कूलों में भर्ती की संख्या सम्बन्धी आँकड़ों के बचकाने प्रयोग से बड़ी स्पष्ट हो जाती है (देखिए अध्याय-6)। वस्तुतः यह निष्कर्ष निकालने से बचना बड़ा कठिन है कि अर्थशास्त्रियों की पिछली पीढ़ी ने, गहन अध्ययन और सूक्ष्मता की समस्त बातों के बावजूद, ठीक इन्हीं दृष्टियों से वैज्ञानिक मानक को नीचे गिरा दिया है।

जनसंख्याविदों की तुलना में हम अर्थशास्त्रियों की स्थिति बड़ी बुरी है। इस तथ्य के बावजूद कि उनकी संकल्पनाएं अधिक सरल हैं और उनके पास आन्तरिक तर्कसंगतता की दृष्टि से अपने आँकड़ों की सत्यता का पता लगाने के प्रभावशाली माध्यम उपलब्ध हैं[10], जबकि हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जनसंख्याविदों ने अपने इस पुराने वैज्ञानिक अनुशासन को कायम रखा है और अपने आँकड़ों और निष्कर्षों की अनिश्चितता के बारे में विचार प्रकट किये हैं।

जो हजारों अर्थशास्त्री आज कम-विकसित देशों के बारे में अनुसन्धान में प्रवृत्त हैं, उनके लिए एक पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। यह पुस्तक है ओस्कार मोर्गेनस्टर्न का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अध्ययन 'आन दि एकुरेसी ऑफ इकानामिक आब्जरवेशन'।[11] संयुक्त राज्य अमरीका के अपेक्षाकृत अत्यधिक परिष्कृत आँकड़ों की जाँच के समय भी उन्होंने इस बात का कारण देखा कि यह चेतावनी दें कि छोटी अवधियों के बारे में विकास के आँकड़ों को बिल्कुल ठीक नहीं मान लेना चाहिए। इन आँकड़ों को अनिश्चितता और गलती की बड़ी गुंजाइश रखते हुए स्वीकार किया जाना चाहिए। जिन

आँकड़ों में अन्तर्राष्ट्रीय तुलना की जाती है, उनके बारे में मोर्गेनस्टर्न का कहना है कि

"आज जनता के समक्ष प्रस्तुत आँकड़ों में ये सर्वाधिक अनिश्चित और अविश्वसनीय आँकड़े हैं···यह एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ राजनीति सर्वोपरि है और जहाँ समालोचनात्मक मूल्यांकन की कमी विशेष रूप से हानिप्रद सिद्ध हुई है।"[12]

अब क्योंकि मोर्गेनस्टर्न "जहाँ तक विकास दरों के वैज्ञानिक उपयोग का सम्बन्ध है, कोई रियायत" देने को तैयार नहीं हैं, जो मेरी राय में बिल्कुल उचित ही है, अतः वे यह निष्कर्ष निकालते हैं :

"आज जिस रूप में ये आँकड़े उपलब्ध हैं और आज इनका जिस प्रकार अत्यधिक सूक्ष्म उपयोग किया जाता है, उसकी दृष्टि से ये आँकड़े निरर्थक हैं···'विकास दरों' के सूक्ष्म उपयोग की किसी भी तरह अनुमति नहीं दी जा सकती, चाहे इनका उपयोग विभिन्न देशों की तुलना में अथवा एक ही देश के भीतर कम अवधियों के विकास के मूल्यांकन के लिए क्यों न किया जाये।"[13]

लेकिन जसाकि मोर्गेनस्टर्न ने जोर देकर कहा है—इन आँकड़ों का साधारणतया इन्हीं कार्यों में उपयोग किया जाता है।

मोर्गेनस्टर्न की तरह ही, डोनाल्ड वी० मैकग्रेनाहन भी, जो उस समय संयुक्त राष्ट्र के सामाजिक मामलों के कार्यालय में थे और अब जिनीवा स्थित संयुक्त राष्ट्र संघ की सामाजिक विकास अनुसन्धान संस्था के निदेशक हैं, उस विश्वासपूर्ण तरीके की शिकायत करते हैं, जिसको आधार बनाकर विद्वत्तापूर्ण प्रकाशनों में अविश्वसनीय आँकड़ों का इस्तेमाल किया जाता है और "अत्यधिक भंगुर आँकड़ों के आधार पर व्यापक ढाँचे और शानदार तुलनाएँ की जाती हैं··· जबकि अपेक्षाकृत बेहतर आँकड़ों के मामले में भी···ये संख्याएं उस सूक्ष्मता की भ्रांति उत्पन्न करती हैं, जो मौजूद नहीं होतीं।"[14]

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक निष्कर्ष यह है कि हमें दूसरे अर्थशास्त्रियों की अनिश्चितता में हिस्सा नहीं बटाना चाहिए जो उत्पादन और आय में वृद्धि के उपलब्ध आँकड़ों के आलोचनारहित प्रयोग पर आधारित है। ये आँकड़े यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि विभिन्न कम-विकसित देश अथवा प्रायः सब कम-विकसित देश किस दर से प्रगति करते रहे हैं, अब प्रगति कर रहे हैं, अथवा भविष्य में प्रगति करते रहेंगे।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि कम-विकसित देशों में आँकड़ों के संकलन करने में सुधार की ओर बड़ा कम ध्यान दिया गया है। इस कार्य का लक्ष्य प्राथमिक तौर पर प्रयुक्त संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण देना और सांख्यिकी के आधार 'प्रेक्षणों' को अधिक सही बनाना होना चाहिए।

समालोचनात्मक और विवेचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने वाले किसी भी व्यक्ति के समक्ष जो तीसरा निष्कर्ष आता है, वह यह है कि अत्यधिक बुरे आँकड़ों के सूक्ष्मतारहित और अधिकांशतया मनमाने प्रयोग ने अर्थशास्त्रियों के लिए यह और अधिक सम्भव बना दिया है कि वे विकास की समस्याओं सम्बन्धी दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण से चिपके रहें और अपने अनुभवजन्य विचारक्रम में सुधार न करें।

भाग तीन

विकसित देशों का दायित्व

अध्याय : 9

व्यापार और पूँजी का प्रवाह

1. औपनिवेशिक युगों में और अब

यह विचार कि विकसित देशों को कम-विकसित देशों से अपने समस्त व्यवहार में उनके हित और आर्थिक विकास के लिए विशेष रुझान दिखाना चाहिए और उन्हें सहायता देने की सामूहिक जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिए, दूसरे महायुद्ध के बाद की एक पूरी तरह से नयी संकल्पना है।

उपनिवेशी शक्तियों की प्रणाली की समाप्ति और उन देशों में राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा के उत्पन्न होने का, जो औपचारिक रूप से स्वतन्त्र थे, लेकिन यथार्थ में स्वतन्त्र नहीं थे, विशेषकर लेटिन अमरीका में, यह परिणाम हुआ कि अब अचानक पश्चिम के विकसित संसार के समक्ष बहुत बड़ी संख्या में नये स्वतन्त्र देश आ खड़े हुए। ये सब देश अत्यधिक निर्धन थे और स्पष्टतया इनके सामने वह विकास करने के लिए बहुत बड़ी कठिनाइयाँ मौजूद थीं, जो विकास इनके नेता चाहते थे।

पश्चिम के विकसित संसार के अन्तःकरण की एक सुरक्षात्मक ढाल के रूप में उपनिवेशी प्रणाली उस समय तक काम करती रही थी। यद्यपि उपनिवेशी शासन के अन्तर्गत रहने वाले लोग इतने ही गरीब थे और उन्हें इसी प्रकार विकास की भी आवश्यकता थी, पर वहाँ जो कुछ होता था उसका दायित्व उन गिने-चुने देशों, अधिकांशतया यूरोपीय देशों पर ही होता था, जिनका इन लोगों पर शासन था।

यदि अन्य देश उपनिवेशों पर उक्त देशों के शासन के सम्बन्ध में कोई हस्तक्षेप करते या करना चाहते तो निश्चय ही उपनिवेशी देश इस पर रोष प्रकट करते—जैसाकि उन्होंने वस्तुतः उस समय किया भी, जब उन्हें लगा कि बाहर के लोग हस्तक्षेप करना चाहते हैं; यद्यपि पश्चिम के अन्य विकसित देशों की सरकारों द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप प्रायः कभी नहीं हुआ। कुछ मामलों में और कुछ दृष्टियों से यूरोप के शासक देशों ने अपने किसी उपनिवेश को विभिन्न तरीकों से सहायता भी पहुँचाई, यद्यपि यह तस्वीर बड़ी मिश्रित और अस्पष्ट है। लेकिन अधिकांशतया यह एकतरफा—और कुछ सीमा तक द्विदेशीय—कार्रवाई होती थी और यह बात प्रेरणा की दृष्टि से भी सही कही जा सकती है।

वस्तुतः किसी भी सीमा तक सामूहिक जिम्मेदारी अनुभव करने का कोई राजनीतिक आधार विकसित देशों को दिखायी नहीं पड़ता था। इस अध्याय में और इसके बाद के दो दूसरे अध्यायों में जब मैं इस बात की आलोचना करता हूँ कि ये देश क्या कर रहे हैं और क्या नहीं कर रहे हैं और उन्हें कम-विकसित देशों

की सहायता के लिए क्या करना चाहिए, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सहायता का विचार ही कितना नया है। दूसरे महायुद्ध से पहले शायद ही कोई इस सामान्य जिम्मेदारी के बारे में सोचता हो कि समस्त विकसित देशों को कम-विकसित देशों को सहायता देनी चाहिए।

अब इस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया जा रहा है और यह कार्य एक छोटी-सी अवधि में हुआ है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है। सम्भवतः इस कारण से हमें उन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति निरुत्साहित नहीं होना चाहिए।

कम-विकसित देशों की ओर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा विशेष रूप से क्यों ध्यान दिया जाना चाहिए, इसका कारण यह है कि ये देश कम-विकसित हैं, अत्यधिक निर्धन हैं, और विकास करने के उनके प्रयासों के समक्ष बहुत अधिक कठिनाइयाँ आती हैं। इस अध्याय में मैं इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत करूँगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी का प्रवाह इन देशों के विकास में इससे अधिक सहायक सिद्ध क्यों नहीं हुआ है, जितना वास्तव में हो सका।

2. एक पूर्वाग्रहग्रस्त सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को विकास की कमी के यथार्थ और विकास की आवश्यकता को स्पष्ट करने के लिए तैयार नहीं किया गया था। इसके विपरीत कोई यह कह सकता है कि अमूर्त तार्किकता के इस प्रभावशाली ढाँचे का प्रायः विपरीत उद्देश्य था—अन्तर्राष्ट्रीय समानता की समस्या को टाल जाना।[1]

जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अन्तर्निहित समालोचना की जाती है, तो इसका पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण अव्यावहारिक स्थिर सन्तुलन की धारणा के रूप में प्रकट हो जाता है—और इसी प्रकार इस धारणा से सम्बन्धित अन्य अनेक धारणाएँ भी प्रकट हो जाती हैं। बाद के लेखन में भी इसे आर्थिक सिद्धान्त के अन्य भागों की तुलना में कहीं अधिक कड़ाई से कायम रखा गया। एक और अव्यावहारिक धारणा इस विचार में निहित है कि सामाजिक यथार्थ के कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें 'आर्थिक कारण' कहा जा सकता है और यह भी कि अन्य सब कारणों को निकालकर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विश्लेषण करना सम्भव है।

इन धारणाओं ने विचारधारा सम्बन्धी उन प्रवृत्तियों का मार्ग प्रशस्त किया, जो पुराने ज़माने से ही समस्त आर्थिक सिद्धान्त में गहराई से पैठी हुई हैं और जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में अपने लिए विशेष रूप से स्थान बनाया है। ये इच्छित प्रवृत्तियाँ—हितों की समानता, अबन्ध व्यापार और स्वतन्त्र व्यापार[2]—वर्तमान लेखन में उनके दृष्टिकोण का निर्धारण करती हैं और यह कार्य उससे कहीं अधिक सीमा तक होता है, जितना अर्थशास्त्री सामान्यतया अनुभव करते हैं।

इस प्रकार पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त ने इस विचार को विकसित किया कि व्यापार कारक दामों और आयों, और सबसे पहले श्रमिकों की मजदूरी के समानीकरण की दिशा में कार्य करता है।[3] व्यापार विभिन्न देशों और विभिन्न क्षेत्रों में औद्योगिक गतिविधि को स्वयं को प्राकृतिक और आबादी सम्बन्धी साधनों के अनुरूप ढालने के लिए प्रेरित करेगा और इसका

आय को सर्वत्र समान बनाने पर असर पड़ेगा।

मेरे दो प्रमुख देशवासियों, स्वर्गीय प्रोफेसर इली एफ० हेक्सचेर और प्रोफेसर बेरटिल ओहलिन ने दूसरे महायुद्ध से बहुत पहले हीं इस पुराने सिद्धान्त को उत्पादन के श्रमेतर कारकों की दृष्टि से तर्क देकर पूर्ण बनाया था। इन लोगों ने यह बड़ा निष्कर्ष और अधिक स्पष्ट रूप से निकाला था कि समानता कायम करने पर व्यापार का प्रभाव होता है। इनके बाद अर्थमिति विशेषज्ञों ने, विशषकर संयुक्त राज्य अमरीका में, हाल के दशकों में यह विवेचन करने में बहुत दिलचस्पी दिखायी है कि कुछ विशिष्ट, अमूर्त और साधारणतया स्थिर परिस्थितियों में विभिन्न देशों में कारक दामों में समानता कायम करने की प्रवृत्ति किस प्रकार मूर्त रूप धारण करेगी।

यहाँ हमें एक बड़ी विचित्र बात दिखायी पड़ती है। बहुत लम्बे अरसे से अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आय की असमानताएँ बढ़ती रही हैं और आज भी बढ़ रही हैं। दूसरे महायुद्ध के अन्त के समय से उपनिवेशी व्यवस्था की समाप्ति का जो तूफान आया है, उसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर बढ़ती हुई असमानता के प्रति और अधिक चिन्ता प्रकट की गयी है। विश्व इतिहास के इस दौर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त ने इस संकल्पना पर निरन्तर अधिक जोर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के बीच धीरे-धीरे आय की समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति का समारम्भ करता है—लेकिन इसके साथ जो मान्यताएं जोड़ दी जाती हैं, वे स्पष्ट रूप से अव्यावहारिक और अनुभव के विपरीत होती हैं।

इस पुस्तक का पाठक अब इस बात पर आश्चर्य नहीं करेगा कि यदि मैं सैद्धान्तिक दिलचस्पी की इस विचित्र दिशा को—और विशेषकर विश्व में मौजूद वर्तमान और निरन्तर बढ़ती हुई असमानताओं का स्पष्टीकरण देने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कार्य करने वाले आर्थिक सिद्धान्तकारों की दिलचस्पी का पूर्ण अभाव भी उल्लेखनीय है—पूर्वाग्रहग्रस्त और विकसित देशों के लोगों के स्वार्थ से प्रेरित कहूँ। अपने आरम्भिक रूप में इस पूर्वाग्रह को आर्थिक विचार के इतिहास में बहुत समय पहले ही आधार मिल गया था। पहले अध्याय में मैंने दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में मौजूद जिन पूर्वाग्रहों का उल्लेख किया है, यह पूर्वाग्रह उन सबसे पुराना है।

मेरे एक तीसरे देशवासी, स्वर्गीय फोल्क हिलगिर्ट, उस समय मौलिकता का दावा कर सकते थे, जब उन्होंने उत्तर दिये बिना ही यह प्रश्न उठाया कि यथार्थ में हमें मान्य सिद्धान्त से भिन्न जो बातें स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं उन्हें किस प्रकार समझाया जा सकता है?

लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के इस पूर्वाग्रहग्रस्त रुझान—और इसकी हितों की समानता, अवन्ध व्यापार और स्वतन्त्र व्यापार में स्पष्ट दिलचस्पी—ने निःसन्देह उस तरीके को प्रभावित किया जिस तरीके से कम-विकसित देशों की समस्याओं पर साधारणतया विचार किया जाता है और जिस प्रकार इन देशों के लोगों और सरकारों को सलाह दी जाती है और वस्तुतः यही कारण है कि मैंने इस पुस्तक में इस समस्या को उठाया है।

यह बात उस समय तक विशेष रूप से सही थी, जब तक हाल के वर्षों में

कम-विकसित देशों ने मिलकर यह शिकायत नहीं की कि उनकी व्यापार की स्थिति और विकसित देशों की व्यापार सम्बन्धी नीतियाँ उनके लिए हानिकारक हैं—इसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की स्थापना हुई। यह सम्मेलन पश्चिम के विकसित देशों के बहुत प्रतिरोध के बावजूद १९६४ में स्थापित किया गया। व्यापार के क्षेत्र में काम करने वाले अन्तर-सरकार संगठनों ने—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा तट-कर और व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार—इससे पहले के वर्षों में अधिकांशतया जो कुछ किया, उसका स्पष्टीकरण इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

विकसित देशों की सरकारें और लोग कम-विकसित देशों को सहायता देने की बात की तुलना में व्यापार के सम्बन्ध में अपने मन में स्वयं को इतना कम दोषी क्यों अनुभव करते हैं, इस बात को इस तथ्य से बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पुराने जमाने से कायम अव्यावहारिक और पूर्वाग्रहग्रस्त सिद्धान्त इसका आधार और कारण है।

तथ्य यह है कि, इस सिद्धान्त के विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—और पूँजी का प्रवाह—साधारणतया असमानता को जन्म देगा और उस स्थिति में यह कार्य और अधिक शक्तिशाली तरीके से होगा, जबकि पर्याप्त असमानताएँ पहले ही कायम हो चुकी हैं।

बाजार की अनियन्त्रित शक्तियाँ ऐसे किसी सन्तुलन की ओर आगे बढ़ने के लिए कार्य नहीं करेंगी, जिसकी प्रवृत्ति आय में समानता कायम करने की हो। चक्राकार कार्य-कारण सम्बन्धों और समग्र प्रभावों सहित उत्पादकता और आय की दृष्टि से श्रेष्ठ देश और अधिक श्रेष्ठ होता जायेगा, जबकि नीचे स्तर पर मौजूद देश उसी स्तर पर कायम रहेगा अथवा उसकी स्थिति और अधिक खराब हो जायेगी—यह क्रम उस समय तक जारी रहेगा जब तक बाजार की शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने और कार्यरत रहने की छूट मिलती रहेगी।

श्रेष्ठ देश बाहरी और अ न्तरिक अर्थव्यवस्थाओं को और अधिक प्रभावित करता जायेगा और यदि राऊल प्रीबिश की शब्दावली का प्रयोग करें तो यह कहना होगा कि विकास के प्रत्येक केन्द्र से इसके 'आस-पास के' अन्य देशों पर प्रत्यावर्तन सम्बन्धी प्रभाव होते हैं। उस समय ये हानिप्रद प्रवृत्तियाँ और अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं, जब आय तथा शिक्षा का स्तर नीचा होता है और अन्य अनेक 'गैर-आर्थिक' कारक भी ऐसी ही स्थिति में होते हैं। जब आर्थिक सिद्धान्त को इनसे अलग किया गया तभी से इन कारकों को 'गैर-आर्थिक' कहा जाने लगा। इसके विपरीत प्रसार-प्रभावों का असर आय के निचले स्तरों तथा गरीबी से सम्बन्धित अन्य समस्त बातों पर बहुत कम होता है।

हम एक देश के भीतर भी बाजार की शक्तियों के इन प्रभावों को देख सकते हैं।[4] किसी कारखाने की स्थापना से जिस 'विकासशील केन्द्र' का निर्माण होता है, अथवा विस्तार सम्बन्धी अन्य किसी गतिविधि के परिणामस्वरूप जब किसी केन्द्र की स्थापना होती है, तो दूसरे व्यापार, कुशल श्रम और पूँजी इस केन्द्र की ओर आकर्षित होने लगते हैं। इसी मानक के अनुसार प्रत्यावर्तन सम्बन्धी प्रभावों के द्वारा यह कार्य आस-पास के क्षेत्रों को निचले स्तर पर बनाये रखेगा अथवा

इन्हें और अधिक गरीब बना देगा, यदि प्रसार सम्बन्धी प्रभाव शक्तिशाली नहीं हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि गरीब देशों की इस प्रेक्षण योग्य प्रवृत्ति से हो जाती है कि इन देशों में समृद्ध देशों की तुलना में विभिन्न क्षेत्रों में आय में कहीं अधिक अन्तर होता है।

अत्यधिक विकसित देशों के भीतर ये अन्तर क्यों कम होते जा रहे हैं, उसके जो मुख्य कारण हैं उनमें, एक, रहन-सहन के ऊँचे स्तरों पर प्रसार-प्रभाव अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं और प्रत्यावर्तन-प्रभाव कमज़ोर पड़ जाते हैं।

दूसरा स्पष्टीकरण राज्य में निहित है। यह बाजार की शक्तियों की क्रिया में हस्तक्षेप कर सकता है और करता भी है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कम-विकसित देश किसी देश के विकसित क्षेत्रों की तुलना में अधिक कमजोर स्थिति में इस कारण से हैं कि कोई विश्वव्यापी राज्य नहीं है, जो उस प्रकार कम-विकसित देशों या क्षेत्रों के लिए कानून बना सके, कर लगा सके तथा सहायता, संरक्षण और प्रोत्साहन दे सके, जिस प्रकार किसी एक देश में राज्य देता है।

मैंने इस सिद्धान्त का अधिक व्यापक प्रतिपादन और इसकी उचित शर्तों का उल्लेख एक भिन्न सन्दर्भ में किया है[5] और मुझे यहाँ स्वयं को अपने तर्क के संकेत मात्र तक सीमित रखना होगा। लेकिन मैं यहाँ इस बात का उल्लेख करना चाहता हूँ कि सब देशों में जो किस्से प्रचारित हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोग इस सिद्धान्त को समझते हैं और यह बात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मान्य सिद्धान्त के विपरीत जाती है। जैसाकि अक्सर होता है, बाइबिल ने सामान्य जन की बुद्धिमत्ता को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है: 'जिसके पास सब कुछ है उसे और दिया जायेगा और उसके पास सब चीजों की भरमार हो जायेगी, लेकिन जिसके पास कुछ नहीं है उसके पास से वह भी ले लिया जायेगा जो उसके पास मौजूद है' (मैथ्यू 25, 29, देखिए 13, 12 भी)।

सम्भवतः यह समझना इतना अधिक कठिन नहीं है कि जब कम-विकसित देश स्वतन्त्र हुए, उनके राजनीतिक प्रवक्ताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्थापित स्वरूप के प्रति प्रायः कोई सम्मान प्रदर्शित नहीं किया—चाहे उनके कुछ अर्थशास्त्री यह कार्य क्यों न करते हों और हाल के दशकों में यह कार्य विशेष रूप से हुआ है। पिछली शताब्दी के अन्त के आस-पास भारत के आरम्भिक अर्थशास्त्रियों ने एक ऐसी विचारधारा का विकास किया जिसे 'संस्थागत' कहा जा सकता है और उन्होंने उस अबन्ध और मुक्त व्यापार के ऊपर विशेष रूप से प्रहार किया, जो अंग्रेजों ने उनके देश अर्थात् अपने उपनिवेश के ऊपर थोप दिया था।

उपनिवेशी युग में विकसित देशों का बेहतर माल, जो अक्सर सस्ता भी होता था, कम-विकसित देशों की पुरानी दस्तकारी और परम्परागत उद्योग में निर्मित माल को होड़ में परास्त कर देता था और इन देशों के निर्मित माल के लिए किसी नये बाजार की कोई व्यवस्था नहीं की जाती थी। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय असमानता के प्रतिरोध के लिए पूँजी के प्रवाह पर भी निर्भर नहीं किया जा सकता था। समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पूंजी कम-विकसित

देशों से दूर ही रहती थी ।

यह सच है कि इन देशों में पूँजी की कमी रहती थी । लेकिन इसकी आवश्यकता उस प्रभावशाली माँग का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी, जो पूँजी बाजार में होड़ कर सकती है। यूरोप के देशों ने समुद्र पार पूँजी लगाने का जो अधिकांश प्रयास किया, वह सम-जलवायु वाले उन प्रायः आबादी रहित इलाक़ों में हुआ, जहाँ यूरोप के प्रवासियों के लिए बस्तियाँ बसायी जा रही थीं ।

पर रेलों, बन्दरगाहों और अन्य सार्वजनिक सुविधाओं के निर्माण में कुछ पूँजी खर्च की गयी और इस पूँजी विनियोग को उस राजनीतिक नियन्त्रण के द्वारा सुरक्षित बनाया गया, जो उपनिवेशी सरकारें बाहर से संचालित करती थीं अथवा लेटिन अमराका में दूसरे तरीकों से यह कार्य किया गया। मार्क्स ने भारत के बारे में जो कल्पना की थी, उसके विपरीत रेलों के निर्माण से न तो इस्पात उद्योग की स्थापना हुई और न ही औद्योगिक क्रान्ति ।[6] इन विनियोगों के लिए जिस सामग्री और पूंजीगत माल की आवश्यकता हुई, उन्हें विकसित देशों से कहीं कम खर्च पर आयात किया जा सकता था ।

कुछ अपेक्षाकृत कम पूँजी उन विशाल उद्योगों में लगी जो निर्यात के लिए प्राथमिक सामान के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त कर चुके थे। ये उद्योग अपने स्वामियों के लिए साधारणतया इतने लाभदायक थे कि जहाँ तक पूँजी विनियोग का प्रश्न है, ये बड़ी तेज़ी से आत्मनिर्भर बन गये ।

स्वाभाविक कारणों से इन उद्योगों ने अलग समूह बनाने की प्रवृत्ति दर्शायी और ये अपने चारों ओर की अर्थव्यवस्था से कटे हुए और अलग-थलग रहे, लेकिन इनका उस विकसित देश की अर्थव्यवस्था से घनिष्ठ सम्पर्क रहा जिससे पूँजी और प्रबन्धक आते थे। विदेशियों के देशी अर्थव्यवस्था से आर्थिक सम्बन्ध अधिकांशतया अकुशल मजदूरों को रोजगार देने तक ही सीमित थे । ये उद्योग साधारणतया अपना पूँजीगत माल विदेशों से मँगाते थे और इन उद्योगों के विदेशी कर्मचारी अपनी आय का अधिकांश भाग आयातित उपभोग्य सामान पर खर्च करते थे या अपने देश में पूँजी के रूप में लगाते थे। इससे उन देशों में प्रसार-प्रभाव समाप्त हो गये, जहाँ ये विदेशी उद्योग स्थापित थे ।

जातीय अन्तर, अत्यधिक सांस्कृतिक अन्तर और इन देशों के निवासियों के साधारणतया रहन-सहन के नीचे स्तर ने अलगाव को स्वाभाविक परिणाम बना दिया। यह बात इन औद्योगिक बस्तियों में, जैसे प्रबन्धकों तथा मजदूरों के सम्बन्धों के बीच ही स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं पड़ती थी, बल्कि आबादी के शेष हिस्से में भी यही होता हुआ दिखायी पड़ता था। इस प्रकार इन समूहों के अलग-थलग रहने ने संस्कृति के हस्तान्तरण के मार्ग में बाधा डाली और इसी प्रकार देशी आबादी को तकनीकी कुशलता और उद्यम में पहल करने की भावना भी प्राप्त नहीं हो सकी। यह इस बात का आंशिक स्पष्टीकरण है कि उपनिवेशी युग में आर्थिक उद्यमों का जो समारम्भ हुआ, वे कुछ छोटी बस्तियों के रूप में ही क्यों सीमित रह गये और उनकी विस्तार सम्बन्धी गतिशीलता इतनी कमज़ोर या प्रायः गैर-मौजूद क्यों रही ।

उपनिवेशी युग में इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कम-विकसित देशों पर यह असर पड़ा कि इनमें अकुशल मज़दूरों को लगाकर निर्यात के लिए प्राथमिक

अथवा कच्चा माल ही तैयार किया गया। आज भी अधिकांशतया उनकी अर्थ-व्यवस्थाओं का यही स्वरूप है। 70 से 80 प्रतिशत तक और कभी-कभी इससे भी अधिक निर्यात आज भी प्राथमिक वस्तुओं का ही होता है।

यह अत्यधिक सुयोजित तस्वीर[7], जिससे यह प्रकट होता है कि उपनिवेशी युग में कम-विकसित देशों में क्या हुआ, यह दर्शाने के लिए प्रस्तुत की गयी है कि उपनिवेशी शक्तियों ने यह विकास अथवा विकास का यह अपेक्षाकृत अभाव, बुनियादी तौर पर अपनी बुरे उद्देश्यों से प्रेरित नीतियों के द्वारा कम-विकसित देशों पर नहीं थोपा। यह मुख्यतया बाजार की उन शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था, जो समानता के लिए कार्य नहीं करतीं, बल्कि असमानता बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखाती हैं।

जब विदेशी व्यापारियों और सरकारों ने बाजार की शक्तियों की क्रियाशीलता का व्यापारिक लाभ उठाया, तो वे उस समय तक 'यह खेल खेलते रहे' जब तक यह लाभकारी रहा। और इन लोगों ने कानून और व्यवस्था कायम की, वैसे स्कूल बनाये, जिनका विश्लेषण अध्याय-6 में प्रस्तुत किया जा चुका है, रेलों और बन्दरगाहों का निर्माण किया, बैंकों तथा अन्य वाणिज्य संस्थाओं की स्थापना की—यह कार्य बुनियादी तौर पर उन्होंने स्वयं अपने हित की दृष्टि से किये, लेकिन ये उन कम-विकसित देशों के हित में भी थे, जिन पर वे शासन करते थे।

पर जहाँ कहीं औपचारिक उपनिवेशी शासन था, वहाँ इस शासन ने कुछ सीमा तक बाजार की शक्तियों को नियन्त्रित किया और यह कार्य व्यापार सम्बन्धी नियमों की खुल्लमखुल्ला उपेक्षा को रोककर किया गया। लेटिन अमरीका के अनेक देश आज भी उन प्रभावों के बुरे असर का कष्ट भोग रहे हैं, जिनसे वे यूरोप के किसी देश के नियन्त्रण के कारण बच सकते थे।

पर बाजार की शक्तियों की क्रियाशीलता में प्रमुख हस्तक्षेप उपनिवेशी शक्तियों और उसके व्यापारियों के हितों को ध्यान में रखकर किये गये। वस्तुतः उपनिवेशी देश के हित में यह बात होती थी कि वह अपने उपनिवेश को स्वयं अपने उद्योग में निर्मित सामान के बाजार के रूप में सुरक्षित रखे। कभी-कभी स्वयं अपने देश के बाजार को उपनिवेश की प्रतियोगिता से बचाने के लिए भी कार्रवाई की जाती थी। लेकिन इन और अन्य दृष्टियों से उपनिवेशवाद का प्राथमिक अर्थ बाजार की शक्तियों को मजबूत बनाना ही था। इसने स्वयं को समग्र प्रक्रिया के चक्राकार कार्य-कारण के रूप में निर्मित किया और इसे अतिरिक्त प्रोत्साहन और विशेष स्वरूप प्रदान किया और यह प्रक्रिया निरन्तर बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय असमानता की ओर प्रवृत्त रही।

बाजार की शक्तियाँ, जैसाकि अमूर्त आर्थिक सिद्धान्त में बताया जाता है, स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य नहीं करती थीं। एकाधिकार के अनेक तत्त्व होते थे, जो प्रायः सदा उपनिवेशी देश के व्यापार के हित में संचालित होते थे और कुछ सीमा तक इन्हें उपनिवेशी सरकार अपना समर्थन अथवा यहाँ तक कि प्रोत्साहन देती थी। इस अध्याय में मैंने इन तत्त्वों को 'बाजार की शक्तियों' में

शामिल किया है।

यह प्रक्रिया निरन्तर जारी है। उपनिवेशों की समाप्ति ने स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं किया है और मैंने इस पुस्तक में इस भाग को इस तथ्य पर ज़ोर देने के लिए शामिल किया है कि कम-विकसित देश बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया की दया पर रहे हैं और आज भी अधिकांशतया हैं। कम-विकसित स्थिति के कारण, ये शक्तियाँ इन देशों के विकास के प्रयासों के मार्ग में बाधक बनती हैं।

इसके साथ दो प्रमुख शर्तें ज़रूर जोड़ी जानी चाहिए। एक बात तो यह है कि स्वाधीनता के बाद कम-विकसित देशों को यह अवसर मिला कि वे स्वयं अपने विकास के हित की दृष्टि से बाजार की शक्तियों के संचालन में उपयोगी हस्तक्षेप करें। एक दृष्टि से उपनिवेशवाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नकारात्मक प्रभाव यह रहा कि ये देश स्वयं अपने हितों से अपनी अर्थव्यवस्था का नियमन करने के अपने अधिकार से वंचित हो गये थे।

यह महत्त्वपूर्ण है, लेकिन हाल के वर्षों में कम-विकसित देशों ने जो कुछ सीखा है वह यह है कि राष्ट्रीय आयोजन उन्हें आर्थिक निर्भरता और गरीबी से न तो तेज़ी से और न ही प्रभावशाली ढंग से उबारता है। और यह बात उस समय भी अधिकांशतया सच्ची होगी, यदि इनका आयोजन और योजनाओं को लागू करने की प्रक्रिया आज की तुलना में बेहतर हों और वे चाहे उन आमूल और दूरगामी सुधारों को लागू करने के लिए भी और अधिक तत्पर हों, जिन पर इस पुस्तक के खण्ड-2 में विचार किया गया है और जो विकास के लिए आवश्यक हैं।

यह दूसरी शर्त उनके कम-विकास की आरम्भिक स्थिति से कहीं अधिक गहराई से सम्बन्धित है। ये देश केवल अपनी कम-विकसित और निर्धन अर्थ-व्यवस्था में ही हस्तक्षेप कर सकते हैं। यह अर्थव्यवस्था शेष संसार पर बहुत निर्भर है, विशेषकर विकसित देशों की बाजार की परिस्थितियों और नीतियों पर जो विश्वव्यापी वित्त-व्यवस्था और वाणिज्य पर छाये हुए हैं।

एक विश्व राज्य के अभाव में, जो उनकी ओर से और उनके लाभ को ध्यान में रखते हुए शक्तिशाली अल्पसंख्यक विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं और नीतियों में हस्तक्षेप कर सके, इन कम-विकसित देशों को विकसित देशों से वित्तीय सहायता का अनुरोध बाध्य होकर करना होगा। इस विषय पर अगले दो अध्यायों में विचार किया जायेगा। उन्हें इस बात पर भी ज़ोर देना चाहिए कि विकसित देश उनकी वाणिज्य नीतियों में परिवर्तन को स्वीकार करें। कम-विकसित देशों के जबर्दस्त आन्दोलन का यही उद्देश्य और अभिप्राय है, जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की स्थापना हुई।

3. व्यापार

उपनिवेशी युग की समाप्ति के बाद की अवधि में अधिकांश कम-विकसित देशों की व्यापार की स्थिति में गिरावट आयी है, यद्यपि इसमें विभिन्न देशों के सम्बन्ध में अत्यधिक अन्तर हैं; और यदि इन प्रवृत्तियों को बदलने के लिए कुछ नहीं किया जाता तो यह गिरावट जारी रहेगी।[8] इससे सबसे पहले कम-विकसित संसार के उस बड़े हिस्से की ओर संकेत होता है, जहाँ पैट्रोलियम और

उन अन्य खनिजों के स्रोत नहीं हैं अथवा बेहद कम हैं, जिनकी विकसित देशों में बहुत अधिक और तेजी से बढ़ती हुई माँग मौजूद है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति अधिकांशतया कम-विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं के विरासत में प्राप्त स्वरूप के कारण है और विशेषकर उनके निर्यात होने वाले सामान के स्वरूप और दिशा के कारण, जो उपनिवेशी युग से पर्याप्त बदलने में सफल नहीं हुआ है। कम-विकसित देशों से परम्परागत सामान के निर्यात, अधिकांशतया प्राथमिक सामान के निर्यात का पहले महायुद्ध की समाप्ति के समय से विश्व व्यापार में निरन्तर कम हिस्सा होता गया है। दक्षिण एशिया पर, जो अविकसित संसार का इतना विशाल भाग है, इसका विशेष रूप से बुरा प्रभाव पड़ा है।[9]

इस प्रवृत्ति के पीछे अनेक परिस्थितियाँ मौजूद हैं। वर्तमान युग में प्राथमिक सामान, जिनका अधिक प्रत्यक्ष तरीके से उपभोग हो रहा है, जैसे विभिन्न प्रकार की खाने-पीने की चीजें, तथा कपड़ा और कपड़ा बनाने का कच्चा माल भी एक सामान्य नियम के रूप में, आय की दृष्टि से सीमित प्रभाव रखता है और अक्सर विकसित देशों के आय के स्तरों से बहुत पीछे रह जाता है और यही देश प्रमुख आयातक हैं।

रवड़—जो अन्यथा ऐसे माल की कोटि में आनी चाहिए, जिनकी माँग में निरन्तर वृद्धि होती है—और कपड़ों तथा इनके कच्चे माल के बारे में भी यह स्थिति है कि विकसित देशों की आधुनिक टेक्नालॉजी ने ऐसी कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण कर लिया है, जिनका उपयोग इनके स्थान पर किया जा सकता है। यह सम्भव है, और वस्तुतः इसकी सम्भावना भी दिखायी पड़ती है कि कॉफ़ी, चाय, कोको और सम्भवतः कुछ धातुओं पर भी, जो कम-विकसित देशों से निर्यात होने वाली परम्परागत वस्तुएँ हैं, यही प्रहार होगा (देखिए अध्याय-2)। इससे भी अधिक सामान्य बात यह है कि टेक्नालॉजी के विकास के फलस्वरूप अधिक तैयार माल बनाने के लिए कम मात्रा में कच्चे माल की जरूरत होती है।

कम-विकसित देशों के परम्परागत निर्यातों के बारे में जो भविष्यवाणियाँ की गयी हैं वे आशा नहीं बँधातीं।[10] समग्र दृष्टि से यह अवांछित प्रवृत्ति जारी दिखायी देती है और बहुत से मामलों में इसमें वृद्धि हुई है।

इस बीच, तैयार माल के निर्यात के क्षेत्र में प्रवेश करने के प्रयासों में अत्यधिक विकसित और उद्योगों में उन्नत देशों से प्रतियोगिता की जबर्दस्त कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इनके जमे-जमाये औद्योगिक प्रतिष्ठानों का बाजारों पर शिकंजा कसा हुआ है। इन व्यापारिक कम्पनियों ने अपने व्यापार के सम्पर्क सूत्र बना रखे हैं, व्यापक और विविध औद्योगिक आधार तथा उत्पादन और सामान में सुधार के लिए अनुसन्धान विभागों की स्थापना के द्वारा निरन्तर उपयोगी और तर्कसंगत परिवर्तनों के कारण आन्तरिक और बाहरी दृष्टि से खर्च में कमी हुई है। इसके अलावा इन्हें बाजारों में अपना माल बेचने की संगठित सुविधाएँ भी प्राप्त हैं और इन व्यवस्थाओं के माध्यम से इन्हें यह भी जानकारी मिलती रहती है कि इनके ग्राहकों की क्या आवश्यकताएँ और प्राथमिकताएँ हैं और इनमें किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है।

ऐसी कम्पनियों से विदेशी बाजारों को छीन लेना सर्वोत्तम दृष्टि से संचालित

उद्यमों के लिए भी कठिन होता है। कुशल प्रबन्धकों, तकनीकी कर्मचारियों और श्रमिकों की कमी, पूँजी और व्यापारिक क्षमता का अभाव, जिसका सम्वन्ध अक्सर विकसित विधियों से कायम किया जाता है और उच्च कोटि के मानक माल के उत्पादन की अनुभवहीनता, कम-विकसित देशों के उद्योगों के लिए इन कठिनाइयों को और अधिक बढ़ा देती है।

कुछ क्षेत्रों में सस्ता श्रम इन देशों को माल के उत्पादन की लागत की दृष्टि से लाभ पहुँचा सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश श्रमिकों और प्रवन्धकों दोनों की अकार्यकुशलता और विशिष्ट सहायक सुविधाओं का अभाव प्रति इकाई उत्पादन की दृष्टि से श्रम की लागत में वृद्धि कर देता है और इस प्रकार, कम-से-कम आंशिक रूप से, समय की प्रति इकाई के हिसाव से कम मजदूरी के लाभ को समाप्त कर देता है।

इसके साथ ही कम-विकसित देशों के उद्योगपतियों का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निषेध भी उल्लेखनीय है। अधिकांश कम-विकसित देशों ने आयात के वारे में जो प्रतिवन्ध लगाये हैं, उन्हें विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के कारण बाध्य होकर लगाना पड़ा है। लेकिन इससे उन उद्योगों को संरक्षण मिलता है जो आयात होने वाले माल के स्थान पर देश में ही सामान बनाने में लगे हैं। जैसाकि मैंने अध्याय-7 में कहा है, यह संरक्षण, 'अनियोजित' है : सवसे कम आवश्यक चीज़ों के उत्पादकों को सबसे अधिक संरक्षण दिया जाता है।

उद्यम और पूंजी विनियोग के बारे में अनेक प्रकार के व्यक्तिगत निर्णयों पर आधारित नियन्त्रणों को लागू करने के वाद उन लोगों को संरक्षण देना, जो नियन्त्रणों से वचकर निकल सकते हैं, ऊँची लागत पर माल वनाने वाले लोगों के लिए स्वदेश में आराम से व्यापार करना सम्भव बना देता है। इस प्रकार आन्तरिक बाजार को विदेशी प्रतियोगिता से पूरी तरह अलग-थलग कर निर्यात के लिए सामान बनाने के प्रोत्साहन को समाप्त कर दिया जाता है।[11]

प्राथमिक सामान की तुलना में निर्मित सामान का निर्यात कम-विकसित देशों से अधिक तेज़ी से बढ़ा है। लेकिन यह वृद्धि उतनी नहीं हुई है जितनी विकसित देशों के निर्यात में हुई है। लेकिन अनेक कारणों से इस वृद्धि का लाभ इन देशों की विकास की सम्भावनाओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ है।

एक बात तो यह है कि वह आधार, जिससे वृद्धि होती है बहुत सँकरा है। इसके अलावा कम-विकसित देशों से निर्यात होने वाला अधिकांश निर्मित माल, जैसे वस्त्र, खाने की चीजें, लकड़ी का सामान, चमड़े का सामान और ऐसी अन्य चीजें जिनके उत्पादन की विधियाँ वड़ी सरल हैं, प्राथमिक स्तर से वहुत दूर की चीज़ें नहीं हैं और इनसे औद्योगिक विकास को वह बढ़ावा देने की अपेक्षा नहीं की जा सकती, जो उन तैयार वस्तुओं के निर्यात से की जा सकती है, जो विकसित देशों के निर्यात का अधिकांश भाग होती हैं।

अन्त में, अधिकांश कम-विकसित देशों में इस प्रकार के निर्यात में भी अधिक वृद्धि नहीं हो रही है। यह अधिकांशतया कुछ गिने-चुने देशों से ही हो रहा है। उदाहरण के लिए, हांग-कांग से इस सामान का चौथाई से लेकर तिहाई हिस्सा तक निर्यात होता है।

जबकि निर्यात की सम्भावनाएँ उज्ज्वल नहीं हैं, आयात की आवश्यकता, और वास्तविक आयात भी, दो कारणों से बढ़ रहा है: आबादी में वृद्धि और दूसरे महायुद्ध के समय से विकास के प्रयास।

आबादी में तेज़ी से वृद्धि के कारण अनेक चीजों की आवश्यकता बढ़ जाती है। सबसे पहले खाने की चीज़ों की आवश्यकता होती है, जिसके परिणामस्वरूप खाने की चीज़ों की कमी वाले देशों में आयात बढ़ जाता है और अतिरिक्त उपज वाले देशों में निर्यात में कमी हो जाती है। विकास के प्रयासों से सर्वत्र विभिन्न प्रकार के ऐसे सामान की आवश्यकता होती है, जिसे आयात करना पड़ता है।

4. पूंजी का प्रवाह

कम-विकसित संसार में प्रायः सर्वत्र इसका यह परिणाम हुआ कि आयात की आवश्यकताओं और निर्यात से प्राप्त होने वाले वास्तविक लाभ के बीच अन्तर बहुत बढ़ गया। इस स्थिति में, और इस कारण से भी कि निर्यात की कठिनाइयाँ निरन्तर कायम रहीं, आयात की आवश्यकताओं को कम करना पड़ा, जिससे विकास के प्रयास उस स्तर से नीचे रह गये जो वांछित था और इसी प्रकार खपत के स्तर भी, विशेषकर सामान्य जन-समुदाय में, नीचे रहे।

दक्षिण एशिया में और दूसरे कम-विकसित देशों में भी वास्तविक निर्यात और आयात के बीच अन्तर बना रहा। यह 'व्यापारिक अन्तर' जैसाकि अक्सर इसे पुकारा जाता है, जो विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन के रूप में बना रहता है, विभिन्न प्रकार से पूंजी के आगमन द्वारा पूरा किया जाता है। लेकिन भीतर आने वाली राशि में से इन देशों से बाहर जाने वाली राशि को घटाना होगा। इनके प्रकार भी भिन्न हैं।

अनेक देशों के लिए, विशेषकर लेटिन अमरीका के देशों के लिए, शुद्ध प्रवाह नकारात्मक ही रहता है। इसका यह अर्थ होता है कि जहाँ तक इन देशों का सम्बन्ध है, पूंजी के प्रवाह से स्थिति में सुधार नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत निर्यात बढ़ाने का दबाव बढ़ता जाता है और आयात घटाने की आवश्यकता बढ़ती जाती है। लेकिन जिस सीमा तक निर्यात बढ़ाने की ज़रूरत होती है, वह सम्भव नहीं हो पाता।

विकसित देशों से वित्तीय सहायता एक प्रकार का पूंजी आगमन है। अब अनेक वर्षों से वास्तविक अर्थों में इस सहायता की राशि में वृद्धि रुक गयी है और वस्तुतः इसमें कमी हुई है (देखिए अध्याय-11)। इसके अलावा सहायता अधिकाधिक मात्रा में ऋणों के रूप में प्राप्त होती है, अतः इसके परिणामस्वरूप आगे चलकर ब्याज और ऋणों की राशि की अदायगी के रूप में पूंजी बाहर जाने लगती है।

ऋण परिशोधन की लम्बी अवधि निर्धारित करके, इस अवधि में और वृद्धि करके तथा ब्याज की दर को कम रखकर इस परिणाम का प्रभाव कुछ सीमा तक कम हुआ है। पर हाल के वर्षों में ब्याज की औसत दर में वृद्धि हुई है और नये ऋणों की परिशोधन की औसत अवधि और इस अवधि में छूट देने के समय में कमी हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक कम-विकसित देशों के विकास में

सहायता देने वाली एक अन्तर-सरकार संस्था का रूप धारण करता जा रहा है। यह अपनी ऋण गतिविधियों में विस्तार कर रहा है, चाहे अभी भी इसके ऋणों की राशि कम-विकसित देशों को प्राप्त होने वाली कुल पूंजी का एक छोटा-सा हिस्सा ही क्यों न हो।

अक्सर यह कहा जाता है कि इसके नियमित ऋण व्यापारिक शर्तों पर दिये जाते हैं। लेकिन यह बात मुश्किल से ही सच है, क्योंकि व्याज की दर और ऋण की अन्य शर्तों को सदस्य सरकारों की गारण्टी के बिना इतना सरल नहीं बनाया जा सकता था। इसके अलावा, अपनी एक सहायक संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की मार्फत इसने सार्वजनिक ऋणों का जो कार्य शुरू किया है, उसमें सहायता का पर्याप्त तत्त्व रहता है।

शेष कमी को पूरा करने के लिए कम-विकसित देशों में निजी कोषों के रूप में ही पूंजी का आगमन होता है (आगे विचार के लिए देखिए अध्याय-10)। यह पूंजी आंशिक रूप से निर्यात के लिए छोटी अवधि के ऋण के रूप में प्राप्त होती है। हाल के वर्षों में इस रूप में पूंजी के आगमन में तेजी से वृद्धि हुई है। इस प्रकार विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन पर कुछ समय के लिए दवाव स्थगित हो जाता है। लेकिन यह अवधि बहुत छोटी होती है और अक्सर यह ऋण महँगे पड़ते हैं।

प्रतिभूत (पोर्टफोलियो) विनियोग, जिन्होंने उपनिवेशी युग में बहुत बड़ी भूमिका निभायी थी, अब प्रायः पूरी तरह से समाप्त हो गये हैं।

अव अधिकांश आशा प्रत्यक्ष विनियोग पर लगायी जाती है। जिन कारणों का उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें ध्यान में रखते हुए हमें पैट्रोलियम उद्योग और ऐसे अन्य उद्योगों में लगी पूंजी को घटा देना चाहिए जो ऐसे कच्चे माल के उपयोग के लिए लगाये गये हैं, जिनकी माँग तेजी से बढ़ रही है। ये विनियोग कम-विकसित संसार के अधिकांश हिस्से के लिए बहुत कम दिलचस्पी के हैं। यद्यपि अधिक सही जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन इससे उन कुल राशियों में से सम्भवतः एक तिहाई या इससे भी अधिक हिस्सा घटाना होगा, जिनका उल्लेख निजी प्रत्यक्ष विनियोग के सम्बन्ध में किया जाता है।

दक्षिण एशिया में निजी प्रत्यक्ष विनियोगों की राशि अधिक नहीं है।[12] यही बात पश्चिम एशिया और अफ्रीका पर भी लागू होती है। पूर्व एशिया और लेटिन अमरीका में यह पूंजी अधिक मात्रा में लगायी गयी है। विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन की दृष्टि से इनका महत्त्व सबसे पहले इस बात पर निर्भर करता है कि किस सीमा तक इस विनियोग से आयात की आवश्यकता में कमी होगी और / अथवा निर्यात में वृद्धि होगी।

इसके बाद इन विनियोगों से प्राप्त लाभ को जब देश से बाहर ले जाया जाता है और वहीं फिर पूंजी के रूप में नहीं लगाया जाता तथा पहले लगायी गयी पूंजी को वापस सम्बन्धित देश में भेजना भुगतान सन्तुलन की दृष्टि से पूंजी का बहिर्गमन सिद्ध होता है। (निजी पूंजी के उक्त तरीके से विनियोग को पूंजी का 'आगमन' बताने के सामान्य तरीके और आगे चलकर इसके वहिर्गमन की उपेक्षा की समालोचना के लिए देखिए अध्याय-10)।

पूंजी का बहिर्गमन इस तरीके से भी होता है कि किसी कम-विकसित देश

के नागरिक इसे विदेशी बैंकों में रख देते हैं अथवा इससे विदेशों में हिस्सा पूंजी खरीदते हैं। अधिकांशतया इस पूंजी को चुपचाप बाहर ले जाया जाता है और यह कार्य विदेशी मुद्रा के विनिमय सम्बन्धी नियमों के विरुद्ध होता है। इसी कारण से इस पूंजी को सम्बन्धित आँकड़ों में भी शामिल करना सम्भव नहीं हो पाता। लेकिन इस बात की जानकारी है कि बुनियादी तौर पर लेटिन अमरीका से बड़ी मात्रा में इस प्रकार पूंजी का बहिर्गमन होता है। लेकिन यह बात केवल लेटिन अमरीका पर ही लागू नहीं होती।

ऊपर व्यापार के विकास और पूंजी के प्रवाह का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों के ऋणों के निरन्तर बढ़ते हुए भार की समस्या सामने आयी है।[13] यह गणना की गयी है कि इन देशों के समस्त ऋणों की राशि 1950 के 10 अरब डालर से बढ़कर 1965 में 40 अरब डालर हुई और ऋण की इस राशि में निरन्तर वृद्धि हो रही है और आगामी वर्षों में भी यह वृद्धि जारी रहेगी।

इसी अवधि में व्याज और ऋण परिशोधन के वार्षिक भुगतानों के रूप में अदायगी की राशि 8 करोड़ डालर से बढ़कर लगभग 3 अरब 60 करोड़ हो गयी है। ऋणों के व्याज और मूल के भुगतान की राशि तथा निर्यात की आय का अनुपात 1950 के मध्य में 4 प्रतिशत से बढ़कर 1965 में 9 प्रतिशत हो गया। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि यदि वर्तमान प्रवृत्तियाँ जारी रहीं तो इन देशों के भीतर आने वाली समस्त पूंजी इन भुगतानों के रूप में बाहर चली जायेगी और यह कार्य 1970 के बाद के आरम्भिक वर्षों में होगा।

लगभग 10 वर्ष से इस सम्बन्ध में चिन्ताजनक चेतावनियाँ दी जा रही हैं। ये चेतावनियाँ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक ने विशेष रूप से दी हैं, जो कम-विकसित देशों और विशेषकर पूंजी के प्रवाह के बारे में अपनी अधिक जिम्मेदारी अनुभव करता है। अब इस घटना को कई वर्ष बीत चुके हैं, जब इस बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष यूजीन ब्लैक ने यह खतरा देखा कि 'आर्थिक विकास की व्यवस्था सम्भवतः उस समय तक विदेशी ऋणों के भार से लादी जाती रहेगी, जब तक यह आधी निर्मित परियोजनाओं और रद्द की गयी योजनाओं के पहाड़ के नीचे ठप्प नहीं हो जाती।'[14] उनके उत्तराधिकारी जार्ज डी० वुड्स ने 'ऋणों के विस्फोट' की चर्चा की और इसी चेतावनी को दोहराया। इसका समाधान अधिक सार्वजनिक अनुदानों और सार्वजनिक ऋणों की अधिक सरल शर्तों के रूप में ही हो सकता है। ऐसी सार्वजनिक सहायता की प्रवृत्ति विपरीत दिशा में आगे बढ़ी है (देखिए अध्याय-11)।

कुछ कम-विकसित देशों के सम्बन्ध में ऋणों के भुगतान के बारे में कुछ परिवर्तन किये गये हैं। लेकिन यह दिवालियेपन से निबटने का एक बेहतर तरीका होने के अलावा अन्य कुछ नहीं है। इसमें केवल लक्षणों के आधार पर काम किया गया है और इससे इस बुनियादी समस्या का हल नहीं निकलता: ऐसे घटनाक्रम को किस प्रकार रोका जाये जो अन्ततः अनिवार्य रूप से भुगतान संकट

के रूप में फट पड़ेगा यदि अधिक दूरगामी उपाय नहीं किये जाते।

5. व्यापार नीतियाँ

कम-विकसित देशों में पूंजी का आगमन और बहिर्गमन उनके विदेश व्यापार और विशेषकर निर्यात से सम्बन्धित होता है अथवा यह इसमें कुछ सुधार को प्रकट करता है। ऋणों के विस्फोट से तथा ऋणों के निरन्तर बढ़ते हुए भार से यह समस्या और जटिल हुई है कि कम-विकसित देशों के व्यापार की स्थिति में कैसे सुधार किया जाये।

जैसाकि मैं जोर देकर कह चुका हूँ, हाल के दशकों में कम-विकसित देशों की व्यापार की परिस्थितियों में जो प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ी हैं, वे मुख्यतया बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया और प्रभाव का परिणाम हैं—इन शक्तियों को विभिन्न एकाधिकारी तत्त्वों से बल मिला है, जो प्रायः सदा कम-विकसित देशों के लिए अलाभकारी होते हैं। वस्तुतः इन प्रवृत्तियों का अर्थ उन्हीं बातों को जारी रखना होता है, जो उपनिवेशी युग में हुई थीं। यदि इन्हें इसी प्रकार बेरोकटोक चलने दिया जाये, तो इन व्यापक अर्थों में बाजार की शक्तियाँ कम-विकसित देशों के लिए हानिप्रद सिद्ध होती हैं।

लेकिन, उपनिवेशी युग की तरह ही, विकसित देशों की वाणिज्य नीतियों में कम-विकसित देशों के प्रति अनेक तरीकों से और अधिक भेदभाव बरता गया है। उपनिवेशों की समाप्ति के बाद के युग में विकसित देशों की वे नीतियाँ, जो कम-विकसित देशों के विकास के हितों के विपरीत हैं और अधिक उपेक्षापूर्ण बन गयी हैं। उपनिवेश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भूतपूर्व उपनिवेशी देश अक्सर इसकी भलाई के लिए अपनी कम जिम्मेदारी अनुभव करने लगते हैं।

कम-विकसित देशों के विकास सम्बन्धी हितों के विपरीत कार्य करने वाली वाणिज्य नीतियों की सूची बड़ी लम्बी और विविध है और यहाँ इस पर बहुत संक्षेप में ही विचार किया जा सकता है। सबसे पहले गर्म देशों के कृषि उत्पादन हैं—जैसे, कॉफ़ी, चाय, और कोको तथा अन्य अनेक चीजें। इन्हें उन सम-जलवायु वाले क्षेत्रों में नहीं उगाया जा सकता, जहाँ विकसित देश स्थित हैं और इस प्रकार इनसे किसी संरक्षण सम्बन्धी हित का साधन नहीं होता।

इन चीजों पर लगाये जाने वाले तट-कर और अन्य कर कभी भी विलास की चीजों पर लगाये जाने वाले करों के रूप में नहीं लगाये गये। समृद्ध समाजों में अब यह प्रवृत्ति समाप्त हो गयी है। अब इन्हें शुद्ध रूप से मुद्रा सम्बन्धी शुल्क ही माना जाता है। एक देश के दृष्टिकोण से वे सामान्य खपत पर खास किस्म के कराधान के अलावा अन्य कुछ नहीं हैं। इन्हें बड़ी आसानी से समाप्त किया जा सकता है—इस कर-भार को दूसरे करों के रूप में बदला जा सकता है, उदाहरण के लिए, अन्य खपत पर अथवा हर खपत पर कर लगाकर यह कार्य किया जा सकता है।

इसके अलावा अधिक नियमित कृषि जिन्स संरक्षण हैं, जो अक्सर कम-विकसित देशों के लिए बड़े अलाभकारी रहते हैं। इसका एक बड़ा उदाहरण चुकन्दर से बनने वाली चीनी के स्वदेश में उत्पादन को दिया जाने वाला उच्च संरक्षण है और इसी प्रकार वनस्पति तेल देने वाले पौधों को भी विभिन्न प्रकार के संरक्षण दिये जाते हैं।

इससे भी अधिक बुरा संरक्षण वह है, जो विकसित देशों में निर्मित और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं को दिया जाता है। भविष्य में प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में कमी की जो कल्पना की जा सकती है—चाहे उस कृषि जिन्स संरक्षण को, जिसका उदाहरण ऊपर दिया गया है, समाप्त भी कर दिया जाये—उसे देखते हुए यह कहना होगा कि कम-विकसित देशों में आत्मनिर्भर और गतिशील अर्थ-व्यवस्थाओं की स्थापना अधिकांशतया इन देशों द्वारा अपने निर्मित माल के निर्यात पर निर्भर करती है।

समस्त परिस्थितियों में ऐसे निर्यातों के विस्तार के समक्ष जबर्दस्त कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन इन कठिनाइयों में विकसित देशों की अपने उत्पादन को संरक्षण देने की नीतियों के कारण वृद्धि हुई है।

जिस जिन्स को तैयार करने में जितने अधिक सुधार की आवश्यकता होती है, उसके ऊपर उतना ही तट-कर लगाया जाता है। अर्द्ध-तैयार माल के सम्बन्ध में भी, जो आरम्भ में कम-विकसित देशों को निर्यात के लिए केवल प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन से दूर हटने की आसान सम्भावना प्रस्तुत करेगा, तट-कर एक ऐसी बाधा खड़ी कर देते हैं जो अक्सर अलंघ्य हो जाती है। यदि प्राथमिक वस्तुओं को शुल्क से मुक्त कर दिया जाता है तो अर्द्ध-तैयार माल पर लगने वाला प्रभावी तट-कर साधारणतया कहीं ऊँचा दिखायो पड़ता है।

इन अमूर्त उदाहरणों से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो जाता है कि कम-विकसित देशों के स्वयं को विकास की कमी से मुक्ति दिलाने के प्रयासों के विरुद्ध विकसित देशों की वाणिज्य नीतियाँ प्रायः विधिवत् खड़ी हो जाती हैं। ये नीतियाँ इस स्थिति में और भी अधिक हानिप्रद हो जाती हैं, क्योंकि ये बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया के बुरे प्रभावों के साथ अपने प्रभाव को और जोड़ देती हैं।

एक विवेकपूर्ण संसार में, समानतावादी विचार को उचित स्थान देते हुए, विश्व समुदाय की यह स्वाभाविक महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिए कि वह बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया और प्रभावों में इस प्रकार हस्तक्षेप करेगा कि कम-विकसित देशों के निर्यात की प्रवृत्ति एक भिन्न और कम विनाशकारी मार्ग से आगे बढ़।

वस्तुतः कोई विकसित देश—और न ही कोई ऐसा कम-विकसित देश जो आयोजन के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है—बाजार की शक्तियों को अपने देशों के भीतर इस प्रकार विकसित होने देने को तयार नहीं है, जिनके परिणामस्वरूप बड़े क्षत्र विकास की कमी से ग्रस्त रहें और कुछ परिस्थितियों में और गरीब हो जायें। यह जान-बूझकर ऐसी नीतियाँ निर्धारित करने की तो बात भी नहीं सोच सकता जो बाजार की शक्तियों के बुरे प्रभावों को और मजबूत बनायेंगी।

विकसित देश आज आंशिक रूप से इस कारण से विकसित और राजनीतिक दृष्टि से मजबूत हैं, क्योंकि, अपने हाल के समस्त इतिहास के दौरान, उन्होंने बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया है और ऐसी नीतियाँ बनायी हैं, जो इन शक्तियों के बुरे प्रभावों का प्रतिरोध करती हैं और उनमें सुधार करती हैं।

अब क्योंकि दूसरे महायुद्ध के बाद कम-विकसित देशों के विकास की समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ, अतः समस्त देशों के प्रगतिशील

अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने इस विचार क्रम पर ज़ोर दिया है। एक बार मैंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में सुधार करने की माँग के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया था कि 'वाणिज्य नीति में नैतिकता के दोहरे मानक' को अपनाने की आवश्यकता है—और कम-से-कम एक बार यह दोहरा मानक कमजोर देशों के हित को ध्यान में रखते हुए अपनाया जाना चाहिए, शक्तिशाली देशों के हित को ध्यान में रखते हुए नहीं, जैसाकि उस संसार में होता रहा है, जहाँ शक्ति के बल पर शासन होता है, नैतिक मान्यताओं के आधार पर नहीं।[15]

जैसाकि एक बार भारत के एक अधिकारी ने कहा था : "केवल समान लोगों के बीच ही व्यवहार में समानता न्यायोचित है।" कम-विकसित देश अपनी अर्थव्यवस्था, विशेषकर अपने विकसित होने वाले नये उद्योगों की रक्षा करने से दूर नहीं रह सकते, यद्यपि हम यह कामना करेंगे कि वे इस संरक्षण की बेहतर योजना बनाने में विदेशी मुद्रा की आवश्यकताओं से अधिक मुक्त रहेंगे और संरक्षण देने की अधिक योग्यता प्रदर्शित करेंगे।

अब क्योंकि इन देशों को वह पूरी विदेशी मुद्रा खर्च करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जो यह प्राप्त कर सकते हैं—निर्यात से प्राप्त आय, विदेशी ऋण और वित्तीय सहायता—ताकि आयात को उच्चतम स्तर पर कायम रखा जा सके, अतः इनके आयात सम्बन्धी प्रतिबन्ध अपनी महत्त्वपूर्ण माँगों में केवल परिवर्तन-भर कर सकते हैं अर्थात् ये ऐसे माल के स्थान पर जो कम महत्त्वपूर्ण समझा जाता हो, अधिक महत्त्वपूर्ण माल का आयात करेंगे।

इन्हें चाहे कैसा भी स्वरूप क्यों न दिया जाये, इन प्रतिबन्धों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी नहीं होगी। और कम-विकसित देशों के आयात विकसित देशों के कुल उत्पादन की तुलना में बहुत कम होने के कारण आयात में इस परिवर्तन का विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर किन्हीं भी परिस्थितियों में बुरा असर नहीं पड़ेगा।

इसके विपरीत विकसित देशों को कम-विकसित देशों से आयात करने के लिए अपनी सीमाओं को एकतरफा निर्णय द्वारा खोल देना चाहिए। इतना ही नहीं, इन्हें कम-विकसित देशों से अधिक आयात करने को प्रोत्साहन देने के तरीके भी ढूँढ़ निकालने चाहिए।

अनेक दशकों की अवधि में बाजार की शक्तियों की निर्बाध प्रक्रिया के परिणामस्वरूप इन देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समस्त ढाँचा इस प्रकार जर्जर और 'असन्तुलित' हो गया है कि इससे कम कोई भी कार्रवाई वस्तुतः तर्कसंगत नहीं होगी। बाजार की शक्तियों के इस निर्बाध कार्य में विकसित देशों की संकीर्ण स्वार्थपूर्ण नीतियों से भी सहायता मिली थी।

मैं इस बात का एक बार फिर ज़ोर देकर उल्लेख करना चाहता हूँ कि जब सब विकसित देशों को अपने देश के भीतर ही कम-विकसित क्षेत्रों की समस्या का सामना करना पड़ा तो उन्होंने यही आन्तरिक नीतियाँ अपनायीं। जो विकसित देश स्वदेश में राष्ट्रीय एकता और आर्थिक प्रगति की दृष्टि से सर्वाधिक सफल सिद्ध हुए हैं, वे वही देश हैं, जिन्होंने समानतावादी सुधारों को अत्यधिक उत्साह और कड़ाई से लागू किया।

संयुक्त राज्य अमरीका उस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है कि स्वयं

अपनी सीमाओं के भीतर विकसित देश बहुत लम्बे अरसे से कम वेहतर स्थिति वाले क्षेत्रों और लोगों के समूह के हितों की रक्षा के लिए बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करते रहे हैं। पर यह सच है कि प्रवासियों और उनकी सन्तान द्वारा निर्मित एक राष्ट्र के रूप में, जिसमें अधिकांश संख्या यूरोपीय जाति के लोगों की है लेकिन पूरी आवादी इन जातियों की नहीं है और नीग्रो जाति की दासता की पृष्ठभूमि के कारण समृद्ध अमरीकियों का एक बड़ा हिस्सा अपने मध्य अत्यधिक गरीव लोगों के बड़े समूह को देखने का आदी हो गया है और उन्हें गरीवी तथा वेरोजगारी के संकट से मुक्ति दिलाने के लिए कोई प्रभावशाली उपाय न करने का भी वह आदी हो चुका है।

जैसाकि मैंने भूमिका में कहा है कि स्वदेश में संयुक्त राज्य अमरीका के सामने एक ऐसी समस्या मौजूद है जो अनेक दृष्टियों से कम-विकसित देशों के विकास की समस्याओं जैसी ही है। एक हितकारी राज्य के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका अभी भी अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ है।

इसकी शहरी समस्या और गाँवों की गन्दी बस्तियों की ऐसी ही समानान्तर समस्या का समाधान करने में समय लगेगा। इस पर इतना अधिक धन व्यय करना होगा, जिसे कुछ अमरीकी ही यथार्थ रूप से समझते हैं। कहने का अभिप्राय है कि संयुक्त राज्य अमरीका के समृद्ध नागरिकों के ऊपर 'गरीब लोगों का ऋण' लदा हुआ है, जिसे उन्हें राष्ट्रीय एकता को सुरक्षित रखने और उसमें सुधार करने के लिए चुकाना होगा। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि इस कारण से अमरीका की राष्ट्रीय सम्पदा और आय के समस्त आँकड़े अयथार्थ और बढ़ा-चढ़ा कर दर्शाये गये आँकड़े बन जाते हैं।

लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका में लोगों के विचारों और सार्वजनिक नीतियों—दोनों की दृष्टि से लम्बी अवधि का दिशा-परिवर्तन अनिवार्य है। यह परिवर्तन वैसा ही है, जैसा उन अन्य विकसित देशों में हुआ, जो हितकारी राज्यों के रूप में अधिक आगे बढ़े हुए हैं और जिन्हें कम गम्भीर समस्याओं को हल करना पड़ा और जिन्होंने इन्हें केवल हल ही नहीं किया वल्कि इससे भी आगे बढ़ गये। अतः संयुक्त राज्य अमरीका उस सामान्य नियम का अपवाद नहीं है, जिसका मैंने उल्लेख किया है।

अब इन आन्तरिक नीतियों को केवल पिछड़े हुए क्षेत्रों के लम्बी अवधि के हितों में ही नहीं, वल्कि सर्वाधिक विकसित क्षेत्रों के लम्बी अवधि के हित में देखा जा सकता है। वहाँ निःसन्देह पर्याप्त सीमा तक 'हितों का सामंजस्य' मौजूद है। लेकिन इस 'सामंजस्य का निर्माण' किया गया, इस कार्य में बाजार की शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं होने दिया गया और इन्हें सामान्य हितों के अनुरूप नियमित और प्रतिबन्धित किया गया। इस कारंवाई के अन्तर्गत पिछड़े हुए क्षेत्रों और लोगों के समूहों को संरक्षण देना और उन्हें उन्नति के मार्ग पर आगे वढ़ाना शामिल था।[16]

यह एक विरोधाभास है कि विकसित देशों में इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो नीतियाँ अंगीकार की गयीं, उन्हें अक्सर इस तरीके से बनाया गया कि राष्ट्रीय समानता की स्थापना का प्रयास कम-विकसित देशों के निर्यात की सम्भावनाओं को कम करने के द्वारा किया गया। स्थिति चाहे कुछ भी हो, हाल

तक विकसित देशों के नीति सम्बन्धी विचार-विमर्श में मुश्किल से ही इस बात पर गौर किया गया कि कम-विकसित देशों के बारे में भी वैसी ही नीतियाँ अपनायी जानी चाहिए जैसी स्वदेश में पिछड़े हुए इलाकों की उन्नति के लिए अपनायी गयी थीं।

हितकारी राज्य राष्ट्रवादी होता है,[17] वस्तुतः यह अबन्ध व्यापार की किस्म के राज्य से अधिक राष्ट्रवादी होगा। निहित स्वार्थों की विशाल शक्तियों का, जो अक्सर नागरिकों के विभिन्न स्तरों पर व्यापक रूप से फैली हुई हैं, इस प्रकार निर्माण हुआ है कि इन्हें ऐसी नीतियों को समाप्त करने के विरुद्ध संगठित किया जा सकता है, जो कम-विकसित देशों को हानि पहुँचाती हैं। इस मामले में, 'पूंजी-पतियों' को दोष देना गलत है, जैसाकि कुछ अज्ञानी आमूल परिवर्तनवादी लोग करते हैं। इस सम्बन्ध में जनता प्रतिक्रियावादी है।

अनेक वर्षों में संयुक्त राज्य अमरीका में जनमत का पता लगाने के लिए जो सैकड़ों अभियान चलाये गये, उनसे यह तथ्य प्रमाणित हुआ कि, व्यापक दृष्टि से, गरीब लोग अधिक प्रतिक्रियावादी होते हैं। मैकार्थीवाद एक लोकप्रिय आन्दोलन था। सन् 1968 के राष्ट्रपति चुनाव में वालेस के लिए उच्च वर्गों के लोगों ने मतदान नहीं किया। संयुक्त राज्य अमरीका में निचले वर्गों के एकीकरण की कमी, संगठनों की बड़ी आधार वाली सन्तुलित संस्थागत आधार व्यवस्था का अभाव और प्रभावशाली रूप से जनता द्वारा नीति निर्धारण में हिस्सा न लेना इस बात का परिणाम है।[18]

चाहे अन्य विकसित देशों में ऐसी स्थिति नाममात्र को हो अथवा बिल्कुल न हो, लेकिन शेष संसार और विशेषकर कम-विकसित देशों के प्रति अपनी भावनाओं में ये देश अक्सर इसी प्रकार अदूरदर्शिता पर आधारित स्वार्थपूर्ण प्रतिक्रिया दिखाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय एकता का आधार या तो मौजूद ही नहीं है अथवा बेहद कमजोर है, विशषकर उस स्थिति में जब उन बातों का त्याग करने की बात आती है, जिन्हें लोग व्यापार से मिलने वाले लाभ समझते हैं। चाहे ये लाभ बहुत मामूली और कुछ समय के लिए ही प्राप्त होने वाले लाभ क्यों न हों।

विकसित देशों में ऐसी नीतियों की समाप्ति, जो कम-विकसित देशों के लिए हानिकारक हैं और इससे भी अधिक ऐसी नीतियों को अपनाना जो उन्हें सकारात्मक ढंग से सहायता पहुँचायेंगी, इस मान्यता पर आधारित हैं कि विकसित देशों के लोग किसी-न-किसी सीमा तक एक हितकारी संसार की संकल्पना को स्वीकार करते हैं। जब कभी कम-विकसित देशों को उनके विकास के प्रयासों में सहायता देने के लिए कुछ करने की बात आती है, वहाँ ऐसी कारंवाई करना उचित होगा।

विकसित देशों के लोगों को अपने राष्ट्रीय अनुभव से यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि लम्बी अवधि की दृष्टि से यह कार्य बहुत मामूली या बिना किसी बलिदान के किया जा सकता है। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी 'निर्मित सामंजस्य' की सम्भावना को देखने का तरीका सीखना चाहिए अथवा कम-से-कम निकट भविष्य में ऐसे 'निर्मित सामंजस्य' के निर्माण के प्रति कारंवाई करने के लिए तैयार होना चाहिए।

इस कल्पना पर जोर देने की आवश्यकता है, जो अभी तक अपूर्ण अन्तर-

राष्ट्रीय यथार्थ से बहुत दूर है। विकसित देशों में जनता के मध्य यह विचार फैलाये बिना उन वाणिज्य नीतियों को बनाये रखने के विरुद्ध कार्रवाई करना सम्भव नहीं होगा जो व्यापक निहित स्वार्थों पर आधारित हैं, लेकिन जो कम-विकसित देशों के निर्यात हितों के विपरीत जाती हैं। जब तक इस विचार का प्रसार नहीं होता, लोगों को केवल तट-कर और व्यापार के मार्ग में आने वाली अन्य बाधाओं को समाप्त करने के लिए ही तैयार करना मुश्किल न होगा, बल्कि कम-विकसित देशों से होने वाले निर्यात को बढ़ाने में सकारात्मक रूप से सहायक कार्रवाई करने के लिए भी तैयार करना मुश्किल होगा।

विकसित देशों के लोगों को कम-विकसित देशों से अपने सम्बन्धों में उसी प्रकार की विवेकपूर्ण उदारता अनुभव करने के लिए तैयार किया जाना चाहिए, जो आन्तरिक सम्बन्धों में धीरे-धीरे विकसित हुई थी।

संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य विकसित देशों को अपने वस्त्र उद्योग को तट-कर और अन्य उपायों से संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं है। कम-विकसित देशों के निर्यातों के विरुद्ध यह व्यवस्था करने की ज़रूरत नहीं है। ऐसा न करने के कारण उन्हें स्वदेश में कुछ अस्थायी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, लेकिन ये देश इतने साधनसम्पन्न और धनी हैं कि अधिक कठिनाइयों के बिना ही इन समस्याओं का समाधान निकाल सकते हैं।

ऐसी ही समस्याएँ आर्थिक और टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण भी निरन्तर उत्पन्न हो रही हैं और इनका सामना सामान्य नीति सम्बन्धी उपायों के द्वारा किया जाता है। हाल के वर्षों में तट-कर में कमी करने के जो प्रयास किये गये और जिनकी परिणति तथाकथित कैनेडी राउंड में हुई, उनके अन्तर्गत लम्बी अवधि के लाभ उठाने की दृष्टि से व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं को जानबूझकर उठाया गया। पर कुछ अपवादों को छोड़कर, इन प्रयासों का सम्बन्ध केवल विकसित देशों के बीच व्यापार से ही रहा।

एक सामान्य नियम के रूप में, कम-विकसित देशों से होने वाले आयात पर विकसित देशों में लगे प्रतिबन्धों को कम करना वस्तुतः विकसित देशों के लम्बी अवधि के हित में होना चाहिए। जिन उद्योगों में विकसित देश होड़ कर सकते हैं—अर्थात् साधनों पर आधारित और श्रमसघन उद्योग—वे साधारणतया ऐसे उद्योग नहीं होते, जिन्हें अपने देश में बढ़ाना अथवा यहाँ तक कि कायम रखना भी विकसित देशों के हित में हो। विकसित देशों में ये अक्सर कम वेतन देने वाले उद्योग होते हैं। विकसित देशों में विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत आयोजन का नियमित परिणाम, अपने अल्प श्रम साधनों को उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में लगाने की दिशा में होना चाहिए, इन साधनों को कम वेतन देने वाले उद्योगों के साथ नहीं बाँध देना चाहिए।

स्वीडन जैसे देश में, जहाँ प्रबुद्ध मजदूर संघ आन्दोलन की परम्परा है और अब जिसके अन्तर्गत प्रायः समस्त श्रम शक्ति आ गयी है, इस नीति को कम वेतन देने वाले उद्योगों के श्रमिकों के संघों के प्रतिनिधि भी स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, कपड़ा उद्योग को उच्च कोटि का वस्त्र बनाने की दृष्टि से अपने उत्पादन में आमूल परिवर्तन करने और उत्पादन को इस दिशा में प्रवृत्त करने के लिए बाध्य किया गया है। यही ऐसा माल है, जिसके सम्बन्ध में यह

उद्योग अभी भी सफलतापूर्वक होड़ कर सकता है। इस बीच, कपड़ा कारखानों के श्रमिकों की संख्या में, 1950 से 1968 के बीच की अवधि में, लगभग 50 प्रतिशत की कमी हुई।

विकसित देश अपने विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन की चिन्ता की बात को नियमित रूप से एक ऐसे कारण के रूप में पेश करते हैं और यह कहते हैं कि इस कमी के कारण वे तट-कर में कमी करने और आयात सम्बन्धी अन्य प्रतिबन्ध हटाने के लिए तैयार नहीं हैं, जो इस समय कम-विकसित देशों के निर्यात के प्रयासों के मार्ग में बाधक बने हुए हैं। वित्तीय सहायता में वृद्धि न करने का भी यही कारण बताया जाता है और सहायता देने वाले देश से निर्यात के साथ सहायता को जोड़ देने की आवश्यकता का भी यही कारण बताया जाता है (देखिए अध्याय 11)।

यह सच है कि अनेक विकसित देश भुगतान सन्तुलन की अत्यधिक और गम्भीर कठिनाइयों में फँसे हुए हैं—इन देशों में संयुक्त राज्य अमरीका भी शामिल है—और अधिकांश विकसित देश यह खतरा अनुभव करते हैं कि वे भी इन कठिनाइयों में फँस सकते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में अपने विचारों को विस्तार से प्रतिपादित किये बिना मैं सबसे पहले यह कहना चाहूँगा कि विकसित देशों की भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयाँ ऐसी हैं, जो उन्होंने स्वयं अपने लिए उत्पन्न की हैं।

ये कठिनाइयाँ उनकी आन्तरिक और बाह्य नीतियों की अपर्याप्तता का परिणाम हैं। निजी और सार्वजनिक खपत को—संयुक्त राज्य अमरीका के मामले में हथियारों पर अत्यधिक ऊँचा व्यय और विएतनाम युद्ध, चन्द्रमा पर पहुँचने के लिए की जाने वाली उड़ानें आदि भी शामिल हैं—बढ़ने दिया जाता है और देश इसके अनुरूप कराधान में वृद्धि नहीं करता। इसका परिणाम मुद्रा-स्फीति होता है।

दामों में मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति—अथवा भविष्य में दाम बढ़ने की सम्भावना—अनेक विकसित देशों में समान नहीं है, अतः इसका परिणाम कुछ देशों के लिए विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन की कठिनाई है और यह खतरा दिखायी पड़ता है कि निकट भविष्य में प्रायः सब देशों के समक्ष ऐसी ही कठिनाई सामने आ सकती है। इतना ही नहीं, विकसित देशों ने उस सीमा तक अपने मुद्रा सम्बन्धी सहयोग को पूर्ण नहीं बनाया है कि इस कठिनाई के बावजूद वे विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन को कायम रख सकें।

यदि विदेशी मुद्रा के भुगतान की कठिनाइयों के कारण को हम फिलहाल छोड़ दें अथवा निकट भविष्य में ऐसी कठिनाइयों की आशंका की बात को नज़रअन्दाज़ कर दें, तो भी वस्तुतः एक ऐसी विचित्र स्थिति हमारे सामने आती है कि समृद्ध और विकसित देश विदेशी मुद्रा के कारणों से अपने-आपको ऐसी स्थिति में पाते हैं कि वे कम-विकसित देशों से होने वाले निर्यातों की सहायता के लिए मामूली से मामूली कार्रवाई न कर सकें—और कम-विकसित

देशों को अपनी सहायता में जरा-सी भी वृद्धि करने में स्वयं को असहाय अनुभव करने लगें और जो वे थोड़ी बहुत सहायता देते हैं उसे स्वयं अपने देशों के निर्यात से बाँधने की प्रेरणा अनुभव करने लगें।

लेकिन ये देश ऐसी ही सतर्कताएँ उन अन्य नीतियों के बारे में नहीं बरतते जो उनके भुगतान सन्तुलन के लिए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जब मैंने मुद्रा-स्फीति को रोकने की उनकी प्रमाणित अक्षमता की ओर संकेत किया, तब इन नीतियों का भी उल्लेख किया गया। हथियारों पर किया जाने वाला खर्च इसका एक उदाहरण है, जो संयुक्त राज्य अमरीका में इतनी मात्रा में बढ़ गया है कि वह एक सामान्य व्यक्ति के लिए कल्पनातीत है।

यह तथ्य कि विकसित देश कम-विकसित देशों के निर्यात के मार्ग में आने वाली बाधाओं को समाप्त न करने का कारण विदेशी मुद्रा की कठिनाई बताते हैं, एक ऐसा तथ्य है जो यह दर्शाता है कि वे अपने राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी लक्ष्यों में कम-विकसित देशों को विकास करने में सहायता देने की बात को कितनी नीची प्राथमिकता देते हैं।

अन्य सब महत्त्वपूर्ण नीति सम्बन्धी विकल्पों की तरह, यह बुनियादी तौर पर नैतिकता का प्रश्न है। सरकारों और अधिकारियों को दोष नहीं दिया जाना चाहिए। उन्हें केवल उस स्थिति में अलोकप्रिय नीति को अधिक शक्तिशाली तरीके से पेश करने का उत्तरदायित्व निभाना चाहिए जब यह नीति विवेक द्वारा प्रेरित हो। ये लोग अपने देशवासियों की इच्छाओं के अनुरूप काम करते हैं, जो पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। जैसाकि मैंने कहा है—इस मामले से निहित स्वार्थों का गहरा सम्बन्ध है। ये स्वार्थ बहुत मामूली हैं, लेकिन ये जनता में व्यापक रूप में फैले हुए हैं।

6. संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की असफलता

नयी दिल्ली में 1968 की वसन्त ऋतु में संयुक्त राष्ट्र के विकास और व्यापार सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन प्रायः पूरी तरह से असफल रहा।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के विख्यात महासचिव राउल प्रिविश ने अधिवेशन सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया कि कमी 'पर्याप्त राजनीतिक संकल्प' की है। राउल प्रिविश ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा :

"महान् लक्ष्य को पूरा नहीं किया जा सका। सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन बहुत सीमित सकारात्मक परिणाम प्राप्त करने में सफल रहा, जो विकास की समस्या की विशालता और तात्कालिक महत्त्व के अनुरूप नहीं है।"[19]

उन्होंने बड़ी कटुता से आगे कहा :

"ऐसा लगता है कि लोगों और राष्ट्रों की समृद्धि दूसरे लोगों की भलाई के प्रति यदि पूर्ण उदासीनता की नहीं, तो कम-से-कम अलगाव का भाव अवश्य पैदा करती है······कुछ अपवादों को छोड़कर विकसित देश विकास की समस्या को एक ऐसी महत्त्वहीन समस्या समझते हैं जिसका समाधान कुछ टुकड़ों में साहसपूर्ण और कृतसंकल्प कार्रवाई के बिना कुछ मामूली और अपर्याप्त उपायों से किया जा सकता है। केवल विकसित देशों के कुछ ही क्षेत्रों में इस बात के गम्भीर आर्थिक और राजनीतिक परिणामों को दूरदर्शितापूर्वक समझा जा

रहा है, जो तीसरी दुनिया को आर्थिक संकट में पड़े रहने देने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं।"

उन्होंने कहा कि "सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन की यही वास्तविक पृष्ठभूमि है।"[20] विकसित देशों ने अपनी स्थिति में थोड़ा बहुत परिवर्तन करने और सामंजस्य लाने के लिए कुछ छोटे और हिचकिचाहट भरे कदम उठाये, लेकिन स्वयं को किसी विशेष बात के प्रति प्रतिवद्ध नहीं किया। लेकिन अब यह कार्य भी अत्यधिक धीमी गति से हो रहा है।[21]

कम-विकसित देशों ने सम्मेलन के समक्ष दूरगामी माँग पेश नहीं की। अधिकांशतया इस बात का स्पष्टीकरण, और सम्भवतः राजनीतिक औचित्य भी, इस जानकारी के आधार पर दिया जा सकता है कि विकसित देश अधिक समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे और उनके हाथ में पूरी ताकत थी। जब ठोस मसलों पर विचार हुआ तब स्वयं कम-विकसित देशों के बीच अपने हितों की दृष्टि से फूट दिखायी पड़ी, जिसके परिणामस्वरूप उनके दबाव की शक्ति पर्याप्त कम हो गयी।

एक बात तो यह थी कि कम-विकसित देश स्वयं अपने बीच व्यापार बढ़ाना चाहते थे। अनेक क्षेत्रों में यह भावना दिखायी पड़ रही थी। अधिकांशतया यह उनकी अपनी जिम्मेदारी है। लेकिन यह महत्त्वपूर्ण है कि विकसित देश इस काम में अपना समर्थन दें और किसी भी स्थिति में अपनी सत्ता का उपयोग कम-विकसित देशों के बीच क्षेत्रीय एकता और सहयोग के मार्ग में बाधा डालने के लिए न करें।

सन् 1950 के बाद के वर्षों तक मैं स्वयं अपने सूक्ष्म प्रेक्षणों के आधार पर यह कह सकता हूँ कि क्षेत्रीय आयोगों में क्या हुआ है। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन ने व्यापार के क्षेत्र में सहयोग बढ़ाने के लिए इन संगठनों के उपयोग का बड़ी कड़ाई से विरोध किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि यह बात बहूद्देशीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के विपरीत होगी। मोटे तौर पर अन्य विकसित देशों ने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी और तटस्थ रहे।

लगभग पिछले दशक में इसमें परिवर्तन हुआ है। लेटिन अमरीका में जहाँ क्षेत्रीय एकता की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रयास शुरू किये गये, क्षेत्र के भीतर व्यापार सम्बन्धी बाधाओं को समाप्त करना विदेशी, अधिकांशतया अमरीकी, कम्पनियों के हित में देखा गया। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि यह विदेशी समर्थन लेटिन अमरीका के सभी देशों में इस विचार के प्रति स्थानीय उत्साह को कम करने का कारण बना।

सामान्यतया क्षेत्रीय एकता और सहयोग कम-विकसित देशों के विकास के लिए निश्चय ही सहायक होगा।[22] इन देशों को एक 'साझा बाजार' की पश्चिम यूरोप के विकसित देशों की तुलना में कहीं अधिक आवश्यकता है। लेकिन कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं। इन क्षेत्रों में गहरी राष्ट्रीय शत्रुताएँ मौजूद होने के कारण एकता के लिए उचित राजनीतिक वातावरण के मार्ग में भी कठिनाइयाँ आयेंगी। इसके अलावा तकनीक सम्बन्धी विशेष कठिनाइयाँ भी मौजूद हैं।

इस प्रकार किसी क्षेत्र में बड़े और उद्योगों में अधिक उन्नत देशों को छोटे और कम-विकसित देशों के ऊपर छा जाने से रोकने की आवश्यकता है।

अन्यथा ये देश इन प्रयासों में शामिल नहीं होंगे। अतः सीमा शुल्क सम्बन्धी किसी संघ की स्थापना अथवा स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र पर्याप्त नहीं होगा।

पारस्परिक सहयोग में हिस्सा लेने वाले देशों के बीच व्यापार सम्बन्धी बाधाओं को समाप्त करने के अलावा कम-विकसित क्षेत्रों में यह निश्चय करने के लिए संयुक्त आयोजन की आवश्यकता है कि किन देशों को किन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। सब कम-विकसित देशों में राष्ट्रीय आयोजन में गम्भीर खामियाँ हैं। इसके अलावा अनेक देशों में आयोजन की प्रक्रिया समान रूप से विकसित नहीं हुई है और यह बात किसी क्षेत्र में व्यापार में सहयोग बढ़ाने के मार्ग में बहुत अधिक बाधा डालती है।

क्षेत्रीय सहयोग का लक्ष्य अब विवादास्पद विषय नहीं रह गया है और विकसित देश सामान्य रूप से इसके लिए अपना समर्थन देने का वचन दे सकते हैं।[23] इन देशों ने अपने ऊपर कोई विशेष दायित्व लेने से इनकार किया है। केवल इसी बात पर सहमति हुई कि इस समस्या पर संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के अधीन विचार किया जाना चाहिए। सम्भवतः किसी विशेष समिति द्वारा यह कार्य किया जाना चाहिए।

जहाँ तक 'वित्तीय साधनों' के हस्तान्तरण का प्रश्न है, विकसित देशों ने सहायता के लक्ष्य को लगभग 25 प्रतिशत तक बढ़ाने पर अपनी सहमति दी। यह लक्ष्य राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत निर्धारित किया गया था।[24] इसके अलावा इस लक्ष्य को राष्ट्रीय आय के स्थान पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन से जोड़ दिया गया। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए किसी विशेष वर्ष के निर्धारण पर सहमति नहीं हो सकी। सम्मेलन की पूरी अवधि में इसे 'सहायता' के नाम से पुकारा जाता रहा। मैं अगले अध्याय में इस प्रकार की गणना की समालोचना प्रस्तुत करूँगा।

जहाँ तक सार्वजनिक सहायता का सम्बन्ध है, अनुदान की राशि में वृद्धि करने और ब्याज की दरों, ऋण के परिशोधन की अवधि और इस अवधि में वृद्धि में सुधार करने तथा सहायता को सहायता देने वाले देश के निर्यात के साथ कम सम्बद्ध करने पर सामान्य सहानुभूति प्रकट की गयी।[25] पर कोई निश्चित वचन नहीं दिये गये और प्रवृत्ति निरन्तर विपरीत दिशा में दिखायी पड़ रही है। (देखिए अध्याय-11)

विकसित देश सामान्य शब्दावली में यह स्वीकार करने को तैयार थे कि कम-विकसित देशों की विकास योजनाओं में निर्यात में लक्ष्य से कम उपलब्धि के प्रभावों को समाप्त करने के लिए पूरक और मुआवजे के रूप में वित्तीय सहायता की आवश्यकता है।[26] पर कोई निश्चित वचन नहीं दिया गया। यह अनुरोध कि विकसित देशों या अन्तर-सरकार संगठनों को प्रत्यारोधक भंडार (बफर स्टॉक) बनाने के लिए पहले धन लगाने के वास्ते वित्तीय साधन उपलब्ध कराने चाहिए, स्वीकार नहीं किया गया।

यह विचार भी स्वीकार नहीं किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के भीतर विशेष आग्रहण के जो अधिकार देने पर सहमति हो रही है, उसका उपयोग कम-विकसित देशों को और अधिक धन उपलब्ध कराने के लिए किया जाना चाहिए।[27]

मुद्रा प्रणाली में सुधार मुख्यतया विकसित देशों की चिन्ता का विषय है, जो

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्बन्धों पर छाये हुए हैं। कम-विकसित देशों की वित्तीय समस्या एकदम भिन्न है। किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत इन देशों को विदेशी मुद्रा की कमी रहेगी।

मुद्रा सम्बन्धी सुधार की अनेक योजनाओं में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त इस विचार को मैंने व्यक्तिगत रूप से काफी लम्बे अरसे से एकदम भ्रान्तिजनक बताया है कि इस अवसर का उपयोग कम-विकसित देशों के पूंजी सम्बन्धी साधनों को बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए।[28] मुद्रा सम्बन्धी सुधार को स्वीकार करने की आड़ में कम-विकसित देशों को अधिक वित्तीय सहायता पहुँचाना एक ऐसा बहाना है, जिसे विकसित देश कभी स्वीकार नहीं करेंगे। वित्तीय सहायता के लिए प्रकट रूप से संघर्ष करना होगा और इसी रूप में इस पर सहमति प्राप्त करनी होगी। अब यह बात पुष्ट हो चुकी है यद्यपि साथ ही वित्तीय सहायता में वृद्धि के अत्यधिक अस्पष्ट वचन ही दिये गये हैं।

सम्भवतः यह उल्लेखनीय है कि विकसित देशों द्वारा मुद्रा प्रणाली को नियमित बनाना कम-विकसित देशों के हित में है। मुद्रा प्रणाली का नियमन मुख्यतया विकसित देशों का अपना मामला है। इस सुधार से अपनी सहायता की राशि को निचले स्तर पर रखने का एक कारण समाप्त हो जायेगा जो विकसित देशों में प्रमुख रूप से सामने रहता है : विदेशी मुद्रा की अपनी कठिनाइयों का सामान्य बहाना।

सम्मेलन में जिन्स करारों के प्रश्न ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। युद्ध के बाद की अवधि में इसका प्रभाव बड़ा अनुत्साहित करने वाला रहा। बहुत कम करार हो पाये हैं। अक्सर ये करार टूट गये हैं।

इस क्षेत्र में कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं। इसके मूल में दृष्टिकोण का बुनियादी अन्तर है। कम-विकसित देश वास्तव में 'उचित दाम' चाहते हैं अर्थात् वे 'बेहतर दाम' चाहते हैं, जबकि विकसित देश अधिक-से-अधिक दामों को किसी खास स्तर पर स्थिर करना ही अधिक से अधिक स्वीकार कर सकते हैं।

ये देश बाजारों की असंगठित स्थिति का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें किसी खास जिन्स की आवश्यकता से अधिक सप्लाई होती है और इसके परिणाम-स्वरूप दाम घटने लगते हैं। इस बात की और अधिक सम्भावना मौजूद रहती है, क्योंकि उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाने के करार कर पाना बड़ा कठिन है और इन करारों को लागू करना और भी कठिन है।

कम-विकसित देशों के मध्य अक्सर संयुक्त मोर्चा नहीं बनाया जा सकता और इसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि कुछ देश आयातक हैं और कुछ देश निर्यातक। कम-विकसित देशों के लिए महत्त्वपूर्ण अनेक जिन्सों के सम्बन्ध में, विकसित देश भी निर्यातक का काम करते हैं और कभी-कभी तो वे ही मुख्य निर्यातक होते हैं।

इस उदाहरण के द्वारा मैं केवल उन कुछ कठिनाइयों की ओर संकेत भर कर रहा हूँ जो जिन्स के दामों को नियमित करने के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के मार्ग में आती हैं। इस सम्बन्ध में सम्मेलन का परिणाम उससे मुश्किल से ही भिन्न हो सकता था, जो निकला। सम्मेलन ने अनेक जिन्सों के लिए अध्ययन, परामर्श और विचार करने की व्यवस्था की।[29] इस बात की पूरी सम्भावना दिखायी पड़ती है

कि जिन्स करारों के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गये, वे निरर्थक सिद्ध होंगे।

जहाँ तक जहाजरानी का सम्बन्ध है, सम्मेलन ने इस बात की पुष्टि की कि इसके दो सम्मेलनों के बीच की अवधि में इस सम्बन्ध में कुछ प्रगति हुई है। कम-विकसित देशों को अधिक महत्त्व दिया गया है अथवा इन्हें यह देखने का अधिक अवसर दिया गया है कि इस अत्यधिक नियमित उद्योग में माल की ढुलाई की दरों और अन्य बातों के बारे में क्या हो रहा है।[30]

वस्तुतः जहाजरानी पर विकसित देशों का व्यापक प्रभाव है। लेकिन इन देशों ने कम-विकसित देशों को अपने बन्दरगाहों और अपनी जहाजरानी, बीमा व्यवसाय आदि के विकास के लिए साधारण और ऐसे वचन दिये जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। वस्तुतः वास्तविक बुनियादी समस्या यह है कि विकसित देशों में कम-विकसित देशों के निर्यात के लिए बाजारों को खोल दिया जाये। कृषि के सम्बन्ध में कम-विकसित देशों ने संरक्षण व्यवस्था को अधिक व्यापक रूप से कम करने पर और जोर नहीं दिया, बल्कि यह माँग की कि माँग में जो वृद्धि होती है उसका एक हिस्सा इन देशों के लिए निर्धारित होना चाहिए।

यह बहुत बड़ा प्रत्यावर्तन था। इसके बावजूद उन्हें जो एकमात्र रियायत मिली वह विकसित देशों का यह वचन था :

"जहाँ तक सम्भव होगा प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करने वाले देशों को अपने बाजारों में अधिक अच्छी परिस्थितियाँ उपलब्ध कराने के लिए कार्रवाई करेंगे। वे इस सम्बन्ध में विकासशील देशों के हितों को विशेष रूप से ध्यान में रखेंगे और प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करने वाले देशों को उद्योगों में उन्नत देशों के बाजारों की उन्नति का लाभ उठाने की अनुमति देंगे।"[31]

यह निश्चय ही एक ऐसे करार का विशिष्ट उदाहरण है, जिसे लागू करने की कोई सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती और जिसमें किसी भी प्रकार का वचन नहीं दिया जाता। यह दुर्भाग्य का विषय है कि अन्तर-सरकार संगठनों में शामिल सरकारें जब यह छिपाना चाहती हैं कि उन्हें किसी भी काम में सफलता नहीं मिली है, तो ऐसी ही शब्दावली का सहारा लिया जाता है।

जहाँ तक तयार और अर्द्ध-तैयार माल का सवाल है, प्रिबिश 'एक सीमित और अपूर्ण परिणाम' की जानकारी दे सके।[32] सम्मेलन ने सिद्धान्त रूप में एक सामान्य अपारस्परिक और भेदभाव न करने वाली प्राथमिकताओं की प्रणाली के विचार को स्वीकार किया।[33] जैसाकि प्रिबिश ने ज़ोर देकर कहा है, इस वचन को पूरा करना 'सर्वोपरि' महत्त्व का होगा।

अनेक वर्षों से संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों को विशेष तरजीह देने और उनके साथ विशेष व्यवहार करने का कड़ाई से विरोध करता रहा है और स्वयं इन निर्यातों के विरुद्ध उसने खुल्लमखुल्ला भेदभाव बरता है। अब संयुक्त राज्य अमरीका ने इस सम्बन्ध में कार्रवाई करने की आवश्यकता अनुभव की है। लेकिन न तो संयुक्त राज्य अमरीका और न ही अधिकांश विकसित देश तरजीह प्रणाली के मुख्य तत्त्वों के बारे में कम-विकसित देशों से बात करने को तैयार हैं।

इसके बाद इस आशा से इस निर्णय को लागू करने का काम संयुक्त राष्ट्र के

व्यापार और विकास सम्मेलन की एक विशेष समिति को सौंपा गया कि वह 1969 से पहले अपनी अन्तिम रिपोर्ट पेश कर देगी, जिसमें कम-विकसित देशों के निर्यात को तरजीह देने की योजना के निश्चित प्रस्ताव शामिल होंगे। उस समय तक यह समिति रिपोर्ट तैयार नहीं कर सकी।

यह भी स्पष्ट है कि यदि कभी समिति यह काम करने में सफल भी होती है, विकसित देश जिस प्रस्ताव पर सहमत हो सकते हैं वह अधिक दूरगामी या उदार नहीं होगा। जो शक्तियाँ इन्हें तेज और साहसपूर्ण कार्रवाई से रोके हुए हैं, वे आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओ ई सी डी) के रूप में संगठित हैं, जो विकसित देशों के एक प्रभावशाली संगठन के रूप में काम करता है।

सम्मेलन के प्रस्तावों में पूर्व के देशों में निर्मित माल पर लगाये जाने वाले विशेष रूप से बुरे तट-कर और अन्य करों का कोई उल्लेख नहीं किया गया। ये ऐसी बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में विकसित देश यह बहाना भी नहीं बना सकते कि उन्हें इन पर अपने उत्पादन की रक्षा के लिए अधिक कर लगाना आवश्यक है।

अधिक सामान्य रूप से यही बात दूसरी समस्याओं के बारे में भी कही जा सकती है। जब किसी खास समस्या को अन्तर-सरकार संगठनों के विचार के लिए उठाया जाता है, तो इस बात का बहाना बनाया जाता है कि विचाराधीन विषय पर किसी एक विकसित देश को स्वयं अपनी ओर से विवेकपूर्ण कार्रवाई नहीं करनी चाहिए।

स्वीडन जैसे एक अपेक्षाकृत प्रबुद्ध और विकसित देश तक को—जो आर्थिक सहयोग और विकास संगठन में नीदरलैण्ड के साथ मिलकर निर्यात सम्बन्धी प्राथमिकताओं के बारे में जल्दी कार्रवाई करने और पर्याप्त रियायतें देने के लिए ज़ोर दे रहा है और जिसने स्वयं अपनी एकतरफा कार्रवाई के द्वारा आयात होने वाली कॉफ़ी के ऊपर लगने वाले कम करों को आधा कर दिया है—यह तर्क देते हुए देखा जा सकता है कि पूर्व के देशों में निर्मित वस्तुओं पर पूरी तरह से तट-कर और अन्य कर समाप्त करने के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय करार की प्रतीक्षा करनी होगी।[34]

यह वस्तुतः विचारों की भ्रान्ति है। पूरब के इस माल पर सब अथवा अधिकांश विकसित देशों द्वारा इन करों की समाप्ति से उसकी तुलना में दामों में अधिक वृद्धि होगी, यदि केवल एक देश करों को समाप्त करता है। यह कार्रवाई इस प्रकार विकसित देशों के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होगी, लेकिन सम्बन्धित विकसित देश को इन दामों में अधिक वृद्धि की कठिनाई का सामना करना होगा।

किसी समस्या पर किसी अन्तर-सरकार संगठन में विचार हो रहा है, इस बात का तर्कसंगत कारण नहीं हो सकता कि कोई एक देश इस सम्बन्ध में उचित और विवेकपूर्ण कार्रवाई करने से दूर रहे, जबकि यह तर्क दिया जाता है कि अन्य देश भी यही काम करें। इस बात में सन्देह नहीं है कि हमारे अन्तर-सरकार संगठनों में एक मिथ्या और हानिप्रद 'अन्तर राष्ट्रीयतावाद' की प्रवृत्ति स्वतः मौजूद रहती है। यह विभिन्न देशों द्वारा कार्रवाई न करने का बहाना बन जाती है।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन के

प्रस्तावों पर फिर विचार करते समय यह भी कहना आवश्यक होगा कि चारों ओर से ज़मीन से घिरे देशों के प्रति, कम-विकसित देशों में निर्धनतम देशों के प्रति जो सहानुभूति प्रकट की गयी वह विकसित देशों में व्यापार के ऐसे प्रतिबन्धात्मक तरीके अपनाने के विरुद्ध थी जो कम-विकसित देशों को हानि पहुँचाते हैं, और कम-विकसित देशों को यह सलाह देते हैं कि उन्हें किस प्रकार अपने आन्तरिक साधन जुटाने चाहिए, सहायता की राशि का इस्तेमाल करना चाहिए, आदि।

लेकिन इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के आरम्भ में प्रिबिश के जिन चिन्ताजनक निष्कर्षों का उद्धरण दिया गया है, वे भी तथ्यों से समर्थित हैं। सम्मेलन के बाद जो कुछ हुआ है, उससे यह आशंका उत्पन्न होती है कि अधिकांश विकसित देश, जिनका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमरीका कर रहा है, संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन को प्रभावहीन बना डालने के लिए कटिबद्ध हैं।

और आर्थिक सहयोग और विकास संगठन—जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'अमीर लोगों के क्लब' के रूप में काम करता है—इस विनाशकारी कार्रवाई का माध्यम बन रहा है।

लेकिन समस्याएँ अन्तर्धान नहीं होंगी। समय के गुज़रने के साथ-साथ ये और अधिक विशाल और अधिक महत्त्वपूर्ण होती जायेंगी।

●

अध्याय : 10

सहायता सम्बन्धी आँकड़ों का अवसरवादी उपयोग : 'वित्तीय प्रवाहों' का प्रश्न

1. निष्ठाहीनता और वंचना

जैसाकि हम अध्याय-9 में पहले ही कह चुके हैं, कम-विकसित देशों के प्रति विकसित देशों की वाणिज्य और वित्तीय नीतियाँ अन्य सब महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं की तरह मूलतः नैतिकता का प्रश्न हैं। सहायता सम्बन्धी अध्याय-11 में भी यही दृष्टिकोण अपनाया जायेगा। इस प्रकार मूल समस्या यह है कि विकसित देशों में लोग कम-विकसित देशों के विकास प्रयासों में सहायता देने के प्रति क्या सोचते और अनुभव करते हैं।

अन्ततः, अब तक व्यापार और सहायता सम्बन्धी नीतियों का जो विकास हुआ है और भविष्य में इन नीतियों में परिवर्तन करने की जो सम्भावना हो सकती है, वह विकसित देशों के लोगों के मन में कम-विकसित देशों के यथार्थ के प्रति बौद्धिक और भावनात्मक प्रतिक्रिया पर निर्भर करेगी। यह इस बात पर भी निर्भर करेगी कि ये लोग इस बात को समझें कि इन वास्तविकताओं को बदलने के लिए सहायता देने की उनकी जिम्मेदारी है।

संयुक्त राज्य अमरीका में, विशेष रूप से उदारतावादियों के मध्य, यह आम बात बन गयी है कि वे अनुचित प्राथमिकताओं और प्रतिक्रियावादी नीतियों का दोष संसद् के मत्थे मढ़ देते हैं। यह कहना जरूरी है कि सम्भवतः संसार की अन्य कोई संसद् जनमत के प्रति इतनी संवेदनशील नहीं है, जितनी अमरीका की संसद्—इस तथ्य को बार-बार होने वाले चुनावों, छोटे जिलों में बहुमत के आधार पर चुनाव की एंग्लो-सेक्सन परम्परा और संयुक्त राज्य अमरीका की शासन प्रणाली की अन्य अनेक विशेषताओं के माध्यम से समझाया जा सकता है।

अतः जब बड़े दोषों का उत्तरदायित्व निर्धारित करने की आवश्यकता होगी, तो अमरीका के लोगों के ऊपर ही इसका दोष मढ़ना होगा। यह बात उक्त बुनियादी तथ्य को नहीं बदल सकती कि संसद् और राष्ट्रपति तथा प्रशासन के सदस्य जनमत को अभिव्यक्त करने में ही नहीं बल्कि जनमत के निर्माण में भी भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक दृष्टि से काम करने के तरीकों में भिन्नता सहित, यही बात पश्चिम के विकसित देशों पर भी लागू होती है।

जो लोग, इस पुस्तक के लेखक की तरह, नीति में परिवर्तन कराना चाहते हैं, उन्हें अन्ततः जनमत में परिवर्तन कराने का प्रयास करना होगा। विशेषज्ञों

और राजनीतिज्ञों को प्रभावित करना चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, लेकिन एक व्यापक और लम्बी अवधि की दृष्टि से इसे एक प्रकार का मध्यवर्ती काम ही कहा जा सकता है। आदर्शों और इनके आधार पर निकाले गये तर्कसंगत निष्कर्षों तथा तथ्यों की जानकारी के आधार पर तर्क देते हुए, हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि परिवर्तन के व्यापक कार्य के लिए अन्ततः जनमत को बदलना और जागृत करना होगा।

इस सम्बन्ध में एक सामान्य प्रेक्षण किया जा सकता है : कम-विकसित देशों से अपने सम्बन्धों के बारे में विचार-विमर्श में पश्चिम के विकसित देशों में निष्ठा की कमी और यहाँ तक कि वंचना तक का वातावरण मौजूद है।

एक ओर, अन्तर्राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में निरन्तर बड़ी-बड़ी घोषणाएँ की जाती हैं और इनके माध्यम से समृद्ध और विकसित देशों द्वारा गरीब और कम-विकसित देशों को विकास के लिए सहायता देने में अत्यधिक उदार नीति अपनाने का वचन दिया जाता है।

इस कार्य का समारम्भ संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र की अस्पष्ट लेकिन बेलाग घोषणाओं के साथ हुआ। इस घोषणापत्र को दूसरे महायुद्ध की समाप्ति से पहले ही तैयार कर लिया गया था। अपने आमुख में—और यह बात 'संयुक्त राष्ट्र के हम सब लोगों' के नाम पर कही गयी थी—इस घोषणापत्र ने संयुक्त राष्ट्र के संगठनों में हिस्सा लेने वाली सरकारों को इस बात के लिए बाध्य किया था कि वे 'सामाजिक प्रगति और अधिक व्यापक स्वतन्त्रता में जीवन के बेहतर स्तरों की स्थापना' में सहायता देंगे और 'संसार भर के लोगों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का उपयोग करेंगे।' इसी विचार को 'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग' के घोषणापत्र के अनुच्छेद-9 में और आगे विकसित किया गया।

इसके बाद जबर्दस्त घोषणाओं का एक क्रम शुरू हो गया, जिनमें कम-विकसित देशों को और अधिक स्पष्ट रूप से वचन दिये गये। राष्ट्रपति जान एफ० कैनेडी के प्रस्ताव पर 1961 में 1960 के दशक को संयुक्त राष्ट्र की महासभा के सर्वसम्मत निर्णय के द्वारा 'विकास दशक' घोषित किया गया। और इसके लक्ष्य को पूरा करने की पूरी जिम्मेदारी विकसित और कम-विकसित दोनों देशों के ऊपर डाली गयी।

राष्ट्रपति लिण्डन बी० जान्सन ने अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपति की वक्तृत्व की परम्परा को और आगे बढ़ाया और यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया कि महान् समाज की कल्पना केवल संयुक्त राज्य अमरीका पर ही नहीं बल्कि समस्त विश्व पर लागू होनी चाहिए। अमरीका के इन राष्ट्रपतियों के अलंकारपूर्ण भाषणों के बीच की अवधि में और इसके बाद भी पश्चिम के समस्त विकसित देशों के राजनीतिज्ञों ने ऐसी ही बढ़ी-चढ़ी घोषणाएँ कीं।

संयुक्त राष्ट्र के अधीन काम करने वाले अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालय इस सम्बन्ध में निरन्तर जानकारी एकत्र और प्रचारित कर रहे थे

कि विकसित और कम-विकसित देशों के रहन-सहन के स्तर के बीच खाई निरन्तर बढ़ती जा रही है और कम-विकसित देशों का विशाल बहुमत अपार कष्ट भोग रहा है। प्रचार के समस्त साधनों के माध्यम से विकसित देशों के प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को इन चिन्ताजनक तथ्यों की जानकारी दी गयी।

लेकिन सामान्यतया इसके परिणामस्वरूप विकसित देशों के लोगों में यह इच्छा नहीं जगी कि वे जो कुछ प्राप्त कर चुके हैं उसका त्याग करें अथवा कम-से-कम अपने व्यापार के तरीकों में कुछ मामूली-सा फेरबदल करना ही स्वीकार करें। यह एक तथ्य हैं कि अब तक पश्चिम के किसी भी विकसित देश ने कम-विकसित देशों को सहायता देने के अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए कोई वास्तविक बलिदान नहीं किया है। समग्र दृष्टि से ये देश ऐसे मामूली से मामूली व्यापारिक लाभों को भी छोड़ने को तैयार नहीं हुए, जो लम्बी अवधि की दृष्टि से स्वयं विकसित देशों के हित में नहीं हैं और इस बात को सिद्ध भी किया जा सकता है। कम-विकसित देशों को सहायता देने की इच्छा में भी कोई वृद्धि दिखायी नहीं पड़ी है।

जैसाकि हम अगले अध्याय में दर्शायेंगे, विकास दशक के दौरान कम-विकसित देशों को मिलने वाली सहायता में केवल वृद्धि ही बन्द नहीं हुई, बल्कि वास्तविक अर्थों में सहायता की राशि में कमी हुई। यदि विकसित देशों की सहायता देने की क्षमता में हुई वृद्धि को ध्यान में रखकर इन आँकड़ों पर विचार किया जाये तो यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी, क्योंकि विकसित देशों की सम्पत्ति और आय बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। इसके साथ ही, सहायता के 'गुण' में भी अनेक दृष्टियों से बेहद गिरावट आयी है।

कम-विकसित देशों के विकास के लिए सहायता देने के सम्बन्ध में पश्चिम के अधिकांश देशों में बलिदानों की माँग के प्रति जनता और संसद् में जो प्रभाव-हीन प्रतिक्रिया होती है, उसे ध्यान में रखते हुए सरकार के अधिकारी छोटे और अक्सर धाँधली से तैयार किये गये सहायता बजटों को स्वीकार कराते समय प्रायः नियमित रूप से यह तर्क देते हैं कि इस सहायता पर अधिक धन खर्च नहीं होगा और वास्तव में इस प्रकार खर्च किया गया धन उनके अपने देश के विभिन्न व्यापारिक हितों के लिए लाभदायक है। संयुक्त राज्य अमरीका में अपने विचार को स्वीकार कराने का सरकार का यह विशेष तरीका बन गया है। लेकिन, जैसाकि मैं आगे चलकर बताऊँगा, यह बात केवल अमरीका तक ही सीमित नहीं है।

पिछले अध्याय में मैंने इस बात का उल्लेख किया है कि विकसित देश व्यापार और पूंजी के प्रवाह के क्षेत्र में सक्रिय बाजार की शक्तियों का ठोस प्रतिरोध करने को तैयार नहीं हैं, यद्यपि ये शक्तियां कम-विकसित देशों को उपनिवेशी काल से ही गरीबी के गर्त में धकेले हुए हैं और स्वाधीनता की छोटी अवधि में भी यही हुआ है। अतः इस स्थिति में यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि ये देश ऐसी वाणिज्य नीतियों को समाप्त करेंगे जो बाजार की इन शक्तियों को मजबूत बना रही हैं।

विकसित देशों में इस सम्बन्ध में सरकार के काम करने का तरीका और इस काम करने के तरीके के पीछे जनता के विचार और भावनाएँ वैसी ही खतरनाक समानता प्रदर्शित करती हैं, जैसी समानता युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध में है।

प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में प्रत्येक देश का प्रतिनिधि—और प्रत्येक अखबार में अग्रलेख लिखने वाला प्रत्येक पत्रकार—बड़ी गम्भीरतापूर्वक उस विनाश की सम्भावनाओं को व्यक्त करता है जो दो महाशक्तियों के बीच हथियारों की होड़ के कारण मानवता के समक्ष उत्पन्न हो गया है और कहता है कि यदि हथियारों की यह होड़ बन्द नहीं हुई तो मानवता का सर्वनाश हो जायेगा।

लेकिन हथियारों की यह होड़ बन्द नहीं हुई है, बल्कि इसके विपरीत इसकी गति और तेज हो गयी है।[1] लम्बे विचार-विमर्श के बाद निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में जिन तर्कों पर पहुँचा जाता है वे इस दृष्टि से निरर्थक होते हैं। भयभीत संसार को सान्त्वना देने के लिए ही अक्सर ये तर्क दिये जाते हैं और संसार को यह समझाने की कोशिश की जाती है कि सम्भावित सर्वनाश को रोकने के लिए कुछ न कुछ किया जा रहा है।

केवल कुछ ही लोग वास्तव में इस स्थिति से अत्यधिक चिन्तित दिखायी पड़ते हैं और निरस्त्रीकरण के लिए आश्चर्यजनक सीमा तक कम दबाव डाला जा रहा है। सर्वत्र शान्ति संगठन बेहद कमजोर हैं और विशेषकर उन दो देशों में जो हथियारों की होड़ में लगे हुए हैं। लेकिन सर्वत्र प्रभावशाली रूप से संगठित ऐसे राष्ट्रवादी संघ हैं, जो इस सम्बन्ध में चिन्ता छोड़कर हथियारों के संग्रह का समर्थन करते हैं।

सेना और उद्योगों का गठबन्धन अत्यधिक शक्तिशाली निहित स्वार्थों के गठजोड़ का प्रतिनिधित्व करता है और हथियार संग्रह की होड़ को रोकने के लिए किसी भी गम्भीर प्रयास को असफल बना देता है—विशेषकर इस कारण से भी कि अब इस कार्य में अनेक विश्वविद्यालय भी लग गये हैं और यह सेना, उद्योगों और विद्वानों का गठजोड़ बन गया है। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा कि इस गठजोड़ ने संयुक्त राज्य की सरकार को ही अपनी मुट्ठी में कर लिया है।

यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि सोवियत संघ में स्थिति बुनियादी तौर पर भिन्न है। वस्तुतः, प्रायः प्रत्येक देश में, चाहे वह बड़ा हो अथवा छोटा, अमीर हो या गरीब, इसका प्रतिरूप देखने को मिलता है। हम लोग अपने सिर के ऊपर मँडराते हुए एक भयानक खतरे के प्रति विचित्र सहिष्णुता दिखाते हुए जीवनयापन कर रहे हैं और इस खतरे से बचने के लिए एक साथ मिलकर कुछ भी नहीं कर रहे हैं।

कम-विकसित देशों को सहायता देने और वाणिज्य तथा वित्तीय नीतियों, दोनों के क्षेत्र में विकसित देशों में बौद्धिक और भावनात्मक उलझन इसी प्रकार स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ रही है। इसका कारण लोगों के मन में एक साथ ऐसे दो विचारों की मौजूदगी है, जो किसी भी तरह एक-दूसरे से मेल नहीं खाते : कम-विकसित देशों में अत्यधिक गरीबी और इन देशों को बड़े पैमाने पर सहायता की आवश्यकता की जानकारी और दूसरी ओर इन देशों को सहायता देने के लिए कोई भी ठोस बलिदान न करने के प्रति स्वार्थपूर्ण अनिच्छा।

यह बात लोगों की यथार्थ सम्बन्धी संकल्पना के लिए हानिकारक है। इस पुस्तक में अब हम तर्क के जिस ऊँचे स्तर पर आ चुके हैं, उसके आधार पर पाठक इस परिस्थिति में सच्चाई को अवसरवादी दिशा में तोड़-मरोड़कर पेश करने की प्रवृत्ति की अपेक्षा कर सकता है—दूसरे शब्दों में, यथार्थ का पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टि-कोण मौजूद है, जो इन दो विचारक्रमों के एक-दूसरे से मेल न खाने की बात को छिपाने में सहायक बनता है।

अब क्योंकि कम-विकसित देशों की गरीबी इच्छा मात्र से समाप्त नहीं की जा सकती, अतः पाठक को यह अपेक्षा कर लेनी चाहिए कि सहायता के क्षत्र में आँकड़ों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता है, ताकि सहायता को उससे कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जा सके जितनी वास्तव में सहायता दी जाती है। वस्तुतः यही हुआ है। मुझे एक बार फिर उन आँकड़ों की ओर आलोचनात्मक दृष्टि से ध्यान देना होगा, जिन्हें वैज्ञानिक और लोकप्रिय लेखन दोनों में प्रस्तुत किया जाता है और जिनके ऊपर निर्भरता दिखायी जाती है।

2. विकास सहायता समिति के आँकड़े

आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओ० ई० सी० डी०) में, जिसका मुख्यालय पेरिस में है, प्रायः सब समृद्ध और विकसित गैर-कम्युनिस्ट देश शामिल हैं। इस संगठन की एक विकास सहायता समिति (डी० ए० सी०) है। विकास के लिए जो सहायता दी जाती है, उसके आँकड़े विभिन्न सदस्य देशों से एकत्र करने और सदस्य सरकारों के अधिकारियों द्वारा 'सहायता समीक्षा' के बाद विकास सहायता समिति का सचिवालय इन्हें प्रचारित करता है। सहायता सम्बन्धी ये आँकड़े इस सहायता के बारे में जानकारी का प्रमुख स्रोत होते हैं और प्रायः सर्वत्र इन्हें प्रामाणिक माना जाता है। अर्थशास्त्री और विकास समस्याओं के पेशेवर अध्ययनकर्ता, अधिकारी, राजनीतिज्ञ, लोकप्रिय पुस्तकों और लेखों के लेखक, पत्रकार आदि, अन्य अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालय और समय-समय पर नियुक्त विशेषज्ञ समूह इन आँकड़ों पर बिना सोचे-समझे निर्भर करते हैं।

सबसे पहले इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि विकास सहायता समिति अपनी तालिकाओं के शीर्षक में 'वित्तीय साधनों के प्रवाह' शब्दों का प्रयोग करती है। यह मान लेना उचित दिखायी पड़ता है कि इस शब्द को इसलिए चुना गया है, ताकि इन आँकड़ों में से ऐसी राशियों को न निकालना पड़े, जिनमें सहायता का कोई तत्त्व नहीं होता—विशेषकर निजी विनियोग और ऋण। इस बात की नियमित रूप से और विधिवत् उपेक्षा कर दी जाती है कि विकास सहायता समिति के आँकड़ों में हर प्रकार का 'प्रवाह' शामिल है, चाहे इसमें सहायता का तत्त्व हो अथवा नहीं। संसार भर में लोग इन आँकड़ों का उपयोग करते समय इस बारीकी पर गौर ही नहीं करते।

जैसाकि इस अध्याय के पहले पैराग्राफ में कहा गया है, उस संगठन का नाम जिसे यह तालिकाएँ तैयार करने में यह सचिवालय सहायता देता है, विकास सहायता समिति है और इसके 'प्रवाह' सम्बन्धी आँकड़े 'विकास सहायता' अथवा अधिक स्पष्ट रूप से 'विकास के लिए दी जाने वाली सहायता' बन जाते हैं। यह उच्च उत्परिवर्तन वज्ञानिक और लोकप्रिय तथा राजनीतिक लेखन और घोषणाओं

में दिखायी पड़ता है। विकास सहायता समिति के सचिवालय ने आँकड़ों के इस अवसरवादी दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रायः कुछ नहीं किया है और आज संसार-भर में इसका व्यापक दुरुपयोग किया जा रहा है। वस्तुतः यह सचिवालय यदाकदा स्वयं इस भ्रान्ति को कायम रखने में सहायता देता है। यह कार्य कुछ तालिकाओं के शीर्षकों और तालिकाओं सम्बन्धी टिप्पणियों के द्वारा किया जाता है।

जब विकास सहायता समिति ने यह रिपोर्ट (10 जुलाई 1969)[2] दी कि 1968 के दौरान कम-विकसित देशों को 'प्रवाह' में प्रायः 13 अरब डालर की वृद्धि हुई है, तो इसका यह अभिप्राय था कि 'सरकारी प्रवाहों' में कमी हुई है और 'निजी प्रवाहों' में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। संसार-भर में इस बात को उत्साहवर्द्धक लक्षण समझा गया और यह टिप्पणी की गयी कि एक बार फिर 'सहायता' की राशि में वृद्धि हो रही है।

लेकिन यहाँ यह सवाल उठाना होगा : क्या विकास सहायता समिति के सचिवालय द्वारा 'निजी प्रवाहों' को 'सरकारी प्रवाहों' से जोड़ देना विचार की स्पष्टता और ईमानदारी के वस्तुतः हित में है? 'निजी प्रवाह' व्यापारी सौदों का एक बड़ा विविध और मिश्रित समूह है। इनमें पश्चिम की कम्पनियों द्वारा अपनी सरकारों को बताये गये प्रत्यक्ष विनियोग (कभी-कभी इन विनियोगों की राशि की गणना बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाये गये दामों के आधार पर की जाती है) से लेकर निर्यात के लिए दिये जाने वाले ऋण तक शामिल हैं। वस्तुतः हाल में 'निजी प्रवाहों' में जो वृद्धि हुई है, वह अधिकांशतया ऐसे ही निर्यात ऋणों के रूप में दी गयी 80 करोड़ डालर की राशि के कारण हुई है। ये ऋण अक्सर बड़े महँगे पड़ते हैं और उन कम-विकसित देशों को दिये जाते हैं, जिनके ऊपर पहले के ऋणों की अदायगी का जबर्दस्त भार चढ़ा हुआ है। इसके अलावा इनमें से अधिकांश देश वित्तीय कठिनाइयों में फँसे हुए हैं और इन्हें इस प्रकार के ऋणों की भी बड़ी ज़रूरत है। अतः इन देशों को उन आयातों के लिए बहुत ऊँचे दाम चुकाने के लिए विवश किया जा सकता है, जिन आयातों के लिए अक्सर ये ऋण दिये जाते हैं।

आर्थिक सहयोग और विकास संगठन की मन्त्रिपरिषद् की फरवरी 1969 की बैठक में 'विकासशील देशों से सम्बन्ध' पर विचार हुआ और इस बैठक में स्वीडन के उद्योगमन्त्री, क्रिस्टर विकमन ने कहा कि यह मिले-जुले प्रवाह की संकल्पना

"तीसरी दुनिया में विकास के लिए सहायता देने के लिए हमारे वित्तीय बलिदानों को मापने का एक बहुत बुरा पैमाना है···इसमें ऐसे सौदे शामिल हैं, जो विकसित देशों में होने पर कभी भी सहायता नहीं कहे जा सकते। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि विकास सहायता और दूसरे रूपों में पूंजी के प्रवाहों के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाये।"[3]

लेकिन विकास सहायता समिति के 'निजी प्रवाहों' सम्बन्धी आँकड़ों में अनेक और इससे भी अधिक गम्भीर खामियाँ हैं। एक खामी यह है कि इन्हें 'शुद्ध मूल्य' बताया जाता है। लेकिन इनसे लाभ के रूप में जो राशि वापस प्राप्त होती है, वह ऋणों की बकाया राशि और उस पूंजी के परिशोधन की राशि भर

होती है, जिसे पूँजी लगाने वाले देशों को लौटाया जाता है। ये भी केवल वे आँकड़े हैं, जिनकी सूचना विकसित देशों की सरकारों को दी जाती है।

ब्याज के भुगतान, लाइसेंसों के भुगतान आदि की राशि को और विशेषकर, कम-विकसित देशों से लाभ के रूप में प्राप्त राशि को वापस प्राप्त राशि में शामिल नहीं किया जाता, जबकि लाभ की पुनर्विनियोजित अथवा दूसरी बार लगायी गयी राशि को कम-विकसित देशों को दी गयी सहायता के योग में शामिल कर लिया जाता है। कभी-कभी ये दोनों प्रकार के लाभ कल्पनातीत रूप से ऊँचे हो सकते हैं। विशेषकर उन पूँजी विनियोगों पर, जिन्हें बहुत समय पहले और खुल्लमखुल्ला शोषण की उन परिस्थितियों के अधीन लगाया गया था, जिनका मैंने अध्याय-8 में उल्लेख किया है और जिन पर इस अध्याय के अन्त में फिर विचार किया जायेगा।

इस गणना में कम-विकसित देशों के निवासियों द्वारा बाहर भेजी गयी पूँजी—जो अक्सर चुपचाप बाहर भेजी जाती है—शामिल नहीं की जाती। विशेषकर लेटिन अमरीका में दोनों प्रकार के 'निजी बहिर्प्रवाह', विकास सहायता समिति के सचिवालय द्वारा संकलित आँकड़ों में जिनकी गणना नहीं की जाती, बहुत बड़ा-बड़ी राशियों में होते हैं।

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए विकमन ने अपनी आलोचना को इस प्रकार जारी रखा :

"·········यह पूरी तरह से स्पष्ट है कि जिस शुद्ध संकल्पना का उपयोग किया जाता है, वह शुद्ध आँकड़ों के आसपास भी नहीं पहुँच पाती। सन् 1967 में विकास सहायता समिति ने अपने सदस्य देशों द्वारा साधनों के 'शुद्ध' प्रवाह ['सरकारी' और 'निजी'] की राशि 11·4 अरब डालर बतायी। इस राशि की तुलना उस राशि से की जा सकती है, जो संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने विकासशील देशों को साधनों के रूप में प्राप्त राशि के सम्बन्ध में बतायी है। यह राशि, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के आँकड़ों पर आधारित है, 3 अरब डालर है! ······ इस गणना की गलतियों और भूलों, बीती हुई अवधि आदि की गुंजाइश छोड़ते दुए दोनों राशियों के इस अन्तर का मुख्य स्पष्टीकरण यह है कि विकास सहायता समिति द्वारा प्रस्तुत राशि में उन वित्तीय सौदों का पूरा ध्यान नहीं रखा गया है, जिनके अन्तर्गत कम-विकसित देशों से विकास सहायता समिति के सदस्यों को वापस पूँजी प्राप्त हुई। विकास सहायता समिति के कुछ सदस्यों ने जब इन आँकड़ों पर गौर से विचार किया तो उन्होंने देखा कि तीसरी दुनिया के देशों से उनके भुगतान सन्तुलन में अतिरिक्त राशि मौजूद है।"

लेकिन वास्तविकता यह है कि विकसित देशों के लोग यह 'गौर से विचार' करना नहीं चाहते। विकमन का ध्यान इन अवसरवादी रुझानों और उनके परिणामों की ओर था :

"यह खतरा बड़ा स्पष्ट है कि आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के सदस्य देश अपनी घरेलू और बाहरी कठिनाइयों में व्यस्त होने के कारण, तीसरी दुनिया की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान नहीं देंगे······ यथार्थ से ऊँचा मूल्यांकन सहायता कार्यक्रमों के विस्तार के मार्ग में अवरोध बनता है। इस प्रकार यह अनिवार्य है कि हमारे देशों के जन-सामान्य और संसद सदस्यों को विकास-

शील देशों को दी जानी वाली सहायता के हमारे वर्तमान प्रयासों की सही जानकारी दी जाये।"

और उन्होंने यह आशा प्रकट की कि आर्थिक सहयोग और विकास संगठन, विशेषकर विकास सहायता समिति इस समस्या का समाधान निकालेंगे।[4]

पर इसकी कोई आशा दिखायी नहीं पड़ती। विकमन के आरोपों के उत्तर में विकास सहायता समिति के सचिवालय ने जो टिप्पणी[5] तैयार की उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सचिवालय अपने इसी रवैये पर क्यों कायम रहना चाहता है। इस तर्क में तीन मुद्दे सामने आते हैं : सदस्य सरकारें इस तरीके में परिवर्तन नहीं करना चाहतीं, कम-विकसित देशों से जो पूँजी वापस प्राप्त होती है, उसके जिस हिस्से की गणना की जाती है, उसके अलावा जिस राशि के आँकड़े उपलब्ध होते हैं वे बड़े अपर्याप्त हैं और उनकी व्याख्या करना बड़ा कठिन है। और विशेषकर लाभ और पूँजी के बहिर्गमन का प्रश्न, 'बुनियादी तौर पर स्वयं विकासशील देशों की अपनी समस्या है।'[6]

जो बातें ऊपर कही गयी हैं, उनसे यह अर्थ निकलता है कि विकास सहायता समिति के आँकड़े, जिन्हें सर्वत्र अधिकृत बताकर उद्धृत किया जाता है, इस समस्या को पूरी तरह उलझा हुआ ही छोड़ देते हैं कि विकसित देशों से कम-विकसित देशों को साधनों के शुद्ध निजी प्रवाह के रूप में कितनी राशि प्राप्त होती है और क्या बहुत से देशों को शुद्ध रूप से कोई राशि प्राप्त भी होती है अथवा इसके विपरीत स्वयं इन देशों से पूँजी बाहर चली जाती है। पूँजी का यह शुद्ध आगमन अथवा बहिर्गमन कम-विकसित देशों में ऋण के विस्फोट और ऋणों की अदायगी के भयंकर भार से सम्बन्ध रखता है और इसी प्रकार इसका विकास को सहायता पहुँचाने की सम्भावनाओं से भी सम्बन्ध है। इस बात को अध्याय-9 में स्पष्ट किया गया है।

एक पेशेवर संगठन के रूप में विकास सहायता समिति के सचिवालय को यह बात स्पष्ट किये बिना कि उसके 'शुद्ध प्रवाह' सम्बन्धी आँकड़ों में वास्तविक शुद्ध मूल्यों को व्यक्त नहीं किया गया है, ये आँकड़े देने के लिए माफ़ नहीं किया जा सकता। वेतनभोगी पेशेवर अर्थशास्त्रियों को अनैतिक आचरण के अभियोग से इस कारण से मुक्त नहीं किया जा सकता कि वे अपने रोज़गार देने वालों अथवा सरकारों के निर्देशन के अनुसार ही काम कर रहे थे। इसी प्रकार संसार-भर के दूसरे पेशेवर लोगों को भी इन आँकड़ों को असावधानी से और समालोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किये बिना व्यापक रूप से इस्तेमाल करने के लिए भी क्षमा नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन आँकड़ों का उपयोग साधारणतया 'विकास सहायता' की राशि के रूप में किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र के अधीन काम करने वाले और दूसरे अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालयों पर भी इस सम्बन्ध में विशेष दायित्व आता है। इन संगठनों के सचिवालयों की इस बात के लिए प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होंने युद्ध के तुरन्त बाद अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में विश्व-व्यापी तुलनात्मक आँकड़ों का संकलन करने का कठिन कार्य किया। लेकिन उस समय इन सचिवालयों में स्पष्ट संकल्पनाओं और विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा भेजे गये बुनियादी आँकड़ों की कमजोरियों के प्रति सतर्कतापूर्वक समालोचनात्मक दृष्टि अपनाने के प्रति

उतना पेशेवर उत्साह नहीं था, जितना होना चाहिए था।

इन संगठनों के सचिवालयों के बीच अपने संघर्ष जारी हैं, विशेषकर इस सम्बन्ध में कि कौन-सा सचिवालय किन विशेष क्षेत्रों के लिए किस सीमा तक जिम्मेदार है। लेकिन एक-दूसरे के प्रति एक विनम्रतापूर्ण भद्रता नियमित रूप से बरती गयी है। ये एक-दूसरे के आँकड़ों के बारे में यानि इनकी सत्यता के बारे में शंका नहीं उठाते। यह बात भद्रता के खिलाफ़ समझी जाती है।

इस प्रकार आय और उत्पादन की वृद्धि और कम-विकसित देशों की प्रगति की दरों के जो आँकड़े संयुक्त राष्ट्र का सांख्यिकी कार्यालय तैयार करता है, और जिसकी मैंने अध्याय-8 के अन्त में आलोचना की है, उन्हें अन्य सचिवालय सामान्यतया स्वीकार करते हैं और उनका उसी रूप में इस्तेमाल करते हैं। अक्सर इस कार्य में इन आँकड़ों के अर्थ, सार्थकता अथवा विश्वसनीयता के बारे में कोई शंका नहीं उठायी जाती।

यूनेस्को का सचिवालय साक्षरता और स्कूलों में विद्यार्थियों की भर्ती के बारे में आँकड़े संकलित करता है। जैसाकि मैंने अध्याय-6 में कहा है, ये आँकड़े बहुत घटिया स्तर के हैं और इनसे बेहद भ्रान्ति उत्पन्न होती है। यदि कोई दूसरा सचिवालय शिक्षा की समस्याओं पर विचार करते समय इस सचिवालय के आँकड़ों को जैसे का तैसा स्वीकार न करे तो इस बात को स्पष्ट रूप से यूनेस्को के सचिवालय के प्रति अमित्रतापूर्ण व्यवहार कहा जायेगा। अक्सर इन परिस्थितियों में इन आँकड़ों का उपयोग उससे भी कहीं कम शर्तें लगाकर किया जाता है, जितनी कम शर्तें लगाने का साहस स्वयं यूनेस्को का सचिवालय भी नहीं कर सकता था।

विभिन्न संगठनों के बीच जारी इस विनम्रता का परिणाम एक ऐसा सहयोग होता है, जो पेशे की दृष्टि से अनैतिक है और जो इसके परिणामस्वरूप अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालयों के कार्यों के वैज्ञानिक मूल्य को घटा देता है। अब क्योंकि ये सचिवालय नौकरशाही व्यवस्था का स्वरूप धारण कर चुके हैं और सम्बन्धित पेशे के सर्वाधिक योग्य लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की बेहतर स्थिति में नहीं हैं,[7] अतः उनके द्वारा तैयार आँकड़ों सम्बन्धी जानकारी पुरानी होती है और इसमें समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

वर्तमान मामले में इसका और उस प्रतिरक्षात्मक भाईचारे का, जिसका मैंने उल्लेख किया है, यह अर्थ निकलता है कि विकास सहायता समिति के आँकड़े हर वर्ष प्रकाशित होते रहते हैं और अन्य संगठनों के सचिवालय इनका समालोचनात्मक विश्लेषण नहीं करते। वस्तुतः इन आँकड़ों का इस्तेमाल दूसरे सचिवालय व्यापक रूप से करते हैं और इस प्रयोग में इन आँकड़ों की सत्यता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

कम-विकसित देशों के राजनीतिक प्रवक्ता और उनके अर्थशास्त्री समग्रतः आँकड़ों सम्बन्धी इन दावपेंचों के प्रति पूरी तरह बचकानी दृष्टि ही अपनाते रहे हैं। इन लोगों के मामले में यह बात अधिक क्षमायोग्य दिखायी पड़ती है, क्योंकि

विकसित देशों के विशेषज्ञों ने इस प्रकार एकमत होकर इन आँकड़ों को अपना समर्थन दिया है।

इस प्रकार कम-विकसित देशों के इन प्रवक्ताओं और विशेषज्ञों ने अपने देशों के उत्पादन और आय की वृद्धि की दर को इन बढ़िया आँकड़ों के सन्दर्भ में मापने और विश्लेषण करने का तरीका अपनाया है और इन आँकड़ों को विना किसी शंका के स्वीकार किया है। इस तरीके की मैंने अध्याय-8 के अन्त में आलोचना की है।

इन लोगों ने विकास सहायता समिति के सचिवालय की कुल सार्वजनिक और निजी वित्तीय 'शुद्ध प्रवाहों' सम्बन्धी संकल्पना को भी स्वीकार कर लिया है। यह एक और भी हानिकारक बात है, क्योंकि यह संकल्पना उन अवसरवादी पूर्वाग्रहों से गम्भीरतापूर्वक ग्रस्त है, जो विकसित देशों के लिए सुविधाजनक हैं।

सन् 1961 में महासभा की इस प्रवल घोषणा के बाद कि 1960 से आरम्भ दशक को विकास दशक माना जाना चाहिए, जब विकसित देशों को सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार करना पड़ा कि कम-विकसित देशों को वे जो सहायता देते हैं, उसका उन्हें एक न्यूनतम स्तर कायम करना चाहिए, तो यह सीमा इन मिले-जुले 'शुद्ध प्रवाहों' के रूप में निर्धारित की गयी और यह कहा गया कि यह राशि इन देशों की राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत होनी चाहिए। और जब 1968 में संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में इस निचली राशि को एक-चौथाई और बढ़ाया गया और इसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा कहा गया, तब भी इन सन्दिग्ध 'प्रवाहों' को ही इस प्रस्तावित ऊँचे स्तर तक बढ़ाने की बात थी।

विदेशी साधनों की इस अधिकतम सीमा के अनुसार भविष्य में लाभ उठाने वालों की हैसियत से कम-विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें इस बात पर कोई जोर नहीं देना चाहिए कि किन शब्दों में इस बात को कहा जाता है। लेकिन जैसाकि मैंने कहा है, यह केवल शब्दावली की ही समस्या नहीं है।

कम-विकसित देशों से लाभ और पूंजी का बहिर्गमन एक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण मसला है, और इस बहिर्गमन का उक्त आँकड़ों में उल्लेख नहीं किया गया है और इस कारण से यह अनेक कम-विकसित देशों के प्रतिनिधियों के लिए भी उलझन बन सकता है, अतः इसे जैसे का तैसा छोड़ देना बेहतर समझा गया। कम-विकसित देशों के ये प्रतिनिधि नियमित रूप से एक ऐसे शासक समूह के सदस्य होते हैं अथवा इसकी सेवा में नियुक्त होते हैं, जिनमें से अनेक—चाहे स्वयं उन्हें व्यक्तिगत रूप से लाभ न मिल रहा हो—अपने देशों की गरीबी और दूसरे देशों पर निर्भरता की स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर व्यक्तिगत मुनाफा कमाते हैं।

लेकिन बाद के वर्षों में कुछ कम-विकसित देशों में इस सम्बन्ध में आवाज उठायी गयी और संयुक्त राष्ट्र की महासभा को 'विकासशील देशों से निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में पूंजी के बहिर्गमन' के प्रति चिन्ता प्रकट करनी पड़ी, क्योंकि इस पूंजी के बहिर्गमन से 'विकासशील देशों को प्राप्त बाहरी साधनों की शुद्ध राशि में पर्याप्त कमी हो जाती है' और संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय ने अपने

प्रकाशन 'दि एक्सटर्नल फाइनेंसिंग ऑफ इकानामिक डेवेलपमेंट'[8] में इस 'शुद्ध राशि' के बारे में कुछ अनुमान शामिल किये हैं।

यद्यपि ये अनुमान इतने अपरिष्कृत हैं कि इनका उद्धरण देना उचित नहीं है, लेकिन इनसे यह सामान्य आभास मिलता है कि कम-विकसित देशों से अन्य देशों को राशि के कुल बहिर्गमन, जिसमें लाभ और पूंजी का बहिर्गमन (अक्सर चुपचाप भेजी जाने वाली पूंजी) भी शामिल है, की मात्रा प्रायः वही होती है, जितनी विकास सहायता समिति के आँकड़ों में निजी और सरकारी 'शुद्ध प्रवाहों' के रूप में दी जाती है। अथवा यह राशि इससे अधिक कम नहीं होती। विशेषकर उस स्थिति में जबकि 'सरकारी प्रवाह' सम्बन्धी आँकड़े अक्सर ग़लत रूप से पेश किये जाते हैं, जैसाकि हम अगले अध्याय में दर्शायेंगे।

अनेक देशों के लिए, विशेषकर लेटिन अमरीका में, पूंजी का यह बहिर्गमन देश के भीतर आने वाली कुल पूंजी से कई गुना अधिक होता है। अक्सर यह कहा जाता है कि जितनी पूंजी के बाहर जाने की बात कही जाती है वास्तव में उससे पाँच गुना अधिक पूंजी बाहर जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका के एक उदारतावादी सेनेटर चार्ल्स मैक मेथियाज़ जूनियर ने (वे जिन कारणों से अपने देश की सहायता नीति की आलोचना करते हैं उस पर अगले अध्याय में विचार होगा) हाल में बड़े स्पष्ट शब्दों में यह बात कही : "लेटिन अमरीका से जो पूंजी संयुक्त राज्य अमरीका पहुँचती है, वह लेटिन अमरीका के देशों में जाने वाली पूंजी से चार गुना अधिक है। एक तरीके से लेटिन अमरीका के देश वस्तुतः संयुक्त राज्य अमरीका को, जो संसार का सबसे धनी देश है, विदेशी सहायता दे रहे हैं।"[9]

इस वर्ष के आरम्भ में 'विकासशील देशों से वित्तीय साधनों के बहिर्गमन' का मामला संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की एक समिति में उठाया गया। यह बात बड़ी दिलचस्प है कि यह मामला आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अधिकांश विकसित देशों की सलाह के विरुद्ध उठाया गया। संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के सचिवालय ने जो अध्ययन किया उसमें यह अनुरोध किया गया था : "इस प्रश्न की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकासशील देशों को जाने वाली पूंजी के प्रवाह को इस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है कि पूंजी का यह बहिर्गमन विकासशील देशों के विकास सम्बन्धी लक्ष्यों के अनुरूप हो।"[10] यह बड़ी दिलचस्प बात होगी कि इस अध्ययन के परिणामस्वरूप क्या तथ्य सामने आते हैं।

विकास सहायता समिति के सचिवालय का कार्य अन्य अनेक विचित्र बातें भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। संसार-भर में प्रसार से पहले, 'प्रवाह' सम्बन्धी आँकड़ों का सम्बन्धित भावों के सूचक अंकों की मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति के सन्दर्भ में मूल्यांकन करना जरूरी था।

पर इन 'प्रवाहों' को 'वित्तीय' कहकर पेश किया जाता है यद्यपि ये प्रवाह

अक्सर इस रूप में नहीं होते। अतः यह बात दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि जिन विभिन्न 'साधनों' को वस्तुतः हस्तान्तरित किया जाता है, उनका कितना दाम लगाया जाता है और इस सम्बन्ध में आँकड़ों का उचित उपयोग किया जाता है अथवा नहीं। लाभ के स्तरों सम्बन्धी यथार्थ जाँच, जिसमें पूंजी लगाने वालों द्वारा लाभांश के अलावा अन्य लाभ उठाने की बात का भी ध्यान रखा गया हो, अत्यधिक दिलचस्प और उपयोगी होगी।

विकास सहायता समिति के 'सरकारी प्रवाहों' सम्बन्धी आँकड़ों पर अगले अध्याय के अनुभाग-2 में समीक्षात्मक विचार किया जायेगा। इससे विकास सहायता समिति के आँकड़ों में कहीं अधिक गहराई से पैठे हुए पूर्वाग्रहों का पता चलेगा, क्योंकि इन आँकड़ों के आधार पर उससे कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बातें कही गयी हैं, जिन्हें सच्ची सार्वजनिक सहायता के रूप में समझा जा सकता है।

लेकिन इन नाजुक समस्याओं के अलावा, विकास सहायता समिति के सचिवालय द्वारा जारी आँकड़ों के अध्ययन से यह आभास मिलता है कि सचिवालय की या तो अनुसन्धान में कोई दिलचस्पी नहीं है अथवा इसे सरकारी दबाव द्वारा यह दिलचस्पी लेने से रोका जाता है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सामान्य सूझबूझ और विनोद का भाव भी सचिवालय में मौजूद नहीं है। विकास सहायता समिति के आँकड़ों में छुटभैया फासिस्ट पुर्तगाल को निरन्तर हर वर्ष बड़ा सम्मानित स्थान दिया जाता है और यह बताया जाता है कि अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन की तुलना में पुर्तगाल कम-विकसित देशों को सबसे अधिक 'पूंजी' भेजता है।

इस स्थिति को समझाने के लिए कोई पाद-टिप्पणी भी नहीं दी जाती कि यह स्थिति दो तथ्यों पर निर्भर करती है। पहली बात यह है कि पुर्तगाल लम्बे अरसे से बहुत गरीब और अधिकांशतया निष्क्रिय रहा है—केवल हाल में उसने व्यापार में कुछ दिलचस्पी और पहल दिखायी है। व्यापार सम्बन्धी यह गतिविधि यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ के सदस्य देशों के कारण हुई है, जिन्होंने वहाँ के वेतन के अत्यधिक निम्न स्तरों का लाभ उठाने की कोशिश की। जन-सामान्य में निरक्षरता बहुत अधिक है और यह बात देहाती इलाकों पर विशेष रूप से लागू होती है। बच्चों की मृत्यु-दर बहुत ऊंची है और रहन-सहन का स्तर बेहद नीचा है। पुर्तगाल वस्तुतः आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अन्य तीन सदस्य देशों—स्पेन, ग्रीस और तुर्की, की तरह ही स्वयं कम-विकसित है। इन देशों को विकास सहायता समिति के आँकड़ों में कम-विकसित देशों में गिना जाता है और इस कारण से इन्हें विकास सहायता समिति के अन्य समृद्ध देशों के समूह में शामिल होने को नहीं कहा जाता। इसका यह अर्थ होता है कि पुर्तगाल का कुल राष्ट्रीय उत्पादन, जिसकी तुलना में पूंजी के बहिर्गमन का आकलन किया जाता है, अत्यधिक नीचे स्तर का है।

दूसरी बात यह है कि पुर्तगाल अफ्रीका में अपने 'प्रान्तों' में लम्बे उपनिवेशी युद्ध में लगा हुआ है और इन्हीं 'प्रान्तों' को पूंजी का यह 'प्रवाह' जारी रहता है। इसके साथ ही विकास सहायता समिति के आँकड़ों में दूसरे 'प्रवाहों' का भी उल्लेख किया जाता है और ये प्रवाह आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अन्य देशों से होते हैं।

अत्यधिक महत्त्व की दूसरी समस्याएँ भी हैं, जिनके कहीं अधिक गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। विकास सहायता समिति और आर्थिक सहयोग और विकास संगठन अथवा किसी भी अन्य अन्तर-सरकार संगठन का सचिवालय, जिसमें संयुक्त राष्ट्र का विकास और व्यापार संगठन भी शामिल है, इतनी गहराई से यह अध्ययन नहीं करता।

एक बात तो यह जानने योग्य है कि जिन पूँजी विनियोगों की बात कही जाती है क्या वे विनियोग नये उद्यमों में होते हैं अथवा पुराने पूँजी विनियोगों को मजबूत बनाने के लिए और पूँजी लगायी जाती है। इन बाद के पूँजी विनियोगों में विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को दिये जाने वाली वे रियायतें शामिल हो सकती हैं, जो इस समय अनुचित और कम-विकसित देशों के विकास की दृष्टि से विपरीत प्रभाव डालने वाली समझी जायें।

यह बात भी महत्त्वपूर्ण होगी कि विस्तृत और व्यापक रूप से इस बात का विश्लेषण किया जाये कि पूँजी का यह प्रवाह किन देशों को हुआ है। बल्कि यह भी देखा जाये कि विभिन्न कम-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था के किन क्षेत्रों में यह 'प्रवाह' हो रहा है। पैट्रोलियम उद्योग और अत्यधिक ऊँची माँग वाले अन्य खनिजों के खनन सम्बन्धी उद्योगों में नया विदेशी पूँजी विनियोग उन देशों अथवा उन देशों के शासकों के लिए अत्यधिक लाभकारी हो सकता है, जहाँ यह पूँजी विनियोग किया जाता है। यह पूँजी विनियोग कम-विकसित संसार के उन गिने-चुने देशों में किया जाता है, जहाँ ऐसे प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। लेकिन यह हो सकता है कि इन देशों के विकास सम्बन्धी प्रयास भिन्न प्रकार के हों और अक्सर उससे कम महत्त्व के हों जितना महत्त्व विनिर्माण उद्योग की कुछ शाखाओं में नये विनियोग का होता है। यही बात लेटिन अमरीका में बड़े पैमाने पर बागानों में पूँजी विनियोग के बारे में सही है। लेकिन यह बात केवल लेटिन अमरीका पर ही लागू नहीं होती।

यह मानना उचित ही है कि ऐसी समस्याओं पर गहरे विचार का काम, और साधारणतया निजी पूँजी के 'प्रवाहों' की वास्तविक स्थिति के अध्ययन का काम, संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठनों द्वारा अधिक गहराई से और पूर्वाग्रहों के बिना किया जा सकता है, जिनमें विकसित और कम-विकसित दोनों प्रकार के देश शामिल होते हैं। लेकिन ये संगठन भी प्रभावशाली देशों की पहुँच के बाहर नहीं हैं, जहाँ अल्पसंख्यक विकसित देश बड़ी प्रभावशाली और शक्तिशाली स्थिति में होते हैं। यह निश्चय है कि स्वतन्त्र अध्ययनकर्ता इन समस्याओं का समीक्षात्मक और तटस्थतापूर्वक अध्ययन करें। लेकिन अभी तक ऐसा उदाहरण प्रायः देखने को नहीं मिला है।

3. निजी प्रत्यक्ष विनियोग

व्यापार के अन्तर, ऋण के विस्फोट, और ऋणों के भुगतान के निरन्तर बढ़ते हुए भार जैसी गम्भीर समस्याओं से बच निकलने के लिए और अक्सर इन समस्याओं पर सही सन्दर्भ में विचार किये बिना ही, इस बात पर ध्यान केन्द्रित कर दिया गया है कि कम-विकसित देशों में निजी प्रत्यक्ष विनियोग को किस प्रकार प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

अनेक विकसित देशों में, लेकिन विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में, इस

विश्वास के प्रति विचारधारा सम्बन्धी आस्था प्रकट की गयी है कि कम-विकसित देशों का विकास निजी उद्यम द्वारा ही सर्वोत्तम तरीके से हो सकता है। इस विश्वास के एक स्वाभाविक निष्कर्ष के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका की नीति कम-विकसित देशों में विदेशों से निजी प्रत्यक्ष विनियोग को प्रोत्साहन देने पर केन्द्रित रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण और विकास बैंक ने इस विचारधारा को अपना समर्थन दिया है। बैंक ने यह कार्य इन देशों को सलाह देने की अपनी सामान्य गतिविधि में प्रकट रूप से और अपनी ऋण सम्बन्धी गतिविधि में भी किया है। लेकिन हाल के वर्षों में बक ने अपने दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन किया है और भविष्य में और अधिक परिवर्तन कर सकता है।

बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष, जार्ज डी० वुड्स ने अध्यक्ष के रूप में अपने अन्तिम सार्वजनिक वक्तव्य में इस बात पर जोर दिया कि 'नई दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है' और यह स्वीकारोक्ति की कि 'विश्व बैंक समूह' संस्थाओं की 'मानक फारमूलों' से चिपके रहने की प्रवृत्ति से बचा हुआ नहीं है। उन्होंने आगे कहा : "विश्व बैंक समूह में......हम लोगों ने राज्य के स्वामित्व में संचालित उद्यमों को सहायता देने में धीमी गति दिखायी है, जिसका कारण यह था कि अनेक देशों में इन्हें कार्यकुशल ढंग से चलाने की समस्या मौजूद थी। पर निजी बचतों की कमी के कारण सरकार द्वारा इन उद्योगों को चलाने की आवश्यकता हुई थी।"[11]

कठिन परिस्थितियों में पड़े होने के कारण कम-विकसित देशों ने अक्सर निजी विनियोग का बड़ा स्वागत किया है। अक्सर इन उद्यमों को विशेष रियायतें दी जाती हैं। अक्सर इन्हें यह आश्वासन दिया जाता है कि वे अपना लाभ और यदि चाहें तो अपनी पूंजी भी अपने दश वापस ले जाने लिए स्वतन्त्र होंगे।

इस दृष्टिकोण को संयुक्त राष्ट्र महासभा के अनेक प्रस्तावों में विस्तार से प्रकट किया गया है और नई दिल्ली में आयोजित संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन (1968) में भी यह बात कही गयी है।[12] सन् 1969 में संयुक्त राष्ट्र के विकासशील देशों में विदेशी विनियोग सम्बन्धी कार्यदल में भी फिर इस बात की पुष्टि की गयी। इस कार्यदल की बैठक एम्स्टर्डम में हुई थी और इसमें विकसित देशों के व्यापार प्रतिनिधि और कम-विकसित देशों के अधिकारी शामिल थे।[13]

सामान्यतया कम-विकसित देश शर्तें भी लगाना चाहते हैं। वे यह निर्णय लेने में भी शामिल होना चाहते हैं कि उद्योग की किस शाखा में विदेशी उद्यम शुरू किया जाना चाहिए। अक्सर वे इसे संयुक्त रूप से चलाना चाहते हैं। अक्सर वे यह शर्त भी लगाते हैं कि उनके अपने देशवासियों की एक न्यूनतम संख्या को ऊंचे प्रबन्ध और तकनीकी पदों के लिए प्रशिक्षित और नियुक्त किया जायेगा।

अधिकांशतया विकसित देश इन शर्तों को कम-से-कम उनके सामान्य रूप में स्वीकार कर लेते हैं। जैसाकि हाल में संयुक्त राज्य अमरीका के अन्तर-अमरीका मामलों के सहायक मन्त्री चार्ल्स ए० मीयर ने समझाया : "......प्रत्येक देश को स्वयं यह निश्चय करना चाहिए कि वह कितनी मात्रा में (विदेशी उद्यमों को)

चाहता है और किन शर्तों पर उसे इन उद्यमों की आवश्यकता है।"[14] इस सामान्य सहमति के पीछे कम-विकसित देशों को केवल पूंजी की प्राप्ति का ही लाभ नहीं है, बल्कि तकनीकी जानकारी, प्रबन्ध और विशेषकर उन बाजारों का परिचय भी प्राप्त होता है, जो विदेशी पूंजी विनियोग के साथ सामान्यतया सम्बन्धित होते हैं।

फिर भी सामान्यतया कम-विकसित देशों में यह शिकायत सुनने को मिलती है कि प्रत्यक्ष विनियोग अत्यधिक महंगे पड़ते हैं। यह बुनियादी तौर पर अनुदानों और रियायती दरों पर ऋण के रूप में अधिक सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का प्रयास है। इसके समर्थन में उन पूंजी विनियोगों का उल्लेख और स्मरण किया जाता है जो उपनिवेशी युग में निजी पूंजी बाजारों से प्राप्त किये जा सकते थे। अक्सर ब्याज की उससे कहीं कम दरों पर यह पूंजी उपलब्ध हो जाती थी, जिन दरों पर यह आज उपलब्ध होती है। उस समय यह पूंजी विनियोग बहुत महत्त्व-पूर्ण भूमिका निभाते थे।

अब क्योंकि सार्वजनिक अनुदान और ऋणों की मात्रा बड़ी सीमित है, और निजी पोर्टफोलियो विनियोग की आशा नहीं की जा सकती, यह शिकायत प्रत्यक्ष विनियोगों को स्वीकार करने से अधिकांश कम-विकसित देशों को नहीं रोक पाती।

वास्तविकता यह है कि अब तक जो अध्ययन हुए हैं, उनसे साधारणतया यह प्रकट नहीं होता कि प्रत्यक्ष पूंजी विनियोगों से बहुत ऊंचे लाभ प्राप्त हुए हों। लेकिन इन अध्ययनों पर अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता। विनियोजित पूंजी के बारे में यदाकदा ही अथवा कभी भी यह गणना नहीं की जाती है कि कितनी राशियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से पहले ही लगायी जा चुकी थीं। इस सम्बन्ध में जिन आँकड़ों का उल्लेख किया जाता है, वे अधिकांशतया मनमाने होते हैं और इस कारण से ऐसी किसी दर का कोई महत्त्व नहीं होता जो पूंजी की इस राशि के अनुसार व्यक्त की जाती है।

पूंजी लगाने वाली कम्पनी की दृष्टि से विनियोगों से अक्सर और पर्याप्त लाभ प्राप्त होते हैं। यद्यपि इन्हें सामान्य आँकड़ों में शामिल नहीं किया जाता।

एक बात तो यह है कि पूंजी लगाने वाली कम्पनी अपनी विदेशी शाखा को मशीनें, अतिरिक्त पुरजे और उत्पादन में काम आने वाला अन्य सामान भेजती है और पेटेंट के अधिकार और लाइसेंस सुलभ कराती है। यह कार्य अधिक बाहरी प्रतियोगिता के बिना ही हो जाते हैं। अतः अक्सर सामान और अधिकारों का दाम प्रायः मनमाने ढंग से और ऊँचे स्तर पर निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अलावा किसी देश में पाँव जमा लेने के बाद और उस देश के अधिकारियों और राजनीतिज्ञों से अपनी पटरी बैठा लेने के बाद, कम्पनी को उन चीजों का आयात करने के लाइसेंस भी अक्सर मिल जाते हैं, जिनका यह उत्पादन भी करती है। इसके अलावा इसे ऐसे अन्य लाभ भी मिल जाते हैं, जो अन्यथा प्राप्त नहीं होते।

मैंने इन बातों पर कम-विकसित देशों में स्थापित विदेशी कम्पनियों की शाखाओं के स्थानीय अधिकारियों से बातचीत की है। मैंने सदा यह देखा कि वे उस मनमाने तरीके की खुले तौर पर पुष्टि करने के लिए राजी हो जाते हैं,

जिसके आधार पर उनके विनियोगों के पूँजी सम्बन्धी मूल्यों को आँका जाता है। वे उन अतिरिक्त लाभांशों और अन्य सुविधाओं को भी स्वीकार करते हैं, जो उन्हें उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए, करों सम्बन्धी रियायतें। वास्तव में वे अक्सर जोर देकर यह बात कहते हैं कि यह कम महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है कि उनकी कम्पनियों ने इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही यह पूँजी लगाना स्वीकार किया।

इन बातों ने मुझे आश्वस्त कर दिया है कि मुनाफे की जिन दरों का साधारणतया उल्लेख किया जाता है वे अयथार्थ और अत्यधिक नीची हैं। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि खुले मस्तिष्क वाले और पूर्वाग्रह से मुक्त अनुसन्धान-कर्त्ताओं द्वारा खोज करने पर इस बात पर और अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है कि मुनाफे की वास्तविक दरें कितनी ऊँची हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में जो चतुरतापूर्ण और जटिल शब्दावली अक्सर प्रयुक्त की जाती है, उसके अनुरूप एम्स्टर्डम के करार में निम्नलिखित प्रेक्षण शामिल किया गया है :

"कार्यदल यह स्वीकार करता है कि विभिन्न देशों में एक ही प्रकार के पूँजी विनियोग की लाभदायकता के तुलनात्मक अध्ययन तभी सार्थक हो सकते हैं, जब उनमें लाभों के समस्त तत्त्वों का ध्यान रखा गया हो। इन तत्त्वों में उन कीमतों के सम्भावित अन्तर शामिल हैं, जिन पर साज-सामान और अन्य वस्तुएँ सप्लाई की जाती हैं। इसी प्रकार रायल्टी और सेवा-शुल्कों की राशियों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। पूँजी लगाने वाले और जिस देश में पूँजी लगायी गयी है, उसकी सामाजिक, आर्थिक और कानूनी स्थिति और प्रतियोगिता की सीमा का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। कार्यदल ने इस विषय के और अध्ययन की भी सिफारिश की और कहा कि जहाँ कहीं आवश्यक हो यह अध्ययन उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सहायता से क्षेत्रीय अथवा विभिन्न उद्योगों के आधार पर किया जाना चाहिए।"[15]

मैं पहले ही यह बात जोर देकर कह चुका हूँ कि अधिकांश कम-विकसित देशों में निजी प्रत्यक्ष विनियोग की राशि बहुत अधिक नहीं है—यह उससे कहीं कम है जिसका अनुमान उसके बारे में चलने वाली जबर्दस्त बहस के आधार पर लगाया जा सकता है।[16] लेकिन कुछ देशों में, विशेषकर लेटिन अमरीका में, इस पूँजी विनियोग के कारण लोगों के मन में यह भाव जगता है कि वह अपनी स्वतन्त्रता से वंचित हो रहे हैं अथवा पहले ही वंचित हो चुके हैं।

ये आशंकाएँ उस समय स्वाभाविक रूप से प्रबल होती हैं, जब किसी बड़े देश की कम्पनियाँ पूँजी लगाती हैं। व्यवहार में इसका अभिप्राय संयुक्त राज्य अमरीका से होता है। ये शंकाएँ उस स्थिति में और भी प्रबल होती हैं जब पूंजी लगाने वाली कम्पनी की शाखाएँ संसार-भर में फैली हुई हों। अधिकांशतः इसका अभिप्राय अमरीकी कम्पनियों से ही होता है। जब यह देखा अथवा समझा जाता है कि अमरीकी सरकार विदेशों में अमरीकी कम्पनियों की सहायता के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करेगी तो यह आशंकाएँ और गहरी हो जाती हैं।

सम्भवतः इन आशंकाओं की जानकारी एक ऐसा कारण है कि संयुक्त राज्य अमरीका के लोग इन देशों में प्रत्यक्ष पूंजी विनियोग के प्रति इतने उत्साहित नहीं

होते। लेकिन यह प्रतिक्रिया व्यापक दिखायी नहीं पड़ती। लेकिन अमरीकी प्रशासन के स्तर पर यदा-कदा कुछ सतर्कता प्रदर्शित की जाती है।

श्री मीयर के लेख का जो वाक्य पहले उद्धृत किया जा चुका है, उससे यह बात प्रमाणित होती है। इसी लेख में उन्होंने अधिक स्पष्टता से यह बात कही :

"लेटिन अमरीका के विकास के लिए अन्ततः स्वयं लेटिन अमरीका में ही साधन जुटाये जाने चाहिए। आर्थिक दृष्टि से यह अनिवार्य दिखायी पड़ता है। सम्भवतः राजनीतिक दृष्टि से भी यह वांछित है······संयुक्त राज्य अमरीका ऐसे किसी भी मामले में हिस्सा नहीं लेना चाहता जहाँ पूँजी विनियोग की अपेक्षा नहीं है और न ही हम किसी देश में इतनी गहराई से उलझना चाहते हैं कि हमारे देश की विनियोजित पूँजी की राशि इतनी बड़ी हो जाये कि यह परेशानी पैदा करने लगे।"[17]

इस दृष्टि से कुछ निष्कर्ष स्वयं प्रकट दिखायी पड़ते हैं। एक बात तो यह है कि यह विकसित और कम-विकसित दोनों प्रकार के देशों के सामान्य हित में होगा कि अधिक प्रत्यक्ष पूँजी विनियोग उन देशों से हो जो संयुक्त राज्य अमरीका जितने बड़े नहीं हैं और जो उसकी तरह इतने समीप नहीं हैं। इन और अन्य कारणों से इन देशों की सरकारें पूँजी लगाने वाली अपनी कम्पनियों के हितों की रक्षा के लिए राजनीतिक अथवा सैनिक शक्ति के प्रयोग के लिए इतनी लालायित नहीं होंगी। इस प्रकार वितरित होने के कारण विदेशी पूँजी विनियोग उस कम-विकसित देश की स्वतन्त्रता के हनन की कम आशंकाएँ उत्पन्न करेगा, जहाँ यह विनियोग किया जाता है।

इसी प्रकार यह बात भी उपयोगी होगी कि अधिक पूँजी विनियोग वे कम्पनियाँ करें जो विदेशों में पूँजी लगाने के काम में लगी अमरीकी कम्पनियों जितनी विशाल नहीं हैं। इस कार्रवाई से भी उक्त उद्देश्य पूरे होंगे।

यद्यपि ये निष्कर्ष बड़े स्पष्ट हैं, लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका में इनके प्रति अधिक सूझबूझ नहीं दिखायी गयी है। सन् 1969 की गर्मियों में लेटिन अमरीका के देशों की चार महत्त्वपूर्ण यात्राओं के बाद गवर्नर नेल्सन ए० रॉकफेलर ने एक बड़े आशापूर्ण शीर्षक 'क्वालिटी आफ लाइफ इन दि अमेरीकाज़' के अन्तर्गत एक रिपोर्ट जारी की है। इन यात्राओं में उनके साथ बड़ी संख्या में अधिकारी और सब विषयों के विशेषज्ञ भी थे। वे इस रिपोर्ट में सबसे पहले यह कहते हैं :

"गोलार्द्ध के बहुत अधिक और सम्भवतः अधिकांश नागरिक संयुक्त राज्य अमरीका के निजी पूँजी विनियोग को एक प्रकार का शोषण अथवा आर्थिक उपनिवेशवाद कहते हैं······संयुक्त राज्य की कम्पनियों द्वारा इन देशों पर छा जाने का भय अक्सर व्यक्त किया जाता है।"[18]

अत्यधिक अनुत्तरदायी तरीके से और बिना किसी तर्क के वे इसे 'ग़लत विचार' बताते हैं और यह सिफारिश करते हैं कि "संयुक्त राज्य को पूरे गोलार्द्ध में निजी विनियोग को अधिकतम प्रोत्साहन देना चाहिए।"

बहुत समय पहले प्रोफ़ेसर पी० एन० रोज़ेनस्टीन-रोडान ने टेक्नालॉजी और प्रबन्ध सम्बन्धी अनुभव और सम्भवतः पूँजी के हस्तान्तरण का एक तरीका सुझाया था, जो ऐसे विकास में सहायक हो सकता था।[19] उन्होंने इसे 'प्रबन्ध सम्बन्धी ठेका' कहा था। इस विचार पर अनेक लेखकों ने यदा-कदा अपने विचार

व्यक्त किये हैं।[20]

इस विचार में कहा गया है कि किसी विदेशी कम्पनी को किसी कम-विकसित देश की सरकार से एक सीमित अवधि, जैसे दस वर्ष, के लिए एक नया कारखाना लगाने और उसका प्रबन्ध चलाने का ठेका करना चाहिए।

विदेशी कम्पनी को इस सहमत अवधि के लिए या तो प्रत्यक्ष रूप से पूँजी लगानी चाहिए अथवा राज्य या किसी स्थानीय कम्पनी से मिलकर यह काम करना चाहिए। अथवा यह शुरू से ही स्वामित्व से दूर रह सकती है और अपने प्रबन्ध के ठेके की अवधि के लिए निश्चित ब्याज की राशि पर ऋण दे सकती है।

लेकिन इस ठेके में सम्बन्धित विदेशी कम्पनी को इस बात का आश्वासन दिया जाना चाहिए कि उसे प्रबन्ध चलाने के लिए निर्धारित शुल्क दिया जायेगा और यदि उसने पूँजी लगायी है तो वह भी निश्चित तारीखों पर उस समय तक हुए सामान्य लाभ के साथ लौटा दी जायेगी। इस कम्पनी को अपनी ओर से आवश्यक टेक्नालॉजी और प्रबन्ध सम्बन्धी अनुभव देना होगा लेकिन जिस देश में कारखाना लगाया जाता है उसके कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने और काम पर लगाने का कार्य भी धीरे-धीरे करना होगा।

ऐसी कोई भी योजना पारस्परिक हितों को पूरा करती हुई दिखायी पड़ेगी। कम-विकसित को उद्योग शुरू होने तथा आवश्यक तकनीकी जानकारी और अनुभव प्राप्त होने का आश्वासन रहेगा और यदि, सहमति हुई तो एक निश्चित अवधि के लिए कुछ पूँजी भी मिल सकती है। इसके बाद उस कारखाने पर स्वयं इस देश का स्वामित्व होगा अथवा यह अपने देशवासियों के किसी समूह को इसका स्वामित्व प्राप्त करने की अनुमति दे सकता है।

इस प्रकार कोई विदेशी कम्पनी विदेशों को अपने प्रबन्ध और टेक्नालॉजी सम्बन्धी ज्ञान को बेचकर, अपनी पूँजी विदेशों में लगाये बिना ही लाभ अर्जित कर सकती है अथवा एक निश्चित अवधि के लिए अपनी पूँजी लगा सकती है। इससे अनेक छोटी औद्योगिक कम्पनियाँ अधिक दिलचस्पी लेंगी और वे अन्तर्राष्ट्रीय उद्योगों में हिस्सा ले सकेंगी।

मैंने रोज़ेनस्टीन-रोडान के इस विचार पर कम-विकसित देशों के अनेक राजनीतिज्ञों से बातचीत की है, लेकिन मुझे इस सम्बन्ध में कोई उत्साह दिखायी नहीं पड़ा। इस पर मुझे विशेष रूप से आश्चर्य हुआ। एक प्रधानमन्त्री ने यह कहा कि वे बड़ी कम्पनियों की तुलना में सरकारों से पूँजी विनियोग की बातचीत करना अधिक पसन्द करते हैं।

लेकिन वे इस बात पर सहमत थे कि यदि विदेशी पूँजी लगाने वालों में बड़े उद्योगों की कम संख्या होती है और ये कम्पनियाँ अधिक छोटे देशों की होती हैं तो इससे उनके देश की स्वाधीनता को कम खतरा उत्पन्न होगा। उद्योगों के चल निकलने पर ये कम्पनियाँ वहाँ से चले जाने के लिए अधिक तत्पर होंगी।

व्यक्तिगत रूप से मेरा विश्वास है कि संसार-भर में कहाँ ऐसे साझीदार उपलब्ध हो सकते हैं इस बात की जानकारी कम-विकसित देशों को नहीं है और वे आसानी से यह जानकारी प्राप्त कर भी नहीं सकते। अतः मैंने कभी-कभी

विकसित देशों के अधिकारियों से जोर देकर यह बात कही है कि वे इस समस्या में दिलचस्पी लें, ठेकों के मानक मसौदे तैयार करें और ऐसी विभिन्न कम्पनियों का ध्यान इस मामले की ओर आकृष्ट करें, जिन्होंने शायद ही कभी अपने प्रबन्ध और टेक्नालॉजी सम्बन्धी अनुभव को लम्बी अवधि के लिए पूंजी लगाने की सम्भावना के बिना बेचने की बात पर विचार किया हो।

कम-विकसित देश साधारणतया जो शर्तें लगाना चाहते हैं, उनमें एक शर्त यह भी है: विदेशी विनियोग उनकी अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहना चाहिए।

कोई भी विकसित देश यह नहीं चाहेगा कि उसके सार्वजनिक उपयोग के प्रतिष्ठानों पर विदेशी पूंजी विनियोजकों का स्वामित्व हो। संयुक्त राज्य अमरीका को छोड़कर अन्य सब विकसित देशों में बहुत समय पहले ही यह निर्णय ले लिया गया था कि इन प्रतिष्ठानों पर सार्वजनिक स्वामित्व होगा और उनका प्रबन्ध भी सार्वजनिक नियन्त्रण में होगा। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी इन प्रतिष्ठानों के ऊपर संघीय नियन्त्रण कायम किये हैं और कभी भी अमरीका यह नहीं चाहेगा कि इन प्रतिष्ठानों पर विदेशियों का स्वामित्व हो।

अतः यह विश्वास करना कठिन है कि लम्बी अवधि की दृष्टि से कम-विकसित देशों में भी सार्वजनिक उपयोगिता के प्रतिष्ठानों से विदेशी हितों को अलग रखने की ऐसी ही इच्छा नहीं जगेगी। एक ऐसी ही तुलना इस मत को समर्थन प्रदान करती है कि वे यह अनुभव करेंगे कि खानों के स्वामित्व और बड़ी-बड़ी जागीरों के रूप में भूमि के स्वामित्व से विदेशियों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

वे यह भी अनुभव करेंगे कि विभिन्न विनिर्माण उद्योगों में विदेशी हितों को आवश्यकता से अधिक प्रभावशाली स्थिति में आने से रोका जाये। विशेषकर उस स्थिति में जब ये उद्योग बहुत बड़े देशों की बहुत बड़ी कम्पनियों की शाखाओं के रूप में चलाये जा रहे हों। वास्तव में इसका अभिप्राय संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियों से ही होता है।

इस दृष्टि से लेटिन अमरीका के कम-विकसित देशों को, लेकिन केवल इन्हीं देशों में नहीं, एक ऐसी स्थिति विरासत में प्राप्त हुई है, जिसे केवल एक ऐसे राष्ट्रीयकरण के माध्यम से सुलझाया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप हितों का गम्भीर संघर्ष उत्पन्न होता है। इस प्रकार के राष्ट्रीयकरण किये गये हैं और यह पूर्व-कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि भविष्य में भी ऐसे ही राष्ट्रीयकरण और होंगे।

यह संघर्ष अक्सर एक दुर्भाग्यपूर्ण ऐतिहासिक विरासत में निहित होता है। एक जमाने में भूमि और अन्य रियायतों को नाममात्र के भुगतान पर प्राप्त किया गया था और यदा-कदा यह कार्य भ्रष्टाचार से मुक्त तरीकों से भी नहीं किया गया था। अतः सरकार ऐसे मुआवजे देने को तैयार नहीं होगी जिन्हें वर्तमान बाजार दर पर देने की बात कही गयी हो। कम-से-कम स्वदेश में इसके ऊपर इस बात का दबाव रहेगा कि मुआवजा न दिया जाये। दूसरी ओर विदेशी कम्पनियाँ उन माँगों को अनुचित समझती हैं और सम्पत्ति और हिस्सा

पूँजी में अक्सर स्वामित्व का परिवर्तन नियमित रूप से होता रहता है। कभी-कभी कई बार स्वामित्व का परिवर्तन होता है । यदि ये विदेशी हित संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियों के हैं तो वे बहुत जोरदार शब्दों में इस बात की माँग करेंगी कि संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार उनका समर्थन करे। इसका एक प्रासंगिक प्रभाव यह होगा कि नये विदेशी विनियोग का उत्साह समाप्त हो जायेगा।

लेटिन अमरीका में पुराने अमरीकी विनियोगों के सम्बन्ध में अधिकाधिक संख्या में ऐसे संघर्षों की पूर्व कल्पना कर पाना कठिन नहीं है, जहाँ अतीत की तरह ही भविष्य में भी सरकारें निरन्तर बदलती रहेंगी। लेकिन कम-विकसित संसार के दूसरे हिस्सों में भी यह ज्वलन्त प्रश्न बना हुआ है।

विश्व बैंक ने ऐसे संघर्षों सम्बन्धी समस्याओं में सुलह सफाई कराने अथवा पंच-निर्णय देने की ओर ध्यान दिया है, ताकि इन संघर्षों के कारण विकसित और कम-विकसित देशों के बीच विदेशी पूँजी विनियोग और अन्य क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के राजनीतिक वातावरण को दूषित होने से रोका जा सके।

इन संघर्षों का शान्तिपूर्ण समाधान तब और अधिक सम्भव हो जायेगा यदि कुछ परिस्थितियों में बैंक अच्छे इरादों से प्रेरित राष्ट्रीयकरण के लिए ऋण देने को तैयार हो जाये—यह ऋण उसी प्रकार दिया जा सकता है, जिस प्रकार मैंने भूमि सुधार के लिए अध्याय-8 में ऋण देने की बात कही है।

विकसित और कम-विकसित दोनों प्रकार के देशों में कम-विकसित देशों में निजी प्रत्यक्ष विनियोग के बारे में विचार-विमर्श इन देशों के विकास के राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया जाता है।

लेकिन यहाँ आकर हमें इस बात का उल्लेख करना होगा कि अधिकांश कम-विकसित देशों में अत्यधिक असमानतावादी सामाजिक व्यवस्था है। इन देशों पर उच्च वर्ग के समूहों के कुछ लोगों का शासन कायम है।

यह स्थिति ऐसी नीतियों का मार्ग प्रशस्त करती है, जो अनिवार्यतः ऐसी नहीं होतीं, जिन्हें इन देशों के लम्बी अवधि के राष्ट्रीय हितों में कहा जा सके। इन छोटे शासक समूहों के सदस्यों के निजी हित दाव पर लगे होते हैं और कभी-कभी इन हितों की ऐसी स्थिति होती है कि ये सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं किये जा सकते अर्थात् इन्हें छिपाये रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

एक दृष्टि से यह स्थिति किसी कम-विकसित देश में विदेशी कम्पनी द्वारा पूँजी विनियोग के कार्य को आसान बना सकती है। पर स्थिति चाहे कुछ भी हो, यह प्रायः आवश्यक होता है कि सत्तारूढ़ लोगों से सहयोग किया जाये।

यह अक्सर देखा गया है कि कम-से-कम छोटी अवधि की दृष्टि से विदेशी पूँजी विनियोग उस क्षेत्र को शक्तिशाली बनाने में सहायता देते हैं, जिन्हें कम-विकसित देश में 'निजी क्षेत्र' कहा जाता है। जैसाकि अध्याय-3 और 8 में कहा गया है ये विनियोग इस प्रकार सम्बन्धित देश में उच्च वर्ग की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्ति को और बढ़ायेंगे—वैध सौदों के अभाव में यह कार्य होगा।[21]

लेकिन साधारणतया उच्च वर्ग के लोगों का यह समूह प्रतियोगी टुकड़ों में

बँटा है। राजनीतिक शासन अक्सर अधिक स्थिर नहीं होता, जिसका प्रमाण कम-विकसित देशों में सरकारों का तख्ता उलटने की आये दिन की कार्रवाइयाँ हैं।

सत्ता पर अधिकार के इन अधिकांश प्रयासों का अभिप्राय उच्च वर्ग के प्रभावशाली समूहों के बीच सत्ता का हस्तान्तरण होता है। लेकिन कुछ कम-विकसित देशों में, और यह बात लेटिन अमरीका पर भी लागू होती है, अधिक व्यापक विरोधी आन्दोलन का समारम्भ हो रहा है। कभी-कभी इस आन्दोलन में 'मध्यम वर्ग' के लोगों के अलावा सामान्य जन-समुदाय के लोग भी शामिल होते हैं।

ऐसी कोई विदेशी कम्पनी, जिसे बाध्य होकर सत्तारूढ़ लोगों से सहयोग करना पड़ा हो और जिसे इसका लाभ भी प्राप्त हुआ हो, स्वयं को आसानी से कठिन स्थिति में पा सकती है। इस स्थिति में कम्पनी, और यदि यह कोई अमरीकी कम्पनी है तो अमरीका सरकार दोनों सम्वन्धित कम-विकसित देश के आन्तरिक, राजनीतिक सत्ता के संघर्ष में आसानी से फँस जाते हैं।

यह एक ऐसी स्थिति है, जो न तो संयुक्त राज्य अमरीका के लिए और न ही विदेश में पूँजी लगाने वाली इसकी किसी कम्पनी के लिए, मीयर के शब्दों में, 'आरामदेह' हो सकती है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि संसार-भर में अमरीका के प्रत्यक्ष पूँजी विनियोग में वृद्धि, यह जरूरी नहीं है कि स्वयं अमरीका के अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हित में हो जैसाकि इन विनियोगों को वढ़ाने के प्रचार में सामान्यतया मान लिया जाता है।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि संयुक्त राज्य अमरीका और वस्तुतः सब विकसित देशों का कम-विकसित देशों के साथ यह सामान्य हित है कि उच्च पदों पर आसीन लोगों में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाये और उच्च वर्ग के कुछ समूहों ने सत्ता पर जो एकाधिकार कर लिया है और जो भ्रष्टाचार की उर्वर भूमि बन गया है, उसे समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार इन देशों के राजनीतिक सत्ता के आन्तरिक संघर्षों में फँसने की कठिनाई से भी बचा जा सकता है।

●

अध्याय : 11

सहायता

1. यूरोपीय पुर्ननिर्माण कार्यक्रम

दूसरे महायुद्ध के बाद से कम-विकसित देशों को सार्वजनिक सहायता देने के क्षेत्र में जो अधिकांशतया होता रहा है उसका एक पूर्व इतिहास है। विकसित देशों में कम-विकसित देशों से अपने सम्बन्धों के प्रति लोगों के मन में जो भ्रान्तियाँ हैं, उन्हें बेहतर ढंग से समझने के लिए इस पूर्व इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना आवश्यक है।[1]

जब दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ तो संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वयं को ऐतिहासिक दृष्टि से एक विलक्षण स्थिति में पाया। अपने मित्र राष्ट्रों के विपरीत अमरीका किसी भी सैनिक कार्रवाई के परिणामस्वरूप होने वाली क्षति से अछूता ही नहीं था, बल्कि युद्ध आरम्भ होने के समय की तुलना में आर्थिक दृष्टि से कहीं अधिक बेहतर था। अमरीका ने आर्थिक मन्दी और व्यापक तथा लम्बे अर्से से चली आ रही बेरोजगारी की स्थिति में युद्ध में प्रवेश किया था। पर युद्ध ने वह कर दिखाया जो अमरीका सरकार का न्यूडील कार्यक्रम करने में असफल रहा था। युद्ध के परिणामस्वरूप रोजगार में तथा आय और रहन-सहन के स्तरों में तेज़ी से वृद्धि हुई।

इस परिस्थिति में संयुक्त राज्य अमरीका ने प्रायः अकेले ही आर्थिक सहायता देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली जिसकी पुर्ननिर्माण और युद्ध से हुई क्षति को पूरा करने के लिए आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इस सहायता का अधिकांश भाग पश्चिम यूरोप के देशों को मिला। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में—दक्षिण यूरोप के देशों को छोड़कर—पश्चिम यूरोप को इन देशों को उत्तर अमरीका और आस्ट्रेलिया सहित संसार के उन गिने-चुने देशों में शामिल करना होगा जो उद्योगों में उन्नत और आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं। यद्यपि युद्ध के कारण कुछ समय के लिए वे आर्थिक दृष्टि से अपंग हो गये थे।

मार्शल योजना और यूरोपीय पुर्ननिर्माण कार्यक्रम के अधीन जो सहायता कार्य किया गया उसका यह अभिप्राय था कि एक अमीर देश ने समृद्धि की क्षमता रखने वाले दूसरे देशों को बड़े पैमाने पर सहायता दी। अमरीकियों और अधिकांश यूरोपवासियों को 'सम्पदा में हिस्सा बटाना' बड़ा स्वाभाविक लग रहा था। लेकिन यह हिस्सा-बटायी केवल अमीरों के बीच ही थी।

यूरोप पर केन्द्रित यही रुझान उस समय अन्य अनेक क्षेत्रों में देखा जा सकता था। अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर शरणार्थियों को सहायता देने के जो प्रयास किये जा रहे थे, उनका लाभ यूरोप के विस्थापित और इधर-उधर भटक रहे लोगों

को ही मिल रहा था, जबकि, उदाहरण के लिए, भारत और पाकिस्तान को अपने शरणार्थियों की देखभाल स्वयं अपने ही साधनों से यथाशक्ति करनी पड़ी।

इस आरम्भिक दौर में संयुक्त राज्य अमरीका ने पश्चिम यूरोप के लोगों के प्रति जो उदारता दिखायी वह प्रायः असीम थी। अमरीका सरकार ने अपनी शक्ति के उपयोग में अधिकतम संयम प्रदर्शित किया। इसने यूरोप की सरकारों को सलाह दी कि वे अपने-आप निर्णय लें और वे स्वयं जिस निर्माण नीति पर सहमत होंगे, अमरीका उसके लिए वित्तीय और अन्य सहायता देगा।

व्यापार के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका ने पश्चिम यूरोप के देशों को इस बात की छूट दी कि वे उसके निर्यात के विरुद्ध खुलकर भेदभाव बरत सकें। वास्तव में अमरीका ने उन्हें स्वयं अपने विरुद्ध भेदभावपूर्ण नीतियाँ निर्धारित करने में सहायता दी और यदा-कदा अपने व्यापारिक हितों के जबरदस्त दबाव का भी मुकाबला किया। कम-से-कम एक बार अमरीका सरकार ने अमरीका की एकाधिकारी तेल कम्पनियों के विरुद्ध हस्तक्षेप किया और एक ऐसी मूल्य नीति निर्धारित करने का निषेध किया जिससे पश्चिम यूरोप को हानि पहुँच सकती थी। जब आगे चलकर कम-विकसित देशों ने विदेश व्यापार में विशेष रियायतें देने की बात उठायी तो संयुक्त राज्य अमरीका ने —और अधिकांश विकसित देशों ने भी—जो रवैया अपनाया वह उक्त रवैये से प्रायः बिल्कुल विपरीत था।

पश्चिम यूरोप को मुख्यतया वित्तीय सहायता मिली थी। सैनिक सहायता को छोड़कर अन्ततः सहायता की यह राशि 30 अरब डालर बैठी —उस समय डालर का वास्तविक मूल्य उससे बहुत ऊँचा था जो आगे चलकर मुद्रास्फीति के कारण रह गया था। उक्त राशि में से दो-तिहाई शुद्ध अनुदान के रूप में प्राप्त हुआ था।

उस समय मैं यह अनुभव कर रहा था कि यह पूरी सहायता ऋणों के रूप में दी जानी चाहिए थी। पश्चिम यूरोप के देशों की आर्थिक स्थिति सुधर जाने के बाद इन ऋणों को चुकाया जा सकता था। मेरा कभी भी यह विश्वास नहीं रहा—और आज भी नहीं है—कि एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को उपहार के रूप में सहायता देना आवश्यक, स्वाभाविक अथवा यहाँ तक कि बुद्धिमत्तापूर्ण नीति हो सकती है—यह केवल तभी हो सकता है जब सहायता प्राप्त करने वाला कोई कम-विकसित देश हो, जिसे गहराई से पैठी हुई संरचनागत खामियों को दूर करना हो।

आगे चलकर जो कुछ हुआ उस पर विचार करते समय मेरी तत्कालीन राय की पुष्टि हो जाती है। आज और पिछले दशक में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय की स्थिति कहीं अधिक अच्छी होती यदि अमरीका पश्चिम यूरोप की सरकारों से धीरे-धीरे और उचित मुआवजे सहित ऋणों के भुगतान की माँग करता। मार्शल योजना के युग में अमरीका के कार्यों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि उसने पश्चिम यूरोप के प्रति जो चिन्ता का भाव दिखाया उसमें तर्क-सम्मत उदारता का भाव होना चाहिए था।

इसके विपरीत अनुदानों, और बहुत लम्बी अवधि के ऋणों, ने पश्चिम यूरोप के देशों को अपनी स्थिति में सुधार हो जाने पर सोने और मुद्रा के आवश्यकता से अधिक बड़े सुरक्षित कोष बनाने में मदद दी। इससे संयुक्त राज्य अमरीका

तक की विदेशी मुद्रा के भुगतान की स्थिति को खतरा उत्पन्न हुआ। हम सब यह जानते हैं कि दगाल के शासन काल में फ्रांस—जो बड़े-बड़े अनुदान प्राप्त करने वाले देशों में से था—कुछ समय के लिए ऐसे दवाव डाल सका जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका को प्रायः डराने-धमकाने की कार्रवाई कहा जा सकता है

लेकिन उस आरम्भिक युग में अमरीका उपहार देना चाहता था। मैं स्वयं इस बात का साक्षी हूँ कि इस प्रकार अमरीकी अफसरों ने बड़ी कृपापूर्वक पर असफल रहकर अपने स्वीडन के सहयोगियों को अनुदान लेने के लिए कहा—स्वीडन को न तो इन अनुदानों की आवश्यकता थी और न ही वह लेना चाहता था। स्वीडन को 'समानता' और 'सहयोग' के हित में ये अनुदान लेने को कहा जा रहा था।

संयुक्त राज्य अमरीका खुले अनुदानों, ऐसे ऋणों को जिनकी अदायगी सहमति प्राप्त शर्तों पर जरूरी नहीं थी, और सीधे ऋणों को एक साथ 'सहायता' के नाम से पुकारने पर जोर देता था। मार्शल योजना के युग में जब सबसे पहले यह तरीका शुरू हुआ तो मैंने इसे अमरीकियों की आवश्यकता से अधिक उदारता के रूप में देखा। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में अमरीका की अस्थिर पृष्ठभूमि और दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में जर्मनी और लेटिन अमरीका को दिये गये विशाल ऋणों के उसके खेदजनक अनुभवों के कारण यह और अधिक सम्भव हुआ था।

पर उस समय मैंने यह देखा कि मुश्किल से ही कोई यूरोपीय अर्थशास्त्री अथवा राजनीतिज्ञ मेरे समालोचनात्मक विचारों से सहमत था अथवा इस समस्या पर विचार करने को तयार था। वे सब बड़े-बड़े अनुदानों से खुश थे और ऋणों को सहायता बताये जाने की बात को स्वीकार करने को तत्पर थे, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप यह अस्पष्ट अनिश्चितता उत्पन्न होती थी कि क्या इन ऋणों को चुकाया जाना चाहिए और यदि हाँ तो कैसे। इस प्रकार भ्रान्तिपूर्ण विचार का वह क्रम स्थापित हो गया जो आज भी बना हुआ है। उस समय शब्दावली सम्बन्धी जो गड़बड़ पैदा हुई थी, जिसे मैं बुनियादी तौर पर समृद्ध और विकसित देशों के प्रति अमरीका की आवश्यकता से अधिक उदारता का परिणाम समझता था, अब गरीब और कम-विकसित देशों के प्रति कृपणता दिखाने का माध्यम बन गयी है। आज हर प्रकार की पूंजी के आगमन को, निजी और सार्वजनिक पूंजी के आगमन को, 'सहायता' नाम दिया जाता है। इतिहास अक्सर कितना विरोधाभासपूर्ण होता है।

मैं सबसे पहले मार्शल योजना के युग में संयुक्त राज्य अमरीका में व्याप्त विचारों और भावनाओं का कुछ अधिक गहराई से विवेचन करना चाहूँगा।

अमरीका सरकार ने 1947 की गर्मियों से ही मार्शल योजना को साम्यवाद के विरोध के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। आरम्भ से ही मुझे अमरीका के अधिकारियों ने अक्सर यह बताया कि यह दृष्टिकोण आंशिक रूप से एक रणनीति के रूप में अपनाया जा रहा है : अमरीकी संसद में आसानी से और व्यापक रूप से इसे स्वीकृति दिलाने और अमरीकी जनता का अधिक व्यापक समर्थन प्राप्त करने के लिए यह तरीका अपनाया गया है।

जब शीतयुद्ध तेज हुआ जिसे स्तालिन के साथ विचित्र 'सहयोग' से सक्रिय

बढ़ावा मिला,[2] और विशेषकर 1949 में चीन में कम्युनिस्टों की विजय और अमरीका में मैकार्थीवाद के उदय से इस विशेष कारण से पश्चिम यूरोप के देशों को सहायता देने की बात अधिक महत्त्वपूर्ण बन गयी। लेकिन उस समय तक इस योजना का समारम्भ हो चुका था और इसे जारी-भर रखना शेष था।

मोटे तौर पर साम्यवाद विरोधी अपील की भूमिका को यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम से अलग ही रखा गया, पर कम्युनिस्ट विरोध का उपयोग यूरोप के देशों की सरकारों तथा अन्य गैर-कम्युनिस्ट सरकारों को कम्युनिस्ट देशों को होने वाले निर्यात के प्रति अमरीका में जारी भेदभावपूर्ण निर्यात लाइसेंस नीति से सम्बद्ध करने के लिए किया गया (यह काम अमरीकी संसद की ओर से कुछ शर्तें लगा-कर किया गया)।[3]

पर यह मेरी सुविचारित राय है कि आरम्भ में अमरीका के लोगों को—किसानों और मजदूरों, शिक्षकों और पादरियों, वकीलों और व्यापारियों को—और संसद में उनके प्रतिनिधियों को मार्शल योजना को अपना समर्थन देने की प्रमुख प्रेरणा संकट में फँसे राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति और एकता की कहीं अधिक सकारात्मक भावना से प्राप्त हुई थी। इतना ही नहीं, वे इन संकटग्रस्त राष्ट्रों से स्वयं को सांस्कृतिक और रक्त सम्बन्धों से जुड़ा अनुभव करते थे। यह प्रेरणा यूरोप के निवासियों को साम्यवाद से बचाने और शीतयुद्ध में उन्हें अपना साथी बनाये रखने की नकारात्मक प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि कम्युनिस्ट विरोध के आकर्षण ने उनकी भावनाओं को निस्सन्देह और बढ़ावा दिया और जैसे-जैसे शीतयुद्ध तेज़ होता गया, इन भावनाओं में प्रखरता आती गयी।

मार्शल योजना के सम्वन्ध में अमरीकियों को प्रेरित करने की एक विलक्षणता यह रही कि आरम्भ से ही जिन व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये उन्होंने स्वयं को और दूसरों को इस बात से आश्वस्त करने की कोशिश की, कि वे "संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हित में" काम कर रहे हैं। मुझे यह अमरीकियों द्वारा स्वयं अपने उदारतापूर्ण उद्देश्यों के प्रति विचित्र और बुनियादी तौर पर अवांछित सन्देह का एक और उदाहरण लगा जिसका एक बार मैंने उनकी कट्टरपन्थी परम्परा के कुछ विकृत तत्त्व के रूप में विश्लेषण किया था।

भविष्य में संयुक्त राज्य अमरीका के कम-विकसित देशों से सम्बन्धों के बारे में जो होना था उसकी दृष्टि से अपने देशों में यूरोप निवासियों का अमरीका के उक्त विचार-विमर्श पर एक खास प्रतिक्रिया दिखाना महत्त्वपूर्ण था। अमरीकियों की यह स्वीकारोक्ति कि वे अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर काम कर रहे हैं, यूरोप में अक्सर अत्यन्त तत्परता से इस बात का आधार बनायी गयी कि ऋणों आदि का भुगतान करने की, इसके प्रति कृतज्ञता तक प्रकट करने की कोई जरूरत नहीं है।

यूरोप के जिन देशों को बड़े पैमाने पर सहायता मिली थी उनमें यह प्रति-क्रिया विशेष रूप से हुई। उस समय यूरोप में स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन ही एकमात्र ऐसे देश थे जिनमें लेशमात्र को भी अमरीका विरोध नहीं था। और यही ऐसे देश थे जिन्हें अमरीका से कोई अनुदान प्राप्त नहीं हुआ था। मुझे

स्मरण है कि यूरोपियनों की एक सामाजिक पार्टी में ब्रिटेन की मजदूर दल की सरकार का एक सदस्य यह समझा रहा था कि संयुक्त राज्य अमरीका को स्वदेश में मन्दी रोकने के लिए फिलहाल और निकट भविष्य में निर्यात होने वाले अपने माल का एक बड़ा हिस्सा अनुदान के रूप में दे डालने की ज़रूरत रहेगी। अमरीकियों को इस बात से प्रसन्न होना चाहिए कि पश्चिम यूरोप उनके अतिरिक्त उत्पादन के लिए एक सुगम कूड़ेदान के रूप में उपलब्ध है।

पश्चिम यूरोप की सब सरकारें अनिच्छा से संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा कम्युनिस्ट देशों की नाकेबन्दी की नीति पर अपनी सहमति देती रहीं, यद्यपि इन सरकारों ने ऐसे अनेक प्रकट और गुप्त कार्य किये जिन्हें अमरीका के दृष्टिकोण से भीतरघात कहा जा सकता था। इन कार्यों से अमरीकी संसद के सदस्य अत्यन्त क्रोधित हो उठते थे, यद्यपि अमरीकी प्रशासन के सामने खीस निपोरने और बरदाश्त करने के अलावा और कोई चारा नहीं था।

जब 1950 के मध्य में मार्शल योजना के अन्तर्गत धन मिलना बन्द हुआ तो पश्चिम यूरोप की सरकारों ने तुरन्त एक साथ मिलकर अमरीका द्वारा प्रेरित कम्युनिस्ट देशों को निर्यात न करने की नीति को समाप्त कर डाला। वैसे उन्हें इस नीति में कभी विश्वास नहीं था।[4] इसके बाद केवल संयुक्त राज्य अमरीका ही कम्युनिस्ट देशों से सामान्य व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने से दूर रहा। यह बात यूरोप के व्यापारिक हितों के विपरीत नहीं थी, जैसा कि यदा-कदा संयुक्त राज्य अमरीका में कहा भी गया।

2. कम-विकसित देशों को सहायता

मुझे इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं है कि अमरीका को मार्शल योजना के युग में यूरोप में जो अनुभव प्राप्त हुआ उसका अनेक दृष्टियों से अमरीका की कम-विकसित देशों के प्रति नीति पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा।

सबसे पहले तो यह हुआ कि विशाल मार्शल योजना के कारण, जो लगभग 1950वें दशक के मध्य तक चलती रही, अमरीकी साधनों को अन्य अनेक कार्यों पर नहीं लगाया जा सका। जैसे हाल के वर्षों में वियतनाम युद्ध अथवा आदमी को चाँद पर उतारने के प्रयास में स्वदेश में निर्धनता विरोधी कार्यक्रम के लिए साधन नहीं छोड़े।

मेरा इससे क्या अभिप्राय है यह समझाने के लिए मैं एक वचारिक प्रयोग प्रस्तुत करना चाहूँगा। कल्पना कीजिए कि यूरोप में पुनर्निर्माण की कोई आवश्यकता न होती, लेकिन अन्य सब कुछ जैसे का तैसा होता।

मुझे इस बात का प्राय: पूरा विश्वास है कि जैसे-जैसे उपनिवेश स्वतन्त्र होते जा रहे थे—जिसके प्रति गहन सैद्धान्तिक स्तर पर अमरीका में बड़ी सहानुभूति थी—और जैसे-जैसे नवोदित और अन्य कम-विकसित देशों के समक्ष मौजूद कठिनाइयों का ज्ञान होता, तो युद्ध की समाप्ति के बाद संसार के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करने वाले संयुक्त राज्य अमरीका से इससे कहीं पहले और अधिक व्यापक सहायता प्राप्त होती, क्योंकि उस समय तक अमरीकियों की भावना में वह कठोरता नहीं आयी थी जो आगे चलकर उत्पन्न हुई, जिसका आंशिक कारण मार्शल योजना के युग में पश्चिमी यूरोप में प्राप्त अनुभव का प्रभाव था।

मैं, वस्तुतः बहुत अच्छी तरह से यह कल्पना कर पाता हूँ कि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित संसार के लिए मार्शल योजना जैसा कोई कार्यक्रम अवश्य चलाता, और यदि उस विशाल पैमाने पर कोई कार्यक्रम शुरू न हो पाता तो भी पर्याप्त बड़े पैमाने पर सहायता देने की बात को जनता और संसद से सफलतापूर्वक स्वीकार कराया जा सकता था।

मैं इस सन्दर्भ में कम-विकसित देशों को मिलने वाली सार्वजनिक सहायता का इतिहास देने का प्रयास नहीं करूँगा।[5] सार्वजनिक सहायता बहुत धीरे-धीरे शुरू हुई और अनेक वर्षों तक इसका आकार बहुत छोटा रहा—इसका एकमात्र आंशिक अपवाद अपने भूतपूर्व उपनिवेश को अमरीका द्वारा दी जाने वाली सहायता है।

और उस आरम्भिक युग में कम-विकसित देशों को जो सहायता दी गयी, यूरोप को दी गयी सहायता के विपरीत उसका लक्ष्य आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास नहीं था। इसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक और सैनिक संकटपूर्ण स्थितियों का सामना करना और नागरिक खपत के अत्यधिक नीचे स्तर को राहत पहुँचाना था।

जब 1950 के लगभग संयुक्त राज्य अमरीका का विदेश-सहायता का बजट अचानक अधिक तेजी से बढ़ने लगा तो इसकी प्रमुख प्रेरणा कम-विकसित देशों की विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने की इच्छा नहीं थी बल्कि शीतयुद्ध को और उग्र बनाने की इच्छा थी। यह कम-विकसित संसार के उस हिस्से में विशेष रूप से हुआ जिसका मैंने अध्ययन बहुत गहराई से किया है। कम-विकसित संसार का यह विशाल भाग दक्षिण एशिया है। एक कम-विकसित देश का राजनीतिक गठबन्धन और कुछ मामलों में पहले से मौजूद ऐसी तटस्थता जो अमित्रतापूर्ण न हो, संयुक्त राज्य अमरीका की राजनीतिक दिलचस्पी का विषय बन गया। इस क्षेत्र के देशों को जो अनुदान और ऋण प्राप्त हुए उसकी अस्सी प्रतिशत अमरीका से मिला। इसके परिणामस्वरूप अमरीका की प्रभावशाली स्थिति रही।

सहायता का राजनीतिक उद्देश्य इस क्षेत्र के देशों में इसके वितरण से स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। पाकिस्तान को, सैनिक सहायता के अलावा, प्रति व्यक्ति के हिसाब से भारत की तुलना में दुगनी सहायता मिली। पाकिस्तान को यह सहायता संयुक्त राज्य अमरीका से उसके राजनीतिक और सैनिक गठबन्धन के मुआवजे के रूप में मिली। यद्यपि हाल के वर्षों में यह गठबन्धन अधिक भरोसे योग्य सिद्ध नहीं हुआ।

सन् 1954-58 के बीच लाओस और दक्षिण वियतनाम को संयुक्त राज्य अमरीका से अनुदानों और ऋणों के रूप में जो राशि प्राप्त हुई वह भारत और पाकिस्तान को प्राप्त राशि के प्रायः बराबर थी। इसी अवधि में, दक्षिण कोरिया को भारत, पाकिस्तान, फिलिपाइन, बर्मा और श्रीलंका को कुल मिलाकर प्राप्त सहायता से अधिक सहायता मिली (जिसे आर्थिक सहायता बताया गया)। केवल भारत की आबादी ही उक्त तीनों, लेकिन सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, देशों की कुल आबादी से दस गुना बड़ी है।

जिस समय मार्शल योजना को कम्युनिस्ट विरोधी नीति के रूप में प्रस्तुत

किया गया, उस समय मैंने यह तर्क प्रस्तुत किया और समझाया कि "संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखते हुए" यह कम-से-कम आरम्भ में अधिकांशतया भ्रान्ति पर आधारित और अवांछित आत्मवंचना थी। इस प्रेरणा का स्वयं मार्शल योजना पर कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ा (केवल बाद में जोड़ी गयी कम महत्त्वपूर्ण निर्यात लाइसेंस नीति को छोड़कर)।

लेकिन आगे चलकर, अत्यन्त उग्र हुए शीत युद्ध के प्रभाव के अन्तर्गत और कोरिया के युद्ध के बाद, कम-विकसित देशों के लिए संचालित सहायता कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया, ताकि वह संयुक्त राज्य अमरीका के वास्तविक राजनीतिक हित में हो और अमरीका के सामरिक और सैनिक हित में भी। उस समय अमरीका सरकार और अमरीका की जनता अधिकांशतया इसी रूप में अपने हितों की कल्पना कर रही थी।

जो पहले अवांछित आत्मवंचना थी, वह अब अत्यन्त वांछित और अवसर का लाभ उठाने वाली बन गयी, जिसके परिणामस्वरूप विचारधारा में वह दोहरापन आया जो आज भी उस सार्वजनिक विचार में बेईमानी और वंचना के रूप में प्रकट होता है, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय के अन्त में किया गया है।

यह कहना असम्भव है कि विकास के दृष्टिकोण से उस समय कितनी अधिक 'सहायता' गलत रूप में दी गयी, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रतिक्रियावादी शासनों को जो सहायता दी गयी, वह बरबाद गयी अथवा इस सहायता के परिणामस्वरूप आवश्यक सुधारों के मार्ग में बाधा पड़ी। यह विचार मुझे बाद में नहीं आया, बल्कि मैंने उसी समय इसकी पूर्व-कल्पना कर ली थी, जब सबसे पहले सामरिक हितों को ध्यान में रखते हुए सहायता नीति को निर्धारित किया गया था। और केवल इन पंक्तियों के लेखक ने ही नहीं बल्कि कुछ अन्य ने भी यह कल्पना की थी।[6]

सन् 1954 में जब मैंने इस नये राजनीतिक 'यथार्थवाद' की अपनी आलोचना के समर्थन में कुछ अन्य लोगों के उद्धरण दिये थे, उनमें राजनय के एक बुद्धिमान यूरोपियन इतिहासकार ए० जे० पी० टेलर भी थे, जिन्होंने स्पष्टीकरण देते हुए कहा था कि "जब एक राज्य पूरी तरह से दूसरे राज्य पर निर्भर हो जाता है तो पहला राज्य ही दूसरे राज्य को अपनी अंगुलियों पर नचा सकता है। यदि उसे वांछित सहायता प्राप्त न हो तो वह यह धमकी दे सकता है कि अब भविष्य में वह अपने विरोधियों के सामने नहीं टिक सकेगा और संरक्षक राज्य को उसकी बात मानने के अलावा अन्य कोई चारा नहीं रह जाता, क्योंकि उसके पास कोई जवाबी धमकी नहीं होती।"[7] अमरीका सरकार ने दक्षिण वियतनाम की एक के बाद एक कठपुतली सरकार से अपने सम्बन्धों में यही अनुभव किया और उसे इसके लिए बहुत भारी वित्तीय और नैतिक कीमत चुकानी पड़ी।[8]

यूजीन स्टेली ने संयुक्त राज्य अमरीका की कम-विकसित देशों सम्बन्धी नीति के बारे में लिखी गयी पुस्तक में एक पूरी तरह व्यक्त दृष्टिकोण के सन्दर्भ में यह बताया है कि इन देशों को किस प्रकार साम्यवाद से बचाया जा सकता है और इन्हें शीत युद्ध में किस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका का राजनीतिक साथी बनाया जा सकता है। स्टेली ने सामरिक दृष्टिकोण से निर्धारित ऐसी सहायता नीति

के समक्ष मौजूद व्यावहारिक दुविधाओं का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है :

"यदि हम एक ऐसी सरकार को जो प्रगतिशील और लोकतन्त्रीय दिशाओं में आगे बढ़ने की कोशिश कर रही हो, वांछित समय पर सहायता नहीं देते, तो इस वात की सम्भावना रहती है कि आगे चलकर हमें बाध्य होकर एक ऐसी सरकार को अपना समर्थन देना पड़े जो हमारे मानकों से बुरी है और हमें यह सहायता इस एकमात्र कारण से देनी होगी कि कम्युनिस्ट शासन की स्थापना का यही एकमात्र विकल्प रह जाता है···जब हम किसी देश में कम्युनिस्टों द्वारा सत्ता पर अधिकार करने को रोकने के लिए किसी भ्रष्ट अथवा अलोकप्रिय अथवा विदेशियों के प्रभाव के अधीन काम करने वाली सरकार को अपना समर्थन देते हैं, तो हम स्वयं अपनी विश्व स्थिति को अत्यधिक राजनीतिक क्षति पहुँचाते हैं, उस स्थिति में यह भी हो सकता है कि सहायता की अधिकांश राशि सैनिक उपायों पर खर्च हो, जिसके बुरे राजनीतिक परिणाम निकलें, जबकि समय रहते आर्थिक सहायता दिये जाने पर बेहतर परिणाम निकल सकते थे···हमें यह सीखने में कितना समय लगेगा कि जब किसी कम-विकसित देश में प्रगतिशील और सुधार लागू करने की इच्छा रखने वाली सरकार सत्तारूढ़ होती है, तो हमें इसे अपनी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का मुकाबला करने के लिए हर सम्भव सहायता देनी चाहिए ?"[9]

और एडली ई० स्टीवेनसन ने चेतावनी देते हुए कहा :

"केवल कम्युनिस्ट विरोध और सैनिक प्रभाव पर आधारित कोई भी नीति बीसवीं शताब्दी के इस महान आन्दोलन की भावना के अनुरूप नहीं है और इससे आप बहुत कम लोगों का हृदय जीत सकेंगे। हमारे समक्ष यह चुनौती मौजूद है कि हम अपने-आपको सामाजिक और मानवीय क्रान्ति का समर्थक सिद्ध कर, आधी मानवता की बेहतर जीवन की महत्त्वाकांक्षा को प्रोत्साहित करें, उसके लिए सहायता और प्रेरणा दें, इन महत्त्वाकांक्षाओं को उन रास्तों से आगे बढ़ायें जो स्वतन्त्रता प्राप्ति में सहायक बनते हैं। इसमें असफल होने का अर्थ होगा विनाश।"[10]

आरम्भ से ही संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश सहायता नीति में उस व्यापक तथा और अधिक मानवीय नीति के तत्त्व थे, तथा मेरी राय में अधिक तर्कसम्मत संकल्पना भी थी, जिसके पक्ष में उदारतावादी अमरीकियों ने इस पूरी अवधि में तर्क प्रस्तुत किये। और सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि जैसे 1950 से आरम्भ दशक समाप्त हुआ और अगला दशक शुरू हुआ, इन तत्त्वों का अपेक्षाकृत महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा—यद्यपि संकीर्ण राजनीतिक, सैनिक और सामरिक उद्देश्यों की ओर निरन्तर बुनियादी रूप से ध्यान दिया जाता रहा।

लेकिन इसके बाद वियतनाम के युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका निरन्तर और गहराई से फँसता गया। यह कार्य योजनाबद्ध तरीके से नहीं, बल्कि एक अन्ध नियति के रूप में निरन्तर आगे बढ़ता गया,[11] और धीरे-धीरे पूरी परिस्थिति को बदल डालने का आधार बना। लड़ाई के अगले दौर में विदेश सहायता कार्यक्रम, संयुक्त राज अमरीका के अन्य अनेक अच्छे कार्यों की तरह, अमरीकी जनता की गहरी निराशा का शिकार बना, यद्यपि सातवें दशक के अन्त में विदेश सहायता कार्यक्रम में गिरावट कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया के कारण आयी।

सन् 1950 से कम-विकसित देशों के लिए जो सहायता कार्यक्रम अमरीका के शीत युद्ध सम्बन्धी राजनीतिक और सामरिक हितों के अनुरूप निर्धारित किये गये, उनके अनेक महत्त्वपूर्ण और व्यापक परिणाम निकले, जिन पर संक्षेप में विचार किया जाना चाहिए।

एक वात तो यह स्पष्ट हुई कि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों को वहूद्देशीय आधार पर संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की व्यवस्था के अनुसार सहायता और सहयोग देने के लिए अनिच्छुक था, यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की ये व्यवस्थाएँ फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के मार्गदर्शन में तैयार हुई थीं।

राजनीतिक और सामरिक सहायता देने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका को एक ऐसी राष्ट्रीय विदेश नीति स्वीकार करनी पड़ी, जिसका आधार एकतरफा आर्थिक और सैनिक सहायता था। अन्य विकसित देशों ने, विशेषकर वड़े देशों ने, स्वयं वड़े पैमाने पर सहायता देना शुरू करने पर अमरीका की इस नीति से प्रेरणा प्राप्त की और उन्होंने भी एक संकीर्ण राष्ट्रीय नीति का अनुसरण करना शुरू किया, यद्यपि यह वैसी और उस सीमा तक सैनिक और सामरिक सहायता नहीं थी।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि संयुक्त राज्य अमरीका में धीरे-धीरे हृदय की कठोरता वढ़ती गयी। एक वार राजनीतिक, सैनिक और सामरिक आधार पर सहायता नीति के दृढ़ता से स्थापित हो जाने के वाद अमरीका में शुद्ध अनुदान देने के प्रति कोई उत्साह नहीं रह गया जैसाकि यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम शुरू करने के समय था, अन्यथा अनुदान कहीं वेहतर उद्देश्यों और प्रेरणा से दिये जाते। स्पष्ट है कि पश्चिम यूरोप के बुनियादी तौर पर समृद्ध और विकसित देशों की तुलना में गरीव और कम-विकसित देशों को शुद्ध अनुदान देना कहीं अधिक युक्तिसंगत था।

स्थिति चाहे कुछ भी क्यों नहीं रही हो पर यह स्पष्ट है कि युद्ध के वाद के आरम्भिक वर्षों में जब बहुत छोटे पैमाने पर कम-विकसित देशों को सहायता दी जा रही थी—और 1950 से आरम्भ दशक के पहले वर्षों में भी जब सहायता की राशि में वृद्धि होना शुरू हुआ था—तो यह शत-प्रतिशत अनुदान के रूप में ही होती थी। पर सातवें दशक के आरम्भ में, अनुदान की राशि घटकर 50 प्रतिशत रह गयी। और सहायता तथा ऋण दोनों के साथ अधिकाधिक मात्रा में यह शर्त लगायी जाने लगी कि इन राशियों से केवल संयुक्त राज्य अमरीका से ही माल खरीदा जा सकता है।

इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका ने एक ऐसा क्रम शुरू किया जिसका अनुसरण अन्य विकसित देशों ने भी अधिकांशतया किया। बड़े पैमाने पर सहायता देना शुरू करने पर अन्य बड़े विकसित देशों ने भी इसी प्रकार की शर्तें लगानी शुरू कीं।

मैंने कम-विकसित देशों को अपना विकास करने में सहायता देने के कार्यक्रम को संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रीय हित में संचालित राजनीतिक और सामरिक

सहायता नीति के रूप में प्रदर्शित और संचालित करने में निहित वौद्धिक दुरंगी चाल का उल्लेख किया है। इस नीति को इस प्रकार प्रस्तुत करने का एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि जब यह नीति जबरदस्त रूप से असफल रही, और यह अक्सर हुआ, तो इसके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों को सहायता देने के बारे में व्यापक रूप से मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हुई।

शीत युद्ध के युग में अमरीकी सहायता नीति का इतिहास व्यापक भ्रष्टाचार और अन्य अनियमितताओं के प्रवादों से भरा पड़ा है। इन मामलों के बारे में समाचारपत्रों में बहुत कुछ लिखा गया और इनकी छानबीन के लिए संसद की समितियाँ भी नियुक्ति हुईं। इन सब बातों का अमरीकी जनता और संसद् पर अक्सर यह प्रभाव पड़ा कि सहायता की राशि पूरी तरह से बरबाद हो जाती है। इतना ही नहीं, अक्सर असावधानी से इस भावना को कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता से जोड़ दिया जाता।

एक गहन मनोवैज्ञानिक और सैद्धान्तिक स्तर पर वस्तुतः इसकी पूर्व-कल्पना की गयी थी कि इस प्रकार की एकतरफा सहायता से जनता की नैतिक महत्त्वाकांक्षाओं को, विशेषकर अमरीका में पूरा नहीं किया जा सकेगा।

"......स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में यह कठोर नीति, जो उस राष्ट्र की मान्य मानवतावादी परम्पराओं से निश्चय ही मेल नहीं खाती, किसी भी रूप में प्रेरणा का विषय नहीं बन सकती। मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात में सन्देह करता हूँ कि क्या सामरिक आधार पर निर्धारित कोई भी व्यापक और चिरस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सहायता नीति संयुक्त राज्य अमरीका में कभी भी स्वीकार हो सकेगी। कुछ सीमा तक—और वास्तविक आर्थिक आवश्यकताओं और आर्थिक विकास की दृष्टि से वास्तविक प्रभावों को ध्यान में रखते हुए—इस नीति को आजमाया जा चुका है और विदेशों में जो परिणाम निकले हैं, वे बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। स्वदेश में एकतरफा, सामरिक दृष्टिकोण से निर्धारित सहायता नीति लम्बी अवधि में प्रायः निश्चयपूर्वक सहायता प्राप्त करने वालों की कृतघ्नता के कारण निराशा, वितृष्णा और कटुता को जन्म देगी; अन्त में इसका यह परिणाम निकल सकता है कि अमरीका से मिलने वाली सहायता की राशि में कमी हो जाय।[12]

"......वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में बड़े पैमाने पर एकतरफा सहायता का संयुक्त राज्य अमरीका और सहायता प्राप्त करने वाले कम-विकसित देशों में अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ेगा : स्वदेश में इसे केवल शीत युद्ध के एक राजनीतिक उपाय के रूप में ही प्रदर्शित किया जा सकेगा। यह बात सहायता के वितरण, निर्देशन और उपयोग के क्षेत्र में नैतिक और आर्थिक मानकों को गिरा देती है, सहायता प्राप्त करने वाले देशों में आक्रोश और राजनीतिक फूट को जन्म देती है, और अन्त में संयुक्त राज्य अमरीका में सहायता की राशि में बहुत अधिक कमी करने के लिए उचित कारण प्रस्तुत करेगी।"[13]

मेरी इस भविष्यवाणी के बाद पन्द्रह वर्ष का जो समय बीता है, दुर्भाग्यवश उसमें भी मेरी यह बात गलत सिद्ध नहीं हुई है।

सन् 1961 में अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी के प्रस्ताव पर संयुक्त-राष्ट्र महासभा ने अपने एक प्रस्ताव के द्वारा 1960 से आरम्भ दशक को विकास

दशक का नाम दिया। यह कार्य इस प्रकट और अप्रकट वायदे के आधार पर किया गया कि विकसित देशों से कम-विकसित देशों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता मिलेगी। पर यह दशक अमरीका के सहायता वजट में सहायता की राशि में वृद्धि रुकने और जल्दी ही राशि में कमी होने वाले दशक के रूप में सामने आया।

विदेशी सहायता की राशि में कमी होने की प्रवृत्ति के वास्तविक प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए हमें अनेक बातों को ध्यान में रखना होगा जो सब कम-विकसित देशों की सहायता के लिए निर्धारित डालरों के वास्तविक मूल्य में कमी की ओर भी संकेत करते हैं। एक बात तो यह थी कि दामों में वृद्धि हो रही थी और संयुक्त राज्य अमरीका भी इसका अपवाद नहीं था।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जब अन्य दृष्टियों से, उदाहरण के लिए कुल राष्ट्रीय उत्पादन और वेतनों के सन्दर्भ में, यह सदा आवश्यक समझा जाता है कि अंकित मूल्यों को वास्तविक मूल्यों में बदलना आवश्यक है, पर कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता को मापने के लिए कभी यह आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती—यह एक ऐसा पूर्वाग्रह है जो अवसरवादी प्रवृत्तियों के सामान्यतया अनुरूप है, जिसके इस पुस्तक में अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

अनुदानों के स्थान पर ऋणों के रूप में सहायता देने की प्रवृत्ति 1955 के बाद के वर्षों में बहुत स्पष्ट हो गयी थी और अब इसमें और अधिक वृद्धि हुई। ब्याज की दर को नीचा और ऋण परिशोधन की अवधि को लम्बा रखने के प्रयास हाल के वर्षों में उलट दिये गये हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः समस्त सहायता, चाहे यह अनुदानों के रूप में हो या ऋणों के, संयुक्त राज्य अमरीका से निर्यात से बाँध दी गयी है।

यह संरक्षणात्मक तरीका—जो जहाजरानी और निजी निवेशों पर भी लागू होता है, विशेषकर उस स्थिति में जब निर्यात-आयात बैंक जैसी सार्वजनिक संस्थाओं का मामला हो, उस स्वयंसिद्ध सिद्धान्त के एकदम विपरीत हो जाता है, जो पुराने निजी पूंजी बाजार के समय चालू था। इस बाजार से ही आवश्यक धन प्राप्त होता था और यह अधिकांशतया प्रतिभूति (पोर्टफोलियो) ऋणों के रूप में प्राप्त होता था। यह बात उन कारणों में से है जिनकी वजह से इस पुस्तक का लेखक आज भी उस युग का बड़ी व्यग्रता से स्मरण करता है, जब अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की व्यवस्था निजी ऋण संस्थाएँ करती थीं।[14]

सहायता को निर्यात से सम्बद्ध कर देने का यह अर्थ होता है कि सहायता प्राप्त करने वाले कम-विकसित देश की यह स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है कि वह सर्वाधिक उपयोगी वस्तु, सर्वाधिक उचित दाम पर जहाँ से चाहे खरीद सके। इस सम्बन्ध में ये अनुमान लगाये गये हैं कि सहायता की राशि को किसी विशेष देश के निर्यात से सम्बद्ध कर देने पर दाम 25 से 40 प्रतिशत तक अधिक देने पड़ते हैं।

विनम्र शब्दावली में कम-विकसित देशों की ओर से कुछ आलोचकों ने यह कहा है कि इस नीति के द्वारा स्वयं कम-विकसित देशों से अमरीका की अर्थ-व्यवस्था को सहायता प्राप्त होती है। अमरीकी राज्यों के संगठन के गालो प्लाजा ने इन शब्दों में इस बात का स्पष्टीकरण दिया है :

"संयुक्त राज्य अमरीका के सहायता कार्यक्रम के ऊपर शब्दावली का एक

बादल मँडरा रहा है और इसके परिणामस्वरूप इन कार्यक्रमों की वास्तविकता को समझ पाना कठिन हो जाता है। 'प्रगति के लिए सन्धि' नामक कार्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकांश अमरीकी सहायता उपहार नहीं है, बल्कि यह ऋणों के रूप में दी गयी है और इन ऋणों को चुकाया जा रहा है······तस्वीर के दूसरे पहलू को देखना असंगत नहीं होगा और यह जरूरी है कि जिस वस्तु को हम सहायता कहते हैं, उसके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका को क्या लाभ प्राप्त होते हैं उन पर विचार किया जाय···प्रायः ऋणों की पूरी राशि को संयुक्त राज्य अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका के माल को ही खरीदने पर खर्च किया जाता है। इस प्रकार अमरीका के श्रमिकों के लिए और अधिक काम प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप अमरीका के उत्पादक उद्योगों और उनका माल बेचने वाली कम्पनियों तथा अमरीका सरकार को करों के रूप में प्राप्त होने वाली आय में वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका को लेटिन अमरीका के देशों में विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन में अतिरिक्त राशि प्राप्त हो जाती है।"[15]

ऋण प्राप्त करने वाले देशों को केवल 'ऋण देने वाले देश' से ही माल खरीदने की शर्त बड़ी अनुचित दिखायी पड़ती है, क्योंकि ऋणों का भुगतान डालरों में करना पड़ता है और इन डालरों का उपयोग बिना किसी प्रतिबन्ध के किया जा सकता है।

लेटिन अमरीका के देशों के अमरीका से इस संघर्ष के सन्दर्भ में, जो 1969 में पर्याप्त बढ़ गया था, कि उन्हें निर्यात की बेहतर सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए,[16] संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अपने ऋणों पर यह पाबन्दी लगाना कि उनकी राशि से केवल अमरीका से ही माल खरीदा जा सकता हैं, अत्यधिक अलोचना का आधार बन रहा है। यह आलोचना अब अधिक कड़ी होती जा रही है और अमरीका के इस रवैये को शोषण कहा जाने लगा है। ये पंक्तियाँ लिखते समय समाचार पत्रों में इस आशय के समाचार छपे हैं कि अब संयुक्त राज्य अमरीका सरकार बाध्य होकर यह अनुभव कर रही है कि लेटिन अमरीका के देशों को जो धन दिया जाता है उसके ऊपर केवल संयुक्त राज्य अमरीका से ही माल खरीदने की पाबन्दी में कुछ ढील दी जाय।

जब कम-विकसित देशों को अमरीकी सेवाएँ अथवा माल अनुदान अथवा अनुदान जैसे अंशदान के रूप में सीधे दिया जाता है तो इन उपहारों के साथ जुड़ा ऊँचा मूल्य यह दर्शाता है, अथवा दर्शाता हुआ दिखायी पड़ता है, कि सहायता की राशि को अनुचित रूप से बढ़ाया-चढ़ाया जा रहा है।

सन् 1958 में पाकिस्तान में अयूबखान द्वारा सत्ता हथियाने से कुछ सप्ताह पहले जब मैं कराँची में था तो गुप्त रूप से एक सरकारी रिपोर्ट प्रचारित की जा रही थी कि अमरीका ने अपने जो विशेषज्ञ पाकिस्तान सरकार को दिये हैं उन पर लगभग 40 हजार डालर औसत खर्च बैठता है—इसमें सब सुविधाएँ, सम्बन्धित लाभ और विभिन्न प्रकार की काम करने की सुविधाएँ ऊँचे वेतनों के साथ जोड़ दी गयी थीं। पाकिस्तानियों का कहना था कि अगर उन्हें बिना किसी प्रतिबन्ध के डालर दे दिये जाते तो वे अन्यत्र कहीं अधिक सस्ते में ये सेवाएँ उपलब्ध कर सकते थे। पाकिस्तान की नयी सरकार ने अन्य बातों के अलावा इस

रिपोर्ट को भी दवा दिया क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका में अयूब द्वारा सत्ता हथियाने का मित्रतापूर्ण स्वागत हुआ।

इसी प्रकार पी० एल०-480 के अधीन जो अनाज दिया गया, उसके दाम की गणना संयुक्त राज्य अमरीका के बाजारों के संरक्षित दामों के आधार पर की गयी। ये दाम अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के दामों की तुलना में ऊँचे थे। इस अनाज की ढुलाई का काम भी अमरीका की जहाजी कम्पनियों को दिया गया, जिन्होंने ऊँचा ढुलाई भाड़ा वसूल किया और यह राशि भी सहायता प्राप्त करने वाले देश को देनी पड़ी।

उस समय अमरीका के विशाल अनाज भण्डार को ठिकाने लगाना भी अमरीका के अपने हित में था। अतः यह प्रश्न उठाया जा सकता था, और अक्सर उठाया भी गया कि क्या अनाज की सप्लाई की लागत के यथार्थ विश्लेषण से यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि इस अनाज का पूरा दाम अथवा इसका एक बड़ा हिस्सा राष्ट्रीय कृषि सहायता की मद में डाला जाना चाहिए था, विदेशी सहायता की मद में नहीं।

सहायता के विकास मूल्य की उपेक्षा करने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि इस सहायता की प्रेरणा और अधिकांशतया इसकी दिशा भी राजनीतिक, सैनिक और सामरिक थी। जब सहायता से राजनीति जुड़ जाती है चाहे यह स्वदेश में हो अथवा विदेश में, तो नैतिकता और प्रभावशालिता दोनों मानक अनिवार्य रूप से और व्यापक पैमाने पर नीचे हो जाते हैं। मैंने अक्सर घटने वाली इस घटना पर पहले ही अपने विचार प्रकट किये हैं।

जब 1960 से आरम्भ दशक समाप्ति की ओर आया, तो सहायता का यह राजनीतिक स्वरूप और अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने लगा। यह सच है कि इसका प्रमुख कार्यकारी कारक संयुक्त राज्य अमरीका की वियतनाम नीति था। दक्षिण वियतनाम—अथवा इसका वह हिस्सा जिसके ऊपर सैगोन सरकार और संयुक्त राज्य अमरीका की सेनाओं का नियन्त्रण था —एक ऐसा देश बन गया जिसे सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्धारित राशि का सबसे बड़ा हिस्सा मिला—यदि हम दक्षिण पूर्व और पूर्व एशिया के उन पिछलग्गू देशों को मिलने वाली सहायता का कुछ हिस्सा भी इसमें जोड़ दें जो अमरीका को वियतनाम युद्ध में सहायता दे रहे थे तो वियतनाम की मद में दी जाने वाली राशि कुल सहायता की राशि का चौथाई हिस्सा बैठती है।

संयुक्त राज्य अमरीका, उसके साथ युद्ध में हिस्सा लेने वाली एशियायी सरकारों और, निश्चय ही, विकास सहायता समिति के सचिवालय को छोड़कर प्रायः अन्य कोई भी व्यक्ति स्वयं अमरीका में भी इस बात पर विचार करने के बाद इसे उस रूप में सहायता नहीं कह सकता, जिस रूप में, उदाहरण के लिए, भारत को दी जाने वाली सहायता कही जा सकती है, यद्यपि इस युग में भारत को दी जाने वाली सहायता के साथ भी जबरदस्त राजनीतिक स्वार्थ जुड़े हुए हैं।

यदि हम सहायता की मद में शामिल उस बड़े हिस्से को निकाल दें जो वियतनाम को अमरीका से प्रत्यक्ष राजनीतिक और सैनिक सहायता के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है, तो विकास सहायता का नीचा स्तर और इसकी निरन्तर कम होते जाने की प्रवृत्ति विकास दशक में बहुत अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ी।

यदि, इसके अलावा, ऊपर दिये गये अन्य सब कारणों के अनुसार उचित कटौती करें, तो विकास सहायता समिति के आँकड़ों में 'सार्वजनिक वित्तीय प्रवाह' के रूप में जो अमरीकी सहायता बजट और उसके वितरण की राशि दी गयी है, उसका आधे से भी कम भाग कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सच्ची सहायता के रूप में प्रकट होगा। इसका यह अर्थ होगा कि जिन बातों की बहुत जोर देकर और बढ़ा-चढ़ाकर घोषणा की गयी थी, उन्हें प्रायः हास्यास्पद सीमा तक अपर्याप्त रूप से पूरा किया गया।

मैंने अध्याय-3 में यह बात कही है कि कुछ प्रभावशाली संसद सदस्य यह समझने लगे हैं कि विदेशी सहायता संयुक्त राज्य अमरीका को वियतनाम जैसे और युद्धों में फँसाने का खतरा बन रही है। ये भावनाएँ और संसद के बाहर व्याप्त ऐसी ही भावनाएँ यह दर्शाती हैं कि कम-विकसित देशों को सहायता देने की बात को आज अमरीका की उदार शक्तियों का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं है।

लोग सहायता के उद्देश्यों से सम्बन्धित दुरंगी नीति को समझने और नापसन्द करने लगे हैं, जिसे राष्ट्रीय सैनिक और सामरिक नीति के माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया गया था और जिसका अन्त असफलता में हुआ और इस बात का खतरा बना हुआ है कि अन्य क्षेत्रों में भी यही होगा। उदाहरण के लिए लेटिन अमरीका में यह दुरंगी नीति अमरीका की नैतिक परम्पराओं के विपरीत जाती है। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

मुझे भय है कि अगले कुछ वर्षों में हमें विदेशी सहायता में वर्तमान गिरावट की प्रवृत्ति निरन्तर जारी दिखायी पड़ेगी और सहायता की दिशा और शर्तों में भी कोई खास परिवर्तन नहीं आयेगा। पर मैं निराशावादी नहीं बनना चाहता। ऐसा समय अवश्य आयेगा और यह आशा की जा सकती है कि जल्दी आयेगा कि जब सहायता नीति पर पूरी तरह से पुनर्विचार करने की माँग करने वाली शक्तियाँ एकजुट हो जायेंगी।

हमें आज कम-विकसित देशों को सहायता के बारे में एक नये दर्शन की आवश्यकता है। हमें इसकी प्रेरणा, इसकी दिशा और इसकी शर्तों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है और हमें इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में ही देखना चाहिए, जो यह वास्तव में है—'संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों' के सन्दर्भ में नहीं जो अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण है।

हाल में एक उच्च-स्तरीय समिति, तथाकथित परकिन्स समिति, जिसे राष्ट्रपति लिंडन बी० जॉनसन ने नियुक्त किया था, की रिपोर्ट में नये प्रशासन के सहायता कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है, जबकि इसे विदेशी सहायता के समस्त प्रश्न पर पुनर्विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था। इस रिपोर्ट का समारम्भ इस शिकायत से होता है कि "अमरीका में आज दुविधा और उपेक्षा की भावना अमरीका के विकास सहायता प्रयासों को कमजोर बना रही है।"[17] राष्ट्रपति जॉनसन की सरकार के अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन के प्रशासक के पद से रिटायर होने से पहले विलियम एस० गौड ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दावली में कहा

था : "कटु सत्य यह है कि संयुक्त राज्य अमरीका अच्छे ढंग से काम नहीं कर रहा है। हमारे कार्यक्रम का आकार घट रहा है। हम पिछड़ रहे हैं···।"[18]

इस 'पीछे हटने के प्रवल ज्वार' के स्पष्टीकरण का संक्षेप में उल्लेख करते समय मैं यह बात जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अमरीकी जनता और अमरीका की संसद को सहायता देने के जो कारण बताये गये हैं, वे स्पष्ट रूप से अपर्याप्त हैं।

और जो लोग तर्क देने तथा सहायता कार्यक्रम को राजनीतिक रंग देने का काम कर रहे हैं, उन्होंने स्वयं को और दूसरों को भी इस बात से आश्वस्त कर लिया है कि ये अपर्याप्त कारण ही सच्चे कारण हैं और इन्हीं के आधार पर वे तत्सम्वन्धी आचरण कर रहे हैं।

इतना ही नहीं, इन लोगों ने इन कारणों के आधार पर ही सहायता कार्यक्रम को अपना वर्तमान स्वरूप धारण करने दिया है—और अन्ततः वे इस स्थिति में नहीं रह गये कि यह अनुभव कर सकें कि क्या कम-विकसित देशों को सहायता देने के ये अच्छे कारण हैं।

वहुत समय पहले ही अनुभव के द्वारा एक कारण भ्रान्तिजनक सिद्ध हो चुका है : "सहायता उन लोगों की कृतज्ञता की भी गारंटी नहीं दे सकता, जिन्हें यह प्राप्त होती है।"[19] यदि सहायता को रिश्वत अथवा राजनीतिक दवाव के रूप में इस्तेमाल किया जाय, तो अमरीका जैसे देश में लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करने के लिए यह कारण नहीं बताया जा सकता।

जैसाकि मैंने जोर देकर कहा है, संयुक्त राज्य अमरीका में सहायता को परम्परा से और सामान्यतया यह कहकर पेश किया गया है और किया जा रहा है कि 'यह अमरीका के बुनियादी हित में है'।[20] पर साधारण नागरिक और संसद सदस्य के लिए यह कारण अत्यन्त अस्पष्ट संकल्पना-भर रहेगा।

जब उसे यह समझाया जाता है कि कम-विकसित देशों का विकास कहीं अधिक शान्तिपूर्ण और स्थिर संसार की स्थापना में योगदान देता है और सहायता के द्वारा इन देशों का विकास किया जा सकता है, तो यह बात अधिक स्पष्ट अथवा अधिक प्रेरणादायक नहीं बन जाती।[21] अधिक परिष्कृत लोग उदाहरण देकर यहाँ तक कह सकते हैं कि थोड़ी-वहुत विकास सहायता लोगों को अधिक शान्तिप्रिय नहीं बनाती—विशेषकर उस स्थिति में जब उन्हें सनिक अफसरों के रूप में प्रशिक्षण दिया गया हो और 'सनिक सहायता' के रूप में उन्हें हथियार दिये गये हों अथवा उन्हें इन हथियारों को अपने साधनों से खरीदने की अनुमति दी गयी हो और इन साधनों में सहायता की राशि से ही वृद्धि की गयी हो।

किसी भी व्यक्ति को सहायता और कम-विकसित संसार में राजनीतिक घटना क्रम के वीच का सम्बन्ध अत्यधिक काल्पनिक और अनिश्चित दिखायी पड़ेगा। दूसरी ओर जब 'अमरीका के बुनियादी हितों' को सूक्ष्म सैनिक और सामरिक हितों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो यह ठोस दिखायी पड़ने लगता है, लेकिन वियतनाम युद्ध में असफलता के बाद और डलेस के युग से विरासत में प्राप्त नीतियों की पहले से चली आ रही असफलताओं के परिणामस्वरूप यह कारण थोथा सिद्ध हो चुका है।

अनेक संसद सदस्य और अन्य लोग अब 'अमरीका का सर्वोत्तम हित' सहायता न देना ही मानने लगे हैं, ताकि अमरीका आगे चलकर राजनीतिक और सैनिक जिम्मेदारियों में न फँस जाये जैसाकि सहायता देने के बाद पहले हुआ।

इसके अलावा एक यह कारण भी है कि यथार्थ में सहायता देने से संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर कोई खास भार नहीं पड़ता—केवल संघीय बजट में करों को छोड़कर। इस कारण को अक्सर यह कहकर अधिक प्रभावशाली ढंग से पेश किया जा सकता है कि 'सहायता व्यापार के लिए अच्छी बात है।' जैसाकि हम देख भी चुके हैं, सहायता कार्यक्रम को अधिकाधिक मात्रा में अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप ढाला गया, विशेषकर सहायता की राशि से केवल संयुक्त राज्य अमरीका में ही आवश्यक सामग्री खरीदने की शर्त लगाकर। जैसाकि गौड ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा :

"विदेशी सहायता कार्यक्रम के बारे में सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि हम विदेशों को धन भेज देते हैं। हम यह नहीं करते। विदेशी सहायता में अमरीकी मशीनें, कच्चा माल, विशेषज्ञों की सेवाएँ और अनाज शामिल होता है—ये सब चीजें कुछ खास विकास कार्यक्रमों के लिए दी जाती हैं, जिनकी हम स्वयं समीक्षा करते हैं और अनुमति देते हैं ... सहायता की राशि का 93 प्रतिशत प्रत्यक्ष रूप से अमरीका में ही इन वस्तुओं के भुगतान पर खर्च किया गया। पिछले वर्ष ही 50 राज्यों में 4,000 अमरीकी कम्पनियों को सहायता की राशि में से 1 अरब 30 करोड़ डालर का भुगतान मिला। उन्हें यह भुगतान विदेशी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत खरीदे गये माल के लिए दिया गया।"[22]

अमरीकी करदाता और संसद में उसका प्रतिनिधि लम्बे अरसे से निजी व्यापार को इस प्रकार धन की प्राप्ति की बात को सन्देह की दृष्टि से देखता रहा है—यद्यपि पहले यह प्राप्ति इतनी विशाल और व्यापक नहीं थी, जितनी हाल में हथियारों पर होने वाला खर्च रहा है जिसके कारण अधिकांश लोग और अधिकांश संसद सदस्य यह अनुभव करते हैं कि कम्पनियों को उनके हिस्से से अधिक मिल रहा है।

इसके अलावा एक सीधा-सादा नैतिक कारण भी है। ऊपर वर्णित कारणों के सन्दर्भ में 'राष्ट्रीय हित' का उल्लेख कर देने के बाद परकिन्स समिति ने 'दूसरे' राष्ट्रीय हित के रूप में 'मानवतावादी कारण' का उल्लेख किया है : "हमें गरीब देशों को और गरीब लोगों को अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए सहायता देनी चाहिए।"[23] राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी ने कहा था कि संयुक्त राज्य अमरीका को सहायता इसलिए देनी चाहिए क्योंकि यह बात 'सही' है।

संसद को विदेशी सहायता के बारे में अपने पहले सन्देश में राष्ट्रपति रिचर्ड एम० निक्सन ने—ऊपर वर्णित अन्य सब कारणों की चर्चा करने के बाद—आगे कहा : "ये सब हमारे विदेश सहायता कार्यक्रमों के ठोस और व्यावहारिक कारण हैं, लेकिन ये हमारे मूलभूत चरित्र और उद्देश्य के प्रति न्याय नहीं करते। इस देश में एक ऐसा नैतिक गुण है, जो हमें इस संसार में व्याप्त

अभाव के प्रति अपनी आँखें बन्द करने की अनुमति नहीं देगा......"[24]

उक्त उद्धरण की अन्तिम बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। सार्वजनिक विचार-विमर्श और सार्वजनिक राय में समस्त स्वार्थ पूर्ण कारणों को एक ऐसा स्थायी स्थान देने के बाद, और पूरे सहायता कार्यक्रम को इन कारणों के आधार पर इतना निश्चित स्वरूप प्रदान करने के बाद, नैतिक अनिवार्यता का प्रकाश और शक्ति समाप्त हो जाती है।

मैंने संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर अपना ध्यान कम-विकसित देशों को सहायता देने वाले देश के रूप में केन्द्रित किया है। अन्य विकसित देश 1955 से सहायता देने वाले अधिक महत्त्वपूर्ण देशों के रूप में सामने आये। यह कार्य आंशिक रूप से अमरीका द्वारा इस बात पर जोर डालने से हुआ कि विकसित देशों को सहायता में अपना हिस्सा भी बटाना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्ध में विकास सहायता समिति के आँकड़ों के बारे में जो कारण बताये गये हैं, उसी प्रकार अन्य सब विकसित देशों से 'सरकारी पूँजी प्रवाहों' सम्बन्धी इस समिति के आँकड़ों को कम-विकसित देशों को प्राप्त वास्तविक सहायता के सूचक के रूप में जैसे का तैसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। समस्त आँकड़ों में कटौती करने की आवश्यकता होगी।

बढ़ते हुए दामों को ध्यान में रखते हुए जिस अवस्फीति की आवश्यकता होगी उसके परिणामस्वरूप सहायता कार्यक्रमों की वृद्धि का रुकना ही नहीं बल्कि सहायता की राशि में वास्तविक कमी स्पष्ट हो जायगी।

हाल के वर्षों में अधिकांश अन्य विकसित देशों में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश-सहायता की राशि में मूलभूत कमी जैसी कोई बात नहीं हुई है। अगले कुछ वर्षों में सहायता कार्यक्रमों में अन्य विकसित देशों का हिस्सा बढ़ता जायेगा। उस समय विकास सहायता समिति के आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकाल पाना कम सम्भव होगा कि कम-विकसित देशों को जो सहायता मिलती है उसका आधा अथवा आधे से अधिक हिस्सा संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त होता है जैसाकि आजकल अक्सर कहा जाता है।

पर ये सब बातें कहने के बावजूद हम अभी भी सतही स्तर पर हैं। सहायता की वास्तविक राशि का अनुमान लगाते समय 'सरकारी प्रवाह' के आँकड़ों में बढ़ती कीमतों को ध्यान में रखते हुए कटौती करने के अलावा अन्य कारण भी हैं, जिनमें विभिन्न उपायों से सहायता पर शर्तें अथवा पाबन्दियाँ लगाने का तरीका प्रायः सब देशों में सामान्य रूप से अपनाया जाता है। और इस प्रकार सहायता प्राप्त करने वाले देशों को मिलने वाली सहायता के मूल्य में कमी हो जाती है। यदि इस तरीके में वृद्धि नहीं हो रही है तो भी यह कहना होगा कि इसके महत्त्व में किसी भी रूप में कमी नहीं हुई है।

गहराई से अध्ययन करने पर सम्भवतः यह प्रकट हो जायेगा कि शेष पश्चिमी संसार के सब बड़े देशों के लिए राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी कारण प्रमुखतम प्रेरणा बनते हैं। ऐसी सहायता पहले ही अधिकाधिक मात्रा में सैनिक और सामरिक लक्ष्यों का अपरिष्कृत रूप धारण कर चुकी है, और इसके परिणामस्वरूप अमरीका द्वारा दी जाने वाली सहायता की राशि में कटौती करने का प्रबल कारण मौजूद रहता है। उदाहरण के लिए, वियतनाम को दी जाने वाली

'सहायता' का उल्लेख किया जा सकता है।

राजनीतिक हित साधन की दिशा अपना प्रभाव बढ़ाने और व्यापारिक लाभ उठाने की ओर निर्देशित होती है। फ्रांस और ब्रिटेन ने अपने भूतपूर्व उपनिवेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखा और इन उपनिवेशों में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाते रहे। यह बात सहायता प्राप्त करने वाले देशों को दिये गये दिशा-निर्देश से स्पष्ट है।

सहायता के इस दिशा-निर्देश का प्रमुख उद्देश्य उक्त देशों में अपने शेष व्यापारिक सम्बन्धों और पूंजी निवेशों को सुरक्षित रखना था। पर यह भी कहना होगा कि नवस्वतन्त्र देशों के भविष्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना भी उनमें मौजूद थी।

फ्रांस, और इससे कम प्रकट रूप से ब्रिटेन, अपने भूतपूर्व उपनिवेशों में पुराने राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को बनाये रखने में सक्रिय दिलचस्पी दिखाता रहा। फ्रांस ने अपने अपेक्षाकृत बड़े विदेश-सहायता बजट में अनेक सन्दिग्ध मदों को भी शामिल किया है। व्यय का एक हिस्सा भ्रष्टाचार में भी नष्ट हुआ। अथवा, इससे भी अधिक यह हुआ कि फ्रांस की नीति के प्रतिनिष्ठा रखने वाले शासक वर्ग के लोगों को आवश्यकता से अधिक ऊँचे वेतन और सुविधाएँ देकर वह प्रक्रिया जारी रखी गयी जिसे 'सामूहिक भ्रष्टाचार' ही कहा जा सकता है।

विल्सन सरकार के अधीन ब्रिटेन असाधारण वित्तीय कठिनाइयों से जूझता रहा और इस असाधारण बात का उल्लेख करना होगा कि इसके बावजूद ब्रिटेन ने अपने सहायता बजट में और आगे कटौती नहीं की। सम्भवतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि ब्रिटिश सरकार ने सहायता के रूप में ऊँची राशि देने की अपनी नीति के समर्थन में इस बात का उल्लेख किया है कि इसके परिणामस्वरूप उसे व्यापार में कितना लाभ हुआ है। हाल तक विदेश विकास मन्त्री अर्ल ग्रिनस्टेड ने इस बात को समझाते हुए कहा :

"हमारी सहायता की दो-तिहाई राशि ब्रिटेन से खरीदे जाने वाले माल और सेवाओं पर खर्च होती है······सहायता के परिणामस्वरूप व्यापार बढ़ता है। हम विदेश में किसी कारखाने के लिए मशीनें आदि देते हैं और आगे चलकर हमें अतिरिक्त हिस्से पुर्जों और नयी मशीनों के लिए आर्डर मिलते हैं······हम (सहायता पर व्यय करेंगे)······क्योंकि यह बात सही है और इसलिए भी कि यह बात हमारे लम्बी अवधि के हित में है।"[25]

ब्रिटेन के सहायता कार्यक्रम का अध्ययन करने वाली एक संसदीय समिति ने इसी बात को बेहद स्पष्टता से कहा :

"सहायता व्यापार में वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सहायता कार्यक्रम के बुनियादी नैतिक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, उन्हीं देशों को अधिकाधिक मात्रा में सहायता दी जानी चाहिए जो ब्रिटेन में बनने वाले माल की खपत की सबसे अधिक क्षमता रखते हों।"[26]

सम्भवतः इस प्रकार की प्रेरणा अधिकांश विकसित देशों की सहायता सम्बन्धी गतिविधि के साथ जुड़ी हुई है। इन देशों में फ्रांस और, विशेष रूप से, जापान और जर्मनी भी शामिल हैं।

अब तक जो अध्ययन हुए हैं उनसे कहीं अधिक गहन अध्ययन किये बिना निश्चित निष्कर्षों की मात्रात्मक अभिव्यक्ति देना यद्यपि असम्भव है, पर ज्ञात जानकारी के आधार पर यही सामान्य धारणा बनती है कि इन सब देशों की सहायता के आँकड़ों में कटौती करना आवश्यक होगा—विशेषकर इस कारण से क्योंकि सहायता की बड़ी राशि पर माल आदि की खरीद के बारे में शर्तें लगी होती हैं—लेकिन इनमें अमरीकी सहायता की राशि जितनी कटौती नहीं करनी होगी।

इस प्रकार कटौती करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों को जो सहायता दे रहा है, उसकी आधी से पर्याप्त कम और सम्भवतः लगभग एक-तिहाई राशि को ही सच्ची सहायता कहा जा सकता है। कम-विकसित देशों को जो सहायता सब देशों से मिलती है उसमें अमरीका का हिस्सा घटता जायेगा क्योंकि हाल के वर्षों में सहायता बजट में जो कमी की गयी है उससे भविष्य में कम सहायता का ही वितरण होगा।

अन्य विकसित देशों से कम-विकसित देशों को जो सहायता मिलती है उसका सच्चा स्तर वास्तव में पूरी तरह अपर्याप्त है। सहायता सामान्यतया बढ़ने के स्थान पर घट ही रही है। यद्यपि अमरीका की तरह अन्य विकसित देशों की सहायता में निश्चित और तेजी से कमी नहीं हो रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष जार्ज डी० वुड्स ने अपने एक महत्त्वपूर्ण भाषण में, जिसके कुछ उद्धरण मैं पहले ही दे चुका हूँ, निम्नलिखित शब्दों में सहायता की प्रवृत्ति के बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त की है :

"ऐसा लगता है कि ऊँची आय वाले देश कल के बारे में नहीं सोच रहे हैं। उनकी सहायता नीतियों से उनकी अपनी संकीर्णतम चिन्ताएँ ही प्रकट होती हैं जिसके परिणामस्वरूप विकासशील देशों की स्थिति और समग्र संसार के लिए लम्बी अवधि की दृष्टि से इसके महत्त्व के बारे में प्रभावशाली ढंग से सोचने की गुंजाइश नहीं रह जाती। यह हो सकता है कि शायद सहायता के मामले को बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर दिया जाय लेकिन इसके बावजूद यह सच है कि अब तक द्विदेशीय सहायता कार्यक्रमों का एक बुनियादी लक्ष्य स्वयं ऊँची आय वाले देशों को सहायता पहुँचाना था; यह कार्यक्रम निर्यात बिक्री के लिए वित्तीय सहायता देने, राजनय के दाँवपेंचों में सहायता पहुँचाने, सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले सैनिक ठिकानों पर अपने पाँव जमाये रखने के लिए सहायक बनाया जा रहा है।"[27]

कुछ छोटे विकसित देशों में हाल में इस सम्बन्ध में जो काम हुआ है वही एकमात्र उत्साहवर्धक लगता है। इस अध्याय के तीसरे अनुभाग में मैं नीति सम्बन्धी जो निष्कर्ष निकालूंगा उसके पूर्वाभास के रूप में मैं अपने सुपरिचित और छोटे देश स्वीडन के सहायता कार्यक्रम के हाल के घटना-क्रम की संक्षिप्त समीक्षा करना चाहूँगा।

स्वीडन निवासियों और अमरीकियों के बीच समानताओं के कारण स्वीडन की संयुक्त राज्य अमरीका से तुलना विशेष रूप से समीचीन है। वास्तव में सामान्य सांस्कृतिक विशेषताओं और बुनियादी, नैतिक प्रवृत्तियों में अमरीकियों

से अन्य कोई राष्ट्र स्वीडन से अधिक समानता नहीं रखता। यह सही है कि स्वीडन निवासियों की तुलना में अमरीकियों को शेष संसार के प्रति कहीं अधिक उदारतापूर्ण सहायता देने की प्रवृत्तियाँ विरासत में प्राप्त हैं।

पर स्वीडन निवासियों के मन में स्वभावतः यह विचार नहीं आता कि कम-विकसित देशों को सहायता देना "स्वीडन के सर्वोत्तम हित में होगा।" आंशिक रूप से इस भिन्नता का स्पष्टीकरण इस बात में निहित हो सकता है, कि सौभाग्यवश, संयुक्त राज्य अमरीका की तरह स्वीडन आवश्यकता से अधिक वड़ आकार का नहीं है। इसके अलावा विशुद्धिवादी विरासत अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्त होने के कारण एक सही कार्य को स्वार्थपूर्ण ढंग से करने की प्रवृत्ति स्वीडन में कभी भी अमरीका की तरह एक परम्परा नहीं वन पायी। डेढ़ शताब्दी तक युद्ध से दूर रहने के बाद स्वीडन निवासियों को सहायता को सैनिक और सामरिक हितों में इस्तेमाल करने का आकर्षण नहीं होता।

ठोस और प्रतियोगितात्मक वाणिज्य का सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक कायम हो जाने और एक पीढ़ी से अधिक समय तक समाजवादी लोकतन्त्री शासन द्वारा इसका कट्टरता से पालन करने के बाद स्वीडन निवासी स्वदेश में कुछ निजी व्यक्तियों और व्यापारी कम्पनियों को अव्यवस्थित ढंग से सहायता पहुँचाने के लिए दूसरे देशों को दी जाने वाली सहायता का अनुचित लाभ उठाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते।

इस प्रकार स्वीडन निवासी यह अनुभव करते हैं कि उनके लिए सहायता देने का एकमात्र कारण मानवीय प्रेरणा ही हो सकती है। निर्धन, भूख से पीड़ित, रोग ग्रस्त और निरक्षर तथा उन लोगों के प्रति एकता-भाव ही उन्हें यह प्रेरणा देता जो स्वयं को गरीबी से मुक्ति दिलाने का प्रयास कर रहे हैं।

स्वीडन ने यूरोप के बाहर उपनिवेशी साम्राज्य स्थापित करने का अधिक प्रयास नहीं किया। इसका कारण यह नहीं था कि उन्हें इस कार्य में दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा हो, बल्कि समुद्र-पार आश्रित राज्यों की स्थापना की होड़ से दूर रहने की इच्छा के फलस्वरूप यह हुआ। स्वीडन के राजा ने सौ वर्ष से अधिक समय पहले ही अपने उपनिवेशी प्रदेश का अन्तिम छोटा हिस्सा वेच दिया था।

अपना कोई भी उपनिवेश न होने के कारण स्वीडन के विश्वविद्यालयों ने यदा-कदा ही, और वह भी प्रायः संयोगवश, संसार के उस भाग के वारे में दिलचस्पी ली जिसे आज तीसरी दुनिया कहा जाता है। स्वीडन में वापस लौटने वाले उपनिवेशी अधिकारी नहीं थे। जिन गिने-चुने व्यापारियों और मिशनरियों को इन क्षेत्रों का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त था उन्होंने अनुसन्धान अथवा व्यापक राष्ट्रीय दिलचस्पी को प्रोत्साहन नहीं दिया। इस कमजोर पृष्ठभूमि के कारण हाल के वर्षों तक में स्वीडन-निवासियों ने कम-विकसित देशों और उनकी समस्याओं के वारे में ज्ञान में वृद्धि करने के लिए प्रायः कोई मौलिक अंशदान नहीं किया।

पर जनसामान्य को इन देशों की निर्धनता और इन देशों के निवासियों के कष्टों के वारे में जानकारी देने के लिए वास्तव में किसी शास्त्रीय और बौद्धिक आधार की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन इस कार्य में पर्याप्त समय लगा और सन् 1955 के आसपास ही स्वीडन में सहायता की समस्या का व्यापक प्रचार

हुआ। और उस समय सहायता बजट बहुत छोटा था और आज भी है।

लेकिन दिलचस्प बात बहुत हाल का एक निर्णय है। सन् 1968 में संसद ने यह निर्णय लिया कि राष्ट्रीय बजट में सहायता की जो राशि निर्धारित की गयी है उसमें हर वर्ष पच्चीस प्रतिशत वृद्धि की जाय, जब तक, 1974-75 के वित्तवर्ष में, यह राशि कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक प्रतिशत नहीं हो जाती (राष्ट्रीय-उत्पादन राष्ट्रीय-आय से पच्चीस प्रतिशत अधिक है और अन्य देशों में राष्ट्रीय-आय के आधार पर ही सहायता का प्रतिशत आँका जाता है)। इसके अलावा किसी की यह धारणा भी नहीं है कि यह स्तर प्राप्त हो जाने के बाद यह वृद्धि रोक दी जाय।

उक्त प्रतिशत की गणना केवल सार्वजनिक सहायता के लिए ही की गयी थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वीडन की सहायता की गणना में 'निजी प्रवाह' शामिल नहीं है। जब कभी सहायता सार्वजनिक ऋण के रूप में दी जायगी तो ऋण की अवधि पच्चीस वर्ष या इससे अधिक होगी, और इस अवधि को दस वर्ष और बढ़ाया जा सकेगा, तथा इस पर दो प्रतिशत या इससे भी कम ब्याज लिया जायगा। विश्व बैंक की अन्तर्राष्ट्रीय विकास-संस्था के सहयोग से काम करते समय पचास वर्ष की अवधि के लिए ब्याज-मुक्त ऋण दिये जा सकते हैं। इन पर केवल थोड़ा-बहुत प्रशासनिक शुल्क लिया जायगा।

इसके अलावा सहायता पर सामान्यतया यह शर्त नहीं होती कि इसकी राशि को स्वीडन में ही खर्च करना होगा (केवल उस स्थिति को छोड़कर जब स्वीडन के आवश्यकता से अधिक उत्पादन को सहायता के रूप में दिया जाता है, उदाहरण के लिए कुछ वर्षों में दिया गया कागज)। व्यापारियों ने इस सम्बन्ध में कुछ दबाव डाला है कि स्वीडन द्वारा दी जाने वाली सहायता पर भी स्वीडन से ही माल की खरीद की शर्त लगायी जाय। इस सुझाव के सम्बन्ध में एक प्रभावशाली कारण पेश किया जा सकता है। जब स्वीडन को छोड़कर अन्य सब देश सशर्त सहायता देते हैं तो यह कल्पना की जा सकती है कि स्वीडन के व्यापार को कितने बड़े पैमाने पर अनुचित होड़ और इस प्रकार भेदभाव का सामना करना होगा। अब क्योंकि इस सम्बन्ध में सरकार का दृढ़ संकल्प सर्वविदित था, अतः इस दबाव का कभी कोई असर नहीं हुआ।

वर्तमान सन्दर्भ में हमारी दिलचस्पी इस प्रश्न पर केन्द्रित होती है कि किस प्रकार और इतनी तेजी से यह काम हुआ, विशेषकर सहायता में इतनी अधिक वृद्धि करने के बारे में? यह बात विदेशों में व्याप्त प्रवृत्ति के विपरीत थी, और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में व्याप्त प्रवृत्ति के जहाँ के लोग स्वीडन निवासियों के अत्यधिक समान हैं।

जहाँ तक स्थिर कारकों का सम्बन्ध है—सहायता और व्यापार तथा सहायता पर शर्त न लगाने के अन्तर को पूरी तरह स्पष्ट रखते हुए—इसका श्रेय सरकार और संसद को है। ये दोनों ही बहुत कट्टरपन्थी तरीके से 'ठोस वित्त और वाणिज्य के पुराने सिद्धान्तों' पर डटे रहे।

लेकिन जब बड़ी मात्रा में और तेजी से सहायता की राशि में वृद्धि करने का निर्णय लिया गया तो इस कार्य में राजनीतिक प्रतिष्ठान ने मुश्किल से ही पहल की। मेरा विश्वास है कि यह कहना उचित होगा कि सरकार और राजनीतिक

पार्टियों ने जनता की इच्छा का लागू करने वाले माध्यमों के रूप में काम किया —प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि इसी प्रकार स्वीडन की सरकार और राजनीतिक पार्टियों को वियतनाम में अमरीका के सैनिक कार्रवाई करने अथवा चेकोस्लोवाकिया पर रूस के आक्रमण के प्रति अपनी नीति निर्धारित करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। और इस कार्य में लोगों की अगवाई लोकप्रिय संगठनों ने की। इनमें राजनीतिक, युवक और स्त्री संगठन तथा शक्तिशाली सहकारी और मजदूर संगठन शामिल थे।

राजनीतिक प्रतिष्ठान को केवल लोकप्रिय माँगों का अनुसरण भर करना पड़ा। सत्तारूढ़ पार्टी से अधिक दक्षिणपन्थी नीति का अनुसरण करने वाली दो राजनीतिक पार्टियों ने लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक समझा कि वे विपक्ष के रूप में सरकार से भी आगे बढ़कर सहायता बजट में और अधिक तेजी से वृद्धि की माँग करें ताकि कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक प्रतिशत सहायता के रूप में देने का प्रथम लक्ष्य 1972-73 के वित्त वर्ष तक ही पूरा हो जाय।

स्वीडन का प्रायः स्वच्छतम और प्रायः आदर्श उदाहरण यह प्रकट करता है कि सहायता देने की नैतिक अनिवार्यता की कितनी प्रबल शक्ति है—यदि सहायता के साथ अवसरवादी दुरंगी चाल की भ्रान्ति को न जोड़ दिया जाय जिसके परिणामस्वरूप असफलता और निराशा हाथ लगती है, जैसाकि संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ। स्वीडन के लोगों को कम-विकसित देशों को सहायता देने की प्रेरणा सीधे-सादे मानवीय कारणों के अलावा अन्य किसी वस्तु से नहीं मिली थी।

इस प्रमुख निष्कर्ष के अलावा दो अन्य दिलचस्प प्रेक्षण आवश्यक होंगे। जब सहायता देने का कार्य राष्ट्रीय और विशेषकर, सैनिक तथा सामरिक हितों के इरादों से मुक्त हो जाता है और जब सहायता पर यह शर्त नहीं होती कि इसकी राशि को केवल सहायता देने वाले देश में ही खर्च किया जा सकता है, तो संयुक्त राष्ट्र के अधीन काम करने वाले अन्तर-सरकार संगठनों के माध्यम से सहायता देने की अनिच्छा कम हो जाती है। स्वीडन की सहायता की लगभग आधी राशि इन्हीं संगठनों की मार्फत बहुद्देशीय आधार पर दी जाती है। जहाँ तक अन्य विकसित देशों का सम्बन्ध है उनकी सहायता का केवल दस प्रतिशत ही उक्त संगठनों की मार्फत वितरित होता है।

दूसरा प्रेक्षण यह है कि नैतिक के अलावा अन्य सब उद्देश्यों का अभाव स्वीडन को इस बात से मुक्त कर देता है कि वह कम-विकसित देशों को प्रभावित करने का प्रयास करे। सार्वजनिक बहस में, जो सदा राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिष्ठान से आगे चलती है, अब अधिकाधिक दबाव इस बात पर डाला जाता है कि सहायता उन प्रगतिशील कम-विकसित देशों को दी जाय जो इस पुस्तक के अध्याय-3 और 7 में वर्णित आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू कर रहे हैं। इस दबाव के कारण प्रतिष्ठान धीरे-धीरे इसी दिशा में आगे बढ़ने लगा है।

मैं यह बात कहने से इसलिए हिचकिचा रहा था कि कहीं यह उदाहरण प्रस्तुत करने की बात राष्ट्रवादी न दिखायी पड़े। लेकिन मैंने इस कारण से इस हिचकिचाहट पर काबू पा लिया क्योंकि मैं पूरी ईमानदारी से काम करना चाहता हूँ, और मुझ इस आदर्श उदाहरण से प्राप्त वास्तविक अनुभव का उद्धरण देने

की इसलिए भी आवश्यकता थी क्योंकि मैं अगले अनुभाग में नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ। स्वीडन निवासियों के बारे में इसे छोड़कर अन्य कोई असाधारण बात नहीं है कि वे ऐसी स्थिति में हैं जहाँ कम-विकसित देशों को सहायता देने का यदि कोई कारण हो सकता है, तो वह कष्ट में फँसे लोगों के प्रति एकता रखने का नैतिक भाव ही हो सकता है। यही वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर उन्होंने स्वदेश में अपने सफल हितकारी राज्य की स्थापना की है।

कम-विकसित देशों को सच्ची सहायता में वृद्धि का बेहतर वातावरण निर्मित करने में स्वीडन अकेला नहीं है। छोटे और अत्यधिक विकसित देशों में अनेक देश ऐसी ही स्थिति में हैं, जहाँ राष्ट्रीय हितों का बहुत कम और निरन्तर घटता जा रहा महत्त्व है, जिसके परिणामस्वरूप सहायता की प्रेरणा केवल नैतिक कारणों से ही मिल सकती है। जब अन्य राष्ट्रीय हित नहीं रह जाते तो यह देखा गया है कि इन देशों ने सहायता की राशि में कमी न करके वृद्धि की अथवा वे ये वृद्धि करने के लिए तैयार थे।

इन देशों में मैं कनाडा और नीदरलैण्ड की निश्चित रूप से गणना करूँगा, और सम्भवतः जल्दी ही स्विट्ज़रलैण्ड, डेनमार्क, ऑस्ट्रिया, फिनलैण्ड और नार्वे भी इसी कोटि में आ जायेंगे। इसके बावजूद एक अन्तर है जो शायद अधिक समय तक कायम न रहे कि उक्त अन्य देशों ने अपनी सहायता की राशि से केवल अपने देश में बना माल ही खरीदने की शर्त लगाना बन्द नहीं किया है, और स्वीडन की तरह निजी पूँजी-निवेश को सार्वजनिक सहायता से अलग और भिन्न कोटि में नहीं रखा है, तथा अपने व्यापारियों पर कर लगाकर उनसे बलिदान की माँग नहीं की है।

3. नीति सम्बन्धी निष्कर्ष

अब मैं अपने नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने की स्थिति में आ गया हूँ। कम-विकसित देशों में उत्पादन और खपत के स्तरों और दिशा के बारे में हमें जो जानकारी है तथा विकास सम्बन्धी प्रयासों में उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उसके परिणामस्वरूप यह अनिवार्य दिखायी पड़ता है कि विकसित देशों को अपनी सहायता की राशियों में जल्दी-से-जल्दी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि करनी चाहिए। अत्यन्त उदारतापूर्वक जो घोषणाएँ की जाती हैं, यह कार्रवाई उसके भी अनुरूप होगी, पर अब तक जो कुछ किया गया है यह उसके विपरीत होगा।

यथार्थवादी दृष्टिकोण से यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कम-विकसित संसार के बड़े भाग में सहायता की आवश्यकता को कम अवधि की आवश्यकता नहीं समझा जा सकता, सहायता की योजनाएँ लम्बी अवधि की दृष्टि से बनानी होंगी। किसी विशेष कम-विकसित देश को उस स्थिति में पहुँचने में कितनी समय लगेगा, जिसे लोकप्रिय शब्दावली में—और तर्क की दृष्टि से अस्पष्ट तरीके से[28]— 'स्वयं स्फूर्त' अथवा 'अपने प्रयासों से संचालित' कहा जाता है, यह बात सम्बन्धित देश को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता के आकार और विकसित देशों की वाणिज्य नीतियों के अलावा सम्बन्धित कम-विकसित देश की उन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को अपने देश में लागू करने की इच्छा और क्षमता पर निर्भर करेगी, जिन सुधारों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग में विचार किया गया है।

जब किसी विकसित देश की सरकार अपने सहायता सम्बन्धी विधेयक को अपनी संसद में आसानी से स्वीकृत कराने के लिए कम-विकसित देशों के भावी विकास के बारे में आवश्यकता से अधिक आशावादी विचार प्रकट करती है, तो यह बात अनिवार्य रूप से सामने रहती है कि आगे चलकर सहायता के लिए आवश्यक समर्थन प्राप्त करना कठिन होगा, क्योंकि उक्त आशावादिता के अनुसार कम-विकसित देशों में विकास नहीं होगा।

कम-विकसित देशों में सहायता की आवश्यकता और विकसित देशों की ओर से जारी किये गये सामान्य वक्तव्यों में प्रकट चिन्ता के परिणामस्वरूप उत्तरदायी लोगों को यह प्रेरणा मिलनी चाहिए कि उनके सहायता बजट में जो राशि निर्धारित की जाती है, वह धीरे-धीरे उतनी ही बड़ी हो जाये जितनी बड़ी राशियाँ विकसित देश अपने महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूरा करने के लिए खर्च करते हैं। उदाहरण के लिए सामाजिक सुरक्षा अथवा शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों का उल्लेख किया जा सकता है और शायद प्रतिरक्षा का उल्लेख न करना ही बेहतर होगा। उनकी राष्ट्रीय आयों में जो प्रत्याशित वार्षिक वृद्धि होती है, उसका एक पर्याप्त बड़ा हिस्सा हर वर्ष सहायता की राशि में दिया जाना चाहिए।

वर्तमान दशक के अन्त तक स्वीडन, कनाडा और नीदरलैण्ड जैसे देशों में यह कार्य हो सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका में सम्भवत: हमें यह देखने को मिलेगा कि कुछ समय के लिए सहायता की राशि में निरन्तर कमी होती रहे, लेकिन कुछ कारणों से, जिन पर मैं आगे विचार करूँगा, अगले कुछ ही वर्षों में हमें परिवर्तन देखने को मिलेगा और सहायता की राशि में वृद्धि होने लगेगी। स्थिति चाहे कुछ भी क्यों न हो, हमें इस दिशा में निश्चय ही प्रयास करना होगा।

अत: मैं यह मानकर चलता हूँ कि विकसित देश अपने सहायता बजट में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं। यह पूर्णतया इस बात पर निर्भर करता है कि विकसित देशों के लोग कम-विकसित देशों को सहायता देने की बात को कितना महत्त्व देते हैं।

विदेशी मुद्रा के विनिमय की कठिनाइयों का उल्लेख सहायता की राशि में कमी करने का ही एक बहाना नहीं, बल्कि कम-विकसित देशों के हितों के अनुरूप वाणिज्य नीतियों में परिवर्तन न करने का भी बहाना बनेगा। मैंने इस बात का उल्लेख अध्याय-9 में किया है।

भविष्य में, हमें इस दिशा में आगे बढ़ना होगा कि हम कम-विकसित देशों को सहायता देने के कार्य को विकसित देशों की सामूहिक जिम्मेदारी मानें, इसे एक ऐसा भार मानें जिस पर हम न्यायोचित तरीके से हिस्सा बटाने के लिए सहमत हों और इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय कराधान प्रणाली को जन्म दे सकें।

इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी संकल्पनाओं और अपने व्यवहारों को अवसरवादिता के कारण पूर्वाग्रहग्रस्त और झूठे विचारों और गलत ढंग से पेश की गयी युक्तियों से मुक्ति दिलायें, जिनकी मौजूदगी के बारे में इस अध्याय में सर्वत्र विचार किया गया है। वस्तुत: इस पूरी पुस्तक में यह विचार हुआ है। इस शुद्धि अभियान को लागू करने में स्वतन्त्र अनुसन्धानकर्त्ताओं के ऊपर विशेष जिम्मेदारी आती है। सरकारी और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के

विशेषज्ञ और अधिकारी स्वयं को शक्तिशाली अवसरवादिता पर आधारित पूर्वाग्रहों से मुक्त कराने में असमर्थ रहे हैं। ये पूर्वाग्रह उनके मालिकों के हैं और मालिक कोई एक सरकार हो सकती है अथवा कई सरकारों का एक समूह।

यह शुद्धिकरण बौद्धिक स्पष्टता और ईमानदारी के हित में होगा। इस कारण से इसका हमारी जैसी सभ्यता में व्यापक और स्वतन्त्र महत्त्व है। इस शुद्धि अभियान के परिणामस्वरूप सहायता की राशि में वृद्धि करने के लिए लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करना बहुत आसान हो जायेगा।

इस प्रकार हमें उदारतापूर्वक सहायता देने, जिसके लिए सामान्यतया बलिदान करने की आवश्यकता होती है, और व्यापार, जिसे लाभदायक समझा जाता है, के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींचनी होगी।

यदि सहायता ऋण के रूप में दी जाती है—और अनेक मामलों में इसका उपयोग राष्ट्रीय विधान सभाओं में आसानी से स्वीकृति प्राप्त करने के लिए ही नहीं किया जाता—तो ऋण की अवधि में वृद्धि और बाजार दर से निचली दर पर ऋण परिशोधन की लम्बी अवधि में ब्याज लेने को ही सहायता कहा जा सकता है। वर्तमान समय तक किये गये भुगतानों का बट्टा निकालकर और इसे ऋण की राशि में से घटाकर सहायता की राशि की गणना की जा सकती है।

निजी पूँजी का प्रवाह, विशेषकर प्रत्यक्ष पूँजी निवेश तथा व्यापार—उन अनेक महत्त्वपूर्ण शर्तों सहित जिनका विवरण हमने अध्याय-9 और 10 में दिया है—किसी भी कम-विकसित देश में विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सहायता से अक्सर कम-विकसित देश के आर्थिक आधार में सुधार किया जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप निजी पूँजी निवेश में वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार सहायता का लाभकारी प्रभाव प्रकट होता है और इसका उपयोग निजी पूँजी निवेश के लिए उपदान देने और इसमें वृद्धि करने के लिए भी किया जा सकता है। कुछ परिस्थितियों में उपदान को, पर पूँजी निवेश को नहीं, सहायता कहा जा सकता है।

सामान्य व्यापारिक सौदों के लाभदायक प्रभावों को, यद्यपि सदा ये लाभ प्राप्त भी नहीं होते, सहायता कहकर पेश नहीं किया जाना चाहिए। यह सच है कि ऐसे सौदे अक्सर होते हैं और विकसित देशों के मध्य इनकी बहुत अधिक गुंजाइश रहती है। जब विकसित देशों के बीच ऐसे सौदे होते हैं, तब इन्हें किसी भी स्थिति में सहायता नहीं कहा जाता, चाहे ये सम्बन्धित पक्षों के लिए कितने भी लाभदायक क्यों न हों।

कम-विकसित देशों में जो निजी पूंजी निवेश किये गये हैं उन्हें सहायता की राशि के रूप में पेश कर भ्रान्ति उत्पन्न न करना और सम्बन्धित विकसित देशों के लोगों के मन में यह विश्वास जगाना कि वे कम-विकसित देशों के लिए कितना बलिदान कर रहे हैं, बेहतर होगा।

जब कोई विकसित देश—और यह बात केवल संयुक्त राज्य अमरीका तक ही सीमित रह गयी है क्योंकि पश्चिम का अन्य कोई भी देश यह करने की बात नहीं सोचेगा—इस उद्देश्य से सहायता देता है कि यह उसके अपने सैनिक हितों में है तो इस राशि को सहायता बजट से निकालकर राष्ट्रीय प्रतिरक्षा व्यय की मद में डाल देना चाहिए, चाहे यह सहायता हथियारों के रूप में हो, सैनिक

प्रतिक्षण की सुविधाओं के रूप में, अथवा अन्य किसी रूप में।

इसके अलावा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शुद्धि अभियान यह है कि सहायता की राशि पर यह शर्त लगाना बन्द कर दिया जाय कि इसकी राशि से केवल सहायता देने वाले देश से ही माल खरीदा जा सकता है। इन तरीकों का प्रमुख शिकार स्वयं कम-विकसित देश बनते हैं, जबकि इन्हें सहायता देने की आवश्यकता है। इन्हीं देशों की इस स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है कि वे विश्व बाजार से अपनी इच्छानुसार माल खरीद सकें। किसी विशेष देश से माल खरीदने की पाबन्दी होने की स्थिति में लागत में वृद्धि होती है और इसके अलावा अन्य अवांछित प्रभाव भी होते हैं।

इन तरीकों से विकसित देशों को कितना लाभ मिलता है, यह बात सन्दिग्ध है। पर इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहायता देने वाले सम्बन्धित देश को इस बात पर भरोसा नहीं है कि उसकी कम्पनियों का माल अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में चलने वाली होड़ का सामना कर सकेगा अथवा नहीं।

अब क्योंकि प्रायः सब देश अपनी सहायता पर यह शर्त लगा रहे हैं—और यही बात निजी पूँजी निवेश पर भी लागू होती है, जहाँ कहीं निजी पूँजी लगाने वाले यह करने में सफल होते हैं—अतः ये तरीके एक भिन्न प्रकार की भद-भाव बरतने वाली अर्थ-व्यवस्था को जन्म दे रहे हैं। यदि कोई एक देश भिन्न आचरण करे तो इसका अर्थ व्यापार से वंचित होना हो सकता है।

पर इसके विपरीत अपनी इच्छानुसार माल खरीदने की छूट का लाभ स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, क्योंकि संरक्षणात्मक वातावरण में भी अधिक मुक्त व्यापार वाणिज्य को सशक्त और प्रभावशाली बनाता है। जैसाकि व्यापार सम्बन्धी आँकड़ों से प्रकट होता है, स्वीडन को अपनी मुक्त व्यापार की नीतियों से इस और अन्य सन्दर्भों में जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे अनेक पीढ़ियों से चले आ रहे अर्थशास्त्रियों के पुराने ढर्रे के विश्वास की पुष्टि होती है।

पर यह निश्चय है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय करार के माध्यम से, जो सब देशों पर अनिवार्य रूप से लागू हो, इस पूरी प्रथा को समाप्त किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन में और अन्यत्र भी कम-विकसित देश ऐसा कोई करार करने के लिए ज़ोर डालते रहे हैं, लेकिन अधिकांश विकसित देश अपनी अदूरदर्शिता के कारण इसका प्रतिरोध कर रहे हैं और 1960 से आरम्भ दशक में इन तरीकों का बुरा प्रभाव बढ़ा है।

जब एकतरफा सहायता के रूप में कोई विकसित देश जिन्स अथवा सेवाएँ उपलब्ध कराता है, तो यह सशर्त सहायता का एक स्वरूप ही होता है। यदि इस सहायता के अधीन दी जाने वाली वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में खरीदा जाय अथवा, कम-से-कम इनके दाम की गणना अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की कीमतों के आधार पर की जाय, तो इसे स्वस्थ प्रवृत्ति कहा जा सकता है।

ऋण देने के क्षेत्र में विश्व बैंक शक्ति के प्रतीक के रूप में सामने आया है और उसने सहायता पर शर्त लगाने के तरीके को और अधिक व्यापक बनाने का विरोध किया है। विश्व बैंक ने इस बात पर जोर दिया है कि वह जो धन देता है उससे स्वतन्त्रतापूर्वक और अत्यन्त लाभकारी तरीके से सम्बन्धित देश अपनी इच्छानुसार जहाँ से चाहे माल खरीद सकता है। यह सौभाग्य का विषय है कि

विश्व बैंक अत्यन्त दृढ़ता से इस सिद्धान्त पर डटा हुआ है और अपने कोष में वृद्धि के लोभ में आकर विकसित देशों के दवाव के समक्ष झुकने को तैयार नहीं है।

सहायता के क्षेत्र में जो अन्य अन्तर-सरकार संगठन काम कर रहे हैं, और विशेषकर संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम के कार्य संगठन, उन्होंने भी सहायता पर शर्त लगाने का कड़ाई से विरोध किया है। पर इस प्रवृत्ति पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा कि कुछ सरकारी प्रतिनिधि इस बात का दवाव डालते हैं कि परामर्श देने वाली कम्पनियों को ठेके दे दिये जायें। अक्सर यह होता है कि इन कम्पनियों को किसी खास देश से माल खरीदने का आर्डर देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है और इस प्रकार इस नियम की उपेक्षा हो जाती है कि सहायता पाने वाले देश को प्रतियोगी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से अपनी इच्छानुसार माल खरीदने की छूट होनी चाहिए।

मेरा दूसरा मुद्दा सहायता की संकल्पना और सहायता देने सम्बन्धी तरीकों के शुद्धीकरण से पूरी तरह से सम्बद्ध नहीं है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है, और यह अध्ययन और चिन्तन पर आधारित है—कि लोगों की नैतिक भावनाओं का लाभ उठाकर ही वह लोकप्रिय आधार बनाया जा सकेगा, जिसके आधार पर कम-विकसित देशों को आवश्यकतानुसार पर्याप्त माला में सहायता में वृद्धि की जा सके।

इस बात को स्पष्ट रूप से और आश्वासनदायक तरीके से प्रस्तुत करने के लिए सहायता देने के नैतिक कारण को राष्ट्रीय हित के उन झूठे कारणों से एकदम अलग और मुक्त करना होगा, जिनकी मैंने संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता की नीति के सम्बन्ध में आलोचना की है। और सहायता की संकल्पना को वास्तविक बलिदानों के रूप में अभिव्यक्त करना होगा। इन बलिदानों को उन अनेक अवसरवादी तरीकों से विकृत नहीं वना देना चाहिए जिनकी मैंने ऊपर आलोचना की है। इन अवसरवादी तरीकों से सहायता की वास्तविक राशि को वढ़ा-चढ़ाकर दर्शाने की कोशिश की जाती है।

मैं एक नैतिकतावादी के रूप में यह बात नहीं कह रहा हूँ। यह निश्चय-पूर्वक सच है कि यह बात मेरे व्यक्तिगत मूल्यांकनों से मेल खाती है और मेरे ईमानदारी और स्पष्टता के उस आग्रह से भी जिसे मैं आर्थिक विषयों के एक अध्ययनकर्त्ता के रूप में महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। लेकिन इन अपेक्षाओं और कारणों के अलावा मैं इस वक्तव्य में निहित एक समाजविज्ञानी की तथ्यों और वास्तविक कार्यकारण सम्बन्धों पर जोर देने की प्रवृत्ति को भी दर्शाना चाहूँगा, क्योंकि यह बात हमारे समसामयिक संसार में आर्थिक नीतियों के अध्ययन से प्रकट होती है और मैंने अपने प्रतिपाद्य विषय की मान्यताओं के उदाहरण के रूप में दो अत्यन्त समान देशों—संयुक्त राज्य अमरीका और स्वीडन—के भिन्न और विपरीत तरीकों का भी उल्लेख किया है।

हमारी पश्चिमी सभ्यता में सामान्य लोगों को—और ये वे लोग हैं जो अन्ततः हमारे देशों में नीतियों की दिशा का निर्धारण करते हैं—करुणा और संकटग्रस्त लोगों के प्रति एकता का भाव प्रदर्शित करने के आधार पर काम करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। ये लोग तथाकथित राष्ट्रीय हितों के प्रति जल्दी ही उदासीन हो जाते हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब, और यह

अक्सर होता है, ये राष्ट्रीय हित झूठे और गलत दिशा में प्रेरित दिखायी पड़ने लगते हैं।

युद्ध के बाद के अपने अनुभवों से हम एक महत्त्वपूर्ण सवक भी सीख सकते हैं। जब राजनीतिज्ञ और विशेषज्ञ नैतिक कारणों के महत्त्व को इस और अन्य अनेक क्षेत्रों में प्रकट करने से डरने लगते हैं तो स्पष्टतः सच्चा यथार्थवाद नदारद रहता है।

गहराई से देखने पर यह प्रकट हो जाता है कि यह भीरुता अपनी बात प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने वाले लोगों की जन-सामान्य के प्रति अवांछित कृपाभाव दर्शाने की प्रवृत्ति का अंग है। ये लोग हर प्रकार के छोटी अवधि के लाभों और निहित स्वार्थों से सम्वन्धित विशेष परिस्थितियों में इस सीमा तक उलझ गये हैं कि उन्हें सच्चाई को देखने-परखने में कठिनाई होती है।

मैं अत्यन्त स्पष्टता से इस वात में विश्वास करता हूँ कि किसी राष्ट्र की नैतिक शक्तियों पर अविश्वास करना अव्यावहारिक और हानिप्रद है। पिछले दो दशकों में कम-विकसित देशों को सहायता देने के सम्बन्ध में संसद से धन स्वीकृत कराने के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका में जो कुछ होता रहा है, वह मेरे इस विश्वास को प्रमाणित कर देता है। रावंट ई०एशर ने भी ये विचार प्रकट किये हैं :

"अमरीका की जनता वेहद उदासीन दिखायी पड़ती है, सम्भवतः इसका कारण यह है कि अमरीका के लोगों की मानवीयता और वुनियादी भद्रता के प्रति उचित रूप से अपील नहीं की गयी है।"[29]

विकसित देशों में कम-विकसित देशों की भलाई के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व की भावनाओं की शक्ति को केवल इस बात का ज्ञान ही कम कर सकता है कि उन देशों में अक्सर अत्यन्त असमानतावादी सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण है और यह प्रवृत्ति आन्तरिक असमानताओं को बढ़ाने में सहायक बन रही है।[30]

अक्सर यह होता है कि इन देशों पर उच्च वर्ग के कुछ गिने-चुने वंशों अथवा व्यक्तियों के समूहों का शासन होता है और ये सत्तारूढ़ समूह अक्सर बदलते रहते हैं। इन सत्तारूढ़ समूहों के सदस्य अमीर हैं, और यदाकदा तो कल्पनातीत रूप से अमीर होते हैं। ये विभिन्न उपायों से प्रत्यक्ष करों से बच निकलते हैं, जबकि अप्रत्यक्ष करों का भारी भार जन-सामान्य पर पड़ता है। राज्य नरम हैं और भ्रष्टाचार बहुत व्यापक है तथा इसमें वृद्धि भी हो रही है।

वे नीतियाँ भी, जिन्हें गरीवों के हित में होने का ढिंढोरा पीटा जाता है, अक्सर इस प्रकार तोड़-मरोड़कर लागू की जाती हैं कि उनका लाभ उन लोगों को मिलता है जो अधिक गरीव नहीं हैं। और जहाँ तक विदेशी सहायता का सम्बन्ध है, यह अक्सर अत्यधिक अमीर लोगों की जेवों में ही पहुँच जाती है। इसका कारण वर्तमान बाजार की शक्तियों के संचालन का स्वाभाविक परिणाम हो सकता है अथवा साँठगाँठ। और गैर-कानूनी तरीकों से भी यह काम किया जा सकता है।

इस तथ्य के प्रति सजग न होना अव्यावहारिक होगा कि कम-विकसित देशों में वास्तव में जो घटनाएँ घट रही हैं और इन देशों के जीवन में जो यथार्थ हैं, उनकी जानकारी मिल जाने पर विकसित देशों के लोगों की उनके प्रति नैतिक दायित्व की भावना कमजोर पड़ जायेगी। "हम लोगों के दरवाजे पर भिक्षापात्र

लेकर आने से पहले ये लोग अपने देश के अमीर लोगों पर कर क्यों नहीं लगाते ?"
—एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है।

सहायता सम्बन्धी अपीलों के प्रति सार्वजनिक अथवा जन-सामान्य की प्रतिक्रिया के मार्ग में आने वाली इस बाधा को दो तरीकों से दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। एक तरीका यह है कि इन तथ्यों को घटाकर दर्शाया जाय। यह बात कम-विकसित देशों के प्रभावशाली उच्च वर्ग के भी हित में है और, वास्तव में, बड़े पैमाने पर यह काम किया भी जाता है।

वस्तुत: इन समस्याओं के विचार के समय जो पूर्वाग्रह सामने आते हैं, यह उनका एक प्रमुख कारण है। इस पुस्तक के पहले दो भागों में इन पूर्वाग्रहों पर विचार किया गया है। ये विधिवत् प्रयुक्त पूर्वाग्रह, जिनका उपयोग भद्दी और उलझन में डालने वाली समस्याओं से बचने के लिए किया जाता है, इस और अन्य कारणों से वैज्ञानिक कार्य का भी स्वरूप निर्धारित करते हैं, जैसाकि हमने, अध्याय-1 में कहा है।

इन पूर्वाग्रहों के अनुरूप कम-विकसित देशों में विकास सम्बन्धी विचार 'आर्थिक प्रगति' पर केन्द्रित हो गया है। इसकी परिभाषा में इसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय में वृद्धि बताया जाता है। पर इस सन्दर्भ में आय के वितरण और अन्य सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तनों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता जो विकास के स्वरूप का निर्धारिण करते हैं, विशेषकर अपेक्षाकृत लम्बी अवधि में। यह 'प्रगति' अन्ततः 'प्रगति दरों' के माध्यम से मापी जाती है, जिसकी अत्यन्त अविश्वसनीयता पर अध्याय-8 के अन्त में टिप्पणी की गयी है।

नीति सम्बन्धी दृष्टिकोण से इसकी एक कमजोरी यह है कि 'प्रगति' जैसी अमूर्त धारणाएँ विकसित देशों के लोगों की नैतिक प्रवृत्तियों को आकर्षित नहीं करतीं। यह विशष रूप से इस स्थिति में होता है, जब राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहायता देने वाले संगठनों से जो विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं, वे विकास सम्बन्धी अपर्याप्त संकल्पना और दोषपूण आंकड़ों के आलोचनारहित उपयोग से स्वयं को और अन्य लोगों को इस बात से आश्वस्त करने में सफल हो जाते हैं कि कम-विकसित देश विकास के मार्ग पर काफी आगे बढ़ गये हैं। दुर्भाग्यवश यह वंचना—और आत्म-वंचना—बहुत सामान्य बात बन गयी है।

जब इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के साथ गरीबी सम्बन्धी जानकारी जुड़ जाती है, जो अक्सर अत्यन्त कष्टपूर्ण निर्धनता सम्बन्धी जानकारी होती है, तो परम्परागत आर्थिक दृष्टिकोणवाले लोग यह समझते हैं कि कुल आय में वृद्धि के साथ-साथ इस अत्यन्त निर्धन जन-सामान्य की आय में भी वृद्धि होगी। इसके परिणामस्वरूप विकसित देशों में एक प्रकार की सन्तुष्टिपूर्ण ढील आ जाती है और भार वहन करने तथा अधिक बलिदान देने की इच्छा और तत्परता में वृद्धि नहीं होती।

पर अक्सर यह होता है कि इस प्रयास के द्वारा कम-विकसित देशों के उन तथ्यों को पूरी तरह से छिपाने में सफलता नहीं मिलती, जिन्हें मैं जीवन के तथ्य कहता हूँ और विशषकर अत्यधिक असमानताओं और इन असमानताओं में वृद्धि की प्रवृत्ति को छिपा पाना सम्भव नहीं हो पाता। अब क्योंकि विकास की पूर्वाग्रहग्रस्त और सतही परिभाषा दी जाती है, जिसमें इसे 'प्रगति' बताया जाता

है और जिसकी गणना ऊपर वर्णित अत्यन्त गलत तरीके से की जाती है, अतः उसका परिणाम बौद्धिक भ्रान्ति होता है। यह नैतिक मूल्यांकन में ईमानदारी बरतने के लिए उचित वातावरण का निर्माण नहीं करती।

यह विश्वास करना गलत होगा कि इन भद्दे तथ्यों को विकसित देशों के जन-सामान्य की नज़र से पूरी तरह छिपाकर रखा जा सकता है। आर्थिक विश्लेषण में पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के प्रयोग के बावजूद, और राजनीतिक विचार में इन भद्दे तथ्यों को जन-सामान्य की नज़र से छिपाकर रखने के अवसरवादी प्रयासों के बावजूद, ये प्रकट हो जायेंगे।

मैं इस बात से पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि लोकप्रिय और राजनीतिक बहस में नैतिक भावनाओं सम्बन्धी दृष्टिकोण को पूरी तरह प्रकट करना आवश्यक है क्योंकि इससे उक्त अवसरवादी पूर्वाग्रहों को उखाड़ फेंकने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायता मिलेगी। इस स्थिति में लोग यह माँग करेंगे कि कम-विकसित देशों के सत्तारूढ़ समूहों को फलने-फूलने देने के लिए सहायता नहीं दी जानी चाहिए। वे यह माँग करेंगे कि सहायता केवल उन्हीं देशों को दी जाये जो सामाजिक सुधार लागू करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास करते हैं और उस स्थिति में भी सहायता पर यह शर्त लगाई जाय कि इन सुधारों को अवश्य लागू किया जायेगा। वस्तुतः इन सुधारों को और अधिक सम्भव बनाने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। अक्सर इसका यह अर्थ होगा कि प्रतिक्रियावादी सरकारों को मजबूत बनाने के लिए सहायता न दी जाय, जो सुधारों का प्रतिरोध करने के लिए कृतसंकल्प हैं।

नैतिक दृष्टि से सहायता सम्बन्धी नीतियाँ तटस्थ नहीं हो सकतीं (देखिये अध्याय-8)। और तटस्थ सहायता नीति के प्रति नैतिक आस्था को सार्वजनिक समर्थन प्राप्त नहीं होगा। सामाजिक परिस्थितियों के प्रति नैतिक भावनाएँ कभी भी तटस्थ नहीं हो सकतीं।

कुछ सरकारों ने यह अनुभव भी किया है। जब सन् 1962 में स्वीडन सरकार ने कम-विकसित देशों को सहायता देने के व्यापक लक्ष्यों को पहली बार प्रतिपादित किया तो ये विचार प्रकट किये गये :

"मानव गरिमा और सामाजिक समानता के दावों की संकल्पना, जिसके आधार पर पिछली शताब्दी में पश्चिम के अधिकांश देशों में विकास हुआ है, किसी राष्ट्रीयता अथवा जाति की सीमा पर जाकर नहीं रुक जाती···अन्तर्राष्ट्रीय एकता और दायित्व की बढ़ती हुई भावना इन तथ्यों को समझने की गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है कि शान्ति, स्वतन्त्रता और कल्याण पूरी तरह से राष्ट्रीय चिन्ता के विषय नहीं हैं, बल्कि ये सार्वभौम और अविभाज्य बनते जा रहे हैं। सहायता के पीछे छिपा आदर्शवादी उद्देश्य इसी प्रकार अत्यन्त यथार्थवाद भी है। कम-विकसित देशों को सहायता देने के लिए स्वीडन को अन्य किसी उद्देश्य की आवश्यकता नहीं है।

"···हम अपने सहायता कार्यक्रमों को इस प्रकार संचालित करने का समुचित प्रयास कर सकते हैं कि वे हमारे सर्वोत्तम निर्णय के अनुसार राजनीतिक लोकतन्त्र और सामाजिक समानता में वृद्धि में सहायक बनें। यह बात स्वीडन द्वारा दी जाने वाली सहायता के लक्ष्यों के अनुरूप नहीं है कि यह प्रगति विरोधी

सामाजिक संरचना को बनाये रखने में मदद दे।"[31]

यह कहना न्यायोचित होगा कि यथार्थ में स्वीडन ने जिस सहायता नीति का अनुकरण किया वह पूरी तरह से इस घोषित आदर्श के अनुरूप नहीं रही। पर धीरे-धीरे यह हो जायेगा। मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि राजनीतिक और नौकरशाही व्यवस्था के ऊपर जन-सामान्य का दबाव पड़ने का यही परिणाम होगा। सितम्बर 1969 में समाजवादी लोकतन्त्री पार्टी के सम्मेलन में इस बात की पुष्टि हुई।

संयुक्त राज्य अमरीका में उदारतावादी संसद सदस्यों की नैतिक उत्तरदायित्व की इस भावना को कि अमरीकी सहायता का उपयोग कम-विकसित देशों के जन-सामान्य के हितों में किया जाय, 1966 के विदेश सहायता अधिनियम, एल, अनुच्छेद-9 में अत्यन्त मुखर अभिव्यक्ति मिली। पर इरादों की इस घोषणा का संसद के व्यावहारिक निर्णयों और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था के कार्य पर इस दृष्टि से कोई प्रभाव नहीं हुआ कि सहायता की राशि का किस प्रकार वितरण और उपयोग किया जाय।

अध्याय-4, अनुभाग-3 में मैंने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है कि भूमि सुधार जैसी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास समस्या तक को उस समय नजरअन्दाज कर दिया गया, जब उक्त अधिनियम के अनुच्छेद-9 के सिद्धान्तों के स्तर पर विचार हो रहा था। भूमि सुधार के बारे में प्रमुख व्यावहारिक प्रयास दक्षिण वियतनाम पर ही कन्द्रित रहे और यह कार्य एंगो दिन्ह दियेम की हत्या से बहुत पहले शुरू हो गया था।

पर यह प्रयास वियतनाम की जनता की आत्मा पर अधिकार की राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे से चल रही होड़ के दावपेंच के रूप में शुरू हुआ था। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने यहाँ तक घोषणा की कि इसका उद्देश्य दक्षिण वियतनाम में 'सामाजिक क्रान्ति' लाना है। पर यह सामरिक नीति अधिकांशतया सैगोन सरकार के प्रतिरोध के कारण प्रभावहीन बनी रही। सैगोन की सरकारों में चाहे किसी भी रूप में परिवर्तन हुआ, जमींदारों के हित सर्वोपरि रहे और इन्हीं हितों ने सरकार की कार्रवाइयों को प्रभावित किया।[32]

अधिकांशतया यह तथ्य मौजूद रहा कि व्यवहार में अमरीका की सहायता नीति अनुच्छद-9 में वर्णित नैतिक दृष्टिकोण से पूरी तरह दूर रही। प्रायः नियमित रूप से संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वयं को कम-विकसित देशों में प्रतिक्रियावादी और भ्रष्ट शासनों को सत्तारूढ़ रखने के प्रयास में लगा हुआ पाया। यह समझाते समय कि संयुक्त राज्य अमरीका में सहायता के लिए लोकप्रिय समर्थन में क्यों कमी होती गयी, यहाँ तक कि उदारतावादी लोगों के मध्य भी समर्थन घटता गया, इस बात को उचित महत्व दिया जाना चाहिए।

यदि आवश्यकता के अनुसार सहायता की राशि में पर्याप्त वृद्धि करनी है तो नयी विचारधारा में एक बड़ा तत्त्व निस्सन्देह यह होगा कि सहायता का उपयोग कम-विकसित देशों के जन-सामान्य के हितों के अनुरूप सुधार लागू करने के लिए किया जाये और उन उद्देश्यों से छुटकारा पाया जाये जो नैतिक दृष्टिकोण सें गलत दिखायी पड़ते हैं।

कम-विकसित देशों में ऐसे अनेक देश हैं जो विशेष रूप से गरीब हैं अथवा

जिन्हें विभिन्न कारणों से विकास करने के प्रयास में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। जब नयी विचारधारा के अनुसार सहायता में आमूल परिवर्तन किया जायेगा, जहाँ नैतिक प्रेरणा निर्णायक बन जायेगी, तो यह अनिवार्य रूप से होगा कि सबसे अधिक कम-विकसित देश को विशेष तरजीह दी जाये।

यह बात एक प्रस्थापित सिद्धान्त के विपरीत जाती है, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में इस लोकप्रिय नारे की आड़ में, कि कम-विकसित देशों को सहायता 'आत्म-सहायता के लिए सहायता' के रूप में दी जानी चाहिए। यह निस्सन्देह ठोस सिद्धान्त है पर इसके आधार पर अक्सर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कम-विकसित देशों में सहायता देने के लिए उन देशों को प्राथमिकता दी जाये, जिनके तेजी से विकास की अधिकतम सम्भावना हो। यह अत्यधिक सन्देह-पूर्ण बात है।

यदि इसका अर्थ यह होता है कि सबसे पहले सहायता उन देशों को दी जाय जिनकी सरकारें आन्तरिक सुधार करने के लिए कृतसंकल्प हों, तो इसका कोई विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि यह विकास की बहुत आवश्यक शर्त है। यह बात उस प्रकार की सरकारों और सरकारी नीतियों के प्रति राजनीतिक गैर-तटस्थता के सिद्धान्त से भी मेल खाती है जिनके बारे में ऊपर लिखा गया है। पर यदि इसका अर्थ यह होता है कि निर्धनतम देश, जो अधिकतम कठिनाइयों का सामना कर रहे हों उन्हें सहायता न दी जाय, तो इस नीति सम्बन्धी नियम को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकसित देशों की संसारव्यापी जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिए यह नियम ग्राह्य नहीं हो सकता।

कम-विकसित देशों के सामूहिक दबाव के अन्तर्गत इस बात को अमूर्त प्रस्ताव के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में यह माँग की गयी कि संयुक्त राष्ट्र के संगठन "अपने सहायता कार्यक्रम निर्धारित करते समय और लागू किये जाने योग्य कार्यक्रमों को निर्धारित करते समय तथा इन कार्यक्रमों के लिए धन देते समय सबसे कम-विकसित देशों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान दें।"[33] इसी भावना के अनुरूप विश्व बैंक के नये अध्यक्ष, राबर्ट एस० मैक्नामारा ने सन् 1968 में संचालक मंडल के समक्ष अपने पहले भाषण में बैंक की ओर से घोषणा की :

"हम विश्व बैंक समूह के कार्यों के एक उलटे पहलू को सीधा करने की ओर विशेष रूप से ध्यान देंगे: यह तथ्य हमारे सामने मौजूद है कि हमारे अनेक निर्धनतम सदस्यों को अपनी अधिक आवश्यकताओं के बावजूद बैंक समूह से तकनीकी और वित्तीय सहायता न्यूनतम मिली है। लगभग दस ऐसे देशों को किसी भी प्रकार के ऋण नहीं मिले हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे बैंक के विचारार्थ योजनाओं का विवरण तैयार करने में असमर्थ रहे। ऐसे मामलों में हम आर्थिक कार्यों को बेहतर ढंग से करने और बैंक समूहों से वित्तीय सहायता के लिए योजनाएँ निर्धारित और तैयार करने के लिए विशेष सहायता देंगे।"[34]

न तो संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के प्रस्ताव में और न ही किसी अन्य सम्बन्ध में, फिलहाल एकदेशीय आधार पर कहीं बड़ी मात्रा में दी जाने वाली सहायता का कोई उल्लेख नहीं हुआ।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के सचिवालय ने इन सर्वाधिक कम-विकसित देशों की सूची तैयार करने के प्रयास किये हैं।[35] इस सचिवालय ने यह ब्यौरा तैयार करने का भी प्रयास किया है कि किस प्रकार इन देशों को सहायता दी जा सकती है।[36] सचिवालय ने नीति सम्बन्धी उपायों की जो सूची तैयार की है और जिसकी प्रतिध्वनि संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के प्रस्ताव में भी हुई है--जिसमें जिन्स करारों, क्षेत्रीय आधार पर सहयोग आदि को विशेष तरजीह देने की बात भी शामिल है—वह किसी को भी इस बात से आश्वस्त नहीं करती कि इन प्रस्तावों से कोई भी ठोस कार्य हो सकेगा।

प्रमुख बात सीधे-सादे ढंग से सहायता की ही होनी चाहिए, जो आंशिक रूप से उस सामाजिक नीति के सिद्धान्त के आधार पर दी जाय जो विकसित देशों के राष्ट्रीय हितकारी राज्य में नीतित है। इसके बाद यह विश्वास किया जा सकता है कि किसी भी क्षेत्र अथवा समूह के लोगों का जीवन स्तर एक राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर से नीचा नहीं रहेगा और हर व्यक्ति को अपनी स्थिति में सुधार करने का उपयुक्त अवसर मिलेगा। मानक स्तरों पर सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध करायी जानी चाहिएँ और इन सेवाओं के लिए सार्वजनिक कोष से अंशदान दिया जाना चाहिए।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को भी निर्धनतम देशों में लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए अंशदान करना चाहिए। यदि ऐसी सहायता पौष्टिक आहार के स्तर को तथा शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं को बेहतर बनाने के लिए दी जाये, तो अपेक्षाकृत लम्बी अवधि में यह विकास के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली सहायता सिद्ध होगी।

सब कम-विकसित देशों की तरह इन सर्वाधिक कम-विकसित देशों में अत्यन्त भिन्नता है। तंज़ानिया, इथियोपिया की तरह ही गरीब और कम-विकसित है। तंज़ानिया की सरकार आन्तरिक सुधार लागू करने के लिए कृतसंकल्प है, जबकि इथियोपिया राजनीतिक दृष्टि से गतिहीन और सामन्ती देश है। किसी भी नैतिक दृष्टि से प्रेरित सहायता नीति के अन्तर्गत तंज़ानिया सरकार को इथियोपिया सरकार से अधिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार मिलेगा।

यदि विकसित देश यह करार कर लेते हैं कि सहायता देने वाले देश से ही माल मँगाने की शर्तें नहीं लगायी जायेंगी, और यह कार्य हर दृष्टि से तर्कसम्मत होगा, तो इससे एकदेशीय आधार पर सहायता देने का राष्ट्रीय निहित स्वार्थ भी कम हो जायेगा और यह अधिकाधिक सम्भव हो सकेगा कि सहायता को बहुदेशीय और अन्तर-सरकार संगठनों के माध्यम से ही वितरित किया जाय।

एक ऐसे सुधार के पक्ष में जो कारक हैं, उनमें यह भी शामिल है कि सहायता के क्षेत्र में अन्तर-सरकार संगठन अपेक्षाकृत सफल रहे हैं। वस्तुतः इसका सबसे बड़ा उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक है।

आरम्भ से ही, विश्व बैंक ने अपने असाधारण व्यक्तित्व वाले अध्यक्षों के अधीन निर्णय लेने की असाधारण स्वतन्त्रता दिखायी है। संयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्ध में भी यह स्वतन्त्रता दिखायी गयी है और यह आशा की जा सकती है कि बैंक इसी दिशा में और आगे बढ़ेगा। यह आवश्यक है कि बैंक बहुत

अधिक गरीब कम-विकसित देशों और वामपन्थी सरकारों वाले देशों के सम्बन्ध में अपनी गतिविधियों में वृद्धि करे। वामपन्थी सरकारें अधिकांशतया ऐसी होती हैं जो अपने आन्तरिक सुधारों की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में गम्भीर और आमूल परिवर्तनवादी तरीके से काम करती हैं।

पर समग्र दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम और उसके कार्यदल तथा विभिन्न देशों में नियुक्त प्रतिनिधि अपने कार्य में सफल रहे हैं और उनकी सफलता में निरन्तर वृद्धि हुई है, चाहे अभी भी सुधारों की अपेक्षा क्यों न हो। इस आशय की अफवाहें हैं कि आगामी जैक्सन रिपोर्ट में—और इसके प्रकाशन से पहले ही समाचारपत्रों में प्रकाशित सनसनीखेज़ विवरणों में—बहुदेशीय आधार पर सहायता के प्रति अत्यधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है और खामियों का उल्लेख किया गया है। यह बात एकदेशीय आधार पर सहायता देने वाली राष्ट्रीय संस्थाओं के अधिकारियों के मन में बहुदेशीय आधार पर सहायता देने के प्रति विरोध के भाव के अनुरूप सिद्ध होगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय विधान सभाओं और सरकारी अधिकारियों में भी बहुत से ऐसे लोग होंगे जो बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का विरोध करने के कारण इसका स्वागत करेंगे।

इसका प्रभाव यह हो सकता है कि इस रिपोर्ट से विकसित देशों में उन लोगों को नये तर्क प्राप्त हो जायेंगे जो इस प्रकार की बहुदेशीय सहायता की राशि को बढ़ने नहीं देना चाहते अथवा इसमें कमी तक करना चाहते हैं। यह परिणाम निकलने की अधिक सम्भावना है, क्योंकि विधान सभाओं में और जन-सामान्य के मध्य भी ऐसे बहुत से लोग हैं जो कम-विकसित देशों को दी जाने वाली हर प्रकार की सहायता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और जिन्हें इस रिपोर्ट से अच्छा मसाला मिल जायेगा। अब क्योंकि अधिकांश विकसित देशों में, विशेष कर संयुक्त राज्य अमरीका में, एकदेशीय आधार पर भी सहायता की राशि में पर्याप्त वृद्धि करने की सम्भावना बहुत कम है, तो इसका यह परिणाम हो सकता है कि कम से कम फिलहाल वास्तविक अर्थों में सहायता की कुल राशि में कमी जारी रहेगी।

पर समस्त कमज़ोरियों के बावजूद यह तथ्य हमारे सामने मौजूद है कि तकनीकी सहायता और पूंजीगत सहायता के व्यापक क्षेत्र में समग्र दृष्टि से बहुदेशीय आधार पर सहायता कार्यक्रम अधिक सफल रहा है और राष्ट्रीय एकदेशीय कार्यक्रमों की तुलना में इसकी सफलता कहीं अधिक रही है। दस वर्ष तक संयुक्त राष्ट्र के एक अधिकारी के रूप में काम करने से मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ और उसके बाद तीसरी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में मैंने जो प्रक्षण किये, उनके आधार पर मैं उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वर्तमान सन्दर्भ में मैं अपने इस निष्कर्ष को इसी रूप में छोड़ देता हूँ, यद्यपि मुझे आशा है कि आगे चलकर कभी मैं इस समस्या पर और विचार करूंगा।

वस्तुतः बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का सर्वाधिक सामान्य कारण यह है कि इससे सहायता के बारे में संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के आधार पर निर्णय लेने का महत्त्व सीमित हो जायेगा। और इस बड़े कारण के अलावा, इससे सहायता सम्बन्धी समस्त वातावरण में सुधार होगा। जैसाकि एशर ने कहा है :

"किसी समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा सर्वाधिक सावधानी से द्विदेशीय आधार पर तैयार किया गया सहायता कार्यक्रम गरीब और कमज़ोर देशों में सन्देह की दृष्टि से देखा जायेगा, पर यह सन्देह बहुदेशीय आधर पर दी जाने वाली सहायता के सन्दर्भ में नहीं होगा। इसके परिणामस्वरूप, कम आय वाले देशों में विकास और संसारव्यापी बेहतर व्यवस्था की दिशा में आगे बढ़ने की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका का स्थायी हित इस बात में निहित है कि विकास के लिए दी जाने वाली सहायता बहुदेशीय आधार पर अधिकाधिक मात्रा में वितरित की जाये।"[37]

विश्व बैंक के एक भूतपूर्व अध्यक्ष, यूजीन ब्लैक, कार्यकुशलता की दृष्टि से बहुदेशीय आधार पर सहायता देने को बेहतर समझते हैं:

"यदि यह धन द्विदेशीय आधार पर दिया जाता है तो क्या हमें सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकते हैं अथवा यह धन बहुदेशीय संस्थाओं के माध्यम से दिया जाना चाहिए?...मेरा विश्वास है कि तत्सम्बन्धी वर्तमान आग्रह को बदला जाना चाहिए और बदला जा सकता है अर्थात् द्विदेशीय सहायता के स्थान पर बहुदेशीय आधार पर सहायता दी जानी चाहिए। अक्सर द्विदेशीय सहायता—और दुर्भाग्यवश अधिकाधिक मात्रा में—सहायता देने वाले देश के माल की खरीद की शर्त से जुड़ी होती है। सहायता देने वाले देश के इरादे चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों पर इस बात की सम्भावना रहती है कि वह अपने देश के वाणिज्य हितों के इस दबाव में आ जाये कि अमुक विदेशी योजना के लिए अमुक माल की खरीद के लिए ही धन दिया जाये, चाहे इन योजनाओं का अपने आप में कोई औचित्य हो या नहीं। और सहायता प्राप्त करने वाले देश की सरकार चाहे कितनी भी समझदार क्यों न हो, उसके लिए नीची प्राथमिकता वाली योजनाओं के लिए और ऐसी शर्तों पर जो देश की परिस्थितियों के अथवा योजना की आवश्यकताओं के अनुरूप न हों, वित्तीय सहायता के प्रस्ताव का स्वीकार न करना कठिन होगा।

"पर द्विदेशीय सहायता कार्यक्रम की मेरी सर्वाधिक गम्भीर आलोचना यह है कि ये कार्यक्रम राजनीतिक प्रभावों से ग्रस्त होते हैं, चाहे ये प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ें अथवा नहीं। सबसे बुरी स्थिति में सहायता को राजनीतिक सौदेबाज़ी के रूप में दिया अथवा दबाव डालकर लिया जाता है और इसमें सहायता प्राप्त करने वाले देश की वास्तविक आर्थिक आवश्यकताओं का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। पर सर्वोत्तम स्थिति में, इस बात का खतरा बना रहता है कि राजनीतिक प्रभाव विकास सहायता को गलत दिशा दे सकते हैं, क्योंकि राजनीतिक प्रभावों से ऐसी बातें जुड़ी रहती हैं, जिनका वास्तविक आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मुझे ऐसे मामलों की जानकारी है जहाँ सहायता की राशि से एक शानदार नया खेल स्टेडियम बनाया गया, जबकि सड़कें आदिम हालत में ही पड़ी रहीं अथवा राष्ट्रीय हवाई अड्डे की अत्यधिक आधुनिक इमारत बना दी गयी, जबकि सूखी पर अन्यथा उपजाऊ जमीन सिंचाई सुविधा के अभाव में व्यर्थ पड़ी रही। जब आर्थिक निरपेक्षता समाप्त हो जाती है, तो आर्थिक प्राथमिकताएं अनिवार्य रूप से भ्रान्तिग्रस्त हो जाती हैं और उस स्थिति में आर्थिक निरपेक्षता को बनाये रखना आसान नहीं होता, जब सहायता

पर राजनीतिक उद्देश्यों का प्रभाव मौजूद हो। इतना ही नहीं, समस्या किसी निश्चित धन राशि की बरबादी तक ही सीमित नहीं रह जाती, इसकी जड़ें कहीं गहराई तक जाती हैं। किसी ऐसी सरकार को सहायता देने का हानिकारक प्रभाव होता है, जो अपने देश की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करने की इच्छा नहीं रखती। पिछले दशक में द्विदेशीय आधार पर जो ऋण दिये गये हैं, उनमें से कुछ के अत्यधिक स्पष्ट परिणाम निकले हैं और इन ऋणों के परिणाम-स्वरूप ऋण प्राप्त करने वाले देश वांछित सुधारों को स्थगित करने में सफल रहे। इसका कारण यह रहा कि अच्छे इरादों से, लेकिन गलत मूल्यांकन के आधार पर, सहायता के प्रस्ताव प्राप्त होते रहे, सम्बन्धित सरकारें कराधान की प्रणाली अथवा मुद्रा सम्बन्धी आवश्यक सुधारों जैसे अनिवार्य लेकिन शासकों के लिए अग्राह्य कार्यों को स्थगित करती रहीं।"[38]

एकदेशीय आधार पर सहायता देने के स्थान पर बहुदेशीय आधार पर सहायता देना धीरे-धीरे शुरू करने के विचार का विरोध विकसित संसार की वे सरकारें करती हैं, जो विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय हित साधन के लिए सहायता का इस्तेमाल करना चाहती हैं। कुछ सीमा तक, यद्यपि यह बहुत कम है, ऐसे कम-विकसित देशों की सरकारें भी इसका विरोध करती हैं, जो यह अनुभव करती हैं कि वे किसी खास देश, मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका, से अपने सम्बन्धों का अनुचित लाभ उठा सकती हैं।

पर अधिकांश कम-विकसित देश राजनीतिक तत्त्व को अधिक व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में देखने के लिए बहुत उत्सुक हैं। वे यह चाहते हैं कि उन्हें अपनी इच्छानुसार काम करने की अधिक छूट हो और उन्हें सहायता सम्बन्धी सिद्धान्तों और निर्देशों के निर्धारण में हिस्सा मिले।

यह बात पर्याप्त विरोधाभासपूर्ण है कि संयुक्त राज्य अमरीका, जिसने अपनी सहायता नीति में राष्ट्रीय हितों का अत्यधिक खुलकर ध्यान रखा है, ऐसे बड़े देशों में से एक देश है जो अब बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का समर्थन कर रहे हैं। वस्तुतः इसका स्पष्टीकरण इस बात में निहित है कि 'संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों में' सहायता देने के उनके अनुभव विदेश नीति की असफलता और अत्यन्त कटु अनुभवों में समाप्त हुए हैं।

सेनेटर जे० विलियम फुलब्राइट इस सद्धान्तिक आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं। वे यह चाहते हैं कि सहायता को "एक राष्ट्रीय दान और शीत युद्ध की होड़ के एक पूंजी निवेश से बदल कर, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व बना दिया जाय" और "उस क्षयकारी अत्याचार को समाप्त कर दिया जाय, जो द्विदेशीय आधार पर सहायता देने वाला और सहायता प्राप्त करने वाला देश एक-दूसरे के प्रति करता हुआ दिखायी पड़ रहा है।"[39] अमरीका के संसद सदस्यों में फुलब्राइट के विचार को निरन्तर अधिकाधिक समर्थन प्राप्त होता जा रहा है और अमरीकी जनता के प्रबुद्ध वर्ग से भी यह समर्थन मिल रहा है।

भूतपूर्व वित्त मन्त्री हेनरी एच० फाउलर ने विश्व बैंक के संचालक मण्डल की 1968 की वार्षिक बैठक में यह विचार प्रकट किया :

"अब इस बात में सन्देह नहीं रह गया है कि बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का प्रभावशाली दृष्टिकोण विकास के लिए बड़-बड़े कोष जुटाने में सर्वाधिक

सहायक बन सकता है और इस धन राशि का न्यायोचित आधार पर वितरण भी किया जा सकता है···आज बहुदेशीय संस्थाओं को जो विश्वास प्राप्त है, उसके परिणामस्वरूप वे इस स्थिति में आ गयी हैं कि सहायता के लिए आवश्यक साधन जुटाने की जटिल प्रक्रिया में रचनात्मक नेतृत्व प्रदान कर सकें। और यह धनराशि विकासशील देशों की माँगों के अनुरूप हो सकती है···किसी भी एक देश को चाहे वह सहायता देने वाला हो अथवा सहायता प्राप्त करने वाला, इस प्रकार का निरपेक्ष नेतृत्व प्रदान करने के लिए सामने नहीं आना चाहिए और वस्तुतः कोई देश यह नेतृत्व दे भी नहीं सकता। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं के नेतृत्व की प्रभावशालिता का पूरा उपयोग करके ही हम विकास कार्यों के लिए आवश्यक वित्त जुटाने की समस्या को सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से सुलझा सकते हैं।"[10]

स्वीडन में—इस पुस्तक में स्वीडन का उपयोग एक दूसरे सन्दर्भ देश के रूप में किया गया है—सरकार ने बहुदेशीय आधार पर सहायता देने के प्रति निश्चित और स्पष्ट प्राथमिकता देना शुरू कर दिया है। इस सम्बन्ध में एक कारण यह दिया गया कि इस कार्य से संयुक्त राष्ट्र समूह में अन्तर-सरकार संगठनों की शक्ति बढ़गी। स्वीडन आज भी अपनी सहायता की लगभग आधी राशि संयुक्त राष्ट्र परिवार की संस्थाओं के माध्यम से देता है।

पर इसके साथ ही स्वीडन सरकार ने एक ऐसी संस्था भी बनायी जिसे एकदेशीय आधार पर सहायता का शेष कार्य सौंपा गया। द्विदेशीय आधार पर सहायता देने का स्वीडन में हाल तक यह कारण रहा और इसी प्रकार स्केन्डीनेविया के अन्य देशों में भी, कि ये देश यह अनुभव करते थे कि वे कम-विकसित देशों को अपने जन-समुदाय में सन्तति निरोध का प्रचार करने के लिए आवश्यक सहायता दे सकते हैं (देखिये अध्याय-5)।

पर जब एक बार किसी नौकरशाही संस्था की स्थापना हो जाती है, तो वह अपने प्रसार के लिए स्वतः गतिशीलता उत्पन्न कर लेती है। और यह संस्था भी बड़ी तेजी से बढ़ी। यह कार्य उस तरीके से हुआ जिसे साम्राज्यों की स्थापना और पार्किन्सन के नियम का संयुक्त प्रभाव कहा जा सकता है। अपने जन-सम्पर्क के प्रति सतर्क रहने के कारण यह संस्था कम-विकसित देशों में चलाये जा रहे अपने कार्यक्रमों के प्रति एक प्रकार का राष्ट्रीय गर्व जगाने में भी सफल रही, यद्यपि यह कार्यक्रम बहुत बड़े अथवा प्रभावशाली नहीं थे। इस संस्था को इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर बहस को रोक देने में भी सफलता मिली कि सहायता एकदेशीय अथवा बहुदेशीय आधार पर दी जाये।

यह संस्था फिलहाल इस कार्य में जुटी हुई है कि इसका एकदेशीय सहायता कार्यक्रम स्वीडन की कुल सहायता का आधा हो जाये। यह संस्था सहायता की राशि में तेजी से वृद्धि के निर्माण के बावजूद यह कार्य करना चाहती है। अब क्योंकि एकदेशीय सहायता की ओर रुझान में सच्चा राष्ट्रहित बहुत बड़े पैमाने पर नहीं जुड़ा है, अतः मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि विकसित देशों में बहु-देशीय आधार पर सहायता देने का आन्दोलन जोर पकड़ जाय अथवा इस दिशा में केवल संयुक्त राज्य अमरीका ही कोई निश्चित कदम उठाये तो पासा पलटा जा सकता है। स्वीडन ऐसे किसी भी प्रयास का समर्थन करेगा।

जिन देशों से बहुदेशीय आधार पर सहायता देने की व्यवस्था के अधिकतम

प्रतिरोध की अपेक्षा की जा सकती है, वे जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड जैसे मध्यम आकार के देश हैं। अब ये देश बड़ी सफलतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों में सहायता का इस्तेमाल कर रहे हैं, लेकिन आजकल इन हितों में सैनिक और सामरिक हित अधिक नहीं हैं। ये ऐसे हित नहीं हैं, जिनके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका में असफलता और निराशा की भावना उत्पन्न हुई थी।

इस बात के अलावा कि इस सम्बन्ध में सफलता आसानी से प्राप्त की जा सकती है अथवा नहीं, एकदेशीय आधार पर सहायता में कमी करने और बहु-देशीय आधार पर सहायता को और अधिक व्यापक बनाने के तर्कसम्मत कारण इतने प्रभावशाली हैं कि हमें इस सम्बन्ध में प्रयास करना चाहिए। और हमें इस सम्बन्ध में उस बात के धोखे में नहीं आ जाना चाहिए, जिसे मैं झूठा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद कहता हूँ। यह तथ्य कि कुछ देश एकदेशीय आधार पर सहायता देने पर ही जमे रहना चाहेंगे, अन्य देशों के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए और संयुक्त राज्य अमरीका के मार्ग में तो किसी भी रूप में नहीं। इन देशों को अपनी सहायता की और अधिक राशि अन्तर-सरकार संगठनों को सौंपनी चाहिए।

आगामी कुछ वर्षों में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश सहायता की राशि में और अधिक कमी की पूर्वकल्पना की जा सकती है। मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि मैं निराशावादी नहीं हूँ। मैं यह कल्पना करता हूँ कि इस प्रवृत्ति में परिवर्तन आयेगा और इस दिशा में हमें अवश्य प्रयास करना चाहिए।

अमरीकी सहायता में कमी ने वह दिशा ग्रहण की है, जिसका मैं उल्लेख कर चुका हूँ, पर इस बात की सम्भावना है कि यह कमी सब विकसित देशों के सहायता कार्यक्रमों में वृद्धि करने की एक पूर्व शर्त बने और भविष्य में सहायता की राशि पर्याप्त बड़ी हो जाये और यह सहायता उन आदर्शों के अनुरूप दी जाने लगे, जिन्हें मैं अमरीका के आदर्श भी समझता हूँ।

हमें वर्तमान स्थिति को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद, संयुक्त राज्य अमरीका एक ऐसे आवश्यकता से अधिक अमीर देश के रूप में सामने आया, जिसे युद्ध से क्षति नहीं पहुँची थी, बल्कि युद्ध के परिणामस्वरूप जिसकी स्थिति में बहुत अधिक सुधार हो गया था। अतः संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप दोनों स्थानों पर लोगों और राजनीतिज्ञों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे इसे सामान्य और उचित बात के रूप में स्वीकार करें कि अमरीका संसार के उस भाग के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रायः पूरा वित्तीय भार अपने ऊपर ले, जिसे इसकी आवश्यकता थी।

यह स्थिति बदल गयी है। अन्य विकसित देश भी अब अमीर हो गये हैं। राष्ट्रीय पुनर्वितरण प्रणाली की तरह एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्वितरण प्रणाली भी भार वहन की दृष्टि से न्यायोचित होनी चाहिए।

यदि एक सामान्य अमरीकी ने घटनाक्रम को गहराई से नहीं समझा है, तो यह बात भी स्वाभाविक है। सम्भवतः वह विश्वास करता है कि आज भी उसका देश अधिकांश सहायता देता है और संयुक्त राज्य अमरीका में सार्वजनिक बहस, विशेषज्ञों तक के स्तर पर, इस मान्यता के आधार पर बड़े विचित्र ढंग से चल रही है कि अमरीकी सहायता एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात है। यह स्वयं अपने दायरे

तक ही सीमित रहने का एक और अतिवादी उदाहरण है और अपेक्षाकृत बड़े देश के समक्ष यह खतरा मौजूद रहता है।

पर सहायता के क्षेत्र में अमरीकियों का अपने देश के अत्यधिक ऊँचे महत्त्व के बारे में गलत विचार है। यदि हम सही तस्वीर पेश करने के लिए सब आवश्यक कटौतियाँ करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि संयुक्त राज्य अमरीका अपने हिस्से से अधिक कुछ नहीं दे रहा है। और यदि सहायता की राशि में सम्भावित कमी होती है तो स्थिति और भी खराब दिखायी पड़ेगी।

छठे दशक के आरम्भिक वर्षों में मेरे मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि एक छोटी अवधि के लिए अमरीका में अन्तर्राष्ट्रीय सहायता देने के प्रति इच्छा की कमी हो। अन्तर्राष्ट्रीय सहायता को स्थिर आधार पर स्थापित करने के लिए मैं इस बात को आवश्यक समझता था। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की राशि में वांछित स्तर पर पर्याप्त वृद्धि करने के लिए भी इसकी जरूरत थी।[41] अब वह स्थिति आ गयी है। और संयुक्त राज्य अमरीका ने नैतिक प्रेरणा के स्थान पर हर प्रकार के राष्ट्रीय हितों के लिए सहायता का उपयोग कर अपने हाथ काले कर लिये हैं।

इसके बावजूद, कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता के भार के किसी भी उचित अन्तर्राष्ट्रीय वितरण में अमरीका का हिस्सा निश्चय ही बड़ा होना चाहिए।[42] इसका यह कारण है कि अमरीका इतना बड़ा है। संयुक्त राज्य अमरीका अपेक्षाकृत बहुत अधिक अमीर भी है, यद्यपि इतना अधिक अमीर नहीं है, जितना सामान्यतया अमरीका के लोग विश्वास करते हैं।

किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में इसकी सम्पदा और राष्ट्रीय आय से वह पर्याप्त बड़ी राशि घटानी होगी, जिसे मैं अमरीका पर 'गरीबों का ऋण' कहता हूँ। यदि अमरीका विश्रृंखलित नहीं हो जाना चाहता अथवा एक पुलिस राज्य नहीं बन जाना चाहता, तो उसे यह ऋण चुकाना होगा। यह ऋण उससे कहीं अधिक बड़ा है जितना इसे अमरीका के लोग सामान्यतया समझते हैं। ऋण की इस राशि में उन वर्तमान खर्चों को भी जोड़ना होगा, जो एक कम एकीकृत और सुसंगठित समाज में हो रहे हैं। ये खर्चे अधिकांश अन्य विकसित देशों की तुलना में कहीं बड़े हैं।

सम्भवतः पश्चिम के सर्वाधिक विकसित देशों में से कुछ आज संयुक्त राज्य अमरीका जितने ही समृद्ध हैं। इसका बुनियादी कारण यह हो सकता है कि उन्होंने स्वयं को उक्त ऋण से कभी ग्रस्त नहीं होने दिया अथवा यदि कभी हुए तो इस ऋण को बहुत समय पहले ही चुका भी दिया गया। इसके अलावा यह कारण भी है कि वे अपनी राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत इतना बड़ा हिस्सा युद्धों और युद्ध की तैयारियों तथा अन्तरिक्ष के अत्यन्त व्ययसाध्य अभियानों और अन्य विशाल सार्वजनिक खपत के कार्यों पर खर्च नहीं करते।

पर इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भी बहुदेशीय आधार पर सहायता देने की किसी भी व्यवस्था में अमरीका का हिस्सा निश्चय ही बहुत बड़ा होगा और विशेषकर उस स्थिति में जब विकसित देशों से दी जाने वाली कुल सहायता की राशि को पर्याप्त बढ़ा दिया जाय।

युद्ध के बाद अमरीका में इस भावना का पैदा होना कि कम-विकसित देशों

को सहायता देना मुख्यतया अमरीका का दायित्व है, संसार में अमरीका के सर्व-शक्तिमान होने की सामान्य भ्रान्ति का एक हिस्सा था। यह भ्रान्ति बहुत समय तक बनी रही और यह हो सकता है कि अभी भी पूरी तरह समाप्त न हुई हो।

एशर ने राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी का उद्धरण देते हुए बताया है : "हम इस देश के निवासी…विश्व स्वातन्त्र्य की दीवार के पहरेदार हैं और यह दायित्व हमारे ऊपर स्वेच्छा से नहीं, बल्कि हमारी नियति के कारण आया है।" वे आगे लिखते हैं :

"सन् 1947 के ट्रूमन सिद्धान्त में निहित हस्तक्षेप की नीति को वियतनाम में अपनी अन्तिम निर्णायक अभिव्यक्ति मिल रही है। साथ ही, अमरीका बड़ी गम्भीरता से यह प्रश्न उठाने लगा है कि कम-विकसित देशों में उसके फँसने की क्या तार्किकता है।"[43]

वियतनाम में हस्तक्षेप और अन्य अनेक साम्राज्यवादी दुस्साहसपूर्ण अभियानों की भयंकर असफलता के बाद, विशेषकर लेटिन अमरीका में जहाँ संयुक्त राज्य अमरीका अकेला ही यह कार्यवाही कर रहा था, अनिवार्यतः अमरीकी और विश्व इतिहास में एक युग का अन्त होगा। ऐसे लोग सामने आयेंगे जो अपने स्वदेश रूपी अमरीकी दुर्ग में वापस लौटना अधिक पसन्द करेंगे।

पर ऐसे लोग भी होंगे जो यह देखेंगे कि संयुक्त राज्य अमरीका की इन विनाशकारी असफलताओं का कारण यह दर्पपूर्ण दावा था कि उसे स्वयं अपनी शर्तों पर—अपनी शक्ति के बल पर—पूरे संसार की लम्बरदारी करने का हक है। यूनानी लोग इसे ही हूबरिस कहते थे और उनका यह विश्वास था कि यदि इस पर अंकुश नहीं लगता तो इसका परिणाम सदा अपना विनाश होता है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान मैंने 'एन अमेरिकन डिलेमा' शीर्षक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अमरीका की न्याय, स्वतन्त्रता और समानता की आन्तरिक समस्याओं के बारे में है। इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में मुझे संयुक्त राज्य अमरीका की भूमिका पर यह विचार करना पड़ा कि "संसार रूपी रंगमंच के प्रमुख अभिनेताओं के अनन्त क्रम में जब अमरीका की भूमिका निभाने की बारी आयेगी" तो वह किस रूप में आचरण करेगा। उस समय मैंने जो लिखा था, मैं उसकी पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ : "अमरीका अब विश्व का एक हिस्सा बन गया है। अब वह अन्य देशों के समर्थन और सद्भावना पर अत्यधिक निर्भर हो गया है। उसके नेतृत्व की स्थिति में पहुँच जाने के कारण इसकी चरम सीमा आ गयी है। ऊपर उठने वाले से अधिक सन्देह से अन्य किसी को नहीं देखा जाता।"[44]

उस समय भी अमरीका में सामान्य रूप से व्याप्त इस विचार का मैंने खण्डन किया था कि वित्तीय और सैनिक शक्ति संसार-भर के भद्र लोगों की सद्भावना के माध्यम से प्राप्त नैतिक शक्ति का स्थान ले सकती है। अनुयायियों के अभाव में नेता, नेता नहीं रह जाता बल्कि अतिरेकपूर्ण कार्य करने वाला एक दम्भी भर रह जाता है। और यदि इस स्थिति में वह अमरीका जैसा शक्तिशाली देश होता है, तो वह खतरनाक बन जाता है, स्वयं अपने लिए और पूरे संसार के लिए भी।

आज संसार को संयुक्त राज्य अमरीका से जिस नेतृत्व की अपेक्षा है, वह स्पष्ट विचार, तर्कसम्मत विश्लेषण और शान्तिपूर्ण जीवन तथा विकास के प्रति

निष्ठा से ही उत्पन्न होना चाहिए। अमरीका के लिए हथियारबन्दी की होड़ को समाप्त करने और निर्धन, अश्वेत राष्ट्रों को व्यापारिक सुविधाएँ और वित्तीय सहायता देने की दिशा में अधिक साहसपूर्वक आगे बढ़ना सम्भव होना चाहिए।

और संयुक्त राज्य अमरीका को स्वयं को इस बात से आश्वस्त करने का प्रयास बन्द कर देना चाहिए कि वह गरीब देशों की सहायता के लिए जो भी करने को तयार है, वह अपने राष्ट्रीय और राजनीतिक उद्देश्यसे ही कर रहा है—'संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों में' अथवा यहाँ तक कि 'संयुक्त राज्य की सुरक्षा' के लिए कर रहा है। विदेशी सहायता के लिए इस प्रकार की प्रेरणा स्वदेश में अथवा अन्य समृद्ध देशों में राष्ट्रीय स्तर पर बलिदान देने का आह्वान करने के लिए प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकती। इसके अलावा इस तराके से गरीब देशों में और संसार में अन्यत्र भी सद्भावना प्राप्त नहीं की जा सकती।

संयुक्त राज्य अमरीका से अन्तर्राष्ट्रीय नेतृत्व, अन्तर्राष्ट्रीय करुणा और एकता को मजबूत बनाने के सशक्त प्रयासों के रूप में प्राप्त होना चाहिए, जो संयुक्त राष्ट्र के भीतर निरस्त्रीकरण, संसार-भर में शान्ति की स्थापना और गरीब देशों के विकास और कल्याण के लिए संयुक्त जिम्मेदारी का अन्तर-सरकार सहयोग के आधार पर निर्माण करने के लिए आवश्यक है। ऐसे नेतृत्व की आज आवश्यकता है। एक शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के निर्माण के लिए राष्ट्रीय स्वार्थपरता उसी प्रकार खतरनाक है, जिस प्रकार उग्र व्यक्तिवाद स्वदेश में एक राष्ट्र को सशक्त बनाने के मार्ग में बाधक और खतरनाक सिद्ध हुआ है।
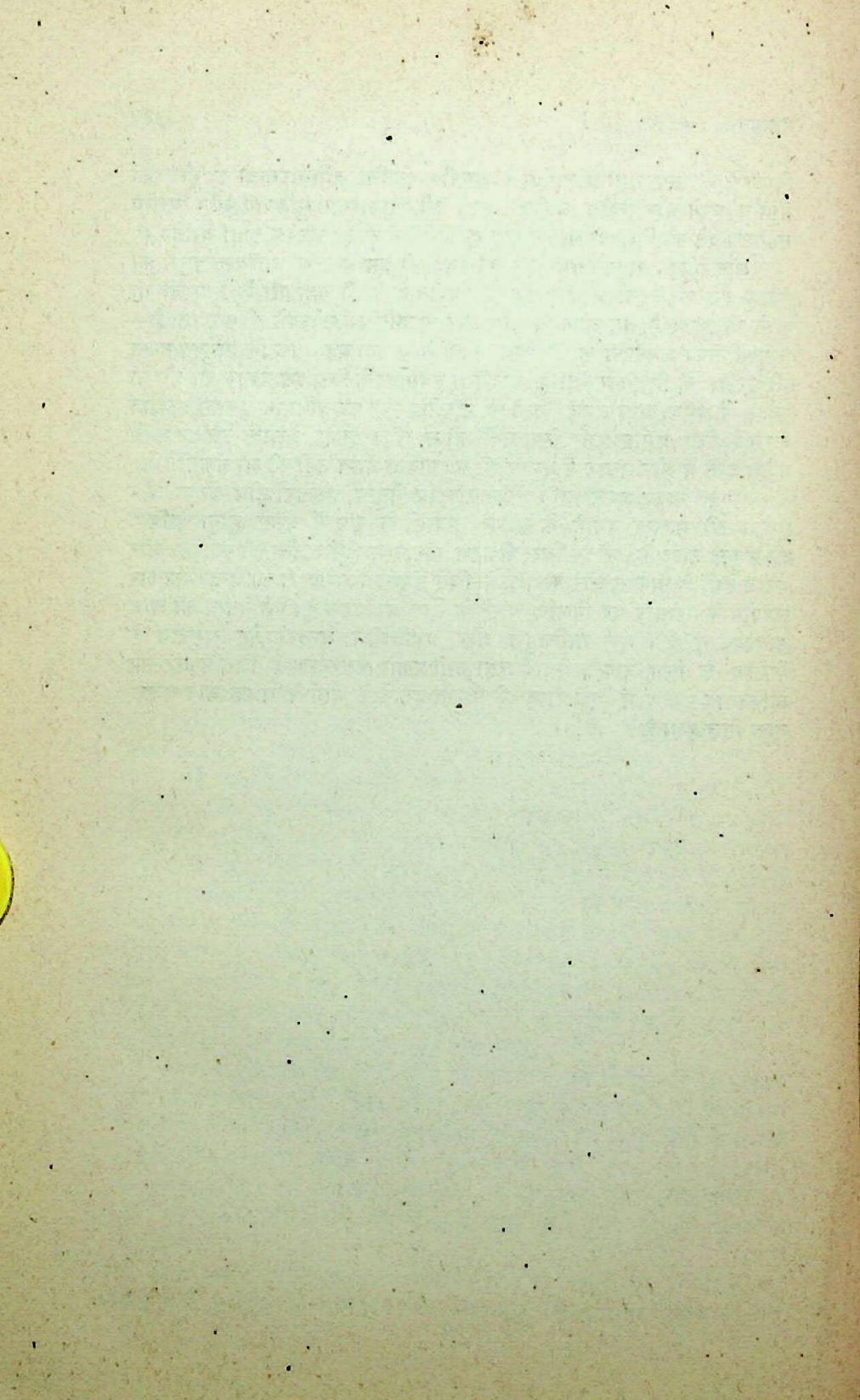
भाग चार

विकास की राजनीति

अध्याय : 12

एक बोझिल भ्रान्ति

जब छठे दशक में कम-विकसित देशों को मिलने वाली सहायता की राशि में वृद्धि होने लगी—आरम्भ में अधिकांशतया संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता में यह वृद्धि हुई—तो मुख्यतया इसका कारण निरन्तर उग्र होता जा रहा शीत-युद्ध था (देखिए, अध्याय-11, अनुभाग-2)। जिन सरकारों के ऊपर यह भरोसा किया जा सकता था कि वे साम्यवाद के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक डटी रहेंगी, उन्हें केवल सैनिक सहायता और 'समर्थन सहायता' ही नहीं, बल्कि विकास के लिए भी सहायता दी गयी।

इस सहायता से यदि उक्त प्रकार की सरकार को अपने देश में बल मिलता था तो सैनिक दाँव-पेंच की दृष्टि से समझ में आने वाली बात दिखायी पड़ती थी। उस समय अर्थशास्त्रियों ने यह कहकर कि विकास सहायता सामान्य जन-समुदाय को कम्युनिस्ट विचारों के प्रभाव से बचाने में सहायक बनेगी, अपेक्षाकृत अधिक मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। यह बात केवल उन्हीं देशों के बारे में सच नहीं थी, जो शीतयुद्ध में सहयोगी बने हुए थे, बल्कि भारत जैसे देशों के बारे में भी, जिनकी सरकारों ने शीतयुद्ध में कोई पक्ष नहीं लिया था, बल्कि तटस्थ रही थीं।

साम्यवाद को 'निराश लोगों के लिए आकर्षक' बताया गया। यह कहा गया कि केवल वे लोग ही साम्यवाद के प्रतिआ कर्षित होंगे जो अत्यधिक गरीब हैं और जिन्हें अपनी स्थिति में सुधार की कोई आशा दिखायी नहीं पड़ती। जिन लोगों की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर है और जो अपने भविष्य के प्रति अधिक आश्वस्त हैं उनके ऊपर साम्यवाद का कोई असर नहीं होगा।[1]

इस मान्यता को 'बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं की क्रान्ति' के सिद्धान्त से समर्थित किया गया। अनुभवजन्य अनुसन्धान का प्रयास किये बिना ही यह मान लिया गया कि कम-विकसित देशों के लोगों के मन में उक्त प्रतिक्रिया होती है।

एक ओर इस सिद्धान्त का आशावादी रुझान था। यह विश्वास प्रकट किया गया था कि जब निर्धन लोग बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होते हैं तो नयी आशाएँ उन्हें अपने विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन करने, अपने जीवन और काम को आधुनिक बनाने के लिए प्रेरित करेंगी और इस प्रकार विकास होगा। यदि विकसित देशों से उन्हें सहायता प्राप्त होगी तो इसका प्रभाव अधिक प्रभावशाली होगा।

इस सिद्धान्त से एक धमकी भी ध्वनित होती थी। बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं

को पूरा करना होगा। यदि आशाएँ पूरी नहीं होतीं तो सम्बन्धित जन-समुदाय विद्रोह कर उठेंगे और कम्युनिस्ट प्रचार के शिकार बन जायेंगे।

संयुक्त राज्य अमरीका में यह विचार-क्रम सहायता के क्षेत्र में 'साम्यवाद की बाढ़ रोकने की नीति' का सहायक बन गया। उक्त नीति पाँचवें दशक के अन्तिम और छठे दशक के आरम्भिक वर्षों में विकसित हुई थी तथा अमरीकी विदेश मन्त्री जॉन फोस्टर डलेस ने इसे सैद्धान्तिक संरचना और धर्मशास्त्रों जैसी सर्वोपरिता प्रदान की थी। इस प्रकार प्रेरित विकास सहायता निरन्तर उग्र होते जा रहे शीतयुद्ध में पश्चिम के देशों के कवच का अंग वन गयी थी।

इस सम्वन्ध में किंचित विद्रूपपूर्ण बात यह जोड़नी होगी कि यह विचार—कि निर्धनताग्रस्त जन-समुदाय अपने भविष्य के प्रति निराश हो जाने पर विद्रोह कर सकते हैं—मार्क्स के वर्ग संघर्ष और सर्वहारा क्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त से उत्पन्न होता है। एक प्रकार से बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं की क्रान्ति का आधुनिक विचार मार्क्स के सिद्धान्त का आवर्धित रूप है क्योंकि यह जन-समुदाय के विद्रोह को अत्यन्त निर्धनता की प्रक्रिया से गुजरे विना ही सम्भव बना देता है।

जहाँ तक मार्क्स के बुनियादी सिद्धान्त का सवाल है, स्वयं मार्क्स ने इस पर अनेक शर्तें लगायी हैं और विशेष परिस्थितियों का उल्लेख किया है, जबकि पश्चिम के लेखकों ने मार्क्स के इस मूल सिद्धान्त को और उनके अन्य अनेक प्रतिपादनों को अनजाने में ही उनके अत्यन्त अपरिष्कृत रूप में ग्रहण कर लिया है। यदि पश्चिम के लेखक इन सिद्धान्तों में निहित विचारधारा के इतिहास से अधिक परिचित होते तो ये सिद्धान्त उनके सतर्क अध्ययन का उपयुक्त विषय वन सकते थे।

कम-विकसित देशों को सहायता देने की इस प्रेरणा के बारे में कुछ वर्षों से कम-से-कम विद्वत्ता का स्वाँग रचने वाले लेखन में कम जोर दिया गया है। विचारों में इस परिवर्तन के पीछे अनेक घटनाएँ छिपी हैं।

एक बात तो यह है कि शीतयुद्ध में कमी हुई है—अथवा यह कहा जा सकता है कि पश्चिम के बुद्धिवादी यह समझने लगे कि शीतयुद्ध में कमी हुई है। कम-विकसित देशों को सहायता देकर साम्यवाद का प्रसार रोकने का 'उद्देश्य' अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण लगने लगा।

यहाँ यह कहना होगा कि यह सिद्धान्त हमारे लिए संयुक्त राज्य अमरीका में वनाया गया था। अन्य विकसित देश, और विशेषकर पश्चिम यूरोप के वे देश जिन्हें पिछड़े हुए प्रदेशों पर उपनिवेशी शासन का अधिक अनुभव था, आरम्भ से ही इस उद्देश्य से सहायता देने की आवश्यकता के प्रति सन्देह का भाव रखते थे।

इतिहास इस वात का प्रमाण है कि वास्तविक अर्थों में अत्यधिक निर्धन लोगों ने शायद ही कभी विद्रोह किया। जब भारत के कुछ जिलों में फसल नहीं हुई तो वे गरीब लोग, जिनके पास भोजन नहीं था, बस भूखे ही पड़े रहे। कुछ को बीमारियाँ लग गयीं और कुछ मर गये। कुछ इस आशा से अपना घर-बार छोड़कर निकल चले कि शायद अन्यत्र भोजन मिल जायेगा। पर उन्होंने विद्रोह

नहीं किया।

यह संसार-भर का पुराना अनुभव है कि अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति वाले लोग विद्रोह पर उतारू हो जाते हैं, और जब उनकी स्थिति में थोड़ा सुधार होने लगता है तब भी उनकी विद्रोह प्रवृत्ति में कोई कमी नहीं आती। इन स्पष्ट तथ्यों को नज़रअन्दाज कर देना उस समय और कठिन हो गया जब समय गुजरता गया और लोगों ने इस बात पर सोचना शुरू किया कि आखिर वे कह क्या रहे हैं।

विद्वत्ता का स्वाँग रचने वाले लोगों ने इस बात को निरन्तर और अधिक उलझन-भरा पाया होगा कि—जन-सामान्य के सन्दर्भ में बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं की क्रान्ति भरोसे योग्य नहीं है। इसकी पुष्टि अथवा खण्डन करने के लिए प्रेक्षणों का उपयोग न करना उलझन की बात बनना स्वाभाविक था। दक्षिण एशिया की परिस्थितियों के अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ऐसी कोई महत्त्वाकांक्षा इन निर्धन जन-समुदायों को प्रभावित नहीं करती—यद्यपि यह उच्च वर्ग के अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता रखने वाले लोगों को, जिनमें 'मध्यम वर्ग' के लोग शामिल हैं, प्रभावित करती है।

जब कभी यह बात ज़ोर देकर कही गयी—और आज भी यदाकदा पिछड़े हुए देशों के बुद्धिवादी और विकसित देशों के प्रेक्षक भी यह बात कहते हैं—कि बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं से गरीब जन-समुदाय सचमुच उद्वेलित हो रहा है, पर मेरी राय में यह झूठी तार्किकता है। इस कथन से केवल यह बात प्रकट होती है कि वे यह सोचते हैं कि यदि स्वयं उन्हें इन जन-समुदायों की तरह भयंकर और अक्सर निराशापूर्ण गरीबी में रहना पड़े तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इस बात में स्वयं उनकी आत्मा का संशय भी प्रकट होता है। जब वे अत्यन्त असमानता को देखते हैं, और जो अक्सर बढ़ रही हैं, तो उनकी आत्मा उन्हें कुछ न करने के लिए धिक्कारती है।[2]

यह बात सच है कि कम-विकसित संसार में अनेक 'क्रान्तियाँ' हो रही हैं। पर कुछ अपवादों को छोड़कर ये सत्ता हथियाने की कार्रवाइयाँ मात्र हैं, जिनके माध्यम से उच्च वर्ग के लोगों का एक समूह अपने जैसे ही दूसरे सत्तारूढ़ समूह को अपदस्थ कर देता है। इन कार्रवाइयों का अक्सर यह भी परिणाम होता है कि नयी सरकार और अधिक निरंकुश होती है।

जैसाकि मैंने अध्याय तीन में कहा है कि कम-विकसित संसार के जिस हिस्से (दक्षिण एशिया) का मैंने अधिक गहराई से अध्ययन किया है उसमें गरीब जन-समुदाय के संगठित विद्रोह के परिणामस्वरूप ऐसी 'क्रान्तियाँ' कभी नहीं हुईं और शेष संसार में भी ऐसा अधिक नहीं हुआ। ये सब क्रान्तियाँ जन-सामान्य से बहुत ऊँचे स्तरों पर हुईं।[3]

एशियन ड्रामा में मैंने इस सम्भावना की पूर्व-कल्पना करने के बारे में संशय प्रकट किया था कि दक्षिण एशिया में इस प्रकार की 'क्रान्तियाँ' किस प्रकार होंगी। समस्त कम-विकसित संसार पर व्यापक नज़र डालने के बाद अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि अगले पाँच वर्षों तक के लिए ऐसी कोई निश्चित भविष्यवाणी कर पाना सम्भव नहीं है कि अमुक कम-विकसित देश में किस प्रकार की सरकार कायम होगी।

गरीब जन-समुदाय के जीवन और काम की परिस्थितियों में सुधार करने के उद्देश्य से हुई कहीं अधिक ठोस क्रान्तियों की पूर्व-कल्पना कर पाना इतना ही कठिन है चाहे इन क्रान्तियों को कुछ सीमा तक, कम-से-कम क्रान्ति हो जाने के वाद, समर्थन प्राप्त हुआ हो। यही वात किसी प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद के उदय और प्रसार पर भी लागू होती है। यदि ऐसी क्रान्तियाँ वड़े पैमाने पर होती हैं, और इस वात की सम्भावना की पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती, तो ये वहुसंख्य कारकों में से किसी एक कारक पर निर्भर करेंगी। इन कारकों में जन-समुदाय की निरन्तर बढ़ती गरीबी मुश्किल से ही शामिल है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही यह एक व्यापक और निहित परिस्थिति हो सकती।[4] मैं इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इस अध्याय के तीसरे अनुभाग में फिर विचार करूँगा।

एक अर्थशास्त्री के नाते मुझे यह स्मरण कर अत्यन्त लज्जा का अनुभव होता है कि उस युग में मेरे व्यवसाय के कितने अधिक लोगों ने यह बात ज़ोर देकर कही कि कम-विकसित देशों को साम्यवाद से वचाने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। बस इन लोगों ने कोई गम्भीर अनुसन्धान किये बिना ही अथवा सम्वन्धित सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं पर समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किये विना ही इस वात को कह डाला। ये सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाएँ ऐसी थीं जिनके बारे में परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने अपनी आँखों पर पट्टियाँ बाँध ली थीं।

उक्त कार्य सर्वोत्तम उद्देश्य से किये गये थे : संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम के अन्य विकसित देशों में विकास सहायता को राजनीतिज्ञों और जनता के लिए अधिक ग्राह्य बनाने के वास्ते यह किया गया था पर यह निश्चित है कि अपने अज्ञान के प्रति समालोचनात्मक चेतना और सत्य का अन्वेषण करने के उद्देश्य से ठोस तथ्यों के आधार पर प्रेरित अनुसन्धान ही एक अच्छे उद्देश्य को पूरा कर सकता है। प्रत्येक ईमानदार अध्ययनकर्त्ता का यही विश्वास है, जो उसे विरासत में मिला है।

हाल के वर्षों में विकास-सहायता के बारे में शीतयुद्ध के योद्धा का तर्क अधिक अस्पष्ट और अधिक सामान्य प्रतिपादन में परिवर्तित हो गया है अर्थात् यह कहा जाने लगा है कि विकास-सहायता के परिणामस्वरूप जो आर्थिक प्रगति हुई है उसने कम-विकसित देशों को अधिक लोकतन्त्री, आन्तरिक दृष्टि से अधिक स्थिर, और अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अधिक शान्तिपूर्ण बना दिया है। मैंने अध्याय-11 में यह कहा है कि अपने इस सामान्य रूप में यह प्रतिपादन, अनुभव और अनुसन्धान की दृष्टि से एकदम निराधार है और इस कारण से इतना ही उत्तरदायित्वहीन है। मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे मेरा अभिप्राय अर्थशास्त्रियों को कम-विकसित देशों की सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के व्यापक प्रश्नों पर विचार करने के विरुद्ध चेतावनी देना नहीं है। इसके विपरीत उन्हें यह कार्य करना चाहिए, यदि वे अपने अध्ययनों को यथार्थ और नीति निर्धारण की दृष्टि से तर्कसम्मत बनाना चाहते हैं।

पर इस स्थिति में उन्हें उन तथ्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण और अनुभव-जन्य अध्ययन की आवश्यकता के उन्हीं अंकुशों के अन्तर्गत काम करना चाहिए

जिन्हें वे, यदि व्यवहार में नहीं तो कम-से-कम सिद्धान्तरूप में, विकसित देशों में स्वयं अपने अनुसन्धान के अनुभवों के अनुरूप संकीर्ण रूप से प्रतिबन्धित 'आर्थिक' समस्याओं पर काम करते समय स्वीकार करने को तैयार रहते हैं, क्योंकि विकसित देशों में इन समस्याओं को पृथक् कर पाना अधिक सम्भव है।

●

अध्याय : 13

एक निर्णायक घटना

आज कम-विकसित संसार में जो सर्वाधिक निर्णायक घटनाएँ घटी हैं, उनमें से एक घटना उन परिस्थितियों से सम्बन्धित है, जो राष्ट्रीय समुदायों में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण और विभिन्न वर्गों के मध्य अवसरों के वितरण का निर्धारण करती हैं। पिछले अध्यायों में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर राजनीतिक गतिशीलता सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने का प्रयास करने से पहले, मैं, तैयारी के रूप में इस समय सक्रिय आर्थिक सामाजिक परिवर्तन की दो शक्तियों पर इस अध्याय में अपना ध्यान केन्द्रित करूँगा। ये शक्तियाँ हैं : आबादी में वृद्धि (देखिए, अध्याय-5) और खेती के क्षत्र में टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति (देखिए, अध्याय-4)।

जहाँ तक आबादी का सम्बन्ध है, सन्तति-निरोध के कार्यक्रम के प्रसार का एक प्रमुख प्रभाव यह होगा कि विभिन्न आयु वर्गों में आबादी के वितरण में परिवर्तन के माध्यम से रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा, पर यह तभी हो सकता है जब सन्तति-निरोध का प्रभावशाली कार्यक्रम लागू किया जाय। प्रत्येक कम-विकसित देश में इन अच्छे प्रभावों का बड़ा महत्त्व होगा और ये प्रभाव मनुष्यों और भूमि के अनुपात पर निर्भर नहीं करेंगे।

कम-विकसित देशों की सब सरकारों ने निर्धन जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने के लिए दूरगामी नीति निर्धारित करने का अब तक निर्णय नहीं लिया है। बहुत कम सरकारों ने ऐसे किसी निर्णय को लागू करने की इच्छा अथवा दृढ़ता से कारंवाई करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

सामान्य जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने की नीति को लागू करने का प्रयास एक अत्यन्त कठिन कार्य है, विशेषकर निर्धनतम देशों में और सामान्यतया आबादी के निर्धनतम वर्गों में। सन्तति-निरोध के नये उपाय उपलब्ध हो जाने के बावजूद गाँवों में एक-एक परिवार तक इनका सन्देश पहुँचाने के मार्ग में प्रायः अलंघ्य कठिनाइयाँ और निषेध आते हैं।

आबादी में युवा वर्ग का बड़ा हिस्सा होने के कारण, जो अब तक अपने-आपमें ऊँची जन्म-दर का कारण रहा है, जनन-क्षमता में कमी के द्वारा आबादी में वृद्धि में पर्याप्त कमी करने में लम्बा समय लगेगा। यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि भावी माता-पिताओं के समुदायों की तरह ही भावी श्रम-शक्ति का जन्म हो चुका है अथवा जल्दी ही इसका जन्म होगा जबकि सन्तति-निरोध का धीरे-धीरे प्रसार होता रहेगा। इस प्रकार श्रम-शक्ति में इस शताब्दी के अन्त तक दो और तीन प्रतिशत के बीच वृद्धि होती रहेगी।

उद्योग श्रम-शक्ति की शुद्ध माँग में अधिक संख्या में निकट भविष्य में वृद्धि करने की स्थिति में नहीं है। 'प्रत्यावर्तन प्रभावों' के कारण औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप विनिर्माण उद्योग, जिसमें दस्तकारी और परम्परागत उद्योग भी शामिल हैं, में लगे कुल श्रमिकों की संख्या में पर्याप्त समय तक कमी भी हो सकती है।

अन्य शहरी व्यवसायों में, और विशेषकर खुदरा व्यापार और सेवाओं में, पहले से ही ऐसे श्रमिकों की भरमार है जिनका पूरा उपयोग नहीं हो पाता। जहाँ कहीं शहरों की गन्दी बस्तियों में कृषि क्षेत्र से आने वाले शरणार्थियों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है—और प्रायः प्रत्येक कम-विकसित देश में यह हो रहा है—वहाँ कृषि में लगी श्रम-शक्ति में कमी नहीं होगी बल्कि सामान्यतया वृद्धि ही होगी। कुछ देशों में तो यह वृद्धि बहुत तेजी से होगी।

कृषि क्षेत्र में तेजी से श्रम-शक्ति में वृद्धि की यह मूलभूत प्रवृत्ति होती है कि कृषि भूमि का और अधिक बँटवारा होता जाता है तथा खेत निरन्तर छोटे होते जाते हैं। इसका सामान्य प्रभाव यह होगा कि लोगों का आर्थिक और सामाजिक स्तर गिरता जायेगा—भू-स्वामी बटायी आदि पर खेती करने वाले काश्तकार और काश्तकार भूमिहीन खेत मजदूर बनते जायेंगे। इस प्रकार आबादी में वृद्धि अपने-आपमें एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो कृषि क्षेत्र में सामाजिक और असमानता को बढ़ाने का काम करती है।

एक सामान्य प्रतिपादन के रूप में यह सच है कि कम-विकसित देशों में खेती श्रम के अधिक उपयोग की होती है, श्रम के सघन उपयोग की नहीं जैसाकि अक्सर मान लिया जाता है। श्रम-शक्ति में शामिल अनेक लोग काम ही नहीं करते और जो काम भी करते हैं वे पूरे दिन में थोड़े समय ही काम करते हैं और पूरे वर्ष में ऐसी अवधियाँ भी आती हैं जब उनके पास कोई काम नहीं होता। उनकी श्रम सघनता बहुत नीचे स्तर की होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस समय श्रम-शक्ति का बेहद कम उपयोग हो रहा है। किसी भी तर्कसम्मत कृषि नीति का लक्ष्य श्रम और श्रम की कार्यकुशलता में वृद्धि होना चाहिए क्योंकि इसी प्रकार श्रम की उत्पादकता और कृषि उपज में वृद्धि की जा सकती है।

यह कार्य सम्भव होना चाहिए, यह बात इस तथ्य से प्रकट हो जाती है कि औसत उपज केवल बहुत कम ही नहीं है बल्कि विभिन्न खेतों की उपज में भी बहुत अन्तर रहता है। परिस्थितिगत कारकों को स्थिर रखने पर भी यह अन्तर बना रहता है। ये कारक हैं: खेत का आकार, मिट्टी, जलवायु और उपलब्ध तथा सामान्य रूप से ज्ञात कृषिविधि।

श्रम और कार्यकुशलता में वृद्धि की माँग के बिना सदा कृषिविधि में सुधार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कृषि की सुधरी हुई विधियों के उपयोग से एक ऐसी कृषि नीति को लागू करने की सम्भावना बढ़नी चाहिए जिसका लक्ष्य श्रम-शक्ति के कम उपयोग को समाप्त करना हो।

खेती की अधिक उन्नत विधियों का अधिक व्यापक उपयोग करने के लिए बहुत-सी कठिनाइयों पर काबू पाना होगा। यह बात कृषि की पहले से ही ज्ञात उन्नत विधियों और नयी उन्नत विधियों पर लागू होती है। ये सब कठिनाइयाँ भू-स्वामित्व और काश्तकारी व्यवस्था के मूल में निहित हैं। यद्यपि ये विभिन्न कम-विकसित देशों में अलग-अलग हैं पर इनके परिणामस्वरूप सामान्यतया श्रम का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और ये विशेषकर उन्नत विधियों के व्यापक उपयोग में बाधक बनती है।

भूमि-सुधार की आवश्यकता आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना की अभिलाषा से ही प्रेरित नहीं है, बल्कि भूमि और श्रम की ऊँची उत्पादकता की तात्कालिक आवश्यकता से मूलतः प्रेरित है। कृषि की उन्नत विधियाँ अपनाकर उपज बढ़ाने के प्रयासों को तभी पूरी सफलता मिल सकती है जब इनके साथ ही भूमि-सुधार भी लागू किया जाय।

कम-विकसित देशों की परिस्थितियों के अनुसार भूमि-सुधार का अलग-अलग स्वरूप होना चाहिए। उत्पादकता की दृष्टि से प्रत्येक भूमि-सुधार को मनुष्य और भूमि के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए[1] जो किसान को अधिक काम करने, अधिक मेहनत से और अधिक प्रभावशाली ढंग से काम करने, अपनी उपज और भूमि में सुधार करने के लिए उपलब्ध धन को कृषि कार्य पर लगाने और सर्वप्रथम इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वयं अपने श्रम को लगाने के लिए प्रेरित करे।

अधिकांश कम-विकसित देशों में, यद्यपि सबमें नहीं, भूमि-सुधार नाटक भर रहा है जिसमें शक्ति का असमान वितरण प्रतिबिम्बित हुआ है। हाल के वर्षों में कम-विकसित और विकसित दोनों प्रकार के देशों में भूमि-सुधार पर विचार तक प्रायः बन्द हो गया है।

सामान्यतया जिस प्रेरणा का स्वाँग किया जाता है, संस्थागत सुधार, स्थानीय स्वायत्तशासी संगठनों के माध्यम से विभिन्न प्रकार की सहायता और सहयोग के अन्य अनेक कार्यक्रम भूमि-सुधार के अभाव में समानता के प्रश्न की उपेक्षा को ही प्रकट करते हैं। इन अन्य सुधारों से गाँवों के बेहतर स्थिति वाले लोगों को ही वास्तविक लाभ मिला है और इस प्रकार इनसे कृषि क्षेत्र में असमानता में कमी होने के स्थान पर वृद्धि हुई है।

अध्याय-4 और 5 में जो मुख्य निष्कर्ष निकाले गये हैं उनमें से कुछ की मैंने ऊपर संक्षेप में पुनरावृत्ति की है। कृषि क्षेत्र में असमानता और नीची उत्पादकता की समस्याएँ हाल के वर्षों में अनाज की अधिक उपज देने वाली किस्मों और 'हरित क्रान्ति' की कल्पना के परिणामस्वरूप प्रबल रूप से सामने आयी हैं (देखिए, अध्याय-4, अनुभाग-3)।

अनेक देशों में, उदाहरण के लिए, दो निर्धनतम तथा प्रायः सबसे अधिक आबादी वाले कम-विकसित देशों—पाकिस्तान और भारत—में कुछ जिलों में कुछ समृद्ध और प्रगतिशील किसानों की उपज में सुधरे हुए बीजों के उपलब्ध होने के

कारण अत्यधिक वृद्धि हुई है, कभी-कभी तो उपज में कई गुना वृद्धि हुई है। यह आशा करने का उचित कारण है कि इन देशों के अन्य जिलों में भी यह हो सकता है और कम-विकसित संसार के अन्य भागों में भी।

इस घटना के परिणामस्वरूप वह स्थिति उत्पन्न हुई है जिसे मैंने कृषि की विकसित विधियों सम्बन्धी थोथी आशावादिता कहा है। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ है कि भूमि-सुधार सम्बन्धी प्रायः समस्त भावी विचारों और कार्रवाइयों को अन्तिम रूप से दफ़नाया जा रहा है।

यह आशा प्रकट की गयी है कि अनाज की कमी वाले देश, जिनमें उक्त दो देश में शामिल हैं, जल्दी ही 'अनाज में आत्मनिर्भर' हो जायेंगे अर्थात् उन्हें अनाज का आयात नहीं करना होगा। इस प्रकार तीसरी दुनिया में भूख का जो संकट खड़ा दिखायी पड़ रहा है वह समाप्त हो जाना चाहिए, अथवा कम-से-कम कुछ समय के लिए टल जाना चाहिए।

जिस रूप में यह आशावादिता प्रकट की जाती है उसमें अपोषण और कुपोषण की उस स्थिति में कोई सुधार होने की बात नहीं कही गयी है जिससे कम-विकसित देशों का निर्धन जन-समुदाय ग्रस्त है और जिसका मैंने अध्याय-4, अनुभाग-1 में उल्लेख किया है। स्थिति में उक्त सुधार में मान लिया जायेगा कि निचले स्तरों के लोग इतना अधिक अर्जन करने लगेंगे कि वे अधिक पौष्टिक और स्वास्थ्यप्रद भोजन की प्रभावशाली माँग उत्पन्न करेंगे जिसके परिणाम-स्वरूप और अधिक माँडयुक्त फसल की आवश्यकता बढ़ेगी। इन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अनाज में आत्म-निर्भरता के लिए कहीं अधिक ऊँचे स्तर के उत्पादन की आवश्यकता होगी।

नये विकसित बीजों का उपयोग कर उन्नत विधि से खेती करने की क्षमता वाले समृद्ध और प्रगतिशील किसान उपज से प्राप्त होने वाली कीमत का भी पूरा ध्यान रखते हैं। अब जबकि अनाज की आवश्यकता से अधिक उपलब्धि के बारे में आशंका प्रकट करते हुए यह कहा जा रहा है कि इससे अनाज के दाम में कमी होगी और उन्नत विधियों से खेती कम लाभदायक अथवा अलाभदायक बन जायगी तो इससे एक बार फिर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि जो लोग पौष्टिक आहार की कमी से ग्रस्त हैं उनके द्वारा अनाज की प्रभावशाली माँग बड़े पैमाने पर होने की आशा नहीं है।

'हरित क्रान्ति' की कल्पना से जो आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं मैंने अभी तक उनकी सतह को ही छुआ है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नयी सम्भावनाएँ केवल उन किसानों को ही उपलब्ध हैं जिनकी जमीन की सिंचाई की व्यवस्था है और जिनके पास उर्वरक खरीदने और सघन खेती के लिए आवश्यक अन्य सामान और औजार खरीदने के लिए पूंजीगत साधन उपलब्ध हैं। वे इस कारण से यह कार्य करने की बेहतर स्थिति में होंगे क्योंकि उन्हें कभी भी आयकर नहीं देना होगा चाहे उन्हें कितना भी अधिक लाभ क्यों न प्राप्त हो। नयी सम्भावनाएँ मुश्किल से अपना गुजारा चलाने वाले किसानों के बड़े हिस्से की

पहुँच के बाहर हैं, चाहे ये किसान बटायी पर खेती करते हों अथवा अपने अत्यन्त छोटे-छोटे खेतों में।

मैंने अध्याय-4, अनुभाग-2 में इस बात पर जोर दिया है कि खेती की उन्नत विधियाँ अपनाने से श्रम की माँग में सामान्यतया वृद्धि होगी। वस्तुत: यह बात मशीनीकरण के बारे में भी सच है यदि मशीनों का उपयोग केवल श्रम बचाने के लिए न किया जाये। आयात नियन्त्रण और उद्योगों के उत्पादन और पूंजीनिवेश की दिशा का नियन्त्रण करके कम-विकसित देश की सरकार इस नये किस्म की पूंजीवादी खेती में श्रम की बचत करने वाली मशीनों का उपयोग रोक सकती है।

पर असली सवाल यह उठता है कि क्या ये सरकारें यह कार्य करेंगी। ये समृद्ध किसान देश के सत्तारूढ़ विशिष्ट वर्ग में अपना स्थान बना लेते हैं। सब स्तरों पर सरकार और प्रशासन इस वर्ग की माँगों और दबाव के प्रति 'नरम' होते हैं, और बहुत आसानी से इनसे साँठ-गाँठ करने लगते हैं। इस बात की अधिक सम्भावना दिखायी पड़ती है कि धीरे-धीरे श्रम की बचत करने वाली मशीनों में पर्याप्त पूंजीनिवेश होने लगे और इसके परिणामस्वरूप श्रम की माँग घटने लगे।

जैसाकि अध्याय-4, अनुभाग-2 में कहा गया है, लेटिन अमरीका के कुछ देशों में श्रम की बचत करने वाली मशीनों के उपयोग की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। यह अत्यन्त चिन्ताजनक तथ्य है कि भारत जैसे देश में भी इस बात का कोई संकेत दिखायी नहीं पड़ता कि श्रम सघन और इसके साथ ही उच्च उत्पादकतावाली खेती के लिए कोई नीति निर्धारित की जा रही है अथवा कोई अनुसन्धान किया जा रहा है।

श्रम की बचत करने वाली मशीनों के उपयोग का प्रभाव उन बातों पर भी पड़ेगा, जो कम-विकसित देशों में सामाजिक और आर्थिक असमानता में वृद्धि करती हैं और खेती में लगे निर्धन लोगों के स्तर को और नीचे गिराती हैं। प्रमुख बात खेती से बँधी श्रम-शक्ति में तेजी से वृद्धि की है—यह श्रम-शक्ति खेती की कैद में इस तरह फँसी है कि भागकर शहरों की गन्दी बस्तियों में भी नहीं पहुँच पाती।

मैंने खेती पर अपने प्रेक्षण केन्द्रित रखे हैं क्योंकि खेती ही सब कम-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। अधिकांश कम-विकसित देशों में फिलहाल जो प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ रही हैं उनसे ऐसा कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ता कि कृषि क्षेत्र में व्याप्त सामाजिक और आर्थिक असमानता निरन्तर, और वस्तुतः अधिकाधिक तेजी से बढ़ती नहीं जायेगी। भूमि-सुधार के प्रयास प्राय: सर्वत्र कमजोर होते जा रहे हैं, जिसका आंशिक कारण 'हरित क्रान्ति' की कल्पना का प्रभाव है। हरित क्रान्ति को ही खेती की समस्या का हल बताया जा रहा है।

प्रभावशाली भूमि-सुधार के अभाव में इस आशा का कोई आधार नहीं है कि अन्य सब संस्थागत सुधार—जैसे सामुदायिक विकास, कृषि विस्तार और

सहकारी समितियों के माध्यम से ऋण—बेहतर स्थिति वाले लोगों के हित साधन के लिए निरन्तर विकृत नहीं होते रहेंगे। कृषि की उन्नत विधियों के उपलब्ध होने के कारण सरकारें उन लोगों को सहायता देना अधिक पसन्द करेंगी जो इन विधियों का उपयोग करने की सर्वोत्तम क्षमता रखते हैं और इसका अर्थ है साधन सम्पन्न लोग।

यदि ये उन्नत खेती करने वाले समृद्ध किसान जैसाकि मुझे आशंका है, श्रम की बचत करने वाली मशीनों का उपयोग शुरू कर देते हैं और इस प्रकार श्रम की माँग में कमी कर देते हैं, जबकि श्रम-शक्ति का पहले ही पूरा उपयोग नहीं हो पाता और श्रमिकों की संख्या में भी तेजी से वृद्धि हो रही है, तो अन्तत: 'हरित क्रान्ति' का यह प्रभाव होगा कि कल्पनातीत पैमाने पर श्रम के कम उपयोग में वृद्धि होगी।

इस प्रकार आठवें दशक में—जिसे दूसरे विकास दशक के रूप में मनाने की बात कही गयी है—उस 'बेरोजगारी' और 'अर्द्ध-रोजगारी' में अत्यन्त हानिप्रद सीमाओं तक वृद्धि होगी, जिसे लोकप्रिय शब्दावली में किन्तु अपर्याप्त रूप से उक्त संज्ञा दी गयी है। इस घटना का दूसरा पहलू ग्रामीण जन-समुदाय में गरीबी में वृद्धि होगी।

इन परिस्थितियों में शहरों की गन्दी बस्तियों में निष्क्रमण जारी रहेगा और सम्भवत: इसमें वृद्धि भी होगी। जैसाकि मैंने कहा, आधुनिक उद्योगों के विकास से रोजगार में अधिक वृद्धि शुद्ध अर्थों में नहीं होगी। कम-विकसित देशों में अन्य शहरी व्यवसायों में श्रम की पहले से ही भरमार है और इसका भी पूरा उपयोग नहीं हो पाता।

शहरों की भयंकर कष्टपूर्ण गन्दी बस्तियों में पहुँचने वाले कृषि क्षेत्र के शरणार्थी शहरी समुदाय में घुलमिल नहीं पाते। वास्तव में, इन्हें गाँवों के निचले वर्ग का एक गलत स्थान पर स्थित हिस्सा ही कहा जायेगा, जो अत्यन्त कड़ाई से विभिन्न स्तरों में बँटे समाज में श्रम-शक्ति में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में फालतू हो गया है। यह एक ऐसा समाज भी है, जहाँ श्रम-शक्ति का उचित उपयोग करने की दृष्टि से टेक्नालॉजी की उन्नति को प्रतिबन्धित और अधिकाधिक गलत दिशा में निर्देशित किया गया है।

शहरों में रहने वाला यह निम्न वर्ग कम-विकसित देशों के अधिकांश शहरों में आसानी से अधिसंख्य वर्ग बन जायेगा। शहरों तक में यह बहुत बड़ी समस्या हो जायेगी कि श्रम निरन्तर अधिक फ़ालतू और बर्बाद होता जायेगा। इसका परिणाम होगा व्यापक गरीबी।

कम-विकसित देशों में असमानता बनाये रखने और इसमें वृद्धि तक करने के अन्य लक्षण इधर दिखायी पड़े हैं। इस प्रकार अधिकांश कम-विकसित देशों में, विशेषकर निर्धनतम देशों में, शिक्षा का उपयोग सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने के एक माध्यम के रूप में प्रभावशाली ढंग से नहीं किया जाता है (देखिए अध्याय-6)।

अनेक देशों में अब शिक्षा का उपयोग आर्थिक और सामाजिक असमानता घटाने अथवा जन-समुदाय को विकास प्रक्रिया में हाथ बँटाने के लिए तैयार करने के लिए भी नहीं किया जाता। इसके विपरीत, अक्सर इसका उपयोग शिक्षा पर उच्च वर्ग के एकाधिकार और उनके मेहनत-मजूरी न करने के विरासत में प्राप्त दावे को कायम रखने के लिए किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा विकास विरोधी बन जाती है। सामान्य जन-समुदाय को उपयोगी साक्षरता प्राप्त करने में सहायता देने के प्रयास अनेक तरीकों से व्यर्थ कर दिये जाते हैं।

प्रायः सब कम-विकसित देशों में राजनीतिक सत्ता उच्च वर्ग के लोगों के कुछ समूहों के हाथों में है, जिन्होंने गरीब जन-समुदाय के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से प्रस्तावित प्रभावशाली सुधारों को सामान्यतया लागू नहीं होने दिया है। पश्चिम के और अपने देश के अर्थशास्त्रियों की सहायता से उन्होंने अपने पक्ष को इस सिद्धान्त से समर्थित कर लिया है कि असमानता ही नहीं बल्कि निरन्तर बढ़ती हुई असमानता एक 'विकासशील देश' में स्वाभाविक घटना, और वस्तुतः, आर्थिक प्रगति की एक पूर्व-शर्त है। यह सिद्धान्त बिल्कुल झूठा है (देखिए, अध्याय-3)।

भ्रष्टाचार सर्वत्र व्याप्त है और इसमें सामान्यतया वृद्धि हो रही है। विकास साहित्य में सामान्यतया इस प्रश्न पर चुप्पी ही साधी जाती है। कभी-कभी तो मिथ्या रूप से यहाँ तक कहा जाता है कि यह 'विकासशील देश' में विकास के लिए लाभदायक होता है (देखिए, अध्याय-7)।

विकसित देश जो प्रभाव रखते हैं—प्रत्यक्ष निजी पूँजी निवेशों और सार्वजनिक सहायता के माध्यम से—उसका अधिक समानता की स्थापना के लिए शायद ही कभी इस्तेमाल किया जाता है। अधिकतर इससे सामाजिक और राजनीतिक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई (देखिए, अध्याय 9-11)।

यह हो सकता है कि इस बीच भूख का सम्भावित संकट कुछ समय के लिए समाप्त हो जाये अथवा स्थगित हो जाये। 'भूख के संकट' जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग अधिकांशतया इन सीमित अर्थों में होता है कि कम-विकसित देशों में गरीब वर्गों की पौष्टिक आहार के नीचे स्तर पर प्रभावशाली माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन पर्याप्त तेजी से नहीं बढ़ रहा है।

इस बीच राज्य और देशी पूँजीपतियों और विदेशी कम्पनियों द्वारा, जो अक्सर संयुक्त रूप से यह काम करती हैं, आधुनिक कारखाने लगाये जायेंगे। अर्थव्यवस्था का समस्त आधुनिक क्षेत्र विस्तृत होने लगेगा।

उद्योग, परिवहन, बिजली, वित्तीय संगठनों और उच्च तकनीकी शिक्षा की सुविधाओं सहित, इस क्षेत्र का विकास समस्त अर्थव्यवस्था के कायापलट और विकास के लिए महत्त्वपूर्ण रचनात्मक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। पर इस सम्बन्ध में हमें यह मानकर चलना होगा कि उक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए योजनाबद्ध नीति के द्वारा इसका निर्देशन हुआ, और विशेषकर, कृषि के मुश्किल से गुजारे योग्य क्षेत्र और शहरों की गन्दी बस्तियों में श्रम के उपयोग और उत्पादकता में वृद्धि के प्रयासों के साथ इसका समन्वय किया गया।

पर नियमित रूप से यह स्थिति नहीं रही। आधुनिक क्षेत्र अधिकांशतया अलग-थलग रहता है। इस क्षेत्र में काम करने वाले लोगों की काम की

परिस्थितियों और सामाजिक सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की प्ररणा से कानून बनाये गये और बनाये जायेंगे तथा इस क्षेत्र के श्रमिकों की आय आस-पास की शहरी गन्दी बस्तियों अथवा खेती में लगे श्रमिकों की आय से पर्याप्त ऊंची होगी। आधुनिक क्षेत्र के कर्मचारियों की हैसियत लगभग 'मध्यम वर्ग' की हो जायेगी।

यदि इसके साथ ही श्रम-शक्ति का कम उपयोग जारी रहता है और इसके परिणामस्वरूप मुश्किल से गुजारे योग्य कृषि क्षेत्र और भूमिहीन खेत मजदूरों तथा शहरों की गन्दी वस्तियों के निवासियों की गरीबी बढ़ती जाती है, तो छोटा-सा आधुनिक क्षत्र इस गरीबी के सागर के वीच एक टापू के समान होगा और यह स्थिति उपनिवेशी युग से भी बुरी होगी। इस समय 'प्रसार प्रभाव' कमजोर हैं और जैसे-जैसे उच्च वर्ग और निचले वर्ग के समूहों के बीच अन्तर बढ़ता जायेगा यह प्रभाव और कमजोर होते जायेंगे।

श्रमिकों की सुरक्षा के लिए जो नीति सम्बन्धी उपाय किये जाते हैं उनमें से कोई भी निचले वर्गों के इन समूहों की परिस्थितियों पर लागू नहीं होते। यदि कोई कानून बनाया भी जाता है तो उसे लागू नहीं किया जायेगा। इन्हें लागू किया ही नहीं जा सकता।

अन्ततः इस बीच परम्परागत अर्थशास्त्री और अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालय राष्ट्रीय-आय अथवा राष्ट्रीय-उत्पादन में 'वृद्धि' के आंकड़ों के अवास्तविक योगों का समालोचनात्मक दृष्टि अपनाये बिना ही प्रयोग कर रहे हैं और इस बात पर ध्यान नहीं दे रहे हैं कि वास्तव में किस चीज की वृद्धि हो रही है। क्या एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वास्तविक वृद्धि हो रही है अथवा नकारात्मक विकासों पर आने वाली लागतों के कारण यह हो रहा है। वे इस बात का भी ध्यान नहीं रखते कि उत्पादन का वितरण किस प्रकार किया जाता है, और सामान्यतया, 'गैर-आर्थिक कारकों' की भी उपेक्षा कर दी जाती है। इस प्रकार वे स्वयं अपने-आपको और जनता को इस बात से आश्वस्त कर सकते हैं कि 'विकासशील देश' वास्तव में विकास कर रहे हैं (देखिए, अध्याय-8)।

कम-विकसित देशों में राजनीतिक गतिशीलता पर विचार करने से पहले मैं एक और स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना चाहूंगा। इन देशों में आर्थिक और सामाजिक स्थिति और विकास को अक्सर शोषण कहा जाता है। अधिकांशतया इस संकल्पना को अस्पष्ट और सन्दिग्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है, यह कार्य उस समय होता है जब यह संकल्पना उस विशिष्ट रूप में मूल्य के संस्थापित सिद्धान्त से सम्बन्धित नहीं होती जो रूप इसे मार्क्स ने प्रदान किया था।

इस सन्दर्भ में मैं इस तथ्य की बात नहीं उठाता कि 'वास्तविक मूल्य' का संस्थापित सिद्धान्त—मार्क्स और रिकार्डो ने जिसकी परिभाषा देते हुए इसे किसी वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक श्रम के रूप में आने वाली लागत बताया है—वेदान्तिक और नैसर्गिक—नियम के दर्शन[3] की उपज है और इस कारण से वैज्ञानिक विश्लेषण में उपयोगी नहीं है। मार्क्स ने शोषण की अपनी परिभाषा

में इसे वह—'अतिरिक्त मूल्य' वताया है जो मालिक श्रमिक को न देकर स्वयं हड़प जाता है।

पर कृषि क्षेत्र और शहरों की गन्दी वस्तियों की उस श्रम-शक्ति की स्थिति कहीं अधिक खराव है जिसका पूरा उपयोग नहीं होता। इस स्थिति की कल्पना उक्त परिभाषा अथवा श्रमिक को अपने उत्पादन के एक अंश से वंचित कर देने की किसी भी शोषण की परिभाषा के आधार पर नहीं की जा सकती। अल्प उपयोग वाली श्रम-शक्ति की वास्तविक कठिनाई और उनकी गरीवी का वास्तविक कारण यह है कि वे वहुत कम अथवा कुछ भी उत्पादन नहीं करते।

इस स्थिति में जमींदार, सूदखोर, और वास्तव में, सामान्यतया उच्चवर्ग श्रमिकों को वहुत कम मजदूरी देकर उनके श्रम का 'शोषण' कर सकता है और जमींदार अपने काश्तकारों की मामूली-सी उपज का असाधारण रूप से वड़ा हिस्सा अपने पास रख सकता है और गरीवों तथा शक्तिहीन लोगों की ठगायी जारी है। पर ये सव वातें श्रम-शक्ति के अल्प उपयोग की कहीं अधिक मूलभूत प्रवृत्ति का लक्षण मात्र हैं। गहराई तक पैठे हुए कारणों को समाप्त किये विना इन लक्षणों पर प्रहार के द्वारा निर्धनता के विरुद्ध संघर्ष के प्रयास निरर्थक हैं, जैसाकि ऐसे अनेक कानूनों से पूरी तरह प्रमाणित हो गया है जिनमें कृषि क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने और काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करने के प्रयास किये गये हैं। इस सम्बन्ध में भारत का उदाहरण दिया जा सकता है।

कम-विकसित देशों में जो पहले होता रहा है और आज भी हो रहा है उसे गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजी से श्रम-शक्ति में वृद्धि और आर्थिक तथा टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तनों के संयुक्त प्रभावों के कारण श्रम-शक्ति का अल्प उपयोग और इसके परिणामस्वरूप व्यापक निर्धनता वढ़ रही है। आर्थिक और टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तन एक अत्यन्त असमानतावादी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत हो रहे हैं। श्रम-शक्ति का एक वड़ा और निरन्तर वढ़ता हिस्सा वस फालतू हो गया है अथवा फालतू होता जा रहा है।

इसी प्रकार, विकसित और कम-विकसित देशों की आय का वढ़ता हुआ अन्तर और कम-विकसित देशों की गरीबी उन घटनाओं के कारण है जिन पर इस पुस्तक के भाग दो में विचार किया गया है और इसका कारण विकसित देशों से इनके आर्थिक सम्बन्ध भी हैं जिनका विश्लेषण भाग तीन, और विशेषकर अध्याय-9 में दिया गया है। यह सार्थक और स्पष्ट शोषण का सीधा-सादा परिणाम नहीं है।

वास्तविकता यह है कि यदि पूरा भारत उपमहाद्वीप अपनी जल्दी ही एक अरव हो जाने वाली आवादी सहित कल ही महासागर के तल में जा वैठता है, तो इससे विकसित देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, उत्पादन और खपत, वेतनों और अन्य आयों, कम्पनियों की हिस्सा पूंजी के मूल्यों आदि के वक्रों में केवल मामूली-सा ही परिवर्तन आयेगा।

विकसित देशों की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में इसका प्रभाव मुश्किल से ही दिखायी पड़ेगा। पाकिस्तान और भारत में जो कुछ पैदा होता है उसकी विकसित देशों को प्राय: कोई आवश्यकता नहीं होती जबकि इन देशों को विकसित देशों

के उत्पादन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है।

कम-विकसित देशों की अन्य अनेक समस्याओं की तरह प्रायः इस समस्या का समानान्तर उदाहरण भी संयुक्त राज्य अमरीका की गरीबी की समस्या में मौजूद है। गन्दी बस्तियों के निवासियों की छोटे पैमाने पर ठगाई जारी है—इन लोगों से बहुत ऊंची दर पर किराया लिया जाता है और इसी प्रकार अन्य सेवाओं के लिए इन्हें ऊँचा दाम चुकाना पड़ता है और मिठाई की दुकानों आदि पर इन्हें इनके श्रम का कम भुगतान मिलता है। और स्पष्ट भेदभाव बरता जाता है, विशेषकर नीग्रो लोगों के प्रति।

अमरीका की शहरी और ग्रामीण गन्दी बस्तियों के विशाल निम्न वर्ग की बुनियादी कठिनाई यह है कि उन्हें आधुनिक अर्थव्यवस्था में होने वाली माँग के प्रभावशाली ढंग से अनुरूप बनाने के लिए शिक्षा तथा अन्य कुशलताएँ और व्यक्तित्व के गुण प्राप्त नहीं हुए हैं। उक्त समानान्तर उदाहरण और अधिक समीप आ जाता है: निम्न वर्ग के लोगों के काम की प्रभावशाली माँग में निरन्तर कमी की प्रवृत्ति है, जिसके परिणामस्वरूप ये लोग अधिकाधिक फालतू होते जा रहे हैं।[4]

यदि संयुक्त राज्य अमरीका में गन्दी बस्तियों के बेरोजगार और अर्द्ध-बेरोजगार नदारद हो जायं, हां, यदि गन्दी बस्तियों के समस्त निवासी नदारद हो जायं, तो कुछ संक्रमणकालीन फेरबदल करनी होगी पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कोई बड़ी क्षति नहीं पहुंचेगी। इस फेरबदल के बाद, अधिसंख्य अमरीका पहले की तरह ही समृद्ध बना रहेगा—वास्तव में इसकी समृद्धि और बढ़ जायेगी क्योंकि गन्दी बस्तियों और इनके निवासियों के साथ रहने के कारण जो इनके ऊपर व्यय आता है उससे छुटकारा मिल जायेगा। यह भयंकर सत्य है, चाहे सामान्य अमरीकी इसका सामना करने के लिए तैयार न हो।

इस समस्या को सुलझाने के लिए अमरीका को बहुत बड़े पैमाने पर और बहुत लम्बी अवधि के लिए अपने निम्न-वर्ग के लोगों की शिक्षा और सामान्य भलाई के लिए पूंजी निवेश करना होगा ताकि इस वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय जीवन और श्रम की मुख्य धारा में लाया जा सके। इन लोगों की योग्यता में वृद्धि करके इनकी प्रभावशाली माँग को बढ़ाया जा सकता है। मैंने इसे अमरीका का 'गरीबों के प्रति ऋण'[5] कहा है। इस ऋण को चुकाना होगा यदि राष्ट्र को विस्फोट और विघटन से बचाना है।

मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि ये विशाल पूंजी निवेश लाभदायक सिद्ध होंगे—पर बहुत लम्बी अवधि में। और अमरीका इन निवेशों की स्थिति में भी है। लेकिन छोटी अवधि में यह इसकी वार्षिक आय पर भार होगा।

जब साधारण अमरीकी, जिनमें उदारतावादी और प्रतिक्रियावादी दोनों शामिल हैं, अपने देश की अमीरी की डींग हांकते हैं—और ऐसे अनेक प्रकार के सार्वजनिक व्यय के लिए स्वयं को स्वतन्त्र पाते हैं जिसका इसकी आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई मूल्य नहीं है—तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अभी तक अपने ऊपर गरीबों के ऋण का सच्चा लेखा-जोखा नहीं लिया है।

स्वयं कम-विकसित देशों के भीतर और उनके तथा विकसित देशों के मध्य—

इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के भीतर भी—असमानता के प्रश्न को न्याय के नतिक दृष्टिकोण और पुनर्वितरणात्मक सुधारों की आवश्यकता के रूप में निश्चय ही देखा जा सकता है।

कम-विकसित देशों के भीतर अधिक समानता के आन्तरिक प्रश्न के सन्दर्भ में सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली को बदल डालना चाहिए, भू-स्वामित्व और काश्त-कारी के सम्बन्ध में यह कार्य विशेषरूप से किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय समानता के प्रश्न के सम्बन्ध में, विकसित देशों को अधिक सहायता देनी चाहिए और उन्हें कम-विकसित देशो के प्रति भेदभाव बरतने के स्थान पर ऐसी वाणिज्य नीतियाँ शुरू करनी चाहिए जो कम-विकसित देशों के हित में हों।

प्रथम तो यह कार्य मानव एकता और करुणा के आधार पर किया जाना चाहिए। विशषकर आन्तरिक समानता के प्रश्न के सम्बन्ध में, श्रम और भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए सुधारों की आवश्यकता है।

न्याय, एकता और उत्पादकता के आधार पर सुधार लागू करने की नितान्त आवश्यकता पर जोर दिया जाना चाहिए। सम्बन्धित प्रश्नों को बस उलझा दिया गया है, और इसके साथ ही यह दर्शाने की कोशिश की जाती है कि इन्हें सुलझाना बड़ा आसान है। अतिरिक्त मूल्य और शोषण के पुराने वेदान्ती सिद्धान्त का जामा पहनाकर यह काम किया जाता है।

उदाहरण के लिए कम-विकसित देशों में पूँजी लगाने वाले विदेशी अक्सर यह कह सकते हैं कि बाजार की चालू दर की तुलना में वे बहुत ऊँचे वेतन दे रहे हैं। पर यह मुद्दा साफ किये बिना ही उक्त बात कही जाती है कि क्या पूँजी लगाने वाले विदेशियों की मौजूदगी और उनके कार्य सचमुच कम-विकसित देशों के लिए लाभप्रद हैं।

इस पुस्तक के आरम्भिक अध्यायों में विस्तार से इन विषयों का प्रतिपादन हुआ है। मेरी प्रमुख मान्यता यह है कि विकास की परिभाषा परस्पर निर्भर परिस्थितियों की एक सम्पूर्ण प्रणाली की ऊर्ध्व गति के रूप में दी जा सकती है, जिसमें से 'आर्थिक प्रगति' संयोगवश परस्पर निर्भर परिस्थितियों की अनेक श्रेणियों में से एक है, बशर्ते इसकी उचित रूप से परिभाषा दी जा सकती हो और पैमाइश की जा सकती हो।[6] अन्य परिस्थितियों, जिन्हें सामान्यतया 'सामाजिक परिस्थितियाँ' कहा जाता है; का सुधार रुक जाने से और इनमें सचमुच गिरावट आने से इन नवोदित राष्ट्रों के विघटन की प्रवृत्ति शुरू हो जायेगी। यदि वर्तमान प्रवृत्तियों को जारी रहने दिया जाता है तो जल्दी या देर से समस्त विकास प्रक्रिया बेहद धीमी और अव्यवस्थित हो जायेगी तथा अन्ततः सामान्य प्रतिगमन शुरू हो जायेगा।

कम-विकसित देशों की विकास समस्याओं के बारे में पूर्वाग्रहग्रस्त दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के उपयोग के द्वारा इन्हीं बातों को छिपाने का प्रयास किया गया है (देखिए, अध्याय-1)। हाल में स्टॉकहोम में संयुक्त राष्ट्र की एक विशषज्ञ समिति की बैठक में प्रस्तुत रिपोर्ट में[7] यह तर्क दिया गया है और मैं

यहाँ इस रिपोर्ट का पहला पैराग्राफ उद्धृत कर रहा हूँ।

"अतीत में एक ओर 'आर्थिक' तो दूसरी ओर 'सामाजिक' घटनाक्रम के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने, सामाजिक विकास को आर्थिक विकास के विपरीत दर्शाने, आर्थिक लक्ष्यों को सामाजिक लक्ष्यों के और आर्थिक कारकों को सामाजिक कारकों के विपरीत दर्शाने आदि का प्रयास किया गया है। इसका आंशिक कारण विकास प्रक्रिया के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाना है, जो अर्थ-शास्त्र में पुरानी विचारधारा की विशेषता है और यह विचारधारा अत्यधिक समुच्चित चरों वाले सरलीकृत अर्थमितीय नमूनों पर अत्यन्त निर्भर करता है। इस विचारधारा वाले लोगों ने (विकासशील देशों में) राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन के तरीकों और विधियों को प्रभावित किया है, और इस क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के कार्य और अधिक विस्तृत पैमाने पर आर्थिक प्रक्षेपणों को प्रभावित किया है। इस दृष्टिकोण में आसानी से मात्रात्मक स्वरूप दिये जा सकने योग्य चरों के अपेक्षाकृत सरल नमूनों का इस्तेमाल किया गया है, जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन, पूँजी विनियोग, निर्यात और आयात। यह दृष्टिकोण विकास प्रक्रिया के कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण कारकों और पहलुओं की उपेक्षा करा देने में सहायक बनता है। इस प्रकार आय और रहन-सहन के स्तर के अन्तर से सम्बन्धित सब मामलों की उपेक्षा हो जाती है जैसे विभिन्न वर्गों, धर्मों, क्षेत्रों, उम्रसमूहों, शहर और गाँव, मानव विकास सम्बन्धी मामलों—स्वास्थ्य, शिक्षा, बच्चे, खपत सम्बन्धी मामले, पौष्टिक अहार, आवास, सामाजिक सेवाओं की। इन उपेक्षित कारकों के साथ सामाजिक स्तरीकरण की महत्त्वपूर्ण समस्या और संकीर्ण आर्थिक नमूनों के क्षेत्र के बाहर के अन्य पहलुओं को भी जोड़ा जाना चाहिए, विशेषकर श्रम के अत्यधिक अल्प उपयोग को। विकास प्रक्रिया के लिए इन पहलुओं के अत्यधिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, समिति ने आशा प्रकट की कि अब समय आ गया है कि विकास विश्लेषण और आयोजन के प्रति आर्थिक दृष्टिकोण को एक ऐसे सामाजिक दृष्टिकोण से एकीकृत करना होगा जो स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और आगामी दशक में विकासशील देशों की समस्याओं के लिए अधिक उपयुक्त होगा।

अध्याय : 14

दक्षिण एशिया में राजनीतिक गतिशीलता

अध्याय-13 में कम-विकसित देशों में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों का व्यापक सर्वेक्षण हुआ है। विभिन्न देशों के बीच बहुत अधिक अन्तर है। इसके बावजूद, मेरा विश्वास है कि मैंने जिन विकासों का चित्रण किया है, वे मोटे तौर पर ऐसे विकास हैं, जिन्हें कम-विकसित देशों का एक बहुत बड़ा बहुमत आजकल अनुभव कर रहा है—और यदि बुनियादी रूप से परिवर्तित नीतियों के द्वारा इस प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं किया जाता तो यह अनुभव इसी रूप में जारी रहेगा।

यद्यपि आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ तथा परिस्थितियाँ अधिकांशतया समान हैं, राजनीतिक घटनाओं के इस प्रकार समान होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। एशियन ड्रामा में, दक्षिण एशिया के अनेक देशों के राजनीतिक विकासों के अपने सर्वेक्षण में, मैंने यह देखा है कि अन्य क्षेत्रों की तुलना में राजनीतिक विकासों के सन्दर्भ में अन्तर कहीं अधिक बड़े हैं।[1] मैंने भारत में राजनीतिक विकास के अध्ययन के लिए जो नमूना अपने सामने रखा,[2] वह इस क्षेत्र के अन्य देशों के इसी किस्म के विकास के विश्लेषण से केवल बहुत कम साम्य रखता है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि कम-विकसित देशों में राजनीतिक विकास के अध्ययन के लिए अत्यन्त सरलीकृत सामान्य नमूनों का प्रायः कोई उपयोग नहीं था, जिन्हें राजनीतिक वैज्ञानिकों के एक नये सम्प्रदाय ने अर्थ-शास्त्रियों का अनुसरण करते हुए तैयार किया था।

इन नमूनों की भविष्यकथन की दृष्टि से कोई कीमत नहीं है। मैं पहले ही अपनी सुविचारित राय व्यक्त कर चुका हूँ कि यह भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है कि अब से पाँच वर्ष बाद किस कम-विकसित देश में किस प्रकार की सरकार होगी।

इन देशों में भावी राजनीतिक विकास सम्बन्धी विचारों में इसके स्थान पर विविध प्रकार की वैकल्पिक सम्भावनाओं को ध्यान में रखना होगा और इस बात पर भी विचार करना होगा कि इनमें से किस सम्भावना के साकार होने के क्या परिणाम हो सकते हैं। यह सच है कि कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी हैं—उदाहरण के लिए, सैनिक संस्थानों का निरन्तर बढ़ता हुआ महत्त्व। लेकिन यह प्रवृत्ति, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों की प्रवृत्तियों की तरह विभिन्न देशों में अमल में लायी जाने वाली नीतियों के अनुसार भिन्न प्रभाव उत्पन्न करेगी।

समस्त सामाजिक अनुसन्धान में यह प्रवृत्ति निहित रहती है कि शक्तियों के व्यापक स्वरूपों के सन्दर्भ में विकास का विश्लेषण किया जाये। पर जिस समय राजनीतिक विकासों पर विचार किया जाये, हमें स्वयं को इस बात का स्मरण दिलाना चाहिए कि इतिहास पूर्व निश्चित नियति नहीं होता, बल्कि इसका निर्माण स्वयं मनुष्य करता है और यह भी कि इसकी दिशा का निर्धारण वे निर्णय और कार्य करेंगे जिन्हें अभी लेना शेष है। व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह अक्सर महत्त्वपूर्ण स्थिति में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनके कार्यों का चुनाव बहुत गहरे और चिरस्थायी प्रभाव छोड़ता है और यह प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र के बाहर भी होता है।

भारत में जवाहरलाल नेहरू की राजनीतिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली स्थिति थी और आरम्भ में उनकी राजनीतिक स्थिति के समक्ष प्रायः कोई चुनौती नहीं थी, विशेषकर सरदार वल्लभभाई पटेल की मृत्यु के बाद। जवाहरलाल नेहरू ने सदा सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका कहना था कि अंग्रेजी राज से राजनीतिक मुक्ति प्राप्त हो जाने के बाद यह क्रान्ति भी होनी चाहिए। उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओं में उस दिशा का उल्लेख किया, जिस दिशा में आमूल परिवर्तन वाले सुधार होने चाहिए और उन्हें राष्ट्रीय कांग्रेस की बुनियादी परिवर्तन चाहने वाली शाखा सहित इन सुधारों को कांग्रेस के प्रस्तावों में स्वीकार कराने में सफलता मिली।

यदि जवाहरलाल नेहरू उस समय कांग्रेस पार्टी में फूट पड़ जाने का खतरा तक उठाते और केवल अपने भाषणों में ही आमूल परिवर्तनवादी आदर्शों का निरन्तर विवरण प्रस्तुत करने भर से सन्तोष प्राप्त न कर लेते और सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को स्थगित न करते जाते, बल्कि इसके स्थान पर इस क्रान्ति को साकार करने के लिए तेज और प्रभावशाली राजनीतिक कार्रवाई करते, तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता।[3]

यदि महात्मा गांधी की हत्या भारत की स्वतन्त्रता के युग के समारम्भ के तुरन्त बाद न कर दी जाती और यदि उनमें अपनी पहले जैसी शक्ति मौजूद रहती तो क्या होता, यह भी विचार का विषय है। इसी प्रकार हम इस प्रश्न के बारे में भी केवल अनुमान-भर लगा सकते हैं कि देशव्यापी सांठगांठ और भ्रष्टाचार के आधार पर भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार को निरन्तर स्थगित रखने के विरुद्ध वे क्या कार्रवाई करते।

यदि पाकिस्तान में अयूब खान, सन् 1958 में सफल और आशापूर्ण समारम्भ के बाद,[4] अपने अत्यन्त गरीब और असमानता पर आधारित देश में सामाजिक और पुनर्वितरण सम्बन्धी सुधारों के बारे में सूझबूझ और जागरूकता दिखाते, और यदि वे भ्रष्टाचार को समाप्त कर देते और सबसे पहले स्वयं अपने-आपको और अपने परिवार को भ्रष्ट तरीकों से दूर रखते, तो वे आज भी पाकिस्तान में सत्तारूढ़ होते। और पाकिस्तान का पिछले दशक का और आने वाले दशकों का भी इतिहास बहुत भिन्न होता।[5]

मैं यहाँ जो बात स्पष्ट करना चाहता हूँ वह यह है कि यद्यपि कुछ मोटी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं—जैसी श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग की समस्या, जिस पर पिछले अध्याय में विचार हुआ है—पर

इनसे मुख्यतया राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय लोगों के लिए ही समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, अथवा इनसे उनकी सम्भावित उपलब्धि पर अंकुश लगता है या इसकी सीमा निर्धारित होती है।

मैंने इन सब चेतावनियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना आवश्यक समझा। जिस प्रमुख मुद्दे पर जोर देने की आवश्यकता है, वह यह है कि राजनीतिक गतिशीलता के क्षेत्र में कम-विकसित देशों के बारे में समस्त साधारणीकरण का स्वरूप अत्यन्त भंगुर है।

इस पुस्तक के विश्लेषण का एक निष्कर्ष यह है कि समस्त अथवा अधिकांश कम-विकसित देशों में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता है और यदि गाँवों और शहरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले निर्धन जन-समुदाय के श्रम के अल्प-उपयोग की बढ़ती हुई खतरनाक प्रवृत्ति को बदलना है, तो यह तात्कालिक आवश्यकता है कि इन सुधारों को अंगीकार किया जाये और तेजी से लागू किया जाये।

आवश्यक सुधारों को इस पुस्तक के दूसरे भाग में विस्तार से बताया गया है। ये सुधार असमानतावादी और कठोर आर्थिक तथा सामाजिक स्तरीकरण को तोड़ डालने पर केन्द्रित हैं। कृषि के क्षेत्र में भूमि-सुधार सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करना होगा। शिक्षा की दिशा को बुनियादी तौर से फिर निर्देशित करना और वयस्क शिक्षा का सशक्त अभियान चलाना आवश्यक होगा। भ्रष्टाचार को मिटाना होगा और कठोर सामाजिक अनुशासन लागू करना होगा।

इस दिशा में सुधार नीति सम्बन्धी तर्कसम्मत विकल्प ही होंगे। इन विकल्पों को तेजी से लागू करने का अर्थ, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति होगा।

नीति के क्षेत्र में क्या वास्तविक विकल्प मौजूद हैं, इस बात पर टिप्पणी करने से पहले, तथ्यों और तथ्यगत सम्बन्धों की सैद्धान्तिक समस्या पर विचार करना आवश्यक होगा : एक परम्परावादी समाज परिवर्तनों के समक्ष क्या आचरण करता है, जब ये परिवर्तन उसके ऊपर थोप दिये जाते हैं तब क्या होता है ? विकास के समस्त तर्कसम्मत आयोजन में इस प्रश्न का उत्तर निर्णायक महत्त्व का होगा।

अधिक सूक्ष्म रूप में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वर्तमान दृष्टि-कोणों और संस्थाओं के विरुद्ध बड़े पैमाने पर और तेज कार्रवाई इतना शक्ति-शाली और निरन्तर कायम प्रतिरोध उत्पन्न करती है कि केवल छोटे और धीरे-धीरे होने वाले सुधारों को लागू करना ही एकमात्र विकल्प रह जाता है ?[6]

दुर्भाग्यवश, इस महत्त्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में अब तक प्रायः नहीं के बराबर अनुभवजन्य अनुसन्धान हुआ है। कुछ आधुनिक नृवंश विज्ञानी यह कार्य करने की तैयारी कर रहे हैं, वे एक ऐसे पुराने सम्प्रदाय के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं जिसने एक गतिहीन दृष्टिकोण का उपयोग करने की प्रवृत्ति दिखायी और परिवर्तन को कायम सन्तुलन को भंग करने का ही माध्यम माना।

बेंजामिन हीगिन्स ने मारगरेट मीड का उद्धरण देते हुए एडमिरेलिटी द्वीपों के मैनुस द्वीप की दूसरी बार यात्रा के उनके निष्कर्षों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। दूसरे महायुद्ध में बड़े पैमाने पर अमरीकी सेनाएँ इन द्वीपों पर तैनात रहीं। मारगरेट मीड का कहना है कि यदि आधुनिकीकरण का प्रवाह पर्याप्त सशक्त हो तो परम्परागत समाज को बहुत तेजी से और उसके लाभ के लिए परिवर्तित किया जा सकता है और इस कार्य में प्रतिरोध और प्रतिक्रिया की सशक्त लोकप्रिय शक्तियों का सामना न करना होगा।[7]

हीगिन्स का अपना विचार है :

"हमें निश्चित रूप से ऐसी किसी बात का ज्ञान नहीं है, जिससे हमारे ऊपर यह स्पष्ट होता हो कि 'बड़ा प्रयास', जिसमें शिक्षा और पुनर्शिक्षा के विशाल प्रयास भी शामिल हैं, असफल रहेगा, अथवा यह किसी समाज के लिए विशेष रूप से कष्टप्रद सिद्ध होगा। दूसरी ओर, इस आशय का पर्याप्त प्रमाण है कि धीरे-धीरे परिवर्तन लाने का प्रयास असफल रहेगा और यह अनेक विकासशील देशों में बहुत कष्टप्रद प्रक्रिया सिद्ध होगी···विकास प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले अर्थशास्त्रियों को ऐसे प्रत्येक तर्क का डटकर विरोध करना चाहिए, जिसके आधार पर विकास नीति के आधार के रूप में धीरे-धीरे विकास करने की स्थिति को स्वीकार करने की आशंका हो।"[8]

दक्षिण एशिया की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के अपने अध्ययन में मैं इस परिकल्पना के यथार्थ से निरन्तर अधिकाधिक आश्वस्त होता गया हूँ कि धीरे-धीरे बहुत से छोटे-छोटे परिवर्तन करने के स्थान पर एक बड़ा और तेज़ परिवर्तन लाना कठिन होने के स्थान पर अधिकांशतया अधिक आसान होता है—ठीक उस प्रकार जिस प्रकार 'ठंडे पानी में छलांग लगाया जाना धीरे-धीरे पानी में घुसने से कम कष्टप्रद होता है।'

तो सुधारों को लागू करने के लिए क्या नीतियाँ उपलब्ध समझी जाती हैं? दृढ़ संकल्प के साथ उन संस्थाओं को बदलकर, जिनके भीतर लोग रहते और काम करते हैं, बड़े और अधिक तीव्र परिवर्तन लाये जा सकते हैं। यह कार्य उस समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपायों से दृष्टिकोणों में परिवर्तन आरोपित करने के प्रयास के द्वारा नहीं किया जा सकता, जब संस्थाओं को परिवर्तित दृष्टिकोणों के अनुसार स्वयं को ढाल लेने के लिए छोड़ दिया गया हो।

लेकिन संस्थाओं को—उदाहरण के लिए भूस्वामित्व का पुनर्वितरण—सामान्यतया केवल उन उपायों के द्वारा ही बदला जा सकता है, जिन्हें दक्षिण एशिया में अनिवार्य रूप से लागू बाध्यताएँ कहा जाता है—अर्थात् कानून बनाकर कुछ लोगों के ऊपर दायित्व डालना और कुछ अन्य को अधिकार देना, और इन परिवर्तनों को राज्य की शक्ति के द्वारा समर्थन देना।

धीरे-धीरे कार्रवाई के अन्तर्गत उठाये गये पहले कदम के विरोध में जो प्रतिरोध जुटाया जायेगा वह दूसरे कदम के प्रतिरोध में इससे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से गठित किया जायेगा, जबकि इस बात की बहुत कम सम्भावना रहती है कि यदि परिवर्तन तेज़ और बड़े पैमाने पर हो तो प्रतिरोध निरन्तर कायम रह सके। यह बात उस स्थिति में विशेषरूप से सत्य सिद्ध होती है, जब छोटे-छोटे परिवर्तनों को आधे मन से लागू किया जाता है और जब आर्थिक परिवर्तन

अथवा प्रलोभन, उपदेश अथवा धमकी के द्वारा उत्पन्न अप्रत्यक्ष प्रभावों पर अधिक भरोसा किया गया हो। उस स्थिति में प्रतिरोध करने वाली शक्तियाँ अधिक पुष्ट और उग्र हो जाती हैं।

इससे भी बुरी वह कार्य-प्रणाली है, जो कम-विकसित देशों में सामान्य रूप से अपनायी जाती है और जिसके अन्तर्गत यह नाटक रचा जाता है कि वे आमूल परिवर्तनवादी सुधार लागू करने के उपाय कर रहे हैं, यह घोषणा की जाती है कि वे बड़े पैमाने पर संस्थागत सुधारों के लिए कानून बना रहे हैं, और कभी-कभी ये कानून बनाये भी जाते हैं, लेकिन इन्हें लागू नहीं किया जाता। इससे दूसरों के कष्टों के प्रति भयंकर उदासीनता को जन्म मिलता है, इस सम्बन्ध में अनिश्चितता उत्पन्न होती है कि वास्तव में संस्थापित कानून क्या है और सुधार लागू करने और उन्हें जारी रखने के समक्ष और अधिक प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के बाद मैं बड़े तेज परिवर्तनों के मुकाबले धीरे-धीरे होने वाले छोटे परिवर्तनों के प्रश्न को आगे नहीं बढ़ाऊँगा। पर इस प्रश्न पर और आगे अध्ययन की आवश्यकता है। इस अध्ययन में परिवर्तनों के स्वरूप, सम्भव अग्रिम—सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक—तैयारी, सुधार लागू करने की बात कहने वाले नेतृत्व के स्वरूप आदि का ध्यान रखा जाना चाहिए।

सिद्धान्त रूप में, खतरनाक प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए आवश्यक आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को शान्तिपूर्वक लागू किया जा सकता है।

आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू करने की आवश्यकता को प्रायः सब स्वीकार करते हैं—पर एक अमूर्त प्रस्ताव में रूप में। वास्तव में, राजनीतिक और विचारधाराओं के नेता प्रायः प्रत्येक कम-विकसित देश में—ब्राजील में और भारत में भी—सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता के बारे में खुलकर बहुत बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं। वे अक्सर उन नीतियों को भी यही जामा पहनाने की कोशिश करते हैं, जो वास्तव में वे लागू करते हैं।

इस पुस्तक के अध्याय-3 में हमने उस शब्दावली के बारे में विचार किया है, जिसका इस्तेमाल इस उद्देश्य के लिए किया जाता है और जिसमें आमूल परिवर्तन चाहने वाले सुधारों के बारे में बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं। सब सरकारें यह दर्शाती हैं कि वे अधिक समानता की हामी हैं, जबकि वास्तव में विकास दूसरी दिशा में ही होता है।

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मैंने भयावह प्रवृत्तियों को उलटने के लिए आवश्यक जिन सुधारों की बात कही है, उन्हें उस दृढ़ता से लागू करने का कम-विकसित देशों में प्रयास नहीं किया जाता, जिस दृढ़ता की आवश्यकता है—इस सम्बन्ध में इनमें से कुछ देशों में सन्तति-निरोध को जन-सामान्य में फैलाने के कार्यक्रम को एक आंशिक अपवाद कहा जा सकता है। यद्यपि सामान्य घोषणाएँ आमूल परिवर्तनवादी और अक्सर क्रान्तिकारी होती हैं, लेकिन जिन नीतियों को अपनाया जाता है उनके अन्तर्गत बहुत धीरे-धीरे और टुकड़ों में

कार्यक्रमों को लागू किया जाता है, और यह स्थिति आयोजन के चरण तक में होती है। व्यवहार में अधिकांशतया इन्हें विकृत बना दिया जाता है और इसके परिणामस्वरूप समृद्ध लोगों की समृद्धि वढ़ी है और असमानता में वृद्धि हुई है।

इन घटनाओं को कम-विकसित देशों की सत्ता की स्थिति को स्पष्ट करके समझाया जा सकता है। आबादी सम्बन्धी नीति के आंशिक अपवाद को हम इस वात पर ध्यान देकर समझ सकते हैं कि यद्यपि इस नीति को लागू करना बड़ा कठिन है, लेकिन इस पर कोई खास लागत नहीं आती और इस कार्यक्रम के लिए उच्च वर्ग के समूहों को कोई बलिदान नहीं करना पड़ता।

इस सम्बन्ध में उन देशों में जहाँ संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना करने और उसे कायम रखने में सफलता मिली है और उन देशों में जहाँ 'क्रान्ति' के परिणामस्वरूप किसी न किसी प्रकार की निरंकुश सरकार की स्थापना हुई है, कोई अन्तर नहीं है। प्रायः सदा सत्ता उच्च वर्ग के विभिन्न गुटों के हाथ में रही है, यहाँ उच्च वर्ग का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है और इसमें तथाकथित मध्यम वर्ग को शामिल कर लिया गया है।

वर्ग और सत्ता की शब्दावली और सन्दर्भ में तर्क करते हुए, मैं यह नहीं मानता कि वर्गगत एकजुटता है, विशेषकर सजग इरादे के स्तर पर तो यह बेहद कम है। बड़े अफसरों, पैसे वाले व्यापारियों और अक्सर अपनी जमींदारी से दूर रहने वाले बड़े जमींदारों का उच्च-उच्च वर्ग अपने सामान्य हितों की रक्षा के लिए प्रकट रूप से संस्थागत सहयोग के आधार पर काम नहीं करता।

'मध्यम वर्ग' में 'गाँवों के बड़े आदमी' शामिल होते हैं—इनमें गाँवों में रहने वाले भूस्वामी, सूदखोर, व्यापारी और अन्य विचौलिये तथा स्थानीय अधिकारी शामिल होते हैं। एक समूह के रूप में ये लोग राष्ट्रीय समुदाय के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी तत्त्वों में होते हैं।

शहरों में 'मध्यम वर्ग' की एक बड़ी विविध श्रेणी होती है। इसमें छोटे व्यापार, उद्योगपति तथा बड़ी औद्योगिक और व्यापारिक कम्पनियों के अधिक वेतन पाने वाले कर्मचारी, तथा मध्यम श्रेणी के अफसर ही शामिल नहीं होते बल्कि गैर-सरकारी सेवाओं में काम करने वाले सफेदपोशों का निम्न स्तर भी शामिल होता है। इसी 'मध्यम वर्ग' में अध्यापक भी शामिल होते हैं, विशेषकर माध्यमिक स्कूलों और कॉलिजों के अध्यापक, विद्यार्थी और अन्य 'बुद्धिवादी।' इनमें केवल वे समुदाय शामिल नहीं होते जो उच्च-उच्च वर्ग में पहुँच चुके हैं।

वास्तव में, इन विविध समूहों में भयंकर गरीबी से ग्रस्त जन-समुदाय से अपनी दूरी के अलावा अन्य कोई समानता नहीं होती और यह जन-समुदाय सामान्यतया उपयोगी साक्षरता तक से वंचित होता है। अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से उठाने में अक्षम जन-समुदाय के हितों को यह मध्यम वर्ग अपने हित नहीं मानता, अपनी चिन्ता का विषय नहीं समझता। अपने देश की दृश्यावली के एक अंग के अलावा वह इस जन-समुदाय को अन्य कुछ नहीं समझता।

जन-समुदाय की उदासीनता और निष्क्रियता के कारण ही यह सम्भव है। मैं जिस दृष्टिकोण और रवैये को स्पष्ट करने की कोशिश कर रहा हूँ, वह उच्च वर्ग के यथास्थिति को बनाये रखने के अपने सामान्य हितों के बारे में है। यद्यपि इस स्थिति को बनाये रखने के लिए उनका प्रकट रूप से कोई सामूहिक प्रयास

नहीं है और यह वर्ग इस कारण से यथास्थिति कायम रखना चाहता है, क्योंकि जन-समुदाय की तुलना में इसे विभिन्न सीमाओं तक विशेषाधिकार प्राप्त हैं और अधिकांश कम-विकसित देशों में हाल के दशकों में इसकी स्थिति और बेहतर हुई है, विशेषकर शहरी इलाकों में। सामान्यतया जन-समुदाय के हितों की किस प्रकार उपेक्षा की जाती है, इस बात की ओर इस जन-समुदाय का ध्यान प्रभावशाली ढंग से आकृष्ट नहीं किया जाता।

लेकिन, जैसाकि अध्याय-3 में कहा जा चुका है, इस उच्च वर्ग का उच्चतम स्तर आधुनिकीकरण के आदर्शों को लाने में सहायक बना है, जिनमें समानता की स्थापना का प्रयास भी शामिल है। धीरे-धीरे, यह आदर्श उच्च वर्ग के निचले स्तरों पर भी पहुँचा, यद्यपि 'गाँवों के बड़े आदमियों' पर इसका सबसे कम प्रभाव हुआ है। इन आदर्शों पर, विभिन्न सीमाओं तक, सब 'शिक्षितों' ने विश्वास प्रकट किया है और इन देशों में शिक्षा ही विभिन्न वर्गों को अलग करने वाली प्रमुख विभाजन रेखा है।

उच्च वर्ग के वे बड़े लोग जो अपने नीति सम्बन्धी दृष्टिकोणों को बौद्धिकता का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं, उनमें दो अत्यन्त विरोधी दृष्टिकोण एक साथ दिखायी पड़ते हैं। एक ओर तो वे आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता को देखते हैं, जो अत्यन्त दूरगामी होने चाहिए और जिन्हें तुरन्त लागू किया जाना चाहिए। इससे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए मचाये जाने वाले सामान्य शोर का स्पष्टीकरण मिल जाता है। दूसरी ओर, वे इस विश्वास का भी सहारा लेते हैं कि परिवर्तन अत्यन्त सतर्कता के साथ आना चाहिए, ताकि सामाजिक सम्बन्धों के विरासत में प्राप्त स्वरूप में गड़बड़ न हो जाये।[9]

अपने इस बाद के विचार को स्पष्ट करने के लिए, जो उनके वास्तविक नीति सम्बन्धी विकल्पों पर छाया रहता है, वे जन-समुदाय के परम्परागत कट्टरपन्थी दृष्टिकोण और धार्मिक निषेधों का उल्लेख करते हैं। इस सम्बन्ध में वे उस विचारधारा से चिपके रहते हैं, जिसे उपनिवेशी शक्तियों ने उन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के समर्थन में अपनी निर्बन्ध नीति के आधार पर प्रतिपादित किया था, जो अब परम्परागत बन गयी हैं। वास्तव में यह एक प्रकार का 'नव-उपनिवेशवाद' है। यद्यपि इस नव-उपनिवेशवाद का अनुसरण इन देशों के उच्च वर्ग के समूह कर रहे हैं, जो अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकते हैं और जिन्होंने विदेशी शासन से मुक्ति के बाद सत्ता पर अधिकार कायम रखने में सफलता प्राप्त की है।

सिद्धान्त रूप में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता को स्वीकार करने और व्यवहार में इन्हें लागू करने की आनाकानी के बीच मौजूद विरोधाभास को एक आवश्यकता से अधिक आशावादी मान्यता के आधार पर पाटा जाता है। यह आशावादी मान्यता आधुनिक उद्योगों में होने वाले विकासों के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर और तेज़ी से फैलने वाले प्रभावों के बारे में है।[10] इस

मान्यता में विश्वास, जो मार्क्स की विचारधारा पर आधारित है, पश्चिम के देशों और कम-विकसित देशों के अर्थशास्त्रियों में बड़े पैमाने पर व्याप्त है, यद्यपि सामान्यतया इस विचार के उद्‌गम को स्वीकार नहीं किया जाता।

इस मान्यता को ऐसे किसी भी प्रमाण के अभाव में कि यह यथार्थवादी है, नीति में प्रविष्ट कर दिया जाता है। वास्तव में, अधिकांशतया इस मान्यता को एक निहित अर्थ के रूप में छोड़ दिया जाता है। यह मान्यता ऐतिहासिक अनुभव से मेल नहीं खाती और वास्तव में जो कुछ हो रहा है और जिसकी हमें जानकारी है, उससे भी इसका कोई सामंजस्य नहीं है।[11] श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग की प्रवृत्ति, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, यह दर्शाती है कि उद्योगीकरण के ऐसे प्रसारगत प्रभाव बहुत मामूली हैं और अन्य शक्तियाँ इन्हें आसानी से प्रभावहीन बना देती हैं।

धीरे-धीरे परिवर्तन लाने के समर्थन में, पश्चिम के देशों में हुए ऐतिहासिक विकास के भी उदाहरण दिये जाते हैं। यह करते समय वे लोग इस बात को अपने दिमाग से एकदम निकाल देते हैं कि इन देशों की आरम्भिक स्थिति में कितने बुनियादी अन्तर थे (देखिए, अध्याय-2)। यह इस कारण से और अधिक आसानी से हो जाता है, क्योंकि अनुसन्धान और आयोजन में पश्चिम के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण को सामान्य रूप से अपनाया जाता है और पश्चिम का यह पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण उनका ध्यान उन सामाजिक और आर्थिक तथ्यों से दूर हटा देता है, जो आरम्भिक स्थिति के अन्तरों को प्रकट करते हैं।

आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू करने से दूर रहने के लिए लोकतन्त्र के आदर्श तक को सफाई में पेश किया जाता है और यह कार्य दक्षिण एशिया में विशेष रूप से होता है। उस समय यह मान लिया जाता है कि उच्च वर्ग इसका प्रतिरोध करेगा। इस प्रतिरोध को तोड़ना होगा और इसके लिए बाध्यताएँ लागू करनी होंगी, बाध्यताओं को साम्यवाद और समूहवादी शासन-प्रणाली से सम्बद्ध माना जाता है।

आज अक्सर यह कहा जाता है कि समूहवादी सरकार के अन्तर्गत आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू किया जा सकता है, जिन्हें एक लोकतन्त्र के अधीन लागू करना सम्भव नहीं है। लोकतन्त्र सम्बन्धी यह दृष्टिकोण वास्तव में मुक्ति आन्दोलनों की परम्परा और इन आन्दोलनों के दौरान दिये गये वचनों के विपरीत है, कम-से-कम भारत के बारे में तो यह कहा ही जा सकता है। वहाँ यह माना गया था कि जनता की इच्छा पर सरकार को आधारित करने का समस्त राष्ट्रीय समुदाय के सामाजिक और आर्थिक गठन पर तुरन्त प्रभाव होगा (नीचे देखिए)।

यह नहीं हुआ और वास्तव में साम्यवाद के विरोध को समस्त सुधारों के विरोध में एक तर्क के रूप में इस्तेमाल किया जाता रहा है। यह तर्क ऐसे सुधारों के रूप में विशेष रूप से दिया गया है, जो किसी भी रूप में उच्च वर्ग के समूहों के हितों को प्रभावित करते हैं। इस तर्क का उपयोग उन देशों में किया गया है, जो अपनी सरकारों के आधार के लिए चुनाव पर निर्भर करते हैं और उन देशों में भी जहाँ निरकुंश शासन है।

साम्यवाद विरोधी तर्क की संयुक्त राज्य अमरीका में बड़ी मोहक गन्ध मानी जाती थी और पश्चिम के अन्य अधिकांश देशों में भी, यद्यपि इतनी अधिक सीमा

तक नहीं। ऐसे कानूनों और नियमों को लागू करने के लिए भी प्रयास नहीं किये गये, जिनकी घोषणा की जा चुकी थी और इन्हें लागू करने के प्रयास के अभाव को विना किसी खास आलोचना के चुपचाप स्वीकार कर लिया गया।

उदाहरण के लिए, पश्चिमी संसार भ्रष्टाचार पर अपनी आँखें बन्द रखने के लिए अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लेता है। जैसाकि हम देख चुके हैं कि यह अवसर-वादी उदारता अर्थशास्त्रियों और अन्य समाज-विज्ञानियों के लेखन तक को प्रभावित करती है।

इससे भी अधिक सामान्य रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया जा सकता है कि समस्त क्रूरता, मनमाने आचरण और व्यक्तिगत सत्ता के दुरुपयोग के वावजूद कम-विकसित देशों में ऐसे सामाजिक नियन्त्रणों को लागू करने के प्रति आश्चर्य-जनक सीमा तक उदासीनता है, जिनका पश्चिम के लोकतन्त्रों में वहुत खुलकर और सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है। एक दृष्टि से 'नरम राज्य' की परिभाषा यह हो सकती है कि प्रभावशाली ढंग से लागू किये गये नियमों का अपेक्षा-कृत अभाव इन राज्यों का लक्षण है, जिसके परिणामस्वरूप लोग अधिकांशतया जो चाहें करने के लिए और अपनी शक्ति के अनुसार जो चाहें करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं।[12]

तात्कालिक आवश्यकता और महत्त्व के आमूल परिवर्तनवादी सुधारों के अभाव को किस प्रकार तर्कसम्मत बताया जाता है और विचारधारा के माध्यम से किस प्रकार इस स्थिति का समर्थन करने का प्रयास किया जाता है, इसका विवेचन करने में मैंने प्रमुख रूप से दक्षिण एशिया को ही अपने समक्ष रखा है, जहाँ कम-विकसित देशों की अधिकांश जनता रहती है और जिनकी परिस्थितियों का मैंने अधिक गहराई और व्यापकता से अध्ययन किया है। लेटिन अमरीका की अपेक्षाकृत भिन्न परिस्थितियों पर परिशिष्ट में विचार हुआ है।

मैंने उच्च वर्ग के अधिक विचारशील सदस्यों के मन-मस्तिष्क में पैठे सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी दो परस्पर विरोधी विचारों का उल्लेख किया है: आमूल परिवर्तनवादी विचारों को लागू करने की तात्कालिक आवश्यकता और अत्यन्त सतर्कता से आगे बढ़ने की आवश्यकता। कुछ लोगों के सम्बन्ध में तो इन दोनों विचारों ने—क्रान्तिकारी और धीरे-धीरे परिवर्तन सम्बन्धी विचारों में—अन्तराबन्ध (शाइज़ोफ्रेनिया) जैसा स्वरूप तक ग्रहण कर लिया है।

उदाहरण के लिए, किसी सफल व्यापारी से यह सुनना असामान्य बात नहीं होगी, विशेषकर यदि वह युवक और सुशिक्षित है, कि साम्यवादी क्रान्ति के अलावा इस देश को विकास के अभाव की बुराइयों से अन्य कुछ नहीं बचा सकता। पर इस बात का उसके राजनीतिक आचरण पर कोई असर नहीं पड़ता और वस्तुतः इसके साथ ही यह बात उसे धीरे-धीरे परिवर्तन के दर्शन का विवेचन करने और स्वतन्त्र तथा हस्तक्षेप से मुक्त निजी व्यापार की आवश्यकता का वखान करने से भी नहीं रोकती।

भारत में, जहाँ दक्षिण एशिया में ही नहीं, बल्कि वस्तुतः कम-विकसित

संसार में सर्वाधिक परिष्कृत सार्वजनिक बहस होती है, इस उद्देश्य से विशेष आयोगों की नियुक्ति करने का रिवाज हो गया है कि ये आयोग ठोस रूप से यह बतायें कि किन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता है। पर इन आयोगों की रिपोर्टों में नीति सम्बन्धी जो सुझाव दिये जाते हैं, उन्हें लागू नहीं किया जाता और बहुत जल्दी उन्हें भुला दिया जाता है।

उदाहरण के लिए, भूमि सुधार, शिक्षा और भ्रष्टाचार की समाप्ति के बारे में अनेक ऐसे आयोगों की स्थापना हो चुकी है। ऐसे आयोगों को बार-बार नियुक्त करना और उन्हें आमूल परिवर्तनवादी सुधारों का प्रतिपादन करने के लिए निर्देश देना, इस बात को स्पष्ट करता है कि इन आयोगों का उद्देश्य, इस कार्रवाई का उद्देश्य, राष्ट्रीय जीवन के एक कार्य को पूरा करना भर है : बस आदर्शों को जीवित रखना, चाहे इन्हें व्यवहार में लागू न किया जाये।

जवाहरलाल नेहरू ने यदाकदा आदर्शों के प्रतिपादन के ऐसे कार्य की आवश्यकता का संकेत किया है, चाहे इन्हें व्यवहार में लागू न भी किया जाये।[13] और अपने भाषणों में, अक्सर दिन में कई बार उनका भाषण होता था, उन्होंने हर अवसर का लाभ उठाकर इस प्रकार आधुनिकीकरण के आदर्शों का बार-बार उल्लेख किया, उससे भी इसी दिशा में संकेत मिलता है।[14] इस बात में सन्देह नहीं है कि नेहरू ने बहुत ईमानदारी और निष्ठा से यह काम किया था। वे परिवर्तन के लिए वातावरण तैयार करने में लगे थे, सावधानी से इन सुधारों को लागू करने से बचने की कोशिश में नहीं।

इस कार्य में नेहरू अकेले नहीं थे। ऐसी ही भावनाएँ अन्य अनेक भारतीय राजनीतिज्ञों और बुद्धिवादी नेताओं को प्रेरित करती हैं। भारतीय समाचारपत्रों में इनके भाषणों को इतना अधिक स्थान दिया जाता है कि ऐसा लगता है कि समाचारपत्र भी अपने पाठकों को आधुनिकीकरण के आदर्शों के बारे में प्रबुद्ध करने में लगे हैं।

स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद स्थापित परम्परा में, इसी उद्देश्य के लिए अक्सर कानून का भी उपयोग किया गया, यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि व्यवहार में इन कानूनों के इरादों और भावनाओं को प्रभावहीन बना दिया गया। पंचवर्षीय योजनाओं में सामान्य रूप से सुधार सम्बन्धी ऐसे लक्ष्यों का प्रतिपादन किया गया, जो इनमें निहित व्यावहारिक प्रस्तावों से बहुत दूर थे और योजनाओं को लागू करने से तो और भी दूर।

कांग्रेस पार्टी के वार्षिक सम्मेलनों में, और यदाकदा संसद् में भी ऐसे प्रस्तावों को स्वीकार कराया गया, जो वास्तविक नीतियों से बहुत आगे के थे। इस सामान्य विचारधारा सम्बन्धी गतिविधि में, नेहरू के युग में और आज भी, प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट, आमूल परिवर्तनवादी वचनों की ओर अधिक थी, जबकि व्यावहारिक नीतियाँ यथार्थवादी और अक्सर पुरातनपन्थी दिशा में ही संचालित होती रहीं।

भारत की स्थिति केवल इसकी विशाल आबादी के कारण ही विशेष रूप से दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि सार्वजनिक रूप से विचार करने की स्वतन्त्रता के कारण भी। भारत में इस स्वतन्त्रता की, संसदीय शासन-प्रणाली सहित जो सार्वभौम मताधिकार पर आधारित है, बड़े उत्साह से रक्षा की गयी है।

फिलहाल भारत की कांग्रेस पार्टी—कम-से-कम फिलहाल—दो भागों में विभाजित हो गयी है, जो अप्रत्याशित नहीं था।[15] जनसंख्या का वह वर्ग जो अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखता है, वड़ी जबर्दस्त वहस में लगा हुआ है और भारतीय समाचारपत्रों में विस्तार से इसके समाचार दिये जा रहे हैं। देश में क्या हो रहा है इस बात की जानकारी देने की दृष्टि से ये समाचार बड़े उच्च कोटि के हैं। यह वहस किस बात पर केन्द्रित है?

कांग्रेस पार्टी की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी की शाखा अधिक आमूल परिवर्तनवादी दृष्टिकोण का दावा कर रही है। इसके प्रतीक रूप में बैंकों के राष्ट्रीयकरण का उल्लेख किया जाता है। लेकिन कांग्रेस पार्टी के दो भागों में विभाजित हो जाने से पहले ही इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार हो चुका था।

व्यवहार में हो सकता है कि इससे कोई विशेष अन्तर न पड़े। श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग और जन-समुदाय की गरीवी को समाप्त करने के लिए भारत को जिन बड़े आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता है, वैंक राष्ट्रीयकरण की गणना उनमें मुश्किल से ही की जा सकती है।

विरोधी गुट, जिसका नेतृत्व तथाकथित 'सिण्डीकेट' करती है, सिद्धान्त रूप में इस बात के विरुद्ध नहीं था कि बैंकों के ऊपर और अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण लगाये जायें, लेकिन उसने जल्दबाज़ी में कोई कार्रवाई करने के विरुद्ध सलाह दी थी। अन्य दृष्टियों से यह गुट भी जवाहरलाल नेहरू की परम्परा में व्यापक आमूल परिवर्तनवादी घोषणाओं में दूसरे गुट से होड़ करने में लगा है।

कांग्रेस के इन दोनों प्रतियोगी गुटों के पास भूमि-सुधार के बारे में अधिक कहने को कुछ भी नहीं है। ये इस समस्या पर ठोस और व्यावहारिक तरीके से विचार करने की नाममात्र की इच्छा भी प्रकट नहीं करते। कोई भी व्यक्ति अधिक करों, विशेषकर भूमिकर, अथवा करों की चोरी अथवा टैक्स न देने के बारे में बात ही नहीं करता।

सन् 1966 में शिक्षा आयोग ने जो सच्चे अर्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट दी थी, उसके प्रस्तावों को चुपचाप दफना दिया गया है और इन दोनों में से कोई भी गुट इन प्रस्तावों को लागू करने की बात नहीं कहता। इसी प्रकार सार्वजनिक चिकित्सा व्यवस्था में सुधार के महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों को भी भुला दिया गया है। सार्वजनिक विचार-विमर्श में परिवार नियोजन तक अब महत्त्वपूर्ण विषय नहीं रह गया है। यद्यपि इस क्षेत्र में जिन लक्ष्यों को प्राप्त करने की घोषणा की गयी थी, उन्हें पूरा नहीं किया जा सका और उनमें गम्भीर कमी रही।

राजनीतिज्ञों और अधिकारियों के मध्य भ्रष्टाचार के जिन मामलों का पता चलता है, दोनों गुट बड़ी तत्परता से अपने राजनीतिक शत्रुओं का नाश करने के लिए उनका उपयोग करने में लग जाते हैं। लेकिन बड़े पैमाने पर कुछ करने और भ्रष्टाचार को विधिवत समाप्त कर डालने की इच्छा मर चुकी है, जो सन् 1964 की भ्रष्टाचार निवारक समिति की बहुत अच्छी रिपोर्ट के परिणाम-स्वरूप कुछ समय के लिए सार्वजनिक दिलचस्पी का विषय बनी थी।

सन् 1966 से भारत के आयोजन की स्थापित परम्परा की प्रायः समाप्ति किसी भी गुट की चिन्ता का विषय नहीं दिखायी पड़ती। विरोधी गुट ने चौथी

पंचवर्षीय योजना के पिछले वर्ष के मसौदे को फिर तैयार करने की माँग की है—जो तीन वर्ष तक बिना किसी योजना के बाद प्रस्तुत किया गया था—ताकि और अधिक लोगों को रोजगार दिया जा सके। लेकिन यह गुट इससे अधिक कोई ठोस प्रस्ताव नहीं कर पा रहा है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे व्यापक मुद्दों में दिलचस्पी का अभाव है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन किस प्रकार किया जा सकता है।

हम बस यह देखते हैं कि सामान्य घोषणाएँ की जाती हैं, जिनमें किसी बात का वचन नहीं होता—ये घोषणाएँ 'समाजवादी ढंग के समाज' अथवा ऐसी ही बातों के बारे में होती हैं—और ये घोषणाएँ ऐसी सामान्य होती हैं कि इस पर प्रत्येक व्यक्ति सहमत हो सकता है। राष्ट्रव्यापी स्वरूप के ऐसे ठोस प्रस्तावों और मुद्दों से बचा जाता है, जिनसे विरोध उत्पन्न हो सकता है।

यदि संकीर्ण 'मध्यम वर्ग' सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए कोई विशेष प्रस्ताव पेश किया जाता है तो दोनों गुट स्वयं को इसके पक्ष में जताने की कोशिश में लग जाते हैं, यद्यपि वे इसके साथ ही इस प्रस्ताव को छोटी अथवा लम्बी अवधि के लिए स्थगित रखने की भी कोशिश करते हैं। हाल में एक ऐसा ही उदाहरण भूतपूर्व राजाओं के प्रिवीपर्सों की समाप्ति के बारे में सामने आया।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण की तरह यह निश्चय ही महत्त्वहीन बात नहीं है। इसी प्रकार अधिक आमूल परिवर्तन चाहने वाली शाखा के नेताओं का यह प्रस्ताव भी कि विदेश व्यापार के एक बड़े हिस्से का, विशेषकर आयात व्यापार का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए।

दस वर्ष से अधिक समय पहले अनाज के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने का ठोस निर्णय लिया गया था। इस निर्णय को लागू करने के लिए केवल आंशिक आधे मन से और अधिकांशतया निरर्थक प्रयास किये गये हैं। अब आमूल परिवर्तन की अधिक माँग करने वाली शाखा ने इस प्रश्न को फिर उठाया है, लेकिन उनके प्रयासों में यह दृढ़ता प्रकट नहीं हुई है कि वे जमींदारों, सूदखोरों और बिचौलियों के निहित स्वार्थों के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक कार्य करने को तैयार हैं और उनमें यह काम पूरा करने की क्षमता भी है।

इन परिस्थितियों में राजनीतिक संघर्ष अनावश्यक रूप से अवास्तविक सैद्धान्तिक मतभेदों पर केन्द्रित हो जाता है और विभिन्न व्यक्तित्वों पर भी और कभी-कभी इन व्यक्तित्वों या राजनीतिक गुटों के अस्थिर गठजोड़ के ऊपर भी अथवा ऐसे मामलों पर जो प्रवाद या अफवाहों का आधार बन सकती हैं। भारत की अन्य राजनीतिक पार्टियाँ इससे अधिक भिन्न रूप में काम नहीं करतीं।

कम्युनिस्ट पार्टी तीन गुटों में विभाजित है और इन गुटों का सोवियत संघ और चीन के प्रति अलग-अलग ढंग से लगाव और रुझान है। ये गुट विचार-धारा सम्बन्धी विषयों पर अधिकांश बहस जारी रखते हैं और यह बहस इनके नेताओं को लेकर ही चलती है। इस बीच वे बेरोजगारी में कमी करने की आवश्यकता और उद्योगों तथा विदेश व्यापार के राष्ट्रीयकरण जैसे सामान्य विषयों पर ज़ोर देते रहते हैं।

इन परिस्थितियों में पार्टियों के भीतर प्रबल मतभेद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में कोई योगदान नहीं करता।

इसके विपरीत यह एक उत्तेजनापूर्ण नाटक की भूमिका भर निभाता है, जो इस समय भारत के समक्ष मौजूद वस्तुतः महत्त्वपूर्ण समस्याओं से ध्यान बँटाता है। इसके परिणामस्वरूप स्थगित विकास कार्यों को भुला देना सम्भव हो जाता है और विकास के अभाव का साहसपूर्ण और तर्कसम्मत योजनावद्ध राजनीतिक कार्रवाई के द्वारा सामना करने की बात को भुला देने में भी यह स्थिति अधिक सहायक वनती है।

इस सम्वन्ध में यह स्मरण करना महत्त्वपूर्ण है कि एक राष्ट्र के रूप में भारत का अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से पेश करने वाला समुदाय कितना छोटा है और यह मुख्यतया उच्च वर्ग तक ही सीमित है, जिसके अन्तर्गत तथा-कथित मध्यम वर्ग भी आता है। स्वीडन जैसे अत्यन्त समृद्ध और अत्यन्त एकीकृत देश में, जिसकी आवादी भारत की आवादी के एक प्रतिशत से कुछ ही अधिक है, सम्भवतः राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध लोगों की संख्या भारत के ऐसे लोगों की संख्या के वरावर है। और स्वीडन में ये लोग इससे अत्यन्त वड़े पैमाने पर प्रभावशाली ढंग से गठित हैं और इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक कार्यों में उद्देश्यपूर्ण हिस्सा बँटाते हैं।

भारत में इस वात की कमी है कि सामान्य जन-समुदाय का नीचे से संगठित दवाव नहीं पड़ता, जो स्वयं अपने हितों की रक्षा और अपने हितों को आगे बढ़ाने की दिशा में प्रभावशाली ढंग से संचालित हो। इसके परिणाम-स्वरूप एक ऐसी राजनीतिक स्थिरता सम्भव हुई है, जो तात्कालिक आवश्यकता और महत्त्व के आर्थिक और सामाजिक सुधारों की दृष्टि से गतिहीनता के समान है।[16] हाल में जो घटनाएँ घटी हैं, और जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके परिणामस्वरूप इस राजनीतिक स्थिरता को खतरा उत्पन्न हो सकता है, लेकिन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों के युग का समारम्भ नहीं होगा।

दक्षिण एशिया के अन्य देशों में जिस प्रकार की राजनीतिक 'क्रान्ति' के परिणामस्वरूप अधिक निरंकुश सरकारें सत्तारूढ़ हुई हैं, वैसी ही किसी सरकार की भारत में स्थापना की सम्भावना को नज़रअन्दाज नहीं किया जा सकता। लेकिन अनेक कारणों से ऐसी सरकार की स्थापना की बहुत कम सम्भावना है: संसदीय लोकतन्त्र का सम्मान और अब तक पर्याप्त व्यवधान के बिना इसके 'चालू रहने' में सफलता; सेना का विशेष स्वरूप, विशेषकर इसका राजनीति से कम सम्पर्क (उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तानी सेना भारतीय सेना से राजनीति से कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रही); अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में अधिक विकसित राष्ट्रीय मजदूर संघ प्रणाली; और, वास्तव में, देश का आकार और विविधता, कम-से-कम उस समय तक जब तक यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित नहीं हो जाता।

यदि संसदीय प्रणाली समाप्त हो जाती है और भारत में अधिक निरंकुश सरकार की स्थापना होती है, तो यह कृषि के क्षेत्र में और शहरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले विशाल निर्धन वर्ग के संगठित और केन्द्रीभूत राजनीतिक

गतिविधि के परिणामस्वरूप नहीं होगी और इससे दूरगामी आर्थिक और सामाजिक सुधारों की सम्भावना में प्रायः कोई वृद्धि नहीं होगी—यद्यपि इससे इस सम्भावना में कमी भी नहीं आयेगी। अन्य देशों की तरह ही, इसका अर्थ उच्च वर्ग के सत्ताधारी लोगों के किसी नये गुट का सत्ता पर अधिकार होगा, और इसके परिणामस्वरूप उच्च वर्ग के उन बहुत-से लोगों की आज जैसी भूमिका निभाने की स्वतन्त्रता सीमित हो जायेगी और स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक बहस तथा अधिकांशतया अप्रतिबन्धित नागरिक स्वतन्त्रताओं का बलिदान दे दिया जायेगा।

भारत जैसे देश में जन-समुदाय का भाग्यवाद और उदासीनता अत्यन्त महत्त्व का विषय है और यही बात अधिकांश कम-विकसित देशों पर लागू होती है। इसके परिणामस्वरूप वह समुदाय अत्यन्त छोटा हो जाता है, जिसमें राजनीतिक गतिशीलता उत्पन्न होती है और यह समुदाय केवल उच्च वर्ग तक ही अथवा उच्च वर्ग में इस बात के प्रति रुझान रखनेवाले लोगों तक ही सीमित रहता है। राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय लोग जन-समुदाय को केवल नीति सम्बन्धी एक लक्ष्य-भर मानकर चल सकते हैं और जन-समुदाय का असहयोग ही इनकी नीतियों का प्रतिरोध कर सकता है।

दिलचस्प प्रश्न यह है कि क्या जन-समुदाय की इस निष्क्रियता और उदासीनता को बदला जा सकता है—और क्या इसके बाद यह आशा की जा सकती है कि जन-समुदाय स्वयं अपने हितों के अनुरूप तर्कसम्मत सुधारों की माँग करेगा? जन-समुदाय को केवल सक्रिय बनाना निरर्थक हो सकता है अथवा इसके परिणामस्वरूप वास्तव में प्रतिक्रिया का जन्म हो सकता है, यदि जन-समुदाय को सन्तति-निरोध, गोहत्या के विरोध, अधिक सामाजिक अनुशासन के प्रयासों के विरुद्ध और वास्तव में स्वयं तर्कसम्मत सुधारों के विरोध के लिए गठित किया जाने लगे। जन-सामान्य को स्वयं अपना हित समझने के लिए शिक्षित किया जाना चाहिए।

मैंने भारत के गाँव को एक ऐसा जटिल अणु बताया है, जिसके भीतर परमाणुओं के समूहों में प्रबल तनाव उत्पन्न हो चुका है।[17] लेकिन यह तनाव इस प्रकार एक-दूसरे को काटता और सन्तुलन कायम रखता है कि सामाजिक प्रणाली जहाँ-की-तहाँ स्थिर रहती है। पर इस अणु का विस्फोट किया जा सकता है, जिसका अर्थ परमाणुओं की पुनर्व्यवस्था होगा और इसके परिणामस्वरूप ग्राम-समुदाय के कुछ सदस्य अथवा सब सदस्य मिलकर काम कर सकेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यह कार्य किस प्रकार किया जा सकता है और इसके क्या परिणाम होंगे?

ऐसा विस्फोट स्वयं भीतर से प्रज्वलित किया जा सकता है। लेकिन यह बाहर से डाले गये प्रबल दबाव के द्वारा भी किया जा सकता है, जो स्थानीय समुदाय के भीतर एकत्र प्रज्वलनशील दबावों को सक्रिय कर सके। जन-समुदाय की शान्तिपूर्ण निष्क्रियता समाप्त होने का प्रायः सामान्य नमूना यह

है कि धार्मिक उन्माद अथवा जातीय ईर्ष्या के आधार पर दंगे शुरू हो जाते हैं और इन दंगों के पीछे अपने पड़ोसी का माल चुरा लेने के अवसर का लाभ उठाने की भावना भी मौजूद रहती है।

अंग्रेज़ों के अधीन भारत के भारत संघ और पाकिस्तान में विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों देशों में वड़े पैमाने पर हत्याओं और लूटपाट की लहर आयी। इसके वाद, हाल के वर्षों में भारत में इस प्रकार के सामूहिक दंगे, जिनमें हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ भड़काया जाता है, कुछ अधिक हुए हैं। हाल में गुजरात में ऐसे ही धार्मिक दंगे हुए, जिनमें कई सौ लोगों की जानें गयीं।

मलयेशिया में चीनियों के विरुद्ध मलय लोगों के दंगे भी इसी प्रकार के हैं। मलय और अन्य जाति-समूहों के आकार के मुश्किल से कायम सन्तुलन के कारण तथाकथित गठबन्धन समाप्त हो गया है। यह गठबन्धन मलयेशिया के तीन प्रमुख जातीय समूहों के अमीर नेताओं का है, जिसने इस समय तक चुनावों पर आधारित शासन-प्रणाली को चलने दिया। अब यह देश यथार्थ में एक निरंकुश सरकार के अधीन है और सत्ता मलय लोगों के हाथों में है।[18]

अफ्रीका के स्वतन्त्र देशों में सब लक्षण निरन्तर विद्रोह और जातीय आधार पर युद्धों की ओर संकेत करते हैं और अफ्रीका महाद्वीप के अनेक भागों में लम्बे अरसे तक ये राजनीतिक विकास को पूरी तरह से प्रभावित करते रहेंगे।

वर्तमान सन्दर्भ में, प्रमुख मुद्दा यह है कि जन-समुदाय की इस किस्म की राजनीतिक गतिविधि केवल विवेकपूर्ण नीति सम्वन्धी लक्ष्यों से ही रहित नहीं होती, वल्कि इससे जन-समुदाय का वास्तविक मुद्दों से ध्यान हटता है और वे अपने वास्तविक और सामान्य हितों के लिए कार्य नहीं कर पाते।

पर ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके परिणामस्वरूप जन-समुदाय द्वारा अपने हितों के लिए उद्देश्यपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से दबाव डालने के लिए एकता में वृद्धि होनी चाहिए। एक ऐसी ही प्रवृत्ति या वस्तु शिक्षा का प्रसार है।

श्रीलंका और मलाया जैसे देशों में, जहाँ अब प्रायः ऐसी स्थिति आ गयी है कि प्रायः सब बच्चों को कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा मिलती है[19], युवा पीढ़ी में प्रायः सार्वभौम साक्षरता आ चुकी है और यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे जन-समुदाय में चेतना उत्पन्न करने में सहायक बनेगी; विशेषकर उस स्थिति में यदि वयस्क शिक्षा पर भी जोर दिया जाये। लेकिन भारत और इससे भी अधिक पाकिस्तान अब इस स्थिति में नहीं पहुँच पाया है। जैसाकि अध्याय-6 में बताया जा चुका है, इन दोनों देशों में शिक्षा-प्रणाली विभिन्न वर्गों के बीच की खाई को कायम रखने में सहायक बन रही है और शायद इसमें वृद्धि करने में भी।

सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर संसदीय प्रणाली का संचालन, जैसाकि भारत और श्रीलंका में है, अपने-आपमें एक शिक्षा-प्रक्रिया सिद्ध होना चाहिए और इसके परिणामस्वरूप राजनीति पर प्रत्यक्ष रूप से ध्यान केन्द्रित होगा। प्रोधन ने कहा था कि जन-सामान्य को वोट का अधिकार देना,

राजनीतिक डाइनामाइट है। मोहनदास गांधी और नेहरू तथा कांग्रेस के पूरे आमूल परिवर्तनवादी गुट का यह दृढ़ विश्वास था कि स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद और भारत के लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने के बाद आमूल परिवर्तनवादी सामाजिक और आर्थिक सुधार अनिवार्य हैं।[20] पर स्वतन्त्रताप्राप्ति ने अपेक्षित सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का समारम्भ नहीं किया। लेकिन क्या यह विश्वास करना सम्भव नहीं है कि कुछ विलम्ब से ही सही पर चुनाव और चुनावों पर आधारित प्रणाली का राजनीतिक क्रम-विकास धीरे-धीरे जन-समुदाय को सजग बना देगा?

यह सच है कि चुनाव अभियान अधिकांशतया कम विवेकपूर्ण मुद्दों पर केन्द्रित रहते हैं—जैसे जाति, भाषा अथवा क्षेत्रीय गठबन्धन अथवा प्रतिद्वन्द्वियों का व्यक्तित्व—अथवा ये किसी-न-किसी प्रकार की रिश्वत के रूप में चलते हैं। पर इसके बावजूद – और सामाजिक स्तर, सत्ता और अधिकार का जन-समुदाय के मतदान के स्वरूप पर चाहे कितना भी असर क्यों न होता हो—निम्न और निर्धन वर्गों के लोगों के मन में धीरे-धीरे यह विचार अवश्य पैठ जायेगा कि मतदान की गुप्त प्रणाली ने उनके हाथों में जबर्दस्त ताकत दे दी है और वे जिसे चाहें सत्तारूढ़ कर सकते हैं।

इससे वंचित जन-समुदाय के भीतर दिखायी पड़नेवाले गम्भीर असन्तोष को राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय किया जा सकता है। ट्रांजिस्टर, रेडियो और बाहरी संसार से अन्य सम्पर्क इस बात की ओर अधिक प्रेरणा देंगे कि जन-समुदाय को अपनी स्थिति में सुधार के लिए अपने वोट का प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल करना चाहिए।

भारत में, पंचायतों के चुनावों में निम्न वर्ग के राजनीतिक आचरण का विशेष रूप से गहरा अध्ययन किया गया है। ऐसे अनेक अध्ययनों को समस्याओं के प्रति अत्यधिक सजग 'इकॉनामिक वीकली' में, जिसका नाम अब 'इकॉनामिक एण्ड पालीटिकल वीकली' हो गया है, प्रकाशित किया गया है। मुख्य प्रश्न यह रहा है कि ये मतदाता किस सीमा तक परम्परागत राजनीतिक आचरण का अनुसरण करते रहे, ऊपर के अपने नेताओं के आदेशों का पालन-भर करते रहे, अथवा उन्होंने नये अवसरों का लाभ उठाकर स्वयं अपने वर्ग के सदस्यों को निर्वाचित करना शुरू किया।

ऐसे अन्तिम परिणाम नहीं निकाले जा सके हैं, जिन्हें पूरे देश पर लागू किया जा सके। लेकिन वंचित लोगों द्वारा स्वतन्त्र रूप से कार्रवाई करने की प्रवृत्ति यदाकदा दिखायी पड़ी है।[21] लेकिन इन मामलों में भी, ठोस सुधारों की माँग करने के लिए उद्देश्यपूर्ण तरीके से संगठन बनाने का सामान्यतया कोई प्रयास दिखायी नहीं पड़ता।

इस प्रकार सकारात्मक कारकों का—शिक्षा और विभिन्न प्रकार के चुनावों में भाग लेने का—पर्याप्त लम्बी अवधि में ही कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलने की आशा की जा सकती है।

भारत में, और इसी प्रकार दक्षिण एशिया के शेष भाग में, उदाहरण के लिए, भूमि-सुधार का प्रश्न जिस प्रकार स्थानीय, राज्य और राष्ट्रीय चुनावों में मृत हो चुका है उसी प्रकार राजनीतिक और बौद्धिक नेताओं के बीच सार्वजनिक

विचार-विमर्श में और अर्थशास्त्रियों के मध्य भी मृत हो गया है।[22] यदि सामान्य जन-समुदाय के लिए बुनियादी महत्त्व के प्रश्नों में राजनीतिक आमूल परिवर्तनवाद बड़े और लोकप्रिय पैमाने पर वास्तव में प्रभावशाली हो उठे, तो इससे एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है, जहाँ अधिक निरंकुश सरकार सत्ता में आ जाये और उस स्थिति में चुनावों को ही समाप्त कर दिया जाये जब ये उच्च वर्ग के लिए खतरनाक बन जायें।

लेकिन ऐसा जोश कहीं भी नजर नहीं आता। यदि ऐसा होता है तो यह इस क्षेत्र में एक अपवाद ही होगा।

एक और प्रश्न उठाना आवश्यक है : क्या शहर की गन्दी बस्तियों में निम्न वर्ग के लोगों की विशाल संख्या समानतावादी सुधारों की माँग को जन्म देगी ?

यह भी दिखायी नहीं पड़ता। यह निम्न वर्ग अपनी निरन्तर बढ़ती संख्या के बावजूद देहाती इलाकों से आनेवाले विस्थापित गरीब लोगों का समुदाय ही बना हुआ है और इसका उन शहरों से एकीकरण नहीं हुआ है, जहाँ यह रहता है।

युद्ध के बाद कुछ दंगों के अलावा देहाती इलाकों में भूमि-सुधार का कोई लोकप्रिय आन्दोलन नहीं हुआ[23], अतः शहरों की गन्दी बस्तियाँ आश्चर्यजनक सीमा तक शान्त बनी रहीं। उदाहरण के लिए, पुरानी दिल्ली की गन्दी बस्तियों के निवासियों के एक अध्ययन से यह पता चला कि इनकी बहुत बड़ी संख्या, जिसकी औसत मासिक आय प्रति व्यक्ति लगभग 30 रुपया है, अपनी वर्तमान स्थिति को 'सुरक्षित' मानती है।[24]

इसके बावजूद भविष्य के लिए ऐसी अनेक अनिश्चितताएँ हैं, जिनका विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि कोई राष्ट्रीय नेता अथवा कई राष्ट्रीय नेता भारतीय राजनीति के छोटे विचारों पर आधारित स्वरूप से ऊपर उठकर ऐसे व्यावहारिक लेकिन आमूल परिवर्तनवादी सुधार कार्यक्रम तैयार करेंगे, जिसकी भारत को अपनी श्रम-शक्ति के निरन्तर बढ़ते हुए अल्प-उपयोग और निरन्तर बढ़ती हुई व्यापक गरीबी से बचाने के लिए आवश्यकता है।

इनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे नेताओं को उच्च कोटि का राष्ट्रव्यापी सम्मान प्राप्त हो। वर्तमान राजनीतिक निराशा की स्थिति में यह सम्मान प्राप्त करना आसान नहीं है।

उच्च वर्ग के समूह ऐसे नेताओं को समर्थन नहीं देंगे अथवा यहाँ तक कि इन्हें बर्दाश्त तक नहीं करेंगे, कम-से-कम उस समय तक जब तक ये नेता नीचे से पर्याप्त दबाव उत्पन्न करने में सफल नहीं होते। सामान्य लोगों तक पहुँचना और इसके साथ ही उच्च वर्ग के समूहों में अपने अनुयायियों को कायम रखना, आज के किसी भी राष्ट्रीय नेता के लिए गांधी की तुलना में कहीं अधिक कठिन होगा, क्योंकि स्वतन्त्रता के संघर्ष के दौरान मुद्दा एकदम स्पष्ट था और शत्रु को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था।

सम्भवत: एक जवाहरलाल नेहरू यह कर सकते थे, स्वतन्त्रता के बाद के पहले वर्षों में जब समय अत्यन्त अनुकूल था। लेकिन उन्होंने सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को स्थगित रखना वेहतर समझा।

युद्ध के बाद के आर्थिक दृष्टिकोण के जवर्दस्त प्रभाव के अन्तर्गत वे 'आर्थिक' विकास के प्रसार सम्बन्धी प्रभावों के ऊपर आवश्यकता से अधिक निर्भर रहे। 'आर्थिक' विकास के प्रसार-प्रभावों का अर्थ आधुनिक बड़े उद्योगों की स्थापना और प्रसार तथा आधुनिक टेक्नोलॉजी का उपयोग है। अन्य लोगों की तरह वहुत वड़े पैमाने पर आबादी की वृद्धि से वे आश्चर्यचकित रह गये और इसके सम्पूर्ण प्रभावों को वे नहीं समझ सके। उन्होंने गाँवों के आर्थिक और सामाजिक स्तर के कारण उत्पन्न कठिनाइयों के गम्भीर महत्त्व को नहीं समझा। इसके अलावा अनेक 'तात्कालिक' महत्त्व की समस्याओं को सुलझाना भी था और भारत को इन समस्याओं को सुलझाने में जो सफलता मिली, उससे वे अनावश्यक रूप से सन्तुष्ट हो गये।[25]

क्या वे आज भी यह कर सकते थे? नेहरूजी इस समस्या से चिन्तित नहीं थे कि उनके बाद क्या होगा? उनका विश्वास था, और उनके सब मित्र भी यह जानते थे, कि जब बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं, तो इन कठिनाइयों पर विजय पानेवाले स्त्री-पुरुष भी सामने आ जाते हैं। इससे भी अधिक गहरा उनका विश्वास अत्यन्त कम-विकसित देश में लम्बी अवधि में लोकतन्त्रीय संस्थाओं के विकास पर था और उन्हें आशा थी कि कालान्तर में गरीब लोग भी अधिकाधिक आवाज़ उठायेंगे और स्वयं अपने हितों की जबर्दस्त माँग करने के लिए शिक्षित हो जायेंगे।

नेहरूजी के जीवन के अन्तिम वर्षों में और उनकी मृत्यु के बाद भी जो वास्तविक राजनीतिक घटनाएँ घटीं, उनसे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो गयी कि सामान्य जन-समुदाय का राजनीतिक कार्यों में हिस्सा लेना कितना आवश्यक है। ऐसे किसी परिवर्तन का माध्यम कौन अब बन सकता है?

विचारधारा सम्बन्धी प्रश्नों और व्यक्तिगत दावपेंच में व्यस्त कम्युनिस्ट पार्टियों ने गाँवों और यहाँ तक कि शहरों के निर्धन वर्ग को संगठित करने में आश्चर्यजनक सीमा तक उदासीनता अथवा अयोग्यता दिखायी है। जब देश के कुछ भागों में कम्युनिस्ट पार्टी गाँवों में पहुँची तो उसने भूमि-सुधार का सवाल उठाकर एक वर्गगत मोर्चा बनाने का शायद ही कभी प्रयास किया और अक्सर जाति की राजनीति खेलने और अपनी आवाज़ उठाने में अधिक सक्षम 'मध्यम वर्ग' के समूहों की शिकायतों को समर्थन दिया। पर हो सकता है कि अब इस स्थिति में परिवर्तन आ रहा हो।

इसके अलावा, यह सम्भावना भी है कि स्थानीय नेता सामने आयें और वे रचनात्मक प्रश्नों के आधार पर अपने आन्दोलन का संचालन करते हुए गाँवरूपी जटिल और निष्क्रिय अणु में विस्फोट उत्पन्न कर दें। अन्ततः विद्रोहियों के बीच व्यापक क्षेत्र में सहयोग स्थापित हो और इसमें उच्च वर्ग के विद्रोही नेता भी शामिल हो जायें। भारत में इस प्रकार के स्थानीय आन्दोलन सदा हुए हैं और हो सकता है कि अब इनमें वृद्धि हो जाये।

यह कल्पना की जा सकती है कि विश्वविद्यालय कुछ ऐसे बुद्धिवादियों को

जन्म दें, जो अपने व्यक्तिगत शान्त आचरण अथवा जन-सामान्य की स्थिति के प्रति उदासीनता तथा गाँववालों और उनके विषम जीवन के प्रति वितृष्णा को त्यागकर गाँवों में जायें और जन-समुदाय को राजनीतिक कार्रवाई के लिए तैयार करें। अब तक—गृह-युद्ध की अवधियों को छोड़कर जैसाकि हाल में इन्दोनेशिया में हुआ—दक्षिण एशिया के देशों के विद्यार्थियों ने राजनीतिक गतिविधि के क्षेत्र में अपना विद्रोह नहीं किया और न ही कुछ स्पष्ट रूप से व्यक्त लक्ष्यों को सामने रखकर विद्रोह किया।[26]

दक्षिण एशिया के विद्यार्थियों द्वारा किये जानेवाले दंगे अधिकांशतया झूठे और नगण्य कारणों के आधार पर ही हुए हैं: सरल परीक्षाओं अथवा बस के कम किराये की माँग करते हुए अथवा नस्ल और जातिगत शत्रुओं को लेकर एक प्रकार से ये दंगे स्वरूप की दृष्टि से वैसे ही दंगे हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लेकिन यह हो सकता है कि यह स्थिति सदा न बनी रहे।

लेकिन इस बात की बड़ी स्पष्ट सम्भावना है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि इस बात की सम्भाव्यता है कि भारत में अथवा दक्षिण एशिया के अधिकांश भाग में न तो अधिक क्रम-विकास होगा और न ही क्रान्ति।

यदि सुधार के क्षेत्र में कोई प्रभावशाली कार्य नहीं किया जाता, तो इसके राजनीतिक परिणाम क्या होंगे, जबकि इसके साथ ही श्रमशक्ति का अल्प-उपयोग बढ़ता जाये और इसके साथ ही जन-सामान्य की गरीबी में भी निरन्तर वृद्धि होती जाये, मेरी विश्लेषण-क्षमता के बाहर की बात है। इस सन्दर्भ में जनगणना-विशेषज्ञों की इस उक्ति का उल्लेख किया जा सकता है कि आबादी की वृद्धि न रुकने पर मालथूसियनवादी अंकुशों के फिर सक्रिय होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

क्या निर्धन और कष्टपूर्ण जीवन की ऐसी कोई सीमा है, जिसके भीतर मनुष्य विद्रोह किये बिना परिस्थितियों को बर्दाश्त करता रह सकता है? अथवा ऐसी कोई सीमा नहीं है? गाँवों में और अनेक शहरी इलाकों में लोग जिन अत्यन्त कष्टपूर्ण परिस्थितियों में जीवननिर्वाह कर रहे हैं, उन्हें देखकर यह लगता है कि शायद ऐसी कोई सीमा नहीं है।

लेकिन क्या यह स्थिति उच्च वर्ग के कुछ समूहों की आत्मा को आन्दोलित करेगी, विशेषकर विद्यार्थियों और बुद्धिवादियों की? क्या वे आमूल परिवर्तन-वादी सुधारों के लिए और कृतसंकल्प आवाज़ उठाने को प्रेरित होंगे? क्या वे अपनी माँगों को प्रभावशाली बनाने के लिए गरीब लोगों के मध्य काम करने के लिए बाहर निकलेंगे, ताकि इन लोगों को शिक्षित बनाया जा सके और संगठित किया जा सके? इसमें उन्हें क्या सफलता मिलेगी? मैं नहीं जानता।

इसके अलावा मुझे ऐसे व्यक्तियों और व्यक्तियों के समूहों के आत्म-प्रेरित, अप्रत्याशित और अनुमान की परिधि के बाहर के तत्त्वों के सामान्य व्यवहार के विपरीत आचरण पर जोर देने की आवश्यकता है। मैं ऐसी वैकल्पिक राजनीतिक घटनाओं को देखता हूँ, लेकिन मैं यह भविष्यवाणी करने के लिए तैयार नहीं हूँ

कि भारत की राजनीति में वास्तव में क्या होगा—अगले पाँच वर्षों तक नहीं और लम्बी अवधि में तो इससे भी कम।

दक्षिण एशिया के अन्य देशों के वारे में भी मैं यही अनुभव करता हूँ—यद्यपि इन देशों में अत्यन्त और निरन्तर बढ़ती हुई निर्धनता की सम्भावना अपेक्षाकृत वहुत कम है अथवा यह स्थिति वहुत आगे चलकर आने की सम्भावना हो सकती है। भारत, पाकिस्तान और यहाँ तक कि वर्मा के विपरीत ये देश मलाया और श्रीलंका हैं।

दक्षिण एशिया के अन्य देशों की तुलना में विएतनाम में आमूल रूप से भिन्न राजनीतिक घटनाक्रम दिखायी पड़ता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वात यह है कि वहाँ जन-समुदाय अब राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय नहीं है, कम-से-कम उस प्रकार समग्र रूप से निष्क्रिय नहीं है, जैसी उस क्षेत्र के शेष देशों में स्थिति है। और वे उन सुधारों को लागू करने के लिए कृतसंकल्प हैं जो उनके अपने हित में हैं।

जैसाकि मैंने अध्याय-3, अनुभाग-2 में उल्लेख किया है, इसका स्पष्टीकरण प्रथमत: फ्रांस के उपनिवेशी शासन के भिन्न स्वरूप और फिर दूसरे महायुद्ध के वाद फ्रांस के उपनिवेशी युद्ध में निहित है। इस दूसरे युद्ध में फ्रांस को संयुक्त राज्य अमरीका का समर्थन प्राप्त हुआ था—अपनी मृत्यु से पहले राष्ट्रपति फकलिन डी० रूज़वेल्ट ने ऐसे किसी युद्ध में हिस्सा लेने के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विचार प्रकट किया था—और सन् 1954 के बाद इस युद्ध का संचालन अमरीका ने पूरी तरह से अपने हाथ में ले लिया था और इस क्षेत्र की कुछ नाममात्र के लिए स्वतन्त्र सरकारें भी इसमें शामिल हुई थीं। अब इस युद्ध को चौथाई शताब्दी से अधिक समय हो गया है।

अधिकाधिक विएतनामियों के लिए यह मुक्तियुद्ध वन गया और विशेषकर एक विदेशी, श्वेत और अमीर देश के सैनिक अतिक्रमण के विरुद्ध संघर्ष वन गया —पहले फ्रांसीसियों के विरुद्ध और आगे चलकर निरन्तर बढ़ते हुए पैमाने पर, अमरीकियों के विरुद्ध।[27]

एक क्रोधपूर्ण राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है, ऐसी भावनाएँ, आधुनिकीकरण के आदर्शों में से किसी भी आदर्श से अधिक, जन-समुदाय में आसानी से व्याप्त हो जाती हैं।

यहाँ से आगे बढ़कर जन-समुदाय में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों में अपने हित के अनुरूप आर्थिक और सामाजिक चेतना उत्पन्न हुई। इन सुधारों में बुनियादी सुधार भूमि सम्बन्धी था कि फ्रांस के अधीन और आगे चलकर युद्ध के अमरीकी दौर में अतिक्रमण करनेवालों ने विशेषाधिकारप्राप्त उच्च वर्ग से ही समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया और शीतयुद्ध के व्यापक परिप्रेक्ष्य में भी इसके परिणामस्वरूप जन-सामान्य एक प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद की ओर झुक चला।

संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध हार चुका है। उनकी गलती यह थी कि उन्होंने जन-समुदाय की इस जागृति को नहीं देखा और इस बात पर भी विचार नहीं

किया कि उनके सैनिक हस्तक्षेप ने इस जागृति को किस प्रकार प्रेरित किया है। संयुक्त राज्य अमरीका ने, एक के बाद एक राष्ट्रपति के शासनकाल में, दक्षिण विएतनाम की कठपुतली सरकारों पर भरोसा रखा, जबकि इन सरकारों को मुख्यतया विशेषाधिकारप्राप्त उच्च वर्ग के समूहों से ही समर्थन प्राप्त था।

जब संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने, अपने प्रतिद्वन्द्वियों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, भूमि-सुधार के लिए दबाव डालना और आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की शब्दावली में बोलना शुरू किया, जैसाकि आइजनहावर और दिएम के शासनकाल में हुआ था, दक्षिण विएतनाम सरकार और इसके अफसरों तथा समर्थकों ने इस कार्य में नियमित रूप से बाधा डालना शुरू कर दिया—और वास्तव में, दक्षिण एशिया के देशों में अन्य सत्तारूढ़ समूहों ने भी यही किया। लेकिन विएतनाम में क्रुद्ध राष्ट्रवाद के प्रभाव के अन्तर्गत अब जन-सामान्य निष्क्रिय नहीं रह गया था।

पश्चिमी हस्तक्षेप, विशेषकर जब यह सैनिक कार्रवाई का रूप ले लेता है, किसी कम-विकसित देश में जन-सामान्य में उच्च स्तर की राजनीतिक चेतना और गतिविधि का प्रेरक बन सकता है। राष्ट्रवाद, पश्चिम के विरोध और, वस्तुतः, श्वेत लोगों के विरोध का स्वरूप धारण कर लेता है। शीतयुद्ध की स्थिति में, जहाँ इन देशों को केवल कम्युनिस्ट देशों से ही सहायता मिल सकती है, राष्ट्रवाद आसानी से साम्यवाद से भी सम्बद्ध हो जाता है।

इंदोनेशिया में भी एक ऐसी ही प्रक्रिया हुई थी, जहाँ से डच लोग शान्तिपूर्ण तरीके से नहीं गये थे। सन् 1965 की वसन्तऋतु के भयंकर नरसंहार में इसे कुचल डाला गया था, जिसे पश्चिम के समाचारपत्रों में बड़ी शान्ति के साथ साम्यवाद के ऊपर विजय बताया गया था।

इंदोनेशिया के भावी राजनीतिक विकास के बारे में सन्देह की स्थिति के अनेक कारण हैं।[28] यदि जन-सामान्य में जागृति फैलाना कठिन है, तो एक बार इनके जागृत हो जाने के बाद इन्हें शान्त कर देना भी उतना ही कठिन है। सब लोगों को न तो मारा जा सकता है और न ही सदा के लिए जेलों में डाला जा सकता है।

अफ्रीका के दक्षिणी क्षेत्र में—दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका, रोडेशिया और पुर्तगाली उपनिवेशों में—एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो रही है, जहाँ बहुसंख्यक अश्वेतों को श्वेत अल्पसंख्यकों ने बलपूर्वक दबा रखा है और उन्हें इस कार्य में संयुक्त राज्य अमरीका और प्रायः पूरे पश्चिमी संसार से समर्थन मिल रहा है। इस स्थिति पर अध्याय-3, अनुभाग-2 में विस्तार से विचार हुआ है।

कुछ कम-विकसित देशों में श्वेत-विरोधी और पश्चिम-विरोधी भावनाओं का यह विकास, अन्य ऐसे कम-विकसित देशों में फैलता हुआ दिखायी पड़ता है, जो अधिकांशतया अश्वेत हैं। इन भावनाओं का विकास श्वेत लोगों की सैनिक और पुलिस शक्ति के प्रहार के अनुभव और इस शक्ति को प्राप्त पश्चिम के समर्थन के कारण हुआ। इस पुस्तक में मूल्यों सम्बन्धी जिन मान्यताओं का अनुशीलन किया

गया है, उन्हें ध्यान में रखते हुए यह अत्यन्त भयावह बात लगती है कि विकसित और कम-विकसित देशों के पारस्परिक सम्बन्ध चमड़ी के रंग के आधार पर दूषित हो जायेंगे।

पश्चिम के दृष्टिकोण से, कम-विकसित देशों का साम्यवाद के प्रति रुझान और साम्यवादी देशों से सहयोग इसी प्रकार दुर्भाग्यपूर्ण लगता है, और इससे उस शीतयुद्ध में एक नया आयाम और एक अन्य कारण जुड़ जाता है, जो विशाल पैमाने पर हथियारों पर खर्च का कारण बना है और शान्ति के लिए भी खतरा बन चुका है।

प्रबोधन काल की महान् उदारतावादी परम्परा के एक विद्यार्थी के नाते मेरे लिए यह और अधिक बुनियादी तौर पर घृणापूर्ण अनुभव है कि मुझे यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य होना पड़े कि जन-सामान्य की जागृति और उनका अपने हितों के प्रति जागरूक होना तथा विकास के लिए आवश्यक आमूल परिवर्तनवादी सुधारों के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार होना एक ऐसी विश्व-राजनीतिक स्थिति में होगा, जहाँ इन लोगों को राष्ट्रीय साम्यवाद के एक आन्दोलन के रूप में प्रदर्शित किया जायेगा।

इस विकास का बुनियादी कारण पश्चिमी देशों और, सबसे पहले, संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा तथ्यों को अत्यन्त गलत रूप में समझना और अपने आदर्शों के साथ विश्वासघात है। यदि हम अधिक दूरदर्शिता से काम लेते, और हमें अधिक सही जानकारी प्राप्त होती और यदि हम अपने आदर्शों के प्रति अधिक निष्ठावान होते तो—दक्षिण अफ्रीका अथवा विएतनाम में—यह स्थिति उत्पन्न न होती। अध्ययनों और कुछ राजनीतिक अनुभव ने मुझे इस बात को अधिक स्पष्टता से समझने का अवसर दिया है कि उक्त घटनाक्रम के लिए मूर्खता और विश्व-इतिहास का अज्ञान किस सीमा तक उत्तरदायी सिद्ध हुआ। ये खामियाँ शुद्ध अज्ञान पर भी आधारित नहीं हैं, इन्हें निहित स्वार्थों वाले लोगों ने अवसर-वादी तरीके से प्रयुक्त किया है और यह हित अक्सर अपेक्षाकृत मामूली और कम अवधि के हित रहे हैं। 'यथार्थवादी' और विनम्र अनुसन्धान के प्रति पूर्वाग्रहों के कारण ये प्रभावित हुए हैं। यही कारण है कि हमें अपनी विचारधारा के पूर्वाग्रहों को समाप्त कर देने के प्रयास को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए।

यह एक कटुतापूर्ण विचार है कि विश्व-इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम की अन्य सरकारों ने जो दमनकारी और शत्रुतापूर्ण रवैये अपनाये हैं, उनके परिणामस्वरूप जन-सामान्य में अपने हितों के प्रति जागृति उत्पन्न हुई है। यह जागृति सुधार की एक बुनियादी शर्त है और, लम्बी अवधि में, विकास की भी। क्या संसार के अमीर और विकसित देश इन लोगों को अपने लक्ष्य पर पहुँचने में सहायता देने के लिए इससे अधिक प्रभावशाली और कम-विनाशकारी साधन ढूँढ़ निकालने में सफल नहीं हो सकते थे ?

यह प्रश्न ऐतिहासिक है, जिस प्रकार किसी समाज-विज्ञानी के प्रश्न अक्सर होते हैं। विकसित देशों और, विशेषकर, संयुक्त राज्य अमरीका का लक्ष्य यह नहीं रहा कि जन-समुदाय में जागृति उत्पन्न हो ताकि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो सके और आवश्यक आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू किया जा सके। इनकी सहानुभूति सदा कम-विकसित देशों के विशेषाधिकारप्राप्त वर्गों के

प्रति रही, भयंकर गरीबी से ग्रस्त सामान्य जन-समुदाय के प्रति नहीं। वे कम-विकसित देशों में सुधारों को लागू करने के प्रति बड़ी तत्परता से आँख बन्द करने को तैयार रहते थे अथवा सुधारों को विकृत रूप से लागू करने के प्रयासों के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण रहता था। वे स्थिरता को अधिक महत्त्व देते थे—वास्तव में, वे उपनिवेशी तौर-तरीकों को जारी रखने में सहायक बनते थे।

अन्त में, मैं एक और बात पर जोर देना आवश्यक समझता हूँ। जैसा कि एशियन ड्रामा में स्पष्ट किया गया है और इस पुस्तक के अध्याय-3 में भी इस बात पर चर्चा हुई है, मैं अपने अध्ययन के फलस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की तैयारी के सम्बन्ध में, इस बात में विशेष अन्तर नहीं है कि भारत जैसे देश में, जहाँ सार्वभौम मताधिकार और व्यापक नागरिक स्वतन्त्रताओं पर आधारित संसदीय प्रणाली की सरकार मौजूद है और एक ऐसे देश में, जहाँ अधिक निरंकुश शासन है, कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों मामलों में उच्च वर्ग के समूहों और गुटों के हाथ में सत्ता है और इसके साथ ही जन-समुदाय में निष्क्रिय बने रहने की प्रवृत्ति है।

यह बात तथ्यों पर आधारित है। इसी प्रकार यह भी हो सकता है—पर यह आवश्यक नहीं है—कि किसी निरंकुश शासन का नेतृत्व ऐसे सुधारों को लागू करने को तैयार हो जाये, जिनके बारे में 'लोकतन्त्री' शासन के अन्तर्गत कानून नहीं बनाये गये थे। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के दृष्टिकोण से, यह स्थिति उस समय अधिक ग्राह्य होगी।

मेरे अनुसन्धान के ये निष्कर्ष मेरे मन के विरुद्ध हैं, यद्यपि इन्हें स्वीकार करने के अलावा मेरे समक्ष कोई चारा नहीं है। जहाँ तक लोकतन्त्र का सम्बन्ध है, मैं इस सम्बन्ध में कभी तटस्थता का अनुभव नहीं कर सकता[29] और मेरे मन में दक्षिण एशिया के देशों में आम चुनावों और स्वतन्त्र विचार-विमर्श के कुछ सम्भावित लाभों पर जोर देने की सदा व्यग्रता रही है।

लोकतन्त्र और, विशेषकर, चुनाव कालान्तर में जन-समुदाय को अधिक सतर्क और अधिक शिक्षित बनाने में सहायक हो सकते हैं। एक लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली में अपने विचार व्यक्त करने और कार्यों की स्वतन्त्रता उच्च वर्ग के कुछ व्यक्तियों और समूहों को आमूल परिवर्तनवादी सुधारों का समर्थन करने और जन-समुदाय में चेतना फैलाने का प्रोत्साहन दे सकती है। कम-से-कम इन लोगों और समूहों को यह कार्य करने से रोका तो नहीं जायेगा।

इतना ही नहीं, निरंकुश शासनवाले देशों में सार्वजनिक विचार-विमर्श का अभाव सरकार को उपयोगी जानकारी से वंचित कर सकता है। उदाहरण के लिए, मेरा यह विश्वास है कि बर्मा की सैनिक सरकार को अपनी सामाजिक और आर्थिक नीतियों में किस कारण से कोई भी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण सरकार की आलोचना से सुरक्षा थी।[30]

अध्याय : 15

अर्थशास्त्र का दायित्व

नीति सम्बन्धी विकल्पों की समस्या के दो आयाम हैं। एक आयाम यह है कि नीति सम्बन्धी विकल्प मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के निष्कर्षों के रूप में उपलब्ध होते हैं और इन मान्यताओं के उपयोग से जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर ये निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन विवेकसम्मत नीति सम्बन्धी विकल्पों की व्याख्या अध्याय-3 से लेकर अध्याय-11 तक की गयी है। दूसरा आयाम राजनीतिक विकास से सम्बन्धित है और यह इस बात का निर्धारण करता है कि वास्तव में किन नीति सम्बन्धी विकल्पों को चुना जायेगा।

इस समस्या के ये दो आयाम एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। समाज-विज्ञानी विवेकसम्मत और वास्तविक नीति सम्बन्धी विकल्पों के बीच की मुख्य कड़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन विज्ञानियों में हम अर्थशास्त्री, योजनाकारों तथा जनता और उनकी सरकारों के सलाहकारों के रूप में, इनके पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं।

एक ओर हम लोग स्वयं अपने देशों की राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित होकर कम विकसित देशों की विकास सम्बन्धी समस्याओं के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित हुए हैं।

इस पुस्तक के अध्याय-1 में मैंने इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के सामान्य स्वरूप के बारे में बताया है। आगे के अध्यायों में मैंने निरन्तर यह दर्शाया है कि ये पूर्वाग्रह किस प्रकार अनेक विशिष्ट समस्याओं में प्रकट हुए।

इसके साथ ही, हम अर्थशास्त्री वास्तविक राजनीति और नीति सम्बन्धी विकल्पों पर निःसन्देह प्रभाव डालते हैं। जॉन मेनार्ड कीन्स का यह प्रेक्षण कि लोग ऐसे सिद्धान्तों से प्रभावित हो जाते हैं, जिनके अस्तित्व का लोप हो चुका है, केवल इस सीमा तक गलत है कि लोग अपेक्षाकृत नये और वर्तमान सिद्धान्तों से भी प्रभावित होते हैं, कम-से-कम आंशिक रूप से और कुछ समय के बाद, जो आवश्यक नहीं कि बहुत लम्बा हो।

वास्तव में, कीन्स को मुद्रा और सम्बन्धित नीतियों के क्षेत्रों में संसार-भर में, अधिकांशतया मृत्यु के बाद, जो सफलता मिली है, वह इस बात का प्रमाण भी है। इससे पहले स्वीडन में, इन्हीं क्षेत्रों में वास्तविक नीतियों की इसी प्रकार की पुनर्व्यवस्था ने नुट विकसेल और उनके स्वीडनवासी अनुयायियों के सिद्धान्तों के व्यावहारिक महत्त्व की पुष्टि की। विकसेल और उनके अनुयायियों ने कीन्स से कहीं पहले यही विचार प्रकट किये थे।

इससे आगे बढ़ने से पहले, मैं अत्यन्त निष्ठापूर्वक एक बात याद दिलाना और इस बात पर विशेष रूप से जोर देना चाहता हूँ। जब मैं अपने साथी अर्थशास्त्रियों के ऊपर परम्परागत विचारधारा का अनुसरण करते हुए, कम-विकसित देशों के विकास की समस्याओं के प्रति अत्यन्त पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण अपनाने का आरोप लगाता हूँ, तो मेरा तात्पर्य उनकी व्यक्तिगत बेईमानी से नहीं होता।

अपनी युवावस्था से ही मैं अध्येताओं के विश्वव्यापी समाज का सदस्य रहा हूँ। अनेक देशों में मुझे अर्थशास्त्र के अध्येताओं के मध्य सैंकड़ों लोगों की घनिष्ठता और मित्रता प्राप्त करने का अवसर मिला है। इनमें कुछ गिने-चुने लोगों ने ही अपने काम में दूसरे लोगों के कष्टों के प्रति संवेदनहीनता का दृष्टिकोण अपनाया था। इससे भी कम लोग ऐसे थे, जिन्हें मैंने जान-बूझकर अपने लेखन को अपने स्वार्थों के अनुरूप ढालते हुए देखा।

इस दृष्टि से मेरा विश्वास है कि हमारा समस्त पेशा, और विशेषकर वे लोग जिन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, संस्थापित अर्थशास्त्रियों की महान् परम्परा का अनुसरण करते रहे हैं, जिनके सम्बन्ध में एक बार एलफ्रेड मार्शल ने इन शब्दों में अपनी भावनाएँ व्यक्त की थीं :

"वास्तविकता यह है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रायः सब संस्थापक भद्र और सहानुभूतिपूर्ण स्वभाववाले व्यक्ति थे, और मानवता के प्रति उनके मन में उत्साह का भाव था। स्वयं अपने लिए धन बटोरने के प्रति उन्हें प्रायः कोई चिन्ता नहीं थी; वे व्यापक जन-समुदाय में सम्पदा के अधिकतम बँटवारे के प्रति चिन्तित रहते थे···इन लोगों ने, बिना किसी अपवाद के, इस बात पर जोर दिया और इस सिद्धान्त के प्रति निष्ठा प्रकट की कि व्यक्तिगत प्रयत्नों और सार्वजनिक नीति का अन्तिम लक्ष्य सब लोगों की भलाई होना चाहिए···इन महान् बुद्धिमान लोगों ने, जिन्होंने अर्थशास्त्र को जन्म दिया, सम्पति के अधिकार के प्रति कोई श्रद्धा नहीं दिखायी।"[1]

पर मार्शल ने इन महान् अर्थशास्त्रियों की उस उदासीनता का भी उल्लेख किया, जो उन्होंने वितरणात्मक सुधारों को अपना समर्थन देने में दिखायी और इस तथ्य का भी उल्लेख किया कि ये अर्थशास्त्री गरीबों की आवश्यकताओं के प्रति 'संवेदनाहीन' दिखायी पड़ते थे। उन्होंने इस बात को इस प्रकार समझाया : "उस युग के महानतम मनीषियों के विचारों की उदारता और व्यापकता कुछ दृष्टियों से आधुनिक युग के सर्वाधिक शिक्षित लोगों के विचारों से संकीर्ण थी।"

यहाँ मार्शल इस बात की ओर संकेत कर रहे हैं कि डेढ़ शताब्दी पहले इंगलैण्ड की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित होने के कारण संस्थापित अर्थशास्त्र में पूर्वाग्रह उत्पन्न हो गये थे। मेरे मन में इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है कि यदि ये अर्थशास्त्री अधिक व्यापक दृष्टिकोण अपनाते और पूर्वाग्रहों से दूर रहते, तो इसका व्यावहारिक राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता।

कार्ल मार्क्स ने स्वयं को रिकार्डो की पूर्वाग्रहग्रस्त असफलता से मुक्त किया और इसी कारण से वे स्वयं अपने मूल्य-सिद्धान्त में निहित आमूल परिवर्तनवादी निष्कर्षों पर पहुँच सके।[2] और निश्चय ही मार्क्स का संसार के राजनीतिक विकास पर महान् प्रभाव पड़ा, और इस प्रभाव में उनके अधिशेष-मूल्य और

शोषण के सिद्धान्त का बहुत बड़ा स्थान रहा।

अब क्योंकि संस्थापित मूल्य-सिद्धान्त, मार्क्स और रिकार्डो दोनों के तत्सम्बन्धी प्रतिपादनों में, नैसर्गिक नियम के दर्शन से प्रभावित होने के कारण बुनियादी तौर पर परिणामपरक सिद्धान्त जैसा वेदान्ती विचार बन गया, अतः हम उनके दृष्टिकोणों का कोई खास लाभ नहीं उठा सकते और यही बात मार्क्स के अन्य अनेक सिद्धान्तों पर लागू होती है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मार्क्स और रिकार्डो की रचनाओं में ऐसे प्रेक्षण और विश्लेषण के अंश मौजूद नहीं हैं, जिनका आज भी महत्त्व है।

और आज भी हमें उनकी रचनाओं की इसलिए जानकारी होना जरूरी है ताकि हम स्वयं अपनी विचारधारा के बारे में ऐतिहासिक दृष्टि से समालोचनात्मक दृष्टिकोण अपना सकें। मैंने पिछले अध्यायों में अक्सर यह बताया है कि आज के अर्थशास्त्री किस प्रकार उस समय अपने ज्ञान के अभाव का प्रदर्शन करते हैं, जब वे गैर-विवेचनात्मक तरीके से और अक्सर निहित अर्थ के रूप में, मार्क्स द्वारा दिखाये गये रास्ते पर आगे बढ़ते हैं।

आज के परम्परावादी अर्थशास्त्री जब पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोणों को व्यवहार में लाते हैं, तो वे सापेक्ष दृष्टि से आरम्भिक युगों के अपने पूर्ववर्तियों के समान ही निष्ठाहीन नहीं होते। लेकिन स्वयं अपने अनुसन्धान की तार्किकता के बारे में उनमें बचकानापन है।

एक दृष्टि से और एक सीमा तक, अपने पीढ़ियों पहले के पूर्ववर्तियों से वे अधिक बचकानापन प्रदर्शित करते हैं। जब एफ० आई० एजवर्थ और हैनरी सिजविक जैसे लोगों ने अपने कल्याण-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, तो उनमें निरपेक्ष मूल्यों में विश्वास करने की क्षमता थी और वे मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में इनके ऊपर अपने सिद्धान्तों को आधारित कर सकते थे। उन्हें एक ऐसे आधार से, ऐसी नींव से अलग हटने की आवश्यकता नहीं थी जैसाकि आधुनिक कल्याण-सिद्धान्तकार करते हैं।[3] इस दृष्टिकोण ने निःसन्देह एजवर्थ और सिजविक की तार्किकता को कम जटिल और कम तर्कविहीन बनाया।[4]

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों और सामान्यतया समाजविज्ञानियों के मध्य व्यापक बचकानापन, जो दो पीढ़ियों से बढ़ रहा है, समाजविज्ञान और समाजविज्ञानियों के समाजशास्त्र के प्रतिपादन की आवश्यकता को अधिक महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक आवश्यकता की वस्तु बना देता है।[5] अर्थशास्त्रियों के समक्ष यह खतरा बना रहता है कि वे इस बात से अनभिज्ञ रहकर कि अपने चारों ओर के समाज से वे किस प्रकार प्रभावित होते हैं, अपने अनुसन्धान जारी रखते हैं—और उनके अनुसन्धानों पर परम्परा का तथा उनके व्यक्तिगत रुझानों का क्या प्रभाव पड़ता है, वे इस बात से भी इसी प्रकार अनभिज्ञ रहते हैं।

हमारे कार्य को आधार बनाकर यह सामाजिक अनुसन्धान किया जा सकता है। अन्य अधिकांश सामाजिक अनुसन्धान से यह अनुसन्धान अपेक्षाकृत

आसान होगा। अनुसन्धानकर्त्ता के समक्ष पूरी विषयवस्तु को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह विषयवस्तु हमारे प्रकाशित लेख और पुस्तकें ही हैं।

तर्कसम्मत आलोचना के द्वारा इस कार्य को आगे बढ़ाया जा सकता है और इस प्रकार असंगत तथा मनमानी मान्यताओं को दर्शाया जा सकता है। इस आलोचना को बहुत व्यापक और अन्तर्भूत बनाना होगा, क्योंकि अधिकांश मान्यताओं को अन्तर्निहित मानकर छोड़ दिया जाता है। जब तार्किकता सम्बन्धी इन खामियों को एक निश्चित दिशा में आगे बढ़ता हुआ देखा जाये, तो इसे इस बात का संकेत समझ लेना चाहिए कि कार्यकारण की शब्दावली में उस सामाजिक प्रभाव को समझाने के लिए सामाजिक अनुसन्धान की आवश्यकता है, जिसका यह परिणाम हुआ है।

इस समाजशास्त्रीय अनुसन्धान का निर्देशक सिद्धान्त वह प्रमुख प्रश्न होना चाहिए, जिसे प्रत्येक जासूसी के कार्य में पूछा जाता है : की वोनो ? इस कार्य से किन निहित स्वार्थों को लाभ हुआ ? ये हित शायद ही कभी सम्बन्धित अनुसन्धानकर्त्ता के हित होते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि ये स्वयं उसके हित नहीं होते, बल्कि उन शक्तियों के हित होते हैं जो उसके चारों ओर व्याप्त समाज में प्रभावशाली बनी हुई हैं।

यदि अनुसन्धान पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होता, तो यह सामूहिक सत्ता के हितों की सेवा करनेवाला अवसरवादिता पर आधारित अनुसन्धान बन जाता है और इस अनुसन्धान में उन्हीं हितों का ध्यान रखा जाता है, जिन्हें यह सामूहिक सत्ता अपना हित मानती है और जो इसके नीति सम्बन्धी विकल्पों का निर्धारण करते हैं। इस कार्य का क्या परिणाम होगा, यह बात अनुसन्धानकर्त्ता के सचेतन ज्ञान की परिधि से बाहर ही रहती है। जैसाकि मैं पहले कह चुका हूँ, अनुसन्धानकर्त्ताओं ने जान-बूझकर पूर्वाग्रहों को नहीं अपनाया है।

अधिक गहन विश्लेषण से यह प्रकट हो जाता है कि सामूहिक सत्ता के हितों की जो कल्पना की जाती है, वह अधिकांशतया तार्किकता पर आधारित नहीं होती। विशेष रूप से, ये हित लम्बी अवधि के न होकर छोटी अवधि के होते हैं और अवसर छोटी अवधि के हितों की दृष्टि से भी अविवेक पर आधारित होते हैं।

विज्ञान और वैज्ञानिकों के समाजशास्त्र की माँग इस आवश्यकता से प्रेरित है कि अनुसन्धानकर्त्ता को स्वयं अपने कार्य के प्रति कम अबोध बनाया जा सके और उसे इस बात के प्रति अधिक सजग किया जा सके कि अनुसन्धान कितनी आसानी से अविवेक से प्रभावित हो जाता है। इस पुस्तक में जिस प्रकार तर्कसम्मत समालोचना की गयी है, उसे इस दिशा में सहायक बनना चाहिए।

यह बात उस स्थिति में अधिकतम सीमा तक प्रभावशाली होगी, यदि यह अनुसन्धानकर्त्ता को उन मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने के लिए प्रेरित करे, जो उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करती हैं अर्थात् अनुसन्धान में प्रयुक्त उसका दृष्टिकोण क्या है, वह क्या प्रश्न उठाना चाहता

है और वे संकल्पनाएं क्या हैं, जिनका वह अपने विश्लेषण में उपयोग करता है।

आर्थिक अनुसन्धान में पूर्वाग्रह के कारणों और विज्ञान और वज्ञानिकों के समाजशास्त्र तथा विज्ञान की तार्किकता के नये और व्यापक विश्लेषण की आवश्यकता पर विचार को राजनीतिक गतिशीलता के अध्याय के बाद विशेष उद्देश्य से रखा गया है। इस बात में सन्देह नहीं है कि आर्थिक अनुसन्धान का राजनीति के विकास पर प्रभाव होता है और उन नीति सम्बन्धी विकल्पों पर भी, जिन्हें कम-विकसित और विकसित दोनों प्रकार के देशों में अपनाया जा रहा है। अतः राजनीतिक विकास के लिए एक ऐसा नमूना अपनाना, जिसमें इस बात की उपेक्षा की गयी हो कि हम अर्थशास्त्रियों की रचनाओं का क्या प्रभाव हो रहा है, यथार्थ से पूरी तरह मेल नहीं खायेगा।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक अनुसन्धान से पूर्वाग्रह की समाप्ति के परिणामस्वरूप, ऐसे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकलेंगे, जिनमें कम-विकसित देशों में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों और विकसित देशों में सहायता और व्यापार सम्बन्धी नीतियों में आमूल परिवर्तन की माँग होगी। इन परिवर्तनों का विशेष रूप से उल्लेख इस पुस्तक के पहले के अध्यायों में हो चुका है। कम-विकसित और विकसित देशों में जो हजारों अर्थशास्त्री अनुसन्धान कर रहे हैं, यदि उसकी दिशा को इस प्रकार पुनर्निर्देशित किया जाता है तो इस अनुसन्धान का राजनीति पर निश्चय ही असर होगा। यह तथ्य भी सामाजिक यथार्थ का एक अंश है कि लोग अपने नीति सम्बन्धी चुनावों में विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत बनना चाहते हैं।

कम-विकसित देशों की विकास सम्बन्धी समस्याओं का मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के दृष्टिकोण से अध्ययन करना काल्पनिक और राजनीतिक दृष्टि से 'अयथार्थवादी' दिखायी पड़ सकता है, यद्यपि ये मान्यताएँ अन्यत्र व्यक्त आदर्शों के अनुरूप होती हैं। इन आदर्शों के प्रति सत्तारूढ़ व्यक्तियों की वास्तविक आस्था और सहमति नहीं होती और वे इन आदर्शों को व्यवहार में लाने के लिए बलिदान करने के लिए तैयार नहीं होते। और यह बात कम-विकसित और विकसित दोनों देशों के बारे में सही है।

इस सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर जोर देना आवश्यक है कि इन आदर्शों को लागू करने की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास करना भी वांछनीय है। इसी प्रकार, विपरीत दिशा में आगे बढ़ना अवांछित है। इस समय जो प्रवृत्ति मौजूद है, उसे बदलने के लिए प्रयास करना और आदर्शों को अधिक बेहतर तरीके से व्यवहार में लाने की दिशा में आगे बढ़ने की गति को तेज करना राजनीतिक दृष्टि से एकदम 'अव्यावहारिक' करार नहीं दे दिया जाना चाहिए। वास्तव में, एक ऐसे परिवर्तन के लिए प्रयास करना नीति सम्बन्धी अध्ययन का स्पष्ट उद्देश्य होना चाहिए और यह अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से तर्कसम्मत तरीके से किया जाना चाहिए।

इसके अलावा यह मानकर चलना कि आज जो स्थिति है, जिसमें सामाजिक परिवर्तन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी शामिल है, वही कायम रहेगी, एक यथार्थवादी विचार नहीं है। लोगों के दृष्टिकोण बदल सकते हैं, और इसी प्रकार संस्थाओं और सत्ता के स्वरूप को उनके दृष्टिकोणों से जो समर्थन मिलता है,

उसमें भी परिवर्तन हो सकता है। और इन दृष्टिकोणों को बदलने के लिए प्रेरित भी किया जा सकता है। कुछ विशष परिस्थितियों में बड़े और अचानक किये जानेवाले प्रेरित परिवर्तनों को छोटे और धीरे-धीरे लागू किये जानेवाले परिवर्तनों से कम लोकप्रिय प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा। (देखिए, अध्याय-14)।

नीति सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं के अलावा इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि स्पष्ट रूप से परिभाषित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के दृष्टिकोण से कम-विकसित देशों की समस्याओं का अध्ययन बुनियादी तौर पर एक ऐसा तर्कसम्मत कार्य है, जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ के अध्ययन को पूर्वाग्रहग्रस्त होने से बचायेगा और इस प्रकार दोषपूर्ण होने से भी। तथ्यों की स्थापना के सन्दर्भ में इस प्रकार पूर्वाग्रह और दोषपूर्ण निष्कर्षों से बचा जा सकेगा।

एशियन ड्रामा में व्यक्त विचारों को अक्सर 'निराशावादी' कहा गया है और इन्हीं विचारों को इस पुस्तक में भी फिर दोहराया गया है। मैं इस आलोचना को स्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत मैं यह दावा करता हूँ कि मेरे इन और अन्य अध्ययनों में कार्यविधि सम्बन्धी जिस सिद्धान्त को अपनाया गया है, वह तार्किकता द्वारा प्रस्तुत एकमात्र ऐसा तरीका है, जिसके आधार पर यथार्थ की प्राप्ति हो सकती है।

अधिकांश आर्थिक साहित्य में प्रदर्शित अधिक 'आशावाद' अनुसन्धान के प्रति उनके दृष्टिकोणों के अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त होने का परिणाम है—यही आशावाद सरकारी संस्थाओं के आर्थिक सचिवालयों के अनेक अध्ययनों में ही नहीं दर्शाया गया है, बल्कि अन्तरसरकार-संगठनों में भी इसे प्रकट किया गया है और इन विभागों और संगठनों के अन्तर्गत काम करनेवाले विशेषज्ञों की विशेष रिपोर्टों में भी यह आशावाद प्रकट हुआ है।

यह तथ्य इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में पर्याप्त स्पष्ट कर दिया गया है। परम्परागत अर्थशास्त्री अपने पूर्वाग्रहों के प्रति सजग नहीं है। वह यह विश्वास करता है कि वह 'निरपेक्ष' तरीके से और 'तथ्यों पर आधारित' तरीके से काम करता है। इस कारण से वह पूर्वाग्रह की समस्या पर विचार करने के लिए भी एकदम राजी नहीं होता। इस कारण से मैंने इस पुस्तक में इस कर्त्तव्य को अपने समक्ष रखा है कि सामान्य पूर्वाग्रहों पर चर्चा करूँ और इन्हें स्पष्ट रूप से व्यक्त करूँ।

अर्थशास्त्र की दिशा के इस प्रकार पुनर्निर्देशित होने के सम्बन्ध में मैं निराश नहीं हूँ। आजकल व्याप्त पूर्वाग्रहों से ग्रस्त अनुसन्धानकर्त्ताओं में पूरी चेतना उत्पन्न होने से पहले ही और इस स्थिति से पहले भी कि वे अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करके मूल्यांकन करने के लिए तैयार हों, आंशिक रूप से यह परिवर्तन आयेगा।

एक सीमा तक, समस्त निष्ठापूर्ण अनुसन्धानों के भीतर अपने-आपको स्वस्थ बनाने अथवा अपनी खामियों को दूर करने की क्षमता होती है।[6] जैसाकि एक बार नुट्विकसेल ने कहा था कि वैज्ञानिक स्वयं अपने द्वारा चुने गये दृष्टिकोण से श्रेष्ठ होता है। उसके समक्ष ऐसे सत्य आ खड़े होते हैं, वह ऐसे सत्यों का

अनुसन्धान कर लेता है, जिनके अनुसन्धान में वह नहीं लगा था।

अब यहाँ आकर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इससे पहले के अध्यायों में मैंने जो आलोचना की है, वह तार्किकता पर आधारित रही है तथा इसका सम्बन्ध अत्यन्त कठोर वैज्ञानिक प्रेक्षण, विश्लेषण और सतर्कता की अपेक्षा से रहा है। मैंने वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की उन खामियों की ओर संकेत किया है, जिनका कोई भी अर्थशास्त्री, यदि मेरी आलोचना सही है, समर्थन नहीं कर सकता; चाहे वह मेरे इस सामान्य निष्कर्ष से सहमत हो अथवा नहीं कि ये खामियाँ पूर्वाग्रहों के कारण उत्पन्न होती हैं।

कठोरता और सतर्कता के अभाव के बारे में ऊपर जो मूल्यांकन किया गया है, वह विश्लेषण को कथित 'आर्थिक कारकों' तक सीमित रखने और अन्य कारकों की उपेक्षा कर देने की हमारी प्रवृत्ति पर लागू होता है—यद्यपि इन अन्य कारकों के महत्त्व की अक्सर सामान्य घोषणा की जाती है। यह उन संकल्पनाओं के दुरुपयोग पर लागू होता है, जो हमारी पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं के विश्लेषण में तो उपयोगी होती हैं, लेकिन कम-विकसित देशों के आर्थिक यथार्थ से अधिकांशतया मेल नहीं खातीं—उदाहरण के लिए, 'बेरोजगार' और 'रोजगार की कमी' जैसी संकल्पनाएँ। यह उन समग्र योगों और बाजार की शब्दावली के उपयोग पर लागू होता है, जिनका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के सन्दर्भ में उल्लेख किया जाता है, जबकि इन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में या तो अधिकांशतया बाजारों का अस्तित्व होता ही नहीं अथवा ये अत्यधिक अपूर्ण होते हैं।

इसके साथ ही आँकड़ों के उपयोग के सिलसिले में अग्राह्य लापरवाही दिखायी जाती है, उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय से सम्बन्धित आँकड़ों के उपयोग के बारे में, और इस सम्बन्ध में इस बात की जाँच नहीं की जाती कि कम-विकसित देशों में इन शब्दों की क्या परिभाषा दी जाती है अथवा इनकी गणना के क्या प्रेक्षणात्मक आधार हैं। इस बात का स्पष्टीकरण दिये बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं, परम्परागत अर्थशास्त्री उत्पादन की परिवर्तन-दर अथवा आय को 'विकास' का समरूप मान लेते हैं।

यह कार्य अक्सर वितरण सम्बन्धी पहलू और इससे भी कम उन अन्य 'गैर-आर्थिक' कारकों के महत्त्व का उल्लेख किये बिना ही किया जाता है, जो कम-विकसित देशों की विकास-प्रक्रिया में सहायक होते हैं। यह लापरवाही पूर्वाग्रह की प्रवृत्ति के उद्देश्य की पूर्ति करती है, अन्यथा उस रूप में आँकड़ों का इस्तेमाल सम्भव नहीं हो सकता जिस रूप में अक्सर इनका इस्तेमाल किया जाता है।

इससे भी अधिक सामान्य रूप से, आँकड़ों का प्रेक्षण और संग्रह ऐसी श्रेणियों के उपयोग के द्वारा किया जाता है, जो कम-विकसित देशों की परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं है। इसके परिणामस्वरूप आँकड़े अत्यन्त भ्रामक और अक्सर निरर्थक बन जाते हैं। राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय के आँकड़ों के अलावा, यही बात 'बचत' के कुल योगों और, विशेष रूप से 'बेरोजगारी' और 'रोजगार की कमी' के आँकड़ों पर लागू होती है।

आँकड़ों की खामियाँ सामान्यतया अवसरवादी पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप होती हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य, उदाहरण के लिए, भू-स्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी तथ्य, केवल दोषपूर्ण ही नहीं हैं, बल्कि अक्सर इन तथ्यों को एकत्र करने के मार्ग में बाधा डाली जाती है, अथवा जब इन्हें एकत्र कर भी दिया जाता है, तो इनकी जानकारी नहीं दी जाती और यह कार्य शक्तिशाली निहित स्वार्थों के प्रभाव के द्वारा होता है।

जैसाकि मैंने इस पूरी पुस्तक में, पर विशेषकर अध्याय-6 में कहा है, अन्य आँकड़े भी, उदाहरण के लिए, साक्षरता और स्कूलों में भर्ती सम्बन्धी आँकड़े, आलोचनाविहीन दृष्टि से तैयार और इस्तेमाल किये गये। अब क्योंकि इन आँकड़ों में शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियों को सामान्य रूप से बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया गया है, ये आँकड़े 'आशावादी' पूर्वाग्रहों के उद्देश्यों की भी पूर्ति करते हैं।

यूनेस्को सचिवालय ने इन आँकड़ों की जाँच करने अथवा इनमें सुधार करने का कोई गम्भीर प्रयास भी नहीं किया है, यद्यपि यह कार्य बहुत अधिक कठिन नहीं होता। यूनेस्को कुछ चुने हुए जिलों में वास्तविक साक्षरता की स्थिति और वास्तव में स्कूल जानेवाले बच्चों की संख्या की गणना करके, इसका गहराई से प्रेक्षण करके और इनकी तुलना जनगणनाओं और स्कूलों सम्बन्धी आँकड़ों में दी गयी संख्याओं से करके सही निष्कर्ष निकाल सकता है। अन्तरसरकार-संगठनों के किसी भी सचिवालय ने और इन आँकड़ों का उपयोग करनेवाले अध्येताओं में से भी किसी ने यह सुझाव नहीं दिया है कि यूनेस्को यह कार्य करे। इन आँकड़ों को जैसे-का-तैसा स्वीकार कर लेने से, इनकी वैधता अथवा सहीपन के बारे में शंका उठाये अथवा जाँच किये बिना ही इनका उपयोग करने से उनके सामान्य और पूर्वाग्रहग्रस्त उद्देश्यों की पूर्ति होती रही है।

हम लोगों ने विकसित देशों से कम-विकसित देशों को प्राप्त होनीवाली सार्वजनिक सहायता अथवा पूँजी के आगमन सम्बन्धी आँकड़ों की सचमुच भयंकर गड़बड़ की अनुमति दी है और यह कार्य इस तथ्य के बावजूद हुआ है कि कम-विकसित देशों की तुलना में विकसित देशों में आँकड़े कहीं अधिक सही और पूर्ण रूप से उपलब्ध हैं और तथ्यों के बारे में ईमानदारी पर आधारित और सही विवरण दे पाना सम्भव होना चाहिए। इससे विकसित देशों में यह अनुभव करने का अवसरवादी हित दिखायी पड़ता है कि उन्होंने बहुत अधिक बलिदान दिये हैं, जबकि वास्तव में उन्होंने कम-विकसित देशों को उनके विकास के लिए सहायता देने में वास्तव में इस सीमा तक बलिदान नहीं किया।

हम लोगों ने अक्सर अपनी वैज्ञानिक शब्दावली के ऊपर लोकप्रिय, और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावित विचार-विमर्श में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों का हमला होने दिया है। उदाहरण के रूप में इन अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत प्रयुक्त 'विकासशील देश' और 'स्वतन्त्र संसार' जैसे शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। जब हमारा अभिप्राय एक कम-विकसित देश से होता है तब हम 'विकासशील देश' का इस्तेमाल करते हैं अथवा जब हम गैर-कम्युनिस्ट संसार का उल्लेख करना चाहते हैं तो 'स्वतन्त्र संसार' जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग करने लगते हैं। मुझे यह महत्त्वहीन और अनजाने में किया गया भाषा सम्बन्धी कार्य दिखायी नहीं पड़ता, बल्कि मुझे इसमें एक अत्यन्त गहन पूर्वाग्रह का संकेत दिखायी पड़ता है। और तर्क के

आधार पर भी ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग चिन्ताजनक होना चाहिए।

मैं इस बात पर विश्वास ही नहीं कर सकता कि आज कम-विकसित देशों की समस्याओं के बारे में तथा विकसित देशों से इनके सम्बन्धों के बारे में जो बड़े पैमाने पर अनुसन्धान-कार्य हो रहा है, एक के बाद एक मुद्दे पर अर्थशास्त्र की इन अत्यन्त बड़ी खामियों को देख-समझ नहीं सकता और इसमें सुधार नहीं किया जा सकता। किसी कम-विकसित देश में शिक्षा की समस्या के किसी भी गहन अनुभवजन्य अध्ययन से 'मनुष्य में नियोजन' की शब्दावली में इस समस्या के प्रति वित्तीय दृष्टिकोण में जो सतही और गलत धारणाएँ प्रदर्शित की गयी हैं, वे स्पष्ट हो जायेंगी।

और कृषि-समस्या का कोई भी गहन अध्ययन—कृषि में लगी श्रम-शक्ति का अल्प-उपयोग और यह खतरा कि आबादी में वृद्धि और कृषि-टेक्नोलॉजी की हाल की प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप इसमें और वृद्धि होगी—भूमि-सुधार की समस्या को स्पष्ट रूप से प्रकट करेगा, जिसे हाल में विकसित और कम-विकसित दोनों देशों में प्राय: पूरी तरह भुला दिया गया है।

जब एक के बाद एक अर्थशास्त्री उन गलतियों के प्रति सजग हो जायेगा, जो वह स्वयं और अन्य अर्थशास्त्री देख और सुधार रहे हैं और जब यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये गलतियाँ विधिवत् और एक सामान्य हित के अनुरूप होती हैं, तो प्रत्येक अर्थशास्त्री यह सवाल पूछने के लिए बाध्य होगा : क्यों और कैसे ? उस समय प्रत्येक अर्थशास्त्री उन पूर्वाग्रहों को देखने और उनकी जाँच-पड़ताल करने की स्थिति में पहुँच जायेगा, जो अब प्रेरक शक्ति बने हुए हैं।

इसके बाद मूल्यांकन स्पष्ट रूप से मैदान में आ जायेंगे। और एक अनुसन्धान-कर्त्ता के रूप में अर्थशास्त्री अपनी स्थिति की तार्किकता से प्रेरित होकर यह पूछने के लिए बाध्य होगा कि स्वयं उसकी मूल्य सम्बन्धी मान्यताएँ क्या हैं ? यह अर्थशास्त्र और सामान्यतया समाजविज्ञानों की सच्ची और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण 'मूल्य' सम्बन्धी समस्या है।

यह हो जाने के बाद, वह ऐसा प्रकाश प्राप्त कर चुका होगा जो उसे अर्थशास्त्र की खामियों का पता लगाने और इन खामियों को सुधारने की दिशा में आगे बढ़ाने का काम करेगा। अर्थशास्त्र का सुधार इस यथार्थवादी और अन्वेषक तरीके से कहीं अधिक निश्चित रूप से होगा, यद्यपि इसमें कुछ समय लगेगा। यह सुधार विज्ञान के हमारे बुनियादी दर्शन में सुधार के परिणामस्वरूप होनेवाले सुधारों से कहीं अधिक यथार्थवादी और अन्वेषक तरीके से होगा। यही कारण है कि मैंने अध्याय-1 में सामान्य दार्शनिक समालोचना तक ही स्वयं को सीमित नहीं रखा, बल्कि इस समालोचना को अनेक समस्याओं की दिशा में आगे बढ़ाया और एक के बाद एक समस्या को उठाया।

मैं विशेष रूप से कम-विकसित देशों में आँकड़ों में सुधार करने की आवश्यकता पर जोर देना चाहता हूँ। इस कार्य के लिए, हम अर्थशास्त्रियों को प्राथमिक जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए; क्योंकि हम ही अपने विश्लेषणों

में इन आँकड़ों के प्रमुख उपभोक्ता हैं और संकल्पनाओं की परिभाषा करनेवाले लोग भी हम ही हैं और इसी प्रकार प्रश्न उठानेवाले व्यक्ति भी हम ही हैं। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विरुद्ध मेरा आरोप यह है कि उन लोगों ने प्रभावहीन आँकड़ों से अपनी पुस्तकों को भर डाला है और इन आँकड़ों के आधार पर ही अपने निष्कर्ष निकाले हैं और यह कार्य इन आँकड़ों की समालोचनात्मक जाँच के बिना ही किया गया है, जबकि वैज्ञानिक होने के नाते हमें यह जाँच अवश्य करनी चाहिए थी।

जब हम मात्रा की बात पर आते हैं, तो हमारा ज्ञान अत्यन्त कमजोर सिद्ध होता है। ऐसा कोई भी गम्भीर अनुसन्धानकर्त्ता, जो प्रकाशित आँकड़ों को तैयार करने के तरीकों की जाँच करेगा, इनकी अत्यन्त अविश्वसनीयता को देखे बिना नहीं रह अकता। यह बात भारत जैसे देश के बारे में भी सही है, जहाँ, अत्यन्त छोटे बुद्धिवादी विशिष्ट वर्ग के मध्य, अत्यन्त स्वतन्त्र रूप से और अत्यन्त ऊँचे तथा परिष्कृत स्तर पर विचार-विमर्श होता रहा है। ये आँकड़े विश्वासयोग्य नहीं हैं।

आँकड़ों सम्बन्धी अपूर्णता का एक कारण यह है कि प्रेक्षण और आँकड़ों को एकत्र करने का कार्य उन श्रेणियों के आधार पर किया जाता है, जो कम-विकसित देशों के यथार्थ के अनुरूप नहीं हैं। इसके परिणामस्वरूप जो आँकड़े एकत्र होते हैं, वे अत्यन्त भ्रामक होते हैं अथवा निरर्थक। दूसरा कारण प्रश्नों की परिभाषा में प्रदर्शित अत्यन्त असावधानी है और वास्तविक बुनियादी प्रेक्षणों को पूरा करने में भी यही असावधानी दिखायी गयी है।

कम-विकसित देशों में प्राथमिक आवश्यकता बहुत बड़ी संख्या में अत्यन्त सूक्ष्म किस्म के सांख्यिकी सिद्धान्तकारों की नहीं है, क्योंकि यह कार्य तुरन्त एकत्र किये जानेवाले आँकड़ों की सीमा के बाहर दिखायी पड़ता है। आवश्यकता ऐसे अच्छी तरह प्रशिक्षित लोगों की है, जिन्हें कम-विकसित देशों की परिस्थितियों का ठोस ज्ञान हो और जो इन देशों के सामाजिक यथार्थ के अनुरूप तत्त्वों के बारे में प्रश्न निर्धारित करने की विवेचनात्मक क्षमता रखते हों। उन लोगों को यह जानना चाहिए कि किस प्रकार वे अपने प्रेक्षणों को प्रभावशाली ढंग से निर्देशित और संगठित कर सकते हैं और इसके साथ ही उन्हें आँकड़ों की जाँच करने के तरीकों और कुछ अन्य साधारण सांख्यिकी सम्बन्धी तरीकों का प्राथमिक ज्ञान होना चाहिए।

कम-विकसित देशों में ऐसे पेशेवर प्रशिक्षित कर्मचारियों को तैयार करने में सहायता देना एक ऐसा कार्य है, जिसे विकसित देशों को तकनीकी सहायता के अन्तर्गत उच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। यह बात स्वाभाविक होगी यदि संयुक्त राष्ट्रसमूह के अन्तरसरकार-संगठनों की सांख्यिकी सेवाओं को यह विश्वव्यापी तकनीकी सहायता देने का कार्य प्रमुख रूप से सौंपा जाये। इन संगठनों को यह निर्देश दिया जाना चाहिए कि ये—सम्बन्धित सरकारों के अनुरोध पर—आँकड़ों को एकत्र करने के कार्य के गठन, शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए विशेषज्ञों को इन देशों में भेजेंगे। और उन्हें इन कार्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक धनराशि भी दी जानी चाहिए।

पर यह कार्य करने और इन नयी माँगों को पूरा करने का प्रयास करने से

पहले, इन्हें स्वयं अपने घर की सफाई करना जरूरी होगा। इन लोगों को यह अनुभव कराना होगा कि कम-विकसित देशों के बारे में फिलहाल इन संगठनों ने स्वयं जो आँकड़े तैयार किये हैं, वे अक्सर पुराने, अनुपयोगी और दोषपूर्ण हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह संगठन उस समय तक अर्थशास्त्र के अपेक्षित मानकों के अनुरूप कार्य करने का नाटक नहीं रच सकते, जब तक वे सरकारों से प्राप्त आँकड़ों को बिना किसी विवेचन के स्वीकार करते रहेंगे और इन्हें जैसे-का-तैसा प्रस्तुत करते रहेंगे। कम-विकसित देशों में आँकड़ों में सुधार करने का प्रयास करने के क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करने का प्रयास करने की पहली शर्त यह है कि वे उन आँकड़ों की आलोचना शुरू करें जो उन्हें दिये जाते हैं। और इन संगठनों को उस आपसी भाईचारे को भी त्याग देना चाहिए, जो इन्हें एक-दूसरे के प्रकट रूप से दोषपूर्ण आँकड़ों को जैसे-का-तैसा प्रस्तुत करने की प्रेरणा देता है और इससे भी अधिक अक्सर यह होता है कि वे स्वयं अपने संगठनों के महत्त्वपूर्ण विभागों को अपने विश्लेषणों में इन्हीं आँकड़ों का उपयोग करने देते हैं (देखिए, अध्याय-10)।

मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि इन संगठनों की सांख्यिकी सेवाओं में इस बात का अधिकाधिक अहसास कि 'विज्ञान आलोचना ही है' और विशेष रूप से आँकड़ों में सुधार करने के वास्तविक प्रयासों के परिणामस्वरूप वे सांख्यिकी के कार्य में उच्च योग्यताप्राप्त व्यक्तियों को अपने यहाँ भर्ती कर सकेंगे। इसके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों में आँकड़ों में सुधार का कार्य गतिशील होगा, जिसके लिए मैं निरन्तर अनुरोध कर रहा हूँ।

मैं यह कह चुका हूँ कि हम अर्थशास्त्री विवेकसम्मत नीति सम्बन्धी विकल्पों और वास्तविक विकल्पों के बीच की प्रमुख सम्पर्क-कड़ी हैं। और हमारे ऊपर विश्लेषणकर्त्ताओं तथा नीतिनिर्धारण के क्षेत्र के परामर्शदाताओं के रूप में प्रमुख जिम्मेदारी आती है।

लेकिन हम लोग बौद्धिक शून्य में कार्य नहीं कर रहे हैं। हम लोग विकसित और कम-विकसित देशों के अपने विचारों को व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले लोगों का एक हिस्सा-भर हैं। ये लोग ही उस बौद्धिक पर्यावरण का निर्माण करते हैं, जिसमें हम रहते और कार्य करते हैं। ये लोग भी, हमारी तरह ही, कार्यकारण की शब्दावली में, लक्ष्यों और साधनों की शब्दावली में तर्क करते हैं। विज्ञान अत्यन्त उच्च तार्किकता पर आधारित सामान्य सूझबूझ के अलावा अन्य कुछ भी नहीं है।

ये लोग, जो निश्चय ही हमारे विचारक्रम का अनुसरण करते हैं, कम-विकसित देशों के शासक वर्ग के लोग हैं और इनमें इनके पीछे चलने वाले लोग भी शामिल हैं। और यह समूह उन समस्त विचारशील लोगों का समूह है, जो शासन से सम्बन्धित हैं, चाहे इनका वर्तमान प्रभाव कुछ भी क्यों न हो। विकसित देशों में ये लोग मतदान करते हैं, कानून बनाते और शासन करते हैं। जनमत को स्वरूप और अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, और यह जनमत अपने विचारों को

व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले लोगों के भावों और विचारों से ही निर्मित है।

जो अर्थशास्त्री नीति सम्बन्धी विकल्पों को प्रभावित करना चाहता है, उसे अन्ततः जनसामान्य को अपने विचारों से आश्वस्त करना होगा, अर्थशास्त्र के अपने सहयोगियों भर को नहीं। यही कारण है कि मैंने इस पुस्तक को यथासम्भव सरल शब्दावली में लिखा है। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि सरलता के लिए मुझे तार्किक कठोरता का बलिदान नहीं करना पड़ा।

मैं इस बात के प्रति भी सजग हूँ कि अर्थशास्त्र में जो पूर्वाग्रह हैं, उनके विरुद्ध संघर्ष उस स्थिति में अधिक सफल हो सकेगा यदि बुद्धिमान लोगों के मध्य, चाहे वे अर्थशास्त्र से सम्बन्धित हों अथवा नहीं, हमारे सोचने के तरीकों पर विचार करने तथा उनकी आलोचना करने में तेजी से सफलता प्राप्त होगी। जो सामाजिक शक्तियाँ आर्थिक अनुसन्धान को प्रभावित करती हैं और इन्हें पूर्वाग्रह के गर्त में धकेल देती हैं, वे उस स्थिति में पर्याप्त रूप से कमजोर हो जायेंगी।

●

· परिशिष्ट

लेटिन अमरीका की विस्फोटक स्थिति

एशियन ड्रामा पूरे संसार के कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं पर लिखी गयी पुस्तक नहीं थी। जैसाकि मैंने बार-बार दोहराना अपना कर्तव्य समझा, इसका सम्बन्ध दक्षिण एशिया से रहा, क्योंकि कम-विकसित संसार का यही एकमात्र ऐसा भाग था जिसका मैंने बड़ी गहराई से अध्ययन किया।

लेकिन जब प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्य से मुझे अन्य क्षेत्रों की परिस्थितियों की ओर ध्यान देना पड़ा, तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि समस्त प्रकट अन्तरों के बावजूद, जिनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी अन्तर भी महत्त्वपूर्ण था, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत समान थीं और इनके परिणामस्वरूप नीति सम्बन्धी समस्याएँ भी समान रूप से उत्पन्न हुई थीं।

अधिकांश कम-विकसित देशों में अत्यन्त सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का समान स्वरूप दिखायी पड़ता है और यह लगता है कि प्रायः सर्वत्र असमानताएँ बढ़ रही हैं। इन अधिकांश देशों का शासन, चाहे इनकी सरकार का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, छोटे-छोटे यद्यपि बदलते रहनेवाले समूहों के हाथ में है। प्रायः बिना किसी अपवाद के ये सब नरम राज्य हैं, भ्रष्टाचार व्याप्त है और सामान्यतया इसमें वृद्धि हो रही है।

भूमि-सुधार को प्रायः नियमित रूप से नाकाम बना दिया जाता है। उन स्थानों पर भी, जहाँ इसकी घोषणा नीति के एक बड़े लक्ष्य के रूप में की जाती है। समस्त कम-विकसित देशों के समक्ष आबादी की एक-सी ही समस्या है। इन सब देशों को जन्म-दर-नियन्त्रण की नीति की ओर बढ़ते हुए देखा जा सकता है, यद्यपि ये देश इस कार्य को एक निश्चित सरकारी कार्यक्रम का रूप देने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थितियों में हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी, समस्याएँ आश्चर्यजनक सीमा तक समान दिखायी पड़ती हैं। गैर-कम्युनिस्ट संसार में प्रौढ़ शिक्षा की बड़े अविवेकपूर्ण तरीके से उपेक्षा की गयी है। शिक्षा के प्रसार अर्थात् मात्रा पर बहुत अधिक जोर दिया गया है अर्थात् कितने अधिक बच्चे और युवक स्कूलों में पढ़ते हैं, इस बात पर अधिक जोर दिया गया है और शिक्षा के स्तर और प्रकार की उपेक्षा कर दी गयी है। प्रायः सर्वत्र बीच में ही पढ़ाई छोड़ देनेवाले और परीक्षाओं में असफल होने-वाले विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा की प्रभावशालिता को गम्भीर रूप से क्षति पहुँचा रहे हैं। सामान्य रूप से जिन कार्यक्रमों को विज्ञापित किया जाता है, उसके विपरीत, माध्यमिक और कालेज शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के ऊपर तरजीह दी जाती है, यद्यपि माध्यमिक स्कूलों और कालेज की शिक्षा कहीं

अधिक व्ययसाध्य है। सब स्तरों के स्कूल आवश्यकता से अधिक 'शास्त्रीय' और 'सामान्य' हैं, और इनकी शिक्षा व्यावहारिक, विभिन्न व्यवसायों अथवा पेशों की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है।

इन मूलभूत समानताओं के समक्ष विभिन्न देशों के बीच और इससे भी अधिक विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानताएँ मौजूद हैं। ये समानताएँ विशेषकर राजनीतिक विकास से सम्बन्धित हैं।

लेटिन अमरीका में राजनीतिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। यह क्षेत्र 20 से अधिक भिन्न देशों में विभाजित है, इनमें से कुछ देश बहुत छोटे हैं, तो कुछ काफी बड़े। पूरे लेटिन अमरीकी क्षेत्र की आबादी भारत की आबादी की आधी है। लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में इसका महत्त्व अधिक है।

एक बात तो यह है कि लेटिन अमरीका में राजनीतिक विकास एक ऐसे चरण में प्रवेश कर गया है, जहाँ विचारों और कार्यों दोनों के स्तर पर उग्र मुठभेड़ होती है। इससे उस राजनीतिक स्थिरता की अपेक्षा नहीं की जा सकती, जो राजनीतिक स्थिरता गरीबी से ग्रस्त भारत, कम-से-कम अब तक, दर्शाने में सफल हुआ है।

इसके अलावा लेटिन अमनीका के देश भौगोलिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका के समीप हैं। एक शताब्दी से अधिक समय से संयुक्त राज्य अमरीका इन देशों से अत्यधिक विशेष सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा करता रहा है और उसे ये सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता भी मिली है। लेटिन अमरीका की अधिकांश राजनीतिक गतिशीलता, इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर निर्धारित हुई है।

इन देशों में आर्थिक परिस्थितियों और जातीय गठन की दृष्टि से बहुत बड़े अन्तर हैं। इन देशों के निर्धनतम लोगों के रहन-सहन का आर्थिक स्तर सामान्यतया भारत के प्रायः किसी भी राज्य से ऊँचा है, सम्भवतः पंजाब इसका अपवाद हो सकता है। लेकिन लेटिन अमरीका के अधिकांश देशों की गाँवों और शहरों की गन्दी बस्तियों की गरीबी भयावह है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि असमानताएँ भारत की तुलना में यहाँ कहीं अधिक हैं। अनेक नगरों के कुछ हिस्से समृद्धि और आधुनिकता का विशिष्ट उदाहरण दिखायी पड़ते हैं। और यहाँ पूरी तरह से जमे-जमाये उच्च-उच्च वर्ग के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन और संघर्षशील 'मध्यम वर्ग' के पर्याप्त आरामदेह जीवन के दर्शन होते हैं—इन दोनों समूहों का जीवन गन्दी बस्तियों के उन निवासियों के जीवन से अत्यन्त भिन्न है, जो इनके चारों ओर रहते हैं और जिनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। इस बात में सन्देह है कि लेटिन अमरीका के अधिकांश देशों में गरीबों के तिहाई, अथवा पूरे देश के आधे हिस्से की स्थिति में हाल के दशकों में कोई खास सुधार हुआ है अथवा किसी भी रूप में इनके रहन-सहन में बेहतरी आयी है—या इनके 'जीवन के प्रकार और स्तर में' सुधार हुआ है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसका प्रयोग रॉकफेलर रिपोर्ट[3] में किया गया है।

लेटिन अमरीका के यदि सब नहीं तो अधिकांश देशों में, विशेषकर कुछ बड़े देशों में, भारत की तुलना में अधिक आधुनिक उद्योग हैं, जो उपभोक्ता माल बनाते हैं। लेकिन ये उद्योग और इनकी अर्थव्यवस्थाओं का समस्त आधुनिक क्षेत्र इससे भी कहीं अधिक अलग-थलग पड़ा है।

मुख्यतया उपभोक्ता माल और सेवाओं का उत्पादन और विक्रय उक्त क्षेत्र के भीतर होता है, यह इसके विकास की माँग और इसके भीतर रहनेवाले लोगों की आवश्यकताओं को ही पूरा करता है और क्षेत्र के बाहर इसका कोई खास विकासात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इससे भी अधिक कमी इस बात की है कि उद्योगीकरण को शेष अर्थव्यवस्था के लाभ की दृष्टि से संचालित करने के लिए कोई तर्कसम्मत आयोजन नहीं किया गया है। अतः यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि लेटिन अमरीका के सम्बन्ध में विशेषज्ञता प्राप्त अमरीकी अर्थशास्त्री 'असन्तुलित विकास' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे।[2]

श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग और शहरों तथा गाँवों की गन्दी बस्तियों में गरीबी में वृद्धि की जिन भयावह सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों का विवरण अध्याय-13 में प्रस्तुत किया गया है, वे प्रवृत्तियाँ लेटिन अमरीका में अधिक तेजी से आगे बढ़ रही हैं।

आबादी में वृद्धि अधिक तेजी से हो रही है, और कुछ निरर्थक और अधिकांशतया निजी प्रयासों के अलावा जन-सामान्य में अत्यधिक तेजी से बढ़ती हुई जन्म-दर के नियन्त्रण के लिए कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया जा रहा है। इसके साथ ही बड़े-बड़े खेतों में मजदूरों के स्थान पर मशीनों का इस्तेमाल और अधिक बढ़ा है। भूमि-सुधार को प्रभावशाली तरीके से लागू नहीं किया जा रहा है (अध्याय-4, अनुभाग-2)।

शहरीकरण और अधिक हुआ है और इसकी गति फिलहाल तेज हो रही है। लेटिन अमरीका के अनेक देशों में अब आधे से काफी कम आबादी खेती में लगी है। और इसके बावजूद गाँवों की आबादी अभी भी बढ़ रही है, यद्यपि यह वृद्धि भारत से कहीं अधिक कम तेजी से हो रही है।

लेटिन अमरीका के अधिकांश आर्थिक जीवन पर विदेशी, अधिकांशतया अमरीकी व्यापारियों का प्रभाव है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, संयुक्त कम्पनियों अथवा अन्य व्यवस्थाओं के द्वारा, संयुक्त राज्य अमरीका के बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों का लेटिन अमरीका के 70 से लेकर 90 प्रतिशत तक कच्चे माल के साधनों पर नियन्त्रण है अथवा निर्णायक प्रभाव है। और सम्भवतः इसके आधे से अधिक आधुनिक उत्पादक उद्योगों, बैंकों, वाणिज्य और विदेश-व्यापार तथा इसकी सार्वजनिक सुविधाओं पर भी इनका नियन्त्रण है। यह अनुमान मोटे तौर पर दिये गये हैं, पर ये सम्भवतः सच्चाई से अधिक दूर नहीं हैं।

यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि लेटिन अमरीका की अर्थव्यवस्था में जो भी गतिशीलता है—अथवा आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तनों के बिना हो सकती है—वह मुख्यतया उद्योगीकरण और

खनिज साधनों के उपयोग के परिणामस्वरूप हुई है और इस कारण से इस पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विदेशियों का नियन्त्रण कायम हो जाता है, अधिकांशतया संयुक्त राज्य अमरीका का। इतना ही नहीं, पुराने किस्म के बागानों का संचालन भी, जिनका उत्पादन निर्यात के लिए होता है, विदेशियों के मुनाफे के लिए ही हो रहा है। यूनाइटेड फ्रूट कम्पनी का ही विदेशी आय के आधे से अधिक भाग पर नियन्त्रण है और इस प्रकार लेटिन अमरीका के छह देशों के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर भी इसका नियन्त्रण कायम हो जाता है।

कृषि उपज और खनिजों के रूप में उत्पादित प्राथमिक पदार्थों का लेटिन अमरीका के निर्यात में 90 प्रतिशत हिस्सा है। लेटिन अमरीका के उन देशों में जहाँ पूरक अर्थव्यवस्था नहीं है, वहाँ इन वस्तुओं की खपत निश्चय ही बहुत कम होगी।

इसके अलावा आधुनिक उपभोक्ता उद्योग का विकास संरक्षण के आधार पर हुआ है और इसमें केवल वही सामान बनता है, जिसकी खपत सम्बन्धित देश में होती है। आज भी इस क्षेत्र के विभिन्न देशों के बीच व्यापार नगण्य है।

आधुनिक उपभोक्ता उद्योग ही केवल ऐसा क्षत्र है जिसका स्वतन्त्र व्यापार संघ अथवा साझा बाजार बनाने में प्रबल हित है, जिसके परिणामस्वरूप एक बड़े सुरक्षित बाजार में इसके माल की बिक्री की सुविधा प्राप्त हो सके। अब क्योंकि इस क्षेत्र पर विदेशी हितों का प्रभुत्व है, स्वयं लेटिन अमरीकियों के मध्य आर्थिक एकीकरण के प्रति अधिक उत्साह नहीं रहा। केवल उन लेटिन अमरीकियों को छोड़कर, जो विदेशी हितों से सम्बन्धित रहे। वर्तमान राष्ट्रवादी युग में एकीकरण का आन्दोलन अधिक आगे क्यों नहीं बढ़ सका, इसके स्पष्टीकरण का यह एक अंश है।

लेटिन अमरीका के किसी भी देश में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे बहुमुखी अर्थव्यवस्था से मिलती-जुलती बात कहा जा सके। इनमें से अधिकांश देशों में केवल एक वस्तु कुल निर्यात व्यापार का 40 प्रतिशत या इसके भी अधिक होती है।

लेटिन अमरीका के अधिकांश देश दामों में वृद्धि के विरुद्ध असफल संघर्ष कर रहे हैं। एक वर्ष में दामों में 20 से 30 प्रतिशत तक और यदाकदा इससे भी अधिक वृद्धि हो जाती है। इसके कारण समस्त आर्थिक गणनाएँ अत्यधिक कठिन हो जाती हैं, व्यापार में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है और इसका कम आयवाले वर्ग पर बुरा असर पड़ता है।

लेटिन अमरीका में आरम्भ में बड़े पैमाने पर अमरीकियों ने जो कम्पनियाँ शुरू की थीं और जो निर्यात के लिए कृषि और खनिजों का उत्पादन करती थीं और जिनमें तेल भी शामिल था, उन्होंने अत्यधिक अनुचित व्यापार के तरीकों की स्मृति यहाँ छोड़ी हैं। इन कम्पनियों ने लेटिन अमरीका के इन देशों में भूमि और अन्य रियायतें प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो अनुचित लाभ उठाये, उनकी कटु स्मृति आज भी बनी हुई है।

इस बात का निरन्तर कायम रहनेवाला महत्त्व है, क्योंकि इस प्रकार

प्राप्त सम्पत्ति का अधिकार विदेशियों और मुख्यतया अमरीकियों के हाथ में ही रह जाता है। इन अधिकारों और रियायतों को पहले चुनौती दी गयी है, आज-कल भी दी जा रही है, और इस बात की पूरी सम्भावना है कि भविष्य में इससे भी अधिक दी जायेगी।

लेटिन अमरीका में व्यापार करनेवाले एक अमरीकी व्यापारी ने अमरीका के समाचारपत्र 'यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट' के प्रतिनिधि को बताया :

"इस समस्या का एक हिस्सा यह है...कि विदेशी कम्पनियों को यह कहा जा रहा है कि वे उस बात का स्पष्टीकरण दें, जिसे लेटिन अमरीका के लोग यदाकदा अमरीका के व्यापार का 'भयंकर लूटमारवाला इतिहास' कहते हैं।"[3]

इस बात में सन्देह नहीं है कि इस इतिहास ने एक ऐसी परम्परा का निर्माण किया, जो आज भी लेटिन अमरीका में संचालित कुछ अमरीकी व्यापार प्रतिष्ठानों की व्यापार सम्बन्धी नीतियों को सत्तारूढ़ लोगों से ऐसी साँठगाँठ करने के लिए प्रेरित करती है, जो किसी भी परख के समक्ष टिक नहीं सकती।

इस हानिप्रद विरासत का आंशिक स्पष्टीकरण यह है कि लेटिन अमरीका के देश बहुत अधिक समय पहले स्वतन्त्र हुए, पर स्वतन्त्रताप्राप्ति के पहले इनके ऊपर स्पेन और पुर्तगाल का एक ऐसे दौर में शासन था, जब ये दो कैथोलिक राष्ट्र पिछड़ते जा रहे थे और यूरोप में उदारतावाद तथा सशक्त और भ्रष्टाचार से मुक्त राज्य की स्थापना की दिशा में व्यापक विकास हो रहा था। लेटिन अमरीका के इन देशों को, भारत की तरह, ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील तत्त्वों का लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

उपनिवेशवाद के सकारात्मक योगदान को देखने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इसके अन्धकारपूर्ण पक्ष की उपेक्षा कर दी जाये, जैसाकि भारत में ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के रूप में हुआ। इस अध्याय में मैं भारत की तुलना लेटिन अमरीका से करूंगा, क्योंकि भारत कम-विकसित संसार का ही एक हिस्सा है।

स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद भारत को सार्वभौम मताधिकार और व्यापक नागरिक अधिकारों के आधार पर संसदीय सरकार बनाने में सफलता मिली और कठिनाइयों के बावजूद वह लेटिन अमरीका के प्रायः अधिकांश देशों की तुलना में इन राजनीतिक संस्थाओं को कहीं अधिक दृढ़ता से कायम रख सका। आंशिक रूप से इसका कारण वे बातें हैं जो भारतीयों ने अपने अंग्रेज शासकों से सीखीं। और भारत छोड़ने से पहले जिन्हें अंग्रेजों ने अमल में लाना भी शुरू कर दिया था। इस बात को प्रत्येक विचारशील भारतीय बुद्धिवादी तत्परता से स्वीकार करेगा चाहे वह ब्रिटिश शासन का कैसा भी आलोचक क्यों न हो।

इतना ही नहीं, प्रायः आरम्भ से और विशेषकर उन्नीसवीं और 20वीं शताब्दियों की अवधि में ब्रिटेन की उपनिवेशी सरकार और भारतीय सिविल सर्विस, जो निश्चय ही ब्रिटेन के व्यापारिक हितों की उपेक्षा नहीं करती थीं, यह अनुभव करने लगीं कि स्वयं ब्रिटेन के और अन्य देशों के व्यापारियों के अत्यन्त आपत्तिजनक व्यापारिक तरीकों को रोका जाये।

लेटिन अमरीका के देशों को उपनिवेशी शासन का यह अच्छा प्रभाव प्राप्त नहीं हुआ। अपना प्रभाव निरन्तर बढ़ानेवाले अमरीकी व्यापारी प्रतिष्ठानों

और संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार का प्रभाव लेटिन अमरीका की संस्थाओं में व्याप्त इस कमजोरी को समाप्त करने में सहायक नहीं बन सका, क्योंकि स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन और उत्तर-पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना में व्यापारिक प्रतिष्ठानों और सरकारी अधिकारियों के बीच व्याप्त भ्रष्टाचार और धाँधली से कम मुक्त था और आज भी है (देखिए, अध्याय-7)।

लेटिन अमरीका में 'मध्यम वर्ग' की वृद्धि को 'स्थायित्व' की शक्ति के एक विकल्प के रूप में देखा जा रहा है। यह स्थायित्व इस शब्द के अमरीकी अर्थों में है (व्याख्या के लिए आगे देखिए), जिसमें सतर्कतापूर्ण और धीरे-धीरे संचालित आन्तरिक सुधार की गतिविधि भी सम्भवतः शामिल है, अथवा इसे राष्ट्रवादी विद्रोह की एक शक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है। सम्भवतः सच्चाई यह है कि यह इनमें से कुछ भी नहीं है—अथवा यह कहा जा सकता है कि विभिन्न परिस्थितियों में इसके कुछ हिस्से इनमें से कोई रूप धारण करते हैं।

अधिकांश अन्य कम-विकसित क्षेत्रों की तरह लेटिन अमरीका में भी 'मध्यम वर्ग' आवश्यकता से अधिक विभिन्नता से भरा है और विभाजित है। कहीं भी यह दिखायी नहीं पड़ता कि यह वर्ग सामुदायिक हितों का अनुभव करनेवाले, समान विचारोंवाले संगठित और आत्मचेतना से युक्त लोगों का समूह हो।

'मध्यम वर्ग' के लोग आश्चर्यजनक सीमा तक व्यक्तिवादी हैं। समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में भी अधिक व्यक्तिवादी हैं। इन लोगों का स्वाभाविक रुझान एक साथ मिलकर अपने सामान्य हितों की रक्षा करना नहीं है।

'मध्यम वर्ग' का अधिकांश भाग, विशेषकर पुरानी पीढ़ी के लोग, व्यक्तिगत रूप से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से आगे बढ़ने के काम में पूरी तरह से जुटे हुए हैं। ये लोग जमींदारों और देशी उद्योगपतियों अथवा ब‍ड़े व्यापारियों के उच्च-उच्च वर्ग से ईर्ष्या करते हैं, यद्यपि इन्हें इस उच्च-उच्च वर्ग की सेवा करनी पड़ती है, ताकि अवसर इनके हाथ से न निकल जाये और अक्सर ये लोग बड़ी वफादारी की भावना से यह सेवा करते हैं।

अक्सर इन्हें यह देखने को मिलता है कि अमरीकी कम्पनियाँ अथवा अधिकांश अमरीकी पूंजीवाली कम्पनियाँ इन लोगों को आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से आगे बढ़ने की इनकी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने में सहायता देती हैं और अवसर प्रदान करती हैं। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि इन कम्पनियों में काम करनेवाले लेटिन अमरीकी आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद से सहमत नहीं हैं अथवा इसमें हाथ नहीं बँटाते। लोगों का मस्तिष्क यदाकदा ही तर्कसम्मत तरीके से काम करता है।

कम उम्र में 'मध्यम वर्ग' के सदस्य विद्रोहपूर्ण विचारों का अनुसरण करते हैं और यह बात विश्वविद्यालयों में निरन्तर बढ़ते असन्तोष से प्रकट होती है। ये युवा जीविका कमाने और व्यक्तिगत रूप से आगे बढ़ने के संघर्ष में फँसने से पहले इन विचारों का अनुसरण करते हैं। स्वयं इन आन्दोलनों पर इन लोगों के

व्यक्तिवाद का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि लेटिन अमरीका में कहीं भी 'मध्यम वर्ग' के लोगों ने शहरी अथवा देहाती गन्दी बस्तियों में जाकर जन-समुदाय को अपने हितों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक गतिविधि में शामिल होने के लिए प्रेरित और संगठित करने की इच्छा अथवा योग्यता प्रदर्शित नहीं की। जो लोग शहरी अथवा देहाती गुरिल्ला टोलियों में शामिल होते हैं, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

आधुनिक उत्पादक उद्योग में काम करनेवाले श्रमिकों की एक छोटी-सी संख्या, जो श्रम सघन नहीं है, अन्य कम-विकसित देशों की तरह 'मध्यम वर्ग' से सम्बद्ध रहती है और इनकी आय शहरी गन्दी बस्तियों में रहनेवाले गरीब जन-समुदाय से पर्याप्त ऊँची होती है। लेटिन अमरीका के अनेक देशों में इन लोगों ने शहरीकरण की प्रायः सब व्यावहारिक सम्भावनाओं का लाभ उठाया है। इन लोगों को अपने हितों के लिए लड़ने के लिए तैयार किया जा सकता है। लेकिन ये देहाती और शहरी गन्दी बस्तियों के वास्तविक निर्धन लोगों के हितों से एक-जुटता का प्रायः कभी अनुभव नहीं करते।

यही बात खनिज निकालनेवाले विशाल उद्योग के श्रमिकों के बारे में भी कही जा सकती है, अन्तर केवल इतना है कि ये श्रमिक कृषि बागानों के श्रमिकों की तरह, अक्सर एक वास्तविक सर्वहारा वर्ग के रूप में, 'मध्यम वर्ग' के स्तर से बहुत नीचे रहते हैं।

यदि लेटिन अमरीका में 'मध्यम वर्ग' के लोगों को बड़ी संख्या में विद्रोह करने अथवा यहाँ तक कि क्रान्तिकारी तरीके से सोचने तक के लिए तैयार किया जा सके, तो यह कार्य केवल आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद के प्रसार और उग्रता के परिणाम-स्वरूप ही होगा। लेटिन अमरीका में आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद का अर्थ संयुक्त राज्य अमरीका का विरोध मात्र होता है।

इस प्रकार के राष्ट्रवाद से उच्च-उच्च वर्ग भी पूरी तरह से सुरक्षित नहीं हैं। कुछ लोगों का यह समझना उचित ही दिखायी पड़ता है कि अमरीकी प्रतियोगिता उनके हितों के विपरीत है, यद्यपि ये लोग विशाल अमरीकी व्यापारिक प्रतिष्ठानों से सहयोग करने की कोशिश करते हैं और इससे उन्हें लाभ भी होता है। सामान्य रूप से ये लोग राजनीतिक 'स्थिरता' में अमरीकी दिलचस्पी से भी सहमत होते हैं और इस स्थिरता की उनकी व्याख्या अमरीकियों जैसी ही होती है। इसके बावजूद, उच्च-उच्च वर्ग के विशाल हिस्सों में अमरीका-विरोध की भावना व्याप्त है।

निरन्तर बढ़ते अमरीका-विरोध पर विचार करने से पहले, यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि लेटिन अमरीका के देशों में अक्सर जो क्रान्तियाँ होती हैं, और हाल के वर्षों में जो नियमित रूप से सैनिक गुटों द्वारा सरकार का तख्ता उलटने और सत्ता पर अधिकार करने की कार्रवाइयाँ रहीं, और अब निरन्तर बढ़ती हुई हिंसा की प्रवृत्ति, उससे हमें इस धोखे में नहीं पड़ जाना चाहिए

कि जन-समुदाय अधिक सक्रिय हो गया है अथवा सक्रिय हो रहा है। पश्चिम यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका के, उग्र क्रान्तियों के प्रति रूमानी उत्साह रखनेवाले, वामपन्थी बुद्धिवादियों में बहुत-से लोग इस भ्रान्ति से ग्रस्त हैं।

शुरू में ही यह कहा जा सकता है कि जन-सामान्य का राजनीतिक गतिविधि में हिस्सा लेना आश्चर्यजनक सीमा तक कम है। यद्यपि कुछ सीमा तक राजनीतिक लोकतन्त्र कायम हो चुका है और चुनावों का आयोजन किया जाता है। यह बात मानकर चला जा सकता है कि जो लोग मतदान में हिस्सा नहीं लेते, उनमें अधिकांश निर्धन वर्ग के लोग होते हैं।

अक्सर मतदाता-सूची में नाम लिखाने के लिए साक्षर होना जरूरी होता है। इसके अलावा शहरों की गन्दी बस्तियों में रहनेवाले लोगों का कोई पता भी नहीं होता। मतदाता-सूची में नाम दर्ज कराने का तरीका बड़ा जटिल है। लेकिन यह स्पष्ट है कि अधिकांश गरीब लोग वोट डालने की चिन्ता नहीं करते। जब कभी वे मतदान करते हैं तो उन पार्टियों के उम्मीदवारों के लिए जिनके ऊपर कुछ लोगों का आधिपत्य है और जो भ्रष्ट हैं और जिन्हें गरीबों के हितों की कोई चिन्ता नहीं है।

गाँवों में अक्सर वे जमींदारों के हुक्म के अनुसार वोट डालते हैं, क्योंकि वे उन जमींदारों पर निर्भर रहते हैं। ये जमींदार लोग मतदाताओं को डराने-धमकाने और पूरी तरह से अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिए भारत की तुलना में कहीं अधिक नृशंस तरीके अपनाते हैं। पर इन कार्यों के विरुद्ध शायद ही कभी कोई विरोध-आन्दोलन छेड़ा जाता हो।

अपवाद अवश्य हैं। लेकिन सामान्यतया चुनावों के समय निम्न वर्गों के लोगों का आचरण इस मान्यता को गलत प्रमाणित नहीं करता कि जन-समुदाय अपने राजनीतिक हितों और गतिविधि के प्रति सजग नहीं हुआ। वैसे लेटिन अमरीका में स्वयं चुनाव भी दुर्लभ होते हैं।

अनेक गुरिल्ला आन्दोलनों का जन-समुदाय में व्यापक रूप से फैलने में असफल रहना — आजकल कोलम्बिया, बोलीविया, ग्वाटेमाला और वेनेजुएला में विशेष रूप से और यदाकदा अर्जेनटीना, ब्राजील, पेरू और इक्वाडोर में ये गुरिल्ला आन्दोलन हो रहे हैं—केवल यह कहकर स्पष्ट नहीं किया जा सकता कि अमरीका द्वारा समर्थित और अक्सर अमरीकी अफसरों के नेतृत्व में संचालित सेनाएँ और पुलिस संगठन बड़े प्रभावशाली हैं, जैसाकि विएतनाम का अनुभव स्पष्ट कर देता है।

यह बात सच है कि मजदूरों और अत्यन्त छोटे-छोटे किसानों ने बेहतर परिस्थितियों को प्राप्त करने के लिए अपने संघ बनाने का छिटपुट प्रयास किया है। मजदूर संघ गठित करने में बुनियादी कठिनाई श्रम के अल्प-उपयोग और श्रमिकों की बड़ी संख्या प्रस्तुत करती है। पर इसके बावजूद ऐसे प्रयास उत्तर-पूर्वी ब्राजील के अत्यन्त निर्धन जिले तक में हुए हैं।

अक्सर नेतृत्व पादरियों से प्राप्त होता है। कैथोलिक पादरियों की एक छोटी-सी संख्या, जिसमें वृद्धि हो रही है, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से आमूल परिवर्तन की माँग कर रही है और कभी-कभी तो ये क्रान्तिकारी भी हो उठते हैं। आगे चलकर यह प्रवृत्ति लेटिन अमरीका और शेष संसार में भी

महत्त्वपूर्ण हो सकती है, क्योंकि रोम से भी घटनाक्रम के इसी दिशा में आगे बढ़ने के संकेत मिल रहे हैं।

लेकिन मुख्य आभास निःसन्देह यही मिलता है कि शहरी और देहाती गन्दी बस्तियों में रहनेवाले निर्धन वर्ग में जबर्दस्त निष्क्रियता है। इनमें से अधिकांश लोगों को उपयोगी साक्षरता का लाभ प्राप्त नहीं है, ये लोग पौष्टिक आहार से वंचित और शारीरिक दृष्टि से कमजोर हैं, और उन लोगों का लालन-पालन अत्यन्त पाशविक दमन के अधीन हुआ है और वे आज भी इन्हीं परिस्थितियों में रह रहे हैं। अतः उनकी इस उदासीनता और निष्क्रियता पर अधिक आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए।

भारत से भी कम सीमा तक लेटिन अमरीका में क्या इन अनुभवों का यही अनिवार्य अर्थ होता है कि किसी भी परिस्थिति में जन-समुदाय को विद्रोह के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता? लोकतन्त्री तरीके से विद्रोह का सूत्रपात और संचालन करना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इस प्रक्रिया को बलप्रयोग द्वारा रोक दिया जायेगा।

कई दशक तक डोमिनिकन रिपब्लिक पर राफेल त्रुजिलो का भयंकरतम किस्म का तानाशाही शासन रहा। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने बड़ी संजीदगी से अन्त तक इसका समर्थन किया। यह समर्थन उसी समय बन्द हुआ, जब यह स्वयं अमरीका के हितों के लिए खतरा बन गया। इसके बाद डोमिनिकन रिपब्लिक से आयात होनेवाली चीनी पर विशेष टटकर लगाया गया और सन् 1960 में संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने त्रुजिलो शासन से अपने सम्बन्ध तोड़ लिये। इस समय तक अमरीकी सरकार गुप्त रूप से गतिविधि करनेवाले विपक्ष से सम्पर्क कायम कर चुकी थी। अगले वर्ष त्रुजिलो की हत्या कर दी गयी।

उस समय से संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार इस देश के मामले में प्रायः हर सम्भव तरीके से उलझी रही। राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी के शासनकाल में संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने जुआन बोश को समर्थन का प्रस्ताव किया, जो सन् 1962 में एक सुधार पार्टी के नेता के रूप में सत्तारूढ़ हुआ था। लेकिन उसे सात महीने के भीतर ही अपदस्थ कर दिया गया।

जब सन् 1965 की वसन्त ऋतु में सैनिक गुट की सरकार के विरुद्ध विरोध संगठित हो रहा था, तो इसे राष्ट्रपति लिंडन बी० जॉन्सन के आदेश पर अमरीकी सेना के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा कुचल डाला गया। जुआन बोश पेरिस में बैठा हुआ एक पुस्तक लिख रहा है और उसने अपने अनुभवों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि लेटिन अमरीका की वर्तमान परिस्थितियों में आम चुनाव और विधिवत् संचालित लोकतन्त्र सुधार का रास्ता नहीं कहा जा सकता। वह इसके स्थान पर जनता द्वारा समर्थित तानाशाही शासन की सिफारिश करता है।[4]

इस प्रस्ताव तक का महत्त्वपूर्ण अंश और निष्कर्ष यह है कि सामान्य जन-समुदाय एक ऐसे राजनीतिक आन्दोलन के समर्थन के लिए उठ खड़ा होने में

अधिकांशतया आवश्यकता से अधिक निष्क्रियता दिखाता है, जो आन्दोलन स्वयं जन-सामान्य की मदद और भलाई करने की कोशिश कर रहा हो। कम-से-कम आरम्भ में तो यही होता है।

क्यूबा की क्रान्ति को जन-सामान्य के विद्रोह के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। पर यह क्रान्ति यह बात सिद्ध कर सकती है कि एक सफल क्रान्ति के बाद, यदि इसे तुरन्त कुचल नहीं दिया जाता, सुधार लागू करनेवाली सरकार को व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हो सकता है, यदि जन-सामान्य से प्रभावशाली अपील की जाय और उनके हित के लिए नीतियाँ घोषित की जायँ और उन्हें लागू किया जाय।

स्पष्टत: इस प्रतिपादन में यह मानकर चलना होगा कि नयी सरकार का देश की प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों और/अथवा अमरीकी हस्तक्षेप द्वारा आरम्भ में ही तख्ता न उलट दिया जाय। क्रान्ति हो जाने के बाद जन-सामान्य का समर्थन प्राप्त करने की सम्भावना अधिक होगी, यदि जनता अपेक्षाकृत कम गरीब है।

क्यूबा लेटिन अमरीका के समृद्धतम देशों में था, यद्यपि हाल के दशकों में इसकी अर्थव्यवस्था का विकास धीमा हो गया था। अत्यधिक असमानताओं के बावजूद निम्न स्तर के लोगों को भी शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त होने लगी थीं। क्यूबा में लेटिन अमरीका के किसी भी अन्य देश से अधिक सशक्त और बेहतर संगठित मजदूर संघ आन्दोलन था।

जब फीडल कास्त्रो का आन्दोलन शुरू हुआ तो उन्हें 'मध्यम वर्ग' का पर्याप्त समर्थन प्राप्त नहीं था। यह अत्यधिक विभाजित था जैसाकि लेटिन अमरीका में अक्सर होता है। कास्त्रो को आरम्भ में संगठित मजदूरों का भी समर्थन प्राप्त नहीं था। मजदूरों ने उनकी आम हड़ताल की अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने, जो लेटिन अमरीका के अन्य किसी भी देश की कम्युनिस्ट पार्टी से अधिक शक्तिशाली और बेहतर संगठित थी, केवल तभी अपना समर्थन देना शुरू किया जब कास्त्रो की विजय होने लगी थी।

आरम्भ में उन्हें किसानों और खेत-मजदूरों अथवा शहरों की गन्दी बस्तियों के लोगों के असंगठित निम्न वर्गों से भी कोई संगठित समर्थन नहीं मिला चाहे उनके गुरिल्लाओं को उन देहाती इलाकों के गरीब लोगों ने भोजन दिया और यदाकदा छिपने की जगह दी, जिन इलाकों में ये गुरिल्ला सबसे पहले काम शुरू किया था। जन-सामान्य के परिणामस्वरूप कास्त्रो की क्रान्ति नहीं हुई थी। उनके गुरिल्लाओं की संख्या कभी भी दो सौ से अधिक नहीं हुई, जिनमें अधिकांशतया विद्यार्थी और बुद्धिवादी के तथा गिने-चुने श्रमिक थे। ये सब लोग अपने व्यक्तिगत आधार पर कास्त्रो से आ मिले थे उनके उद्देश्यों के व्यापक आकर्षण के कारण नहीं। इन लोगों की विचारधारा, और कास्त्रो की भी, अस्पष्ट थी लेकिन इसे सामान्यतया आमूल परिवर्तनवादी उदार विचारधारा की कोटि में रखा जा सकता था।

कास्त्रो बहुत बाद में 'समाजवादी खेमे' में शामिल हुए। इस समय तक

क्रान्ति सफल हो चुकी थी। कास्त्रो और संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियों के परिणामस्वरूप जो पारस्परिक प्रतिक्रिया हुई और इस स्थिति में सोवियत संघ से जो समर्थन प्राप्त हुआ उसके सामूहिक प्रभावों के परिणामस्वरूप कास्त्रो 'समाजवादी खेमे' में शामिल हुए थे। सोवियत समर्थन एक ऐसे समय प्राप्त हुआ था जब संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा क्यूबा की नाकेबन्दी के कारण इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। वास्तव में बातिस्ता शासन की समाप्ति पर आरम्भ में अमरीका में बहुत सहानुभूति प्रकट की गयी थी।

इस विलम्ब के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका क्यूबा की क्रान्ति को जन्म लेते ही समाप्त करने में असफल रहा। एक आरम्भिक दौर में यह बात असम्भव नहीं थी, क्योंकि गुवान्टानामो की खाड़ी में अमरीका की सेना तैनात थी। आगे चलकर सी. आई. ए. द्वारा निर्देशित और भद्दे तरीके से तैयार वे आफ पिग्ज़ (सूअरों की खाड़ी) का आक्रमण असफल रहा क्योंकि इस समय तक कास्त्रो अपने शासन को मजबूत बना चुके थे।

क्यूबा की क्रान्ति आधुनिक इतिहास की एक सर्वाधिक विलक्षण घटना के रूप में सदा स्मरण की जायेगी। मुझे इस बात में सन्देह है कि संयुक्त राज्य अमरीका अथवा अन्यत्र कहीं भी किसी भी व्यक्ति ने इसकी पूर्वकल्पना की हो अथवा इसकी पूर्वकल्पना की जा सकती हो। पर एक बुनियादी परिस्थिति निस्सन्देह यह थी कि संयुक्त राज्य अमरीका के आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व के परिणामस्वरूप व्यापक राष्ट्रवादी रोष उत्पन्न हुआ था और यह लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने की शक्ति बना था। इसके परिणामस्वरूप उच्च वर्ग द्वारा किया जाने वाला प्रतिरोध कमजोर पड़ गया था, शासन का मनोबल टूट गया था और अमरीका से मिलने वाला सम्भावित समर्थन भी कमजोर पड़ गया था। ये बहुत विशेष परिस्थितियाँ थीं और मुझे सन्देह है कि आज लेटिन अमरीका के किसी अन्य देश में एक ऐसी ही क्रान्ति का आसानी से अनुसरण किया जा सकता है। फीडेल कास्त्रो और उनके कुछ साथियों के असाधारण व्यक्तिगत गुणों ने भी सचमुच एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं उन्हें क्यूबा की क्रान्ति, कठिनाइयों अथवा आयोजित आर्थिक परिवर्तनों और दूरगामी सामाजिक सुधारों के सन्दर्भ में इसकी उपलब्धियों का क्रम-विकास नहीं समझना चाहिए। इस सन्दर्भ में मेरी दिलचस्पी केवल इस बात तक सीमित थी कि आरम्भ में क्रान्ति किस प्रकार संयोगवश सफल हुई।

संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने क्यूबा की घटनाओं से अनेक निष्कर्ष निकाले। ये अंशतः परस्पर विरोधी थे।

राष्ट्रपति जॉन एफ कैनेडी और उनके उदारतावादी सलाहकारों के नेतृत्व में एक ओर तो यह अनुभव किया गया कि संयुक्त राज्य की सरकार को लेटिन अमरीका की सरकारों को उन सुधारों के लिए तैयार करने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल करना चाहिए, जिनके द्वारा लेटिन अमरीका के देशों के अत्यधिक

असमान सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण को बदला जा सके। जैसाकि अध्याय-4 में कहा गया है, भूमि-सुधार और अधिक समान तथा प्रभावशाली कराधान पर ज़ोर दिया गया, लेकिन शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधारों को भी उच्च नीति सम्बन्धी प्राथमिकता दी गयी। ऐसे सामाजिक और आर्थिक सुधारों को अधिक सम्भव बनाने के लिए अमरीका की सहायता नीतियों में वांछित परिवर्तन करना था। इसके परिणामस्वरूप प्रगति के लिए सन्धि नामक कार्यक्रम का जन्म हुआ, जिस पर लेटिन अमरीका की सरकारों ने 1961 में पुन्ता देल एस्त के घोषणापत्र में अपनी सहमति दी।

प्रगति के लिए सन्धि के घोषणापत्र में जिन सिद्धान्तों को अंगीकार किया गया था, लेटिन अमरीका की अधिकांश सरकारों ने आधे मन से उनका पालन किया। यहाँ तक हुआ कि इन देशों के शासक गुटों के कुछ सदस्यों ने तो कैनेडी को 'कम्युनिस्टों से प्रेरित' तक बताया। भूमि-सुधारों को किस प्रकार प्रभावशाली ढंग से भीतर घात के द्वारा असफल बना दिया गया उस पर अध्याय-4, अनुभाग-3 में विचार किया गया हैं। अन्य क्षेत्रों में भी कोई खास प्रगति नहीं हुई।

लेटिन अमरीका में व्यापार कर रही अमरीकी कम्पनियों को भी इन नये उदारतावादी इरादों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, विशेषकर इस कारण से कि सुधारों की माँग के प्रति शासक समूहों का अच्छा रुख नहीं था और अमरीकी कम्पनियों को इन्हीं शासक समूहों से सहयोग करना पड़ता था। अंशत: इसके परिणामस्वरूप और इस स्थिति के प्रभाव के कारण, संयुक्त राज्य अमरीका की संसद सहायता के उन वचनों को पूरा नहीं कर सकी जो सन्धि के घोषणापत्र में निहित थे।

राष्ट्रपति जॉनसन के शासनकाल में उन सामाजिक और आर्थिक सुधारों का निरन्तर कम से कम उल्लेख हुआ जिन पर घोषणापत्र में ज़ोर दिया गया था। प्रगति के लिए सन्धि को असफलता ही अधिक समझा जाने लगा। रॉकफेलर रिपोर्ट में घोषणापत्र के लक्ष्यों के अनुरूप जो अस्पष्ट प्रस्ताव किये गये उनमें स्पष्ट रूप से प्रगति के लिए सन्धि का उल्लेख नहीं हुआ। इसके अलावा ये प्रस्ताव ऐसे भी नहीं हैं कि इन्हें सक्रिय रूप से लागू करने की निकसन सरकार से आशा की जाय।

क्यूबा की घटना के परिणामस्वरूप जो गहरा भावनात्मक आघात पहुँचा था उसके आधार पर निकलने वाले अन्य निष्कर्ष उस उदारतावादी विचारधारा के अनुरूप नहीं थे जिसने अमरीकी सरकार को प्रगति के लिए सन्धि के लिए मूलतः प्रेरित किया था। इसके विपरीत, ये निष्कर्ष सन्धि की असफलता के दायित्व में भी हिस्सा बटाते हैं।

क्यूबा की घटनाओं से अमरीका के इस रुझान की पुष्टि मान ली गयी कि एक कट्टरपन्थी अथवा शुद्ध रूप से प्रतिक्रियावादी सरकार के विरुद्ध सब विद्रोहों का परिणाम साम्यवाद होता है—इतना ही नहीं इन सब विद्रोहों को शुरू से ही कम्युनिस्टों की प्रेरणा होती है।

इसके अलावा संयुक्त राज्य अमरीका किसी भी ऐसी सरकार के विरुद्ध हस्तक्षेप करने के लिए तैयार हो गया जिसके साम्यवाद की तरफ़ झुकने की

आशंका हो सकती थी। सुधारों में अमरीका की अक्सर घोषित दिलचस्पी के बावजूद 'स्थिरता' को सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त थी, और स्थिरता का अक्सर अर्थ स्पष्ट प्रतिक्रिया होता था।

ये विचार संयुक्त राज्य अमरीका के लिए नये नहीं थे, यद्यपि इन्हें क्यूबा के अनुभव से और अधिक बल मिला। सन 1954 में संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने गाटेमाला में संवैधानिक तरीकों से निर्वाचित और सुधारों में विश्वास रखने वाली सरकार का तख्ता उलटने की व्यवस्था की, जबकि इस सरकार ने विचारों और समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता प्रदान की थी, कानून सम्मत मजदूर-संघ बनाने की अनुमति दी थी और भूमि-सुधारों की घोषणा की थी। गाटेमाला की सरकार का तख्ता उलटने के लिए गुप्त तरीकों का इस्तेमाल किया गया था और पड़ौसी देशों को इन गुप्त गतिविधियों और गाटेमाला के विरुद्ध कार्रवाई का अड्डा बनाया गया था। युनाइटेड फ्रूट कम्पनी ने बेहद बेशर्मी से इन कार्रवाइयों में मदद दी थी, यद्यपि भूमि-सुधार से इस कम्पनी की उस थोड़ी बहुत जमीन पर असर पड़ता जिसमें खेती नहीं हो रही थी। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सन् 1965 में संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने अत्यन्त साधारण कारणों को बहाना बनाकर डोमिनीकन रिपब्लिक में सैनिक हस्तक्षेप किया।

लेटिन अमरीका के देशों के आन्तरिक मामलों में संयुक्त राज्य अमरीका के हस्तक्षेप के इन अत्यन्त स्पष्ट प्रमाणों के परिणामस्वरूप समस्त लेटिन अमरीका में अमरीकाविरोधी राष्ट्रवादी रोष उत्पन्न हुआ और निरन्तर उग्र होता गया। ये प्रमाण उन अनेक कम नाटकीय हस्तक्षेपों और दबावों को भी उजागर करते थे जो संयुक्त राज्य अमरीका सरकार और अमरीका की बड़ी-बड़ी व्यापारी कम्पनियाँ अक्सर साथ मिलकर, लेटिन अमरीका के सब देशों में करती थीं।

संयुक्त राज्य अमरीका को पूरे संसार में और विशेषकर पश्चिम यूरोप में यह महान प्रतिष्ठा और अत्यधिक सच्ची लोकप्रिय सहानुभूति एक ऐसे महान् और सहृदय लोकतन्त्री देश के रूप में प्राप्त थी, जिसने संसार को फासिस्ट आक्रमण से बचाया और मार्शल योजना के माध्यम से पश्चिम यूरोप के पुनर्निर्माण में सहायता दी। सद्भावना की नैतिक पूंजी तेजी से बर्बाद होने लगी और लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका की नीति इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। यह विचार फैलने लगा कि संयुक्त राज्य अमरीका साम्राज्यवादी है और उसे इस बात की परवाह नहीं है कि वह कमजोर देशों में अपने व्यापारिक हितों को आगे बढ़ाने के लिए क्या तरीके अपनाता है।

वास्तव में गाटेमाला और आगे चलकर वियतनाम में संसार-भर में अमरीका के विरुद्ध जन-सामान्य के शत्रुभाव में वृद्धि की। अब क्योंकि अधिकांश सरकारें वित्तीय और सैनिक दृष्टि से अमरीका पर निर्भर थीं अतः अमरीकी जनता को जनमत में हुए इस परिवर्तन की अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। अमरीका के उन बहुत अच्छे पत्रकारों ने, जिनका अमरीका की जनता और सरकार को विदेशी समाचारों से अवगत कराने पर एक सीमा तक एकाधिकार है, इस ओर

अन्य क्षेत्रों में जनमत में परिवर्तन की जानकारी देने में स्पष्ट अकार्यकुशलता प्रदर्शित की।

इसका यह कारण नहीं था कि इन्हें जान-बूझकर यह काम करने से रोक दिया गया था। यह तो उनकी आश्चर्यजनक सीमा तक इस दिलचस्पी के अभाव का परिचायक है कि विदेशों में अधिकारियों के अलावा अन्य लोग क्या सोचते हैं, और अन्य अमरीकी भी इसी तरह विदेशों के जनमत के प्रति उदासीन हैं। वे लोग जिन पूर्वाग्रहग्रस्त लोगों से बात करते हैं और लोगों का यह दायरा अक्सर अंग्रेजी बोलने में सक्षम लोगों तक ही सीमित रहता है अतः वे समालोचनात्मक मूल्यांकन नहीं कर पाते। मैंने एशिया के देशों से भेजी गयी बड़ी विचित्र रिपोर्टों को देखा है, उदाहरण के लिए भारत में क्या 'जनमत' है और "थाई राष्ट्र" विभिन्न मसलों पर क्या सोचता है। इसी प्रकार मैंने पश्चिम यूरोप के देशों में अमरीकी नीतियों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया के बारे में ऐसी ही विचित्र रिपोर्टें पढ़ी हैं, जबकि इन देशों के लोग समग्र रूप से राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध हैं।

पश्चिम यूरोप में जिस पीढ़ी को दूसरे महायुद्ध में फासिस्ट विजय के भय की व्यक्तिगत स्मृतियों और इस विजय को असफल बनाने में संयुक्त राज्य अमरीका के योगदान का परिचय नहीं है वह अमरीका विरोधी भावनाओं से सबसे अधिक प्रभावित हो जाती है। इस पीढ़ी में ये भावनाएँ आसानी से सैद्धान्तिक पूँजीवाद विरोध और विशेषकर, अमरीकी पूँजीवाद के विरोध में बदल जाती हैं। इस पीढ़ी के लोग यह देखते हैं कि बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों के हित संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार की विदेश नीति की दिशा निर्धारित करते हैं, और इस सम्बन्ध में गाटेमाला एक बड़ा मार्मिक उदाहरण सिद्ध हुआ। पर वियतनाम इस दृष्टि से इतना बड़ा उदाहरण सिद्ध नहीं हुआ।

सातवें दशक के मध्य में अमरीका के उत्तरी नगरों में जो जातीय दंगे हुए उनके परिणामस्वरूप अमरीका विरोधी भावनाओं में और वृद्धि हुई और इसका प्रसार प्रायः हर स्तर के लोगों में हुआ।[5] इस बार भी इसका दोष सामान्यतया अमरीकी पूँजीवाद को दिया गया पर इस समस्या के सम्बन्ध में यह एक संदिग्ध सिद्धान्त लगता है।

संयुक्त राज्य अमरीका अब कभी भी लेटिन अमरीका की आन्तरिक और इससे परस्पर सम्बन्धित समस्याओं के बारे में अमरीकी गोलार्द्ध' की समस्याओं के रूप में कार्रवाई नहीं कर पायेगा। इनका विश्वव्यापी प्रभाव होना अनिवार्य है।

अधिकांश अमरीकी जिनमें उदारतावादी और कट्टरपन्थी दोनों शामिल हैं, इससे बचकानेपन की सीमा तक अनभिज्ञ हैं। रॉकफेलर रिपोर्ट समस्याओं को 'अमरीकी गोलार्द्ध' तक सीमित रखने की सम्भावना में उक्त विश्वास का एक विशिष्ट, अथवा आवश्यकता से अधिक विशिष्ट उदाहरण है।

अत्यधिक आलंकारिक भाषा के प्रयोग की प्राचीन अमरीकी परम्परा के अनुसार, जो हाल के दशकों में दूसरों की ओर से लिखने वाले गुप्त लेखकों के उपयोग के परिणामस्वरूप और अधिक बेलगाम हो गयी है, रिपोर्ट का समारम्भ इस करुणाजनक घोषणा से होता है : "हम पड़ौसियों से भेंट करने गये और हमें अपने भाई मिल गये। हम अपने सहयोगी गणराज्यों के प्रवक्ताओं के विचार

सुनने गये और हमें एक गोलार्द्ध की आवाज़ें सुनने को मिलीं।" इस बात को ध्यान में रखते हुए कि गवर्नर रॉकफेलर और उनके साथियों का लेटिन अमरीका के देशों में जो स्वागत हुआ था, इस तरीके से बात कहना केवल निष्ठाहीन ही नहीं वल्कि हास्यास्पद तक लगेगा। यह प्रतिक्रिया केवल लेटिन अमरीका में ही नहीं वल्कि संसार के शेष भाग में इससे भी अधिक होगी।

समस्त 'स्वतन्त्र संसार' में आश्रित सरकारों द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका सरकार से अपने सम्बन्ध बिगाड़ने की समझे जाने योग्य अनिच्छा और स्वदेश में तात्कालिक महत्त्व की समस्याओं से उलझे रहने के कारण अमरीकी जनता और सरकार को यथार्थवादी तरीके से यह नहीं समझने देगी कि लेटिन अमरीका के देशों के प्रति उसकी नीतियाँ किस प्रकार लोगों के मन में संयुक्त राज्य अमरीका के बारे में भावनाओं और विचारों को प्रभावित करती हैं।

इस बात का सम्बन्ध विदेशों में संयुक्त राज्य अमरीका की 'तस्वीर' से है। एक ऐसा देश जिसे विश्व नेतृत्व प्रदान करना चाहिए और जो यह करना भी चाहता है, वह एक निश्चित सीमा तक विदेशों की जनता की आस्था और सद्-भावना पर निर्भर करता है। यह बात अध्याय-11 के अन्त में जोर देकर कही गयी थी।

लेटिन अमरीका के देशों में क्रुद्ध राष्ट्रवाद का उदय एक प्रकार से वियतनाम में घटी घटनाओं और अब दक्षिणी अफ्रीका में घट रही घटनाओं का समानान्तर रूप है, यद्यपि लेटिन अमरीका में पश्चिम विरोधी प्रायः कोई भावना नहीं है और श्वेत विरोधी भावना तो एकदम ही नहीं है। यह अधिक सरल और निश्चित रूप से अमरीका विरोधी है।

इसी प्रकार शीत युद्ध से भी इसका अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि क्रुद्ध राष्ट्रवाद का किसी-न-किसी प्रकार के साम्यवाद से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। क्यूबा को समर्थन देने में सोवियत संघ पर बहुत भार आ पड़ा है और यह मामला बड़ा व्ययसाध्य सिद्ध हुआ है। सोवियत संघ को किसी भी वामपन्थी विद्रोह की सम्भावित सफलता में प्रकट रूप से कोई विश्वास दिखायी नहीं पड़ता, कम-से-कम निकट भविष्य में। सोवियत संघ को इस बात की भी आशंका हो सकती है कि ऐसा कोई विद्रोह अमरीका को आवश्यकता से अधिक चिन्तित कर सकता है और इसके परिणामस्वरूप एक और महायुद्ध का खतरा उत्पन्न हो सकता है। सोवियत संघ लेटिन अमरीका में सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी सरकारों तक से राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने में अधिक दिलचस्पी लेती हुई दिखायी पड़ती है। उसकी यह दिलचस्पी किसी ऐसी सरकार के विरुद्ध क्रान्ति को समर्थन देने से अधिक दिखायी पड़ती है। लेटिन अमरीका की अत्य-धिक कमजोर कम्युनिस्ट पार्टियाँ कुछ देशों में गुरिल्ला आन्दोलनों से दूर रहने अथवा इनके प्रति सहानुभूति तक दिखाने से बचने के लिए सामान्यतया बड़ी सावधानी दिखाती हैं।

तीसरा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि अमरीका विरोधी

भावनाएँ मुख्यतया उच्च वर्ग तक ही सीमित हैं। फिलहाल ये भावनाएँ शहरों और गाँवों के सामान्य लोगों में प्रभावशाली ढंग से और गहराई से नहीं पहुँच पा रही हैं, जो सामान्यतया बड़े उदासीन और निष्क्रिय हैं। लेकिन संसार के दूसरे हिस्सों से प्राप्त जानकारी के आधार पर हम यह जानते हैं कि क्रुद्ध राष्ट्रवाद आसानी से सामान्य लोगों में फैल सकता है।

लेटिन अमरीका में सर्वत्र और सब वर्गों में अमरीका-विरोधी भावनाएँ—मूक निम्न वर्ग के विशाल हिस्सों को छोड़कर—अब इतनी उग्र हो गयी हैं कि लेटिन अमरीका की कोई भी सरकार इन भावनाओं का आदर न करने का साहस नहीं कर सकती। यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, जिसके ऊपर अमरीका के विरुद्ध होने का सन्देह नहीं किया जा सकता, का एक और उद्धरण समीचीन होगा :

"आजकल लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका के व्यापारियों का बुरा हाल है—वाम और दक्षिणपन्थी राजनीतिज्ञों, सेना और यहाँ तक कि पादरियों तक का प्रहार इन पर हो रहा है।···अमरीकी कम्पनियों के अधिकारी इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से चिन्तित हैं।···(कोलम्बिया की) राजधानी बोगोटा स्थित एक अमरीकी कम्पनी का अधिकारी स्पष्ट रूप से कहता है कि इस देश में निजी व्यवसाय को बुरी नज़र से देखा जाता है। 'और हम इस सम्बन्ध में चिन्तित हैं।'···ब्राजील और समस्त लेटिन अमरीका में अमरीकी कम्पनियों के अधिकारियों में यह भय बैठा हुआ है कि उन्हें संयुक्त राज्य अमरीका सरकार अथवा उसके प्रति अत्यन्त मित्रभाव रखने वाली किसी स्थानीय सरकार की कार्रवाइयों के लिए बदले की कार्रवाइयों का सामना करना पड़ेगा।"[6]

निक्सन प्रशासन की ओर से लेटिन अमरीका की हिंसा के कारण असफल यात्रा के बाद लौटने वाले गवर्नर नेलसन ए० रॉकफेलर और उनके विशेषज्ञों तथा सलाहकारों ने यह निष्कर्ष निकाला :

"पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य देशों से संयुक्त राज्य के ऐतिहासिक दृष्टि से जो विशेष सम्बन्ध थे उन्हें बुरी तरह बिगड़ने दिया गया है।···राष्ट्रवादी भावनाओं में सामान्य वृद्धि हो रही है।···यदि वर्तमान संयुक्त राज्य अमरीका विरोधी प्रवृत्ति जारी रहती है तो उस समय की पूर्वकल्पना की जा सकती है जब संयुक्त राज्य अमरीका राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से पश्चिमी गोलार्द्ध के एक हिस्से अथवा अधिकांश हिस्से से अलग-थलग पड़ जायगा।···पश्चिमी गोलार्द्ध के राष्ट्रों के बहुत अधिक और सम्भवत: अधिकांश नागरिक संयुक्त राज्य अमरीका के निजी पूँजी निवेश को एक प्रकार का शोषण अथवा आर्थिक उपनिवेशवाद समझते हैं।···संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियों के प्रभुत्व की आशंका अक्सर व्यक्त की जाती है।"[7]

यह मानकर कि लेटिन अमरीका के निवासियों के ये विचार 'गलत' हैं—और यह मानकर कि जब संयुक्त राज्य अमरीका का पूँजी निवेश लेटिन अमरीका में और अधिक बढ़ जायगा तो इन विचारों में सुधार हो जायगा—रिपोर्ट में सिफारिश की गयी है कि 'संयुक्त राज्य अमरीका को पूरे गोलार्द्ध में निजी पूँजी निवेश को अधिकतम प्रोत्साहन देना चाहिए'।[8]

राजनीतिक दृष्टिकोण से यह एक विचित्र निर्णय दिखायी पड़ेगा। अध्याय-

10, अनुभाग-3 में मैंने केवल यही तर्क नहीं दिया कि भूमि, प्राकृतिक साधनों और सार्वजनिक सुविधाओं में लगी विदेशी पूंजी का और अधिक राष्ट्रीयकरण होने की आशा की जानी चाहिए, बल्कि यह भी कहा कि संयुक्त राज्य अमरीका को अपने हित की दृष्टि से विनिर्माण उद्योग में लेटिन अमरीका में नये पूंजी निवेश की गति धीमी कर देनी चाहिए। इसके साथ ही उन अन्य देशों के पूंजी निवेश का स्वागत किया जो लेटिन अमरीका के लोगों के मन में विदेशी प्रभुत्व का ऐसा भय उत्पन्न नहीं करते।

सम्भवतः यह रिपोर्ट अन्य किसी भी दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका सरकार और इसके व्यापारिक प्रतिष्ठान की राय अधिक निश्चित रूप से प्रकट नहीं करती। यहाँ हम एक महान् देश को एक ऐसे रास्ते पर आगे बढ़ते रहने के लिए कटिबद्ध देखते हैं जो इसे पहले ही एक प्रायः विनाशकारी मोड़ पर पहुँचा चुका है।

अपने समस्त अन्तरों के बावजूद यह दिखायी पड़ता है कि लेटिन अमरीका में पूंजी निवेश को तेजी से बढ़ाने का संयुक्त राज्य अमरीका का निर्णय 1965 के आरम्भ में उस समय वियतनाम युद्ध को तेज करने के अमरीका सरकार के निर्णय से भिन्न नहीं है, जबकि वियतनाम युद्ध बुरे दौर से गुजर रहा था। अमरीका सरकार यह बात नहीं देख पायी अथवा इसने इस बात के पूरे महत्त्व को नहीं समझा कि सैगौन सरकार के विरुद्ध विद्रोह किस सीमा तक उसके अमरीका के सैनिक समर्थन पर पूरी तरह निर्भर रहने के कारण है।

•

लेटिन अमरीका के देशों के आर्थिक जीवन पर अमरीकी कम्पनियों का अत्यधिक प्रभाव और उन्हें अमरीका सरकार से प्राप्त समर्थन ही इन देशों में अमरीकी शक्ति का एक मात्र माध्यम नहीं है। पाँचवें दशक के अन्त में शीतयुद्ध के समारम्भ और तीव्र होने के समय से सैनिक सहायता संयुक्त राज्य अमरीका की विश्वव्यापी विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण अंग रही है।

सैनिक सहायता के एकदम सटीक आँकड़े बता पाना कठिन है लेकिन हाल में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था ने यह पुष्टि की है कि 'सैनिक सहायता, प्रतिरक्षा समर्थन और आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए अन्य सम्बन्धित व्यय' सन् 1950 से 1967 तक सब देशों को दी गयी सहायता के बजट का एक बड़ा हिस्सा था।[9] सैनिक सामान की खरीद के लिए निर्यात-आयात बैंक द्वारा दिये गय ऋणों की राशि भी इसी अनुमान में जोड़ी जानी चाहिए और सी०आई०ए० पर होने वाला खर्च भी इसमें निश्चय ही जोड़ा जाना चाहिए, जिसकी राशि सम्भवतः 3 अरब डालर प्रतिवर्ष है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान लेटिन अमरीका के देशों को सैनिक सहायता दी जाने लगी। हाल के वर्षों में इसमें कमी हुई है। लेटिन अमरीका के देशों की सरकारों को और परिष्कृत तथा आधुनिक हथियार देने के प्रति प्रगतिशील अमरीकी संसद सदस्यों ने वाशिंगटन में विरोध प्रकट किया है और संसद ने तो यहाँ तक शर्त लगाने की बात कही है कि इन देशों को अन्य प्रकार की सहायता

तभी दी जाये जब ये पश्चिम यूरोप के देशों से हथियार खरीदने पर अपने साधन बर्बाद करना बन्द करें।

सन् 1961 में प्रगति के लिए सन्धि पर सहमति हो जाने के बाद से सोलह सैनिक विद्रोह हुए हैं और इनके परिणामस्वरूप सैनिक सरकारों की स्थापना हुई जो लेटिन अमरीका के अधिकांश लोगों के ऊपर शासन कर रही हैं। संयुक्त राज्य अमरीका से इन देशों को मिलने वाली सैनिक सहायता ने, जिसमें चाहे इन्हें दूसरे महायुद्ध के समय के अथवा दूसरे तत्काल बाद बने हथियार ही क्यों नहीं दिये गये, सैनिक गुटों द्वारा सत्ता हथियाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह तथ्य स्पष्ट और निर्विवाद है।

इसके बावजूद, निक्सन प्रशासन यह कहकर इसके विरुद्ध तर्क पेश करने की कोशिश कर रहा है[10], कि यह सैनिक सहायता संयुक्त राज्य अमरीका के अन्य सब विषयों के अनुरूप है ; सामाजिक और आर्थिक सुधार जिनके परिणामस्वरूप हमारे लेटिन अमरीकी पड़ौसियों का जीवन बेहतर और अधिक सुखमय हो जायगा[11]।

उक्त दोनों प्रकार की सहायताओं के बीच यह सम्बन्ध बताया जाता है कि सैनिक सहायता 'लेटिन अमरीका की राष्ट्रीय क्षमताओं को कम्युनिस्टों द्वारा संचालित अथवा समर्थित विद्रोहों का मुकाबला करने के लिए मजबूत बनाकर, अस्थिरता' को समाप्त करने में सहायक बनती है[12]। प्रायः बचकानेपन से आचरण करते हुए इस सम्बन्ध में जरा भी सन्देह प्रकट नहीं किया जाता कि इस प्रकार की 'स्थिरता' संयुक्त राज्य अमरीका की व्यक्त चिन्ता के विषय सामाजिक और आर्थिक सुधार को रोकने में भी सहायक बन सकती है।

अमरीकी सैनिक सहायता के अनेक स्वरूप हैं। जहाँ तक लागत का सवाल है, हथियार देने और संयुक्त राज्य अमरीका में इनकी खरीद के लिए सुविधाएँ प्रदान करने पर जो व्यय होता है वह वास्तव में सबसे छोटा है। लेटिन अमरीका के अफसरों को संयुक्त राज्य अमरीका में अथवा पनामा नहर क्षेत्र में फोर्ट गुलिक में स्थित संयुक्त राज्य दक्षिणी कमान स्कूल में प्रशिक्षण देना सैनिक सहायता की एक और मद है। इस प्रशिक्षण को हाल के वर्षों में अमरीका के वियतनाम सम्बन्धी अनुभव का लाभ उठाते हुए लेटिन अमरीका की सेनाओं और पुलिस की विद्रोहियों के विरुद्ध कार्रवाई करने की क्षमता को बढ़ाने के लिए संचालित किया जा रहा है।

लेटिन अमरीका के बड़े देशों में संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वयं अपनी सेनाओं की सहायता और प्रशिक्षण के लिए नियमित सैनिक सेवा मिशन स्थापित किये। लेटिन अमरीका के सब देशों में—जिस प्रकार संसार-भर में अन्य देशों में यह हो रहा है—गुप्त रूप से काम करने वाले संगठन सक्रिय हैं जो सी० आई० ए० के अधीन काम करते हैं। कभी-कभी यह कार्य विदेश विभाग और इसके मन्त्रालयों तथा पेंटागन (अमरीका का सर्वोच्च सैनिक संगठन) तक की जानकारी के बिना किया गया। लेटिन अमरीका में ये संगठन राष्ट्रीय सरकारों के समर्थन, अथवा जहाँ आवश्यक हुआ इनका विरोध, करने के लिए अत्यधिक सक्रिय रहे। सामान्यतया ये गुरिल्लाओं के खिलाफ लड़ाई में अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

अमरीका के शिक्षाजगत में एक नयी और निरन्तर बढ़ती प्रवृत्ति यह दिखायी पड़ी है कि सैनिक संगठन विदेश विभाग, अथवा सी० आई० ए० विशेष इकाइयों द्वारा लेटिन अमरीका की समस्याओं के बारे में अनुसन्धान के लिए धन देता है। ये अनुसन्धान विश्वविद्यालयों में अथवा उनके बाहर होते हैं। ये अनुसन्धान चाहे लेटिन अमरीका के देशों में अथवा संयुक्त राज्य अमरीका में किये जायें पर इनका लक्ष्य 'अमरीकी हितों की रक्षा' और विशेषकर, उस क्षेत्र में 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के बारे में होते हैं। अक्सर इस अनुसन्धान कार्य का इन देशों में सी० आई० ए० की गतिविधियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

जनवरी 1969 में संयुक्त राज्य अमरीका स्थित लेटिन अमरीकी विशेषज्ञों की एक तदर्थ समिति ने एक घोषणा की जिस पर 273 प्रोफेसरों, अनुसन्धान-कर्त्ताओं, और लेटिन अमरीका सम्बन्धी अध्ययन के स्नातक विद्यार्थियों ने हस्ताक्षर किये। इस घोषणा में स्वतन्त्र वैज्ञानिक और विद्वत् कार्य के इस प्रकार भद्दे दुरुपयोग के विरुद्ध विरोध प्रकट किया गया। इन लोगों ने कहा कि यह अनुसन्धान सम्बन्धी गतिविधि अमरीका के विद्वत् जगत के आदर्शों के विरुद्ध है, और "उस समय तक लेटिन अमरीका और संसार के अन्य भागों में अमरीकी बुद्धिवादियों के प्रति अविश्वास समाप्त नहीं होगा जब तक यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि अमरीकी विद्वानों और उनके व्यावसायिक संगठनों ने संयुक्त राज्य अमरीका सरकार के संगठनों की हस्तक्षेपपूर्ण गतिविधियों से स्वयं को पूरी तरह अलग कर लिया है।"[13]

यह हो सकता है कि लेटिन अमरीका के देशों की सरकारों ने, विशेषकर सनिक सरकारों ने, इन सैनिक, पुलिस और अनुसन्धान सम्बन्धी प्रकट अथवा गुप्त अनुसन्धानों का स्वागत किया हो जिनके बारे में संयुक्त राज्य सरकार की दिलचस्पी अक्सर विद्रोह के दमन के बारे में थी, विद्रोह के बारे में नहीं। पर अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखने वाले वर्गों में निःसन्देह अमरीका विरोधी भावनाओं में वृद्धि हुई।

अन्त में, अमरीका द्वारा दी जाने वाली विकास सहायता आती है। प्रगति के लिए सन्धि के घोषणापत्र में यह माना गया था कि इस विकास सहायता का लक्ष्य बड़े पैमाने पर आन्तरिक सुधार, विशेषकर कराधान और भूमि-सुधार होंगे और सहायता को इनसे समन्वित भी किया जायेगा।

लेटिन अमरीका में प्रभावशाली शक्तियों, जिनमें वहाँ व्यापार करने वाली अमरीकी कम्पनियाँ, संयुक्त राज्य अमरीकी सरकार और संसद भी शामिल हैं, के बीच होने वाली खींचतान से प्रगति के लिए सन्धि किस प्रकार तेजी से प्रभावहीन बन गयी, इसके बारे में ऊपर टिप्पणी की जा चुकी है।

रॉकफेलर रिपोर्ट में, जिसका मैं लेटिन अमरीका की स्थिति के समग्र मूल्यांकन के सबसे हाल के उपलब्ध अधिकृत अमरीकी प्रयास के रूप में उद्धरण दे रहा हूँ, लेटिन अमरीका की वर्तमान घटनाओं के बारे में बड़ा भयावह दृष्टिकोण प्रकट किया गया है:

"अमरीका महाद्वीप में अराजकता, आतंक और तोड़-फोड़ की शक्तियाँ सक्रिय हैं।...... पश्चिमी गोलार्द्ध के स्वतन्त्र राष्ट्रों की प्रणालियों के शत्रुओं को जो हथियार उपलब्ध हैं उनमें मुद्रा स्फीति, शहरी आतंकवाद, जातीय संघर्ष, अत्यधिक आबादी, गरीबी, हिंसा और गाँवों में विद्रोह शामिल हैं। ये शक्तियाँ अपने हितसाधन के लिए लोकतन्त्री सरकारों के द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं का तुरन्त अनुचित लाभ उठाती हैं।......"[14]

खेदजनक तथ्यों के बारे में यह रिपोर्ट सही है, यद्यपि 'शक्तियों', 'राष्ट्रों', और लोकतन्त्री सरकारों द्वारा प्रदत्त 'स्वतन्त्रताओं' के सन्दर्भ में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह बड़ा गड़बड़ है। इस रिपोर्ट में यह चेतावनी दी गयी है :

"इस समय गोलार्द्ध के छब्बीस राष्ट्रों में केवल एक कास्त्रो है, भविष्य में और भी हो सकते हैं। और मुख्य भूमि पर स्थित कोई कास्त्रो, जिसे कम्युनिस्ट संसार का सैनिक और आर्थिक समर्थन प्राप्त हो, पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा के लिए गम्भीरतम खतरा और संयुक्त राज्य अमरीका के लिए अत्यधिक कठिन समस्या उपस्थित करेगा।"[15]

इन परिस्थितियों में रिपोर्ट यह 'भविष्यवाणी' करना सम्भव होने के कारण कि 'सेना द्वारा सत्ता अपने हाथ में लेने की प्रवृत्ति जारी रहेगी'[16], आश्वासन प्राप्त करती है, यद्यपि, भविष्यवाणी सम्बन्धी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए कुछ शर्तों के साथ यह बात कही गयी है। कोई भी अमरीकी गम्भीर आत्मिक दुविधा के बिना सैनिक तानाशाही कायम होने की प्रवृत्ति का स्वागत नहीं कर सकता, और इस रिपोर्ट में भी सही ढंग से, और मैं समझता हूँ ईमानदारी से, यह बात जोर देकर कही गयी है :

"प्रतिनिधि उत्तरदायी लोकतन्त्री सरकार के प्रति निष्ठा अमरीकी जनता की सामूहिक राजनीतिक चेतना में गहराई से पैठी हुई है। हम आदर्शवादी और व्यावहारिक दोनों कारणों से गोलार्द्ध के अन्य राष्ट्रों में शक्तिशाली प्रतिनिधि सरकारों की स्थापना होते देखना पसन्द करेंगे।"[17]

इस रिपोर्ट में भी अमरीका विरोध की बढ़ती हुई प्रवृत्ति[18] की पूर्वकल्पना की गयी है और निश्चय ही यह बात अमरीका के नीति निर्माताओं के समक्ष सर्वाधिक कठिन समस्या प्रस्तुत करेगी।

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा और अधिक मात्रा में पूंजी विनियोग के अलावा, जिसके बारे में मैंने गम्भीर सन्देह प्रकट किये हैं, रिपोर्ट में उन प्रस्तावों का सुझाव दिया गया है जिनके द्वारा लेटिन अमरीका में बने सामान को अधिक आसानी से अमरीकी बाजारों में निर्यात किया जा सके।[19] यह ठोस सलाह है। विशेषकर उस स्थिति में यदि विश्वव्यापी पैमाने पर यह कार्रवाई की जा सके और अन्य कम विकसित देशों के निर्यात को भी इसी प्रकार तरजीह दी जाय, तो यह एक सही दिशा में कदम होगा (देखिए अध्याय-9)। यदि संयुक्त राज्य अमरीका सरकार इस सलाह के अनुसार काम करने को तैयार हो जाती है तो उसे स्वदेश में शक्तिशाली निहित स्वार्थों का सामना करना होगा। यह विश्वास कर पाना सम्भव

नहीं है कि निकट भविष्य में कम-विकसित देशों के प्रति संयुक्त राज्य की वाणिज्य नीतियों में कोई परिवर्तन होगा।

रिपोर्ट का तीसरा प्रस्ताव लेटिन अमरीका के देशों को विकास सहायता में वृद्धि करने, इस कार्य के लिए बहुदेशीय आधार पर सहायता देने वाली संस्थाओं के अधिकाधिक उपयोग, ऋणों के लिए ब्याज की दर में कमी और ऋण परिशोधन की अवधियों और अन्य आवश्यकताओं के बारे में सहमति के बारे में है।[20] ये सब बहुत अच्छे प्रस्ताव हैं, लेकिन इस बात में सन्देह है कि अमरीका सरकार और संसद किस सीमा तक इन्हें लागू करेगी।

जहाँ तक सैनिक सहायता[21] का सम्बन्ध है, रिपोर्ट में वर्तमान रवैये को उलट देने की सिफारिश करते हुए कहा गया है कि सुरक्षा सेनाओं के प्रशिक्षण के लिए अधिक सहायता दी जानी चाहिए और इस प्रशिक्षण को निरन्तर बढ़ रही तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों से सुरक्षा की निश्चित दिशा में निर्देशित किया जाना चाहिए। इसके साथ ही इस रिपोर्ट में कुछ देशों में मौजूद स्थायी सैनिक मिशनों को वापस बुलाने की सिफारिश को 'आवश्यकता से अधिक जाहिर कार्रवाई' बताया गया है।

यद्यपि इस रिपोर्ट में, संयुक्त राज्य अमरीका के सामान्य रुझान के अनुसार, लेटिन अमरीका के देशों की सेनाओं को बुनियादी तौर पर आन्तरिक तोड़-फोड़ के विरुद्ध कार्रवाई करने का साधन ही समझा गया है पर लेटिन अमरीका के सैनिक प्रतिष्ठानों की आधुनिक, परिष्कृत हथियार, जैसे जेट विमान और ऐसे ही अन्य उपकरण, प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा के प्रति बहुत उदारता दिखायी गयी है। यद्यपि यह प्रस्ताव और अन्य सैनिक सहायता देने की इस रिपोर्ट की माँग निक्सन सरकार के इरादों के अनुरूप है[22], पर संसद का वर्तमान स्वरूप रहते इसका सम्भवत: विरोध होगा।

यह प्रस्ताव अपने-आपमें ठोस है कि संयुक्त राज्य सरकार यह नाटक करना छोड़ दे कि वह केवल लोकतन्त्री सरकारों से ही राजनयिक सम्बन्ध कायम करना चाहती है। "इसे यह समझ लेना चाहिए कि राजनयिक सम्बन्ध व्यावहारिक सुविधाओं का माध्यम भर हैं, नैतिक मूल्यांकन के उपाय नहीं।"[23] यदि संयुक्त राज्य अमरीका अपनी संसारव्यापी राजनयिक गतिविधियों के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाय जो नेपोलियन से हुए युद्धों के बाद वियना सम्मेलन में स्वीकार हुआ था, और आज भी जिसका पालन ब्रिटेन और अमरीका जैसी अधिक कट्टरपन्थी सरकारें कर रही हैं, तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बहुत सरल हो जायेंगे। जहाँ तक लेटिन अमरीका के देशों से इसके सम्बन्धों का प्रश्न है, इसके परिणामस्वरूप वर्तमान नीतियों में कोई परिवर्तन नहीं होगा—केवल सैनिक शासक गुटों को और खुल्लमखुल्ला समर्थन दिया जाने लगेगा।

रॉकफेलर रिपोर्ट की नीति सम्बन्धी सिफारिशों पर नजर डालते समय और यह विचार करते समय कि किस सीमा तक इनके लागू होने की सम्भावना है, यह विश्वास कर पाना कठिन हो जाता है कि ये सिफारिशें निराशापूर्ण प्रवृत्तियों को समाप्त कर डालेंगी जबकि रिपोर्ट में पर्याप्त यथार्थवादी तरीके से इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया गया है।

रिपोर्ट की यह भविष्यवाणी कि सैनिक-सरकारों की स्थापना की प्रवृत्ति जारी रहेगी, विशेष रूप से सही सिद्ध होने की सम्भावना है।

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में हर देश में सैनिक संस्थान की शक्ति बहुत विशाल है और नये-नये हथियारों के निर्माण और सैनिक टेक्नोलॉजी के विकास के साथ इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है।

लेटिन अमरीका में प्रायः कहीं भी सच्चे लोकतन्त्र अथवा सेना पर असैनिक नियन्त्रण की दृढ़ परम्परा नहीं है। अतः सैनिक संस्थान की राजनीतिक शक्ति का उपयोग बहुत कम निषेधों और व्यवधानों के बिना किया जा सकता है।

इतना ही नहीं, सरकारें और राजनीतिक पार्टियाँ सामान्य रूप से अकार्य-कुशल हैं और अक्सर भ्रष्ट भी होती हैं। इस दृष्टि से सेना द्वारा सत्ता अपने हाथ में लेने का समर्थन करना आसान है कि प्रभावशाली और भ्रष्टाचार से मुक्त सरकार बनाना तथा सामाजिक अनुशासन कायम करना ज़रूरी है। पर अक्सर यह परिणाम प्राप्त नहीं होगा, यह दूसरी बात है।

जन-सामान्य के निष्क्रिय रहने के कारण यह सम्भव दिखायी पड़ता है कि कम-से-कम निकट भविष्य में छिटपुट चलने वाले गुरिल्ला आन्दोलन प्रभावहीन बने रहेंगे। पर उनका अस्तित्व मात्र चाहे यह छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो, अशान्ति और अनिश्चय की भावना पैदा करेगा। और इससे सैनिक सरकारों की स्थापना की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा।

जैसाकि अक्सर देखा जाता है, लेटिन अमरीका के कुछ देशों में शहरी जिलों में गुरिल्ला गतिविधियों में वृद्धि की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। किसी शहर का आकार और आबादी की घनता तथा इसके जीवन की जटिलता ऐसे 'जंगल' उपलब्ध कराती है, जिनकी आड़ में गम्भीर क्षति पहुँचायी जा सकती है और भयंकर दंगे शुरू किये जा सकते हैं।

यह स्थिति ब्राज़ील में पूरी तरह विकसित हो चुकी है और लेटिन अमरीका के दूसरे देशों में भी इसमें वृद्धि हो रही है। छोटे-छोटे गिरोह जिनका आपस में सहयोग नहीं है, बैंकों को लूटकर अपनी गतिविधियों के लिए धन जुटाते हैं। सार्वजनिक सुविधाओं को नष्ट कर दिया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए अव्यवस्था फैल जाती है। यहाँ तक हुआ कि सम्बन्धित देशों अथवा अमरीका के अधिकारियों को ये गिरोह उड़ा ले जाते हैं और उनकी रिहाई के लिए धन माँगते हैं अथवा उन्हें मार डालते हैं।

इसका एक प्रायः निश्चित प्रभाव यह हुआ है कि पुलिस और सुरक्षा सेनाएँ गुरिल्लाओं के विरुद्ध कार्रवाई में विवेक से काम नहीं लेतीं। कम-से-कम ब्राज़ील में पुलिस और सुरक्षा सेनाओं की कुछ ऐसी टुकड़ियाँ बन गयी हैं, जो गुरिल्ला गुटों अथवा उन लोगों का अत्यन्त क्रूरता से पीछा करती हैं जिनपर सन्देह भर है। उन कार्रवाइयों में ऐसे तरीके अपनाये जाते हैं जिन्हें सामान्यतया क्षम्य नहीं माना जाता अथवा जिनका आदेश उनके वरिष्ठ अधिकारी अथवा सरकार नहीं देती।

पुलिस और सुरक्षा सेनाओं तथा इन गुरिल्ला गिरोहों के बीच एक ऐसी लड़ाई की पूर्व-कल्पना की जा सकती है, जो धीरे-धीरे गम्भीर रूप धारण कर लेगी और जिसके परिणामस्वरूप नागरिक जीवन पर असाधारण प्रतिबन्ध लगाये

जाने लगेंगे। यदि अशांति में वृद्धि होती है, तो इस बात को कल्पनातीत नहीं समझा जा सकता कि इसका परिणाम किसी प्रकार का लेटिन अमरीकी फासिस्ट-वाद होगा। कुछ देश तो पहले ही इस मार्ग पर काफी आगे बढ़ गये हैं।

इस फासिस्टवाद का अपना लेटिन अमरीकी स्वरूप होगा, पर इस पर इतावली, स्पेनी और पुर्तगाली फासिस्टवाद की भी छाप रहेगी। यह जर्मनी के नाज़ीवाद से भिन्न होगा क्योंकि इसमें जातीय उत्पीड़न नहीं होगा। पर यह कहते समय मैं ब्राजील के सुदूर ग्रामीण जिलों और कुछ अन्य लेटिन अमरीकी देशों में भी आदिमवासियों (इण्डियन जाति के लोगों) की पहले से ही निरन्तर जारी हत्याओं के अपवाद को भुला नहीं देना चाहता, जिसके प्रति इन देशों में और शेष संसार में भी असाधारण रूप से कम दिलचस्पी दिखायी गयी है।

यद्यपि लेटिन अमरीका में जातीय आधार पर उत्पीड़न नहीं होता, पर नीग्रो और इण्डियन जातियों के लोगों पर वंशानुगत अत्याचार सामान्य रूप से जारी है। लेटिन अमरीका में जातीय सद्भाव की बात अधिकांशतया मिथ्या कल्पना है। वर्गगत स्तरीकरण में जो जातीय ताना-बाना दिखायी पड़ता है, वह ऐसी बात है जो लेटिन अमरीकी फासिस्टवाद के उदय में सहायक बनेगी।

जब रॉकफेलर रिपोर्ट—जो इस सम्बन्ध में अमरीका की सरकारी नीति का प्रतिनिधित्व करती है—लेटिन अमरीका में और अधिक सैनिक सरकारों की स्थापना की प्रवृत्ति को निर्विवाद रूप से स्वीकार करने के बावजूद अधिक सुखमय घटनाक्रम की आशा प्रकट करती है, तो इसका कारण यह है कि रिपोर्ट लेटिन अमरीका में सैनिक अफसरों के चरित्र में मूलभूत परिवर्तन की कल्पना करती है। इस रिपोर्ट के अनुसार "एक नये किस्म का सैनिक अधिकारी सामने आ रहा है···यह नये किस्म का सैनिक अधिकारी अपनी निरंकुश परम्परा को सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों के अनुरूप बदलने के लिए तैयार है।"[24]

स्पष्टीकरण के रूप में रिपोर्ट एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है :

"····सेना परम्परा से परिवर्तन का विरोध करने वाली कट्टरपन्थी शक्ति रही है। अधिकांश अफसर जमींदार घरानों के रहे हैं। हाल के वर्षों में···सैनिक सेवा ज़मींदारों के पुत्रों के लिए कम आकर्षक हो गयी है। इसके परिणामस्वरूप, गरीब परिवारों के महत्त्वाकांक्षी और योग्य नवयुवकों को सेना में अफसर बनने का अवसर मिला और ये ऐसे नवयुवक थे, जिनके पास न तो जमीन थी और न ही व्यावसायिक और व्यापारिक सम्बन्ध। श्रमजीवी वर्ग के इन महत्त्वाकांक्षी सपूतों ने सेना में प्रवेश किया है···यह बात दक्षिण अमरीका के गणराज्यों में प्रायः आम बात बन गयी है···इनके भावनात्मक सम्बन्ध अक्सर जन-सामान्य से होते हैं। ये गरीबी की समाप्ति और गाँवों तथा शहरों के दलित वर्ग के उत्थान के प्रति निरन्तर अधिकाधिक चिन्तित और निष्ठावान होते जा रहे हैं।"[5]

हमें जो भी जानकारी उपलब्ध है उसके अनुसार सैनिक अधिकारियों के वर्ग सम्बन्धी उद्गम और इस घटना के लेटिन अमरीका में सर्वत्र घटने के दावे स्पष्ट रूप से अतिरंजित दिखायी पड़ते हैं। उक्त परिवर्तन और सैनिक अफसरों के सामाजिक और राजनीतिक दिशा परिवर्तन के बीच सशक्त और सरल सम्बन्ध की यह मान्यता वैज्ञानिक विवेचन के समक्ष नहीं ठहर सकती।

पर कुछ मामूली प्रेक्षण आवश्यक है। वर्गगत उद्गम में किसी ऐसे परिवर्तन

अथवा राजनीतिक दिशा निर्देश पर ऐसे किसी परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण प्रभावों के बिना भी यह वस्तुतः सम्भव है कि प्रगतिशील नेतृत्व के अधीन किसी सैनिक प्रतिष्ठान में हृदय परिवर्तन हो सकता है और वह आमूल परिवर्तनवादी सुधारों और इन सुधारों के समर्थन के लिए जन-समुदाय को सक्रिय करने में दिलचस्पी ले सकता है।

इस क्षेत्र के भीतर राजनीतिक घटनाओं का एक दूसरे पर तेजी से असर होने की प्रभावशाली प्रवृत्ति के कारण यदि यह घटना लेटिन अमरीका के किसी एक देश अथवा कुछ देशों में घटती है तो इसका अन्य देशों पर प्रसार-प्रभाव हो सकता है —यद्यपि मेरा यह विश्वास है कि इन अधिकांश देशों में सेना की निहित स्वार्थों की रक्षा की परम्परागत प्रवृत्ति अधिक प्रबल सिद्ध होगी, कम-से-कम निकट भविष्य में।

यह हो सकता है कि इस समय पेरु में वस्तुतः एक आमूल परिवर्तनवादी दिशा में भिन्न बात हो रही हो। जनरल जुआन वेलास्को अल्वार्दो के अधीन सनिक सरदार ने जिन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की घोषणा की है, उन्हें लागू करने में भी इसे कामयाबी मिलेगी यह अनिश्चित है पर इस बात की सम्भावना मौजूद है।

यदि इन सुधारों को लागू किया जाता है तो अधिकांश उच्च वर्ग इसका प्रबल विरोध करेगा क्योंकि इन सुधारों के लागू हो जाने से उसके विशेषाधिकार सीमित हो जायेंगे। इस प्रतिरोध को समाप्त करने के लिए सेना को अपनी पूर्ण एकजुटता कायम रखनी होगी। इसे जन-सामान्य का समर्थन भी जुटाना होगा। तब हम एक ऐसी सैनिक सरकार द्वारा आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू होता देख सकेंगे, जिसने धीरे-धीरे जनसमुदाय जाग्रत किया।

इस क्षेत्र में अमरीका-विरोध में वृद्धि के कारण, सुधार लागू करने की इच्छा वाली सैनिक सरकार को विशेषकर आरम्भ में अमरीकी कम्पनियों पर प्रहार करने का प्रलोभन होगा। पेरु में यही हुआ।

सुधार लागू करने वाली सैनिक सरकार को बहुत बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना होगा। वे इनमें से बहुत-सी कठिनाइयाँ अमरीकी कम्पनियों की प्रायः स्वचालित प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होंगी। सुधारों के समर्थन में जो आम घोषणाएँ की जाती हैं, वे अमरीकी कम्पनियों को इन देशों के प्रभावशाली समूहों से मिलकर सुधारों को रुकवा देने अथवा सरकार का ही तख्ता उलटवा देने से नहीं रोक सकेंगी।

लैटिन अमरीका में निजी पूंजी निवेश को जारी रखने और बढ़ाने की कोई भी सामान्य घोषणा ऐसे किसी देश में नये पूंजी निवेश के प्रायः पूरी तरह बन्द हो जाने की प्रवृत्ति को नहीं बदल सकेगी। इसके अलावा यह विश्वास कर पाना भी कठिन है कि ऐसे किसी देश को अमरीकी सहायता मिलना जारी रहेगा, चाहे हिकेनलूपर के संशोधन को रद्द भी क्यों न कर दिया जाये अथवा इस पर अमल बन्द कर दिया जाये।

ये कठिनाइयाँ सैनिक सरकार को अपनी सुधार सम्बन्धी गतिविधि को धीमा कर देने और इनमें परिवर्तन कर देने की प्रेरणा दे सकती हैं। यह सम्भावित भी दिखायी पड़ता है। यदि इसके स्थान पर सैनिक सरकार सुधार नीतियों का अनु-

सरण करती रहती है तो उसे निरन्तर अधिक दूरगामी उपाय करने होंगे और अपने देशवासियों से निरन्तर अधिकाधिक बलिदान करने की माँग करनी होगी।

इस प्रकार इस और संयुक्त राज्य अमरीका सरकार की नीतियों के बीच का फासला बढ़ता जायेगा। इस सरकार को अमरीका के विरुद्ध व्याप्त रोष को बढ़ाना और इसका लाभ उठाना होगा, जो स्वतः बढ़ रहा है और जिसमें भविष्य में निश्चय ही और वृद्धि होगी—आजकल इसका आंशिक कारण अमरीकी पूंजी निवेश और सहायता का रुक जाना है।

लेटिन अमरीका के देशों में सैनिक सरकारों के अधीन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों सम्बन्धी गतिविधि की कल्पना अत्यन्त धूमिल है—और इसे, रॉकफेलर रिपोर्ट के अनुसार, युवकों और चर्च का समर्थन प्राप्त है जिन्हें अधिक क्रान्तिकारी बनने से रोका जाता है, और व्यापारिक संस्थानों के युवक प्रबन्धकों का भी जो 'श्रमिकों और जनता के प्रति सामाजिक चिन्ता' का अनुभव करने लगे हैं।[26] ये युवक प्रबन्धक विशेष रूप से इस विचार से भी प्रेरित बताये जाते हैं कि यह कार्य होने पर निरन्तर बढ़ते अमरीका विरोध के विपरीत, संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियाँ स्वागत योग्य निजी पूँजी निवेश के वृद्धिगत प्रवाह को स्वीकार करेंगी और इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका से अच्छे सम्बन्धों के युग का समारम्भ हो जायेगा। पर यह बात अत्यन्त भ्रामक दिखायी पड़ती है। सद्भावनापूर्ण अमरीकियों के लिए यह भावुकतापूर्ण और प्रायः रूमानी बात है। पर इस बात का इस संसार के यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं।

यह विचार कि लेटिन अमरीका अब गरीबी से ग्रस्त जन-समुदाय और शासक समूहों के बीच उग्र मुठभेड़ की दिशा में अनिवार्य रूप से आगे बढ़ रहा है, उसी प्रकार भ्रामक है जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप में युवक विद्रोहियों के सरकार के विरुद्ध उठ खड़े होने कीकल्पना जो वैसी ही अस्पष्ट, रूमानी और भावुकतापूर्ण है। जन-समुदाय अत्यन्त उदासीन और निष्क्रिय है और सेना के हाथ में मौजूद हथियार अत्यन्त प्रभावशाली है और इनकी मात्रा भी बहुत बड़ी है।

रिपोर्ट की पूर्व-कल्पना के अनुसार सम्भवतः लेटिन अमरीका में अभी और सैनिक सरकारें बनेंगी। जैसाकि मैंने ऊपर कहा है, मैं इस सम्भावना की उपेक्षा नहीं करता कि इनमें से कोई अथवा अनेक सरकारें विकास के लिए आवश्यक सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति करने की कोशिश करने के लिए प्ररित की जा सकेंगी, यद्यपि इनके सामने बहुत बड़ी कठिनाइयाँ आयेंगी, विशेषकर आर्थिक कठिनाइयाँ।

यदि ये कठिनाइयाँ सुधार लागू करने की इच्छुक इन सैनिक सरकारों को बहुत आगे बढ़ने से रोकने में सफल नहीं होंगी, तो इन सरकारों का तख्ता उलटने की कोशिश की जायेगी। इन प्रयासों में अमरीका सरकार गुप्त रूप से सी० आई०ए० की मार्फत और अन्य तरीकों से भी हिस्सा ले सकती है। यह कार्य स्थापित परम्परा और वर्तमान व्यवस्था के अनुरूप होगा, जिसे समाप्त करने का न तो

रॉकफेलर रिपोर्ट सुझाव देती हैं और न ही निक्सन प्रशासन इरादा रखता है। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा खुला सैनिक हस्तक्षेप भी असम्भव नहीं है—यद्यपि वियतनाम के अनुभव के वाद ऐसी कार्रवाइयों के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमरीका में विरोध बढ़ रहा है।

सुधारों के लिए कृतसंकल्प एक सैनिक सरकार का तख्ता उलटने के लिए यही नियमित तरीका अपनाया जा सकता है कि सैनिक प्रतिष्ठान में फूट के वीज बोये जायें। इसका वस यही अर्थ होगा कि एक और सैनिक विद्रोह होगा—अन्तर केवल इतना होगा कि इस बार यह एक असैनिक सरकार के विरुद्ध नहीं होगा।

यह कार्य जन-समुदाय को अथवा नागरिक आवादी को छेड़े बिना ही किया जा सकता है। इसका परिणाम होगा सुधार के मोर्चे पर पीछे हटना—यदि बढ़ते हुए दवाव के समक्ष पहले ही यह काम नहीं हो चुका है।

संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम यूरोप में अमरीकी नीतियों के आलोचकों के मध्य व्याप्त एक अन्य किस्म की भ्रामक कल्पना कि लेटिन अमरीका में सरकारों और शासक समूहों के विरुद्ध सामान्य जन-समुदाय विद्रोह करेगा, उसी प्रकार अव्यावहारिक है, जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका की सरकारी नीति। यह कल्पना हिंसा को विचित्र तरीके से गौरवशाली बात मानने से सम्बद्ध हो गयी है।

कोई भी मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति केवल हिंसा के लिए हिंसा को उचित नहीं बता सकता। दूसरी ओर यदि लेटिन अमरीका में शासक समूहों का तख्ता हिंसा के द्वारा उलटा जा सकता है, तो इसके लिए आवश्यक हिंसा का औचित्य यह कहकर सिद्ध किया जा सकता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह हिंसा जरूरी थी। कुछ दशक पहले मैक्सिको की क्रान्ति में दस और बीस लाख के वीच लोगों की जान गयी थी। दो सौ वर्ष पहले अमरीका की क्रान्ति भी हिंसा के बिना नहीं हुई थी।

इतना ही नहीं, लेटिन अमरीका की वर्तमान स्थिति में गरीब लोगों को दवाकर रखने के लिए उनके विरुद्ध लगातार भयंकर हिंसा की जाती है। श्रम का अल्प-उपयोग जारी रखने और जन-सामान्य को गरीबी के गर्त में डाले रखने वाली समस्त आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को उचित रूप से 'संस्थाकृत हिंसा' कहा जा सकता है।

कुछ वर्ष पहले प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी : लार्ड एण्ड पेजेंट इन दि मेकिंग ऑफ दि माडर्न वर्ल्ड' में, जिसका मैं एशियन ड्रामा में उपयोग नहीं कर सका, बैरिंगटन मूर जूनियर ने यह विचार प्रकट किया है : "जिस रूप में प्रायः समस्त इतिहास लिखा गया है वह क्रान्तिकारी हिंसा के विरुद्ध असीम पूर्वाग्रह को जन्म देता है···दलित लोगों द्वारा अपने भूतपूर्व मालिकों के विरुद्ध बल प्रयोग प्रायः सार्वभौम भर्त्सना का लक्ष्य वना है। जबकि 'सामान्य' समाज का दिन-प्रतिदिन

का दमन इतिहास की अधिकांश पुस्तकों में पृष्ठभूमि में ही पड़ा रहता है।"[27] और वे आगे यह दर्शाते हैं कि 'क्रान्ति के अभाव में' मनुष्य के जीवन और सुख के रूप में कितनी विशाल कीमत चुकानी पड़ती है! यही तर्क रॉबर्ट एल० हीलब्रोनर और अन्य लेखकों ने भी प्रस्तुत किया है।

पर सब कुछ इन दो प्रश्नों पर निर्भर करता है : क्या जन-समुदाय विद्रोह करेगा और क्या इसके सफल होने की गुंजाइश है। हिंसा का उदात्तीकरण, जो लेटिन अमरीका सम्बन्धी वामपन्थी लेखन में अब बहुत लोकप्रिय बन चुका है, यह मानकर चलता है कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक ही है। इस समय लेटिन अमरीका के अनेक देशों में जो गुरिल्ला आन्दोलन चल रहे हैं, उनके महत्त्व को जिस प्रकार असावधानी और उत्साह से बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया जाता है, उससे यह बात सर्वाधिक स्पष्टता से प्रकट हो जाती है।

इन दो मुद्दों पर मेरी सहमति नहीं है। पहली बात तो यह है कि जनता बहुत उदासीन और निष्क्रिय है। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जनता को सक्रिय बनाने के प्रत्येक प्रयास को आरम्भ में ही सेना और पुलिस की असीम शक्ति का मुकाबला करना होगा, जिसे अपने प्रभावशाली उच्च वर्ग के समूहों और संयुक्त राज्य का समर्थन प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमरीका यह विश्वास करता है कि वह क्यूबा के अनुभव से सबक सीख चुका है।

मुझे लेटिन अमरीका के देशों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सत्ता के वर्तमान ढाँचे के विरुद्ध किसी भी बड़े और सफल विद्रोह की गुंजाइश दिखायी नहीं पड़ती। केवल ऐसे अपवाद हो सकते हैं, पर इनकी अधिक सम्भावना नहीं है, कि कोई सैनिक सरकार अपने देश के प्रभावशाली समूहों और अमरीकी कम्पनियों—तथा जल्दी ही अमरीका सरकार से भी—अपने सम्बन्ध तोड़ ले और जनता को अपने समर्थन के लिए जाग्रत कर दे। पर स्वयं सैनिक सरकार के नेतृत्व में संचालित ऐसे किसी विद्रोह के लिए अधिक हिंसा की आवश्यकता नहीं होगी।

हिंसात्मक विद्रोह की जो असावधानी भरी और अज्ञानपूर्ण बातें की जाती हैं और जिनमें प्रकट रूप से बड़ा आनन्द भी लिया जाता है वह नैतिक दृष्टि से बहुत निन्दनीय है, क्योंकि ये बातें वे लोग करते हैं जो बहुत सुरक्षित वातावरण में आराम से रहते हैं और लेटिन अमरीका के दलित और उत्पीड़ित निम्न वर्ग की सहायता के संघर्ष में लड़ने और अपने प्राणों की आहुति देने का उनका कोई इरादा नहीं है।

बौद्धिक दृष्टि से, इसका तर्क भदेस और तथाकथित 'मार्क्सवाद' के आधार पर दिया जाता है, जबकि यह ऐसा 'मार्क्सवाद' है, जो कार्लमार्क्स की आत्मा को अपार कष्ट पहुँचाएगा।[28]

पूरे लेटिन अमरीका में एक अन्य सम्भव घटना, नये किस्म की सैनिक तानाशाही के बिना ही, अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण परिवर्तन की हो सकती है और इसकी पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इसकी सफलता के लिए स्थगित सामाजिक और आर्थिक सुधारों को तेजी से लागू करना होगा। और इसके ईमानदार और प्रबुद्ध नेतृत्व की आवश्यकता होगी जो वर्तमान आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करने और अधिक सच्चे लोकतन्त्र की धीरे-

धीरे स्थापना के लिए कृतसंकल्प हो।

अर्जेन्टीना जैसे अपेक्षाकृत अमीर देश में, अथवा चिली जैसे आम चुनावों की पूर्व परम्परा जैसे देश में अथवा मैक्सिको जैसे सच्ची क्रान्ति की पृष्ठभूमि वाले देश में, जहाँ अब इस क्रान्ति की गतिशीलता समाप्त हो गयी है, ऐसी घटना सम्भव हो सकती है। किसी ऐसी घटना के अन्तर्गत किसी खास चरण में जनता का विद्रोह भी उपयोगी भूमिका निभा सकता है। हर स्थिति में इसके लिए नीचे से और अधिक दवाव की आवश्यकता होगी, जो इन तथा कुछ अन्य देशों में सम्भव हो सकता है।

तीसरी और सम्भवतः सर्वाधिक सम्भावित बात यह हो सकती है कि वर्तमान प्रवृत्तियाँ जारी रहें। दक्षिण एशिया की तरह इसका यह अर्थ होगा कि न तो क्रम-विकास होगा और न ही क्रान्ति। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कुछ और शायद अनेक देशों में, अथवा यहाँ तक कि इन सब देशों में, किसी-न-किसी प्रकार के लेटिन अमरीकी फासिस्टवाद का उदय होगा, जिसकी रक्षा के लिए एक प्रबल पुलिस और सैनिक शक्ति सन्नद्ध रहेगी।

इसे संयुक्त राज्य अमरीका सरकार भी अपना समर्थन देगी—अमरीकी नीति में मूलभूत परिवर्तन होने पर ही इसके विपरीत स्थिति हो सकती है। लेटिन अमरीका में फासिस्ट सरकारें ही संयुक्त राज्य अमरीका को साम्यवाद का एकमात्र विकल्प दिखायी पड़ेगा।

यूरोप में हिटलर, मुसोलिनी, फ्रांको और सलाजार के प्रति यही आकर्षण रहा। जैसाकि हम सबको याद है, इनके शासनों को कुछ सीमा तक अच्छा समर्थन और पर्याप्त विश्वसनीयता प्राप्त हुई, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में—जैसाकि आज ग्रीस की सैनिक सरकार को प्राप्त है। हमें यह भी याद है कि किस प्रकार फासिस्ट सरकारों को प्रशासन की कुशलता का श्रेय दिया गया और किस प्रकार यहाँ तक कहा गया कि वे जनहित में प्रगतिशील सुधार लागू करने के लिए कृतसंकल्प हैं—यह बात रॉकफेलर रिपोर्ट की लेटिन अमरीका की सैनिक सरकारों के प्रति उत्साहपूर्ण आशावादिता जैसी ही थी।

जब फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट और अन्य उदारतावादियों को अमरीकी जनता को यूरोप में फासिस्टवाद के प्रति इस अत्यन्त सरलीकृत भावनाओं से मुक्त करने में सफलता मिली, उस समय तक मैकार्थी-डलेस युग का आज भी प्रभाव कायम नहीं हुआ था। और उन्हें इस कार्य में इस निरन्तर बढ़ती चेतना से सहायता मिली कि फासिस्टवाद के परिणामस्वरूप महायुद्ध होगा—और अन्ततः यह हुआ भी।

लेटिन अमरीकी फासिस्टवाद का लेटिन अमरीका के भीतर चाहे कितना भी पतनकारी प्रभाव क्यों न हो, पर इसके परिणामस्वरूप उस उप-महाद्वीप के बाहर युद्ध की प्रायः कोई सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती, विशेषकर इस कारण से क्योंकि सोवियत संघ इसका विरोध करने की कोई रुचि नहीं दिखा रहा है। इन परिस्थितियों में संयुक्त राज्य अमरीका के उदारतावादियों के लिए यह अत्यन्त कठिन कार्य होगा कि वे लेटिन अमरीका के फासिस्ट शासनों को सहयोग देना बन्द करने के लिए अपनी सरकार को राजी कर सकें।

पर मैं इस सम्भावना की पूरी तरह उपेक्षा नहीं कर देना चाहता कि

अमरीकी राष्ट्र की प्रिय उदारतावादी परम्पराओं के अनुरूप लेटिन अमरीका के देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियों की पुनर्व्याख्या करनी होगी। हमें इसके लिए संघर्ष भी करना है।

नीतियों की यह पुनर्व्याख्या उस नयी 'व्यावहारिकता' के प्रायः एकदम विपरीत होगी, जो अमरीकी प्रशासन का आशादीप बनी हुई है। इसका अर्थ लेटिन अमरीका के अनेक देशों की प्रगतिशील शक्तियों से सहयोग और प्रतिगामी सरकारों की उपेक्षा होगा। इसका अर्थ प्रगति के लिए सन्धि के सिद्धान्तों को अंगीकार करना होगा, जिसमें इसकी सफलता के लिए अधिक बलिदान करने की तत्परता शामिल है।

इसका अर्थ लेटिन अमरीका के देशों को हथियार और इनके अफसरों को ट्रेनिंग देने की संयुक्त राज्य अमरीका की नीति पर कठोर और सूक्ष्म नज़र डालनी होगी। सी. आई. ए. के माध्यम से गुप्त गतिविधियाँ और दूतावासों द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप अन्ततः सब लोगों के मन में अमरीका विरोधी भावनाएँ भड़काने का निश्चित साधन हैं। इस तरीके से केवल वे ही लोग विरोधी नहीं बनते जिन्हें इस प्रकार के समर्थन से प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। 'संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा' की दृष्टि से अनुसन्धान कार्यों का दिशा निर्देश करना, जिसका ऊपर उदाहरण दिया गया है निश्चय ही उल्टा असर करता है।

नीतियों की इस पुनर्व्याख्या का यह भी अर्थ होगा कि लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका के पूंजी निवेश की समस्या पर एकदम नये सिरे से विचार किया जाये। संयुक्त राज्य को बड़े पैमाने पर अमरीकी प्रतिष्ठानों के राष्ट्रीयकरण को बर्दाश्त करने के लिए तैयार होना होगा, विशेषकर भूमि, प्राकृतिक साधनों, सार्वजनिक सुविधाओं और कुछ विनिर्माण उद्योगों तक के राष्ट्रीयकरण को।

वस्तुतः संयुक्त राज्य अमरीका को अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक के सहयोग से ऐसे राष्ट्रीयकरणों को वित्तीय दृष्टि से सम्भव बनाने के लिए सक्रिय होना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप मुआवज़ा देने की बात पर इस प्रकार सहमति हो सकेगी जो स्थायी द्वेष को जन्म नहीं देती।

उदारतावादी दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं है कि लेटिन अमरीका में राजनीतिक विकास अमरीका-विरोध की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रबल प्रभाव के ही अन्तर्गत हो। वस्तुतः संयुक्त राज्य अमरीका के लिए नीति का निर्धारण करना सम्भव है जो असह्य बलिदानों के बिना ही समान लक्ष्यों की पूर्ति के लिए घनिष्ठ और भिन्नतापूर्ण सहयोग की स्थापना कर सके।

•

यहाँ लेटिन अमरीका की राजनीतिक गतिशीलता पर विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। अपने विवेचन के अन्त में भविष्य के बारे में अत्यधिक अनिश्चितता पर जोर देना आवश्यक है।

सम्भवतः मेरे अस्थायी निष्कर्ष नकारात्मक होते समय अधिक विश्वसनीय हैं। यह कहते समय कि क्या न होने की सम्भावना है ये अधिक विश्वसनीय हैं।

सकारात्मक दृष्टि से वैकल्पिक सम्भावनाओं का एक क्रम हमारे समक्ष मौजूद रहता है, जिनमें से केवल कुछ को ही पूरी तरह से असम्भावित कहा जा सकता है। लेटिन अमरीका के कई देशों में अन्तिम परिणाम बहुत भिन्न हो सकता है।

मेरे अन्वेषण की मूल्य सम्बन्धी प्रमुख मान्यता, दक्षिण एशिया सम्बन्धी अध्याय-14 की तरह, आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की तात्कालिक आवश्यकता रही है। यदि इन सुधारों को लागू नहीं किया जाता तो मैं यह भविष्य कथन करूंगा कि केवल सामान्य विकास में ही ठहराव नहीं आ जायगा बल्कि, विशेष-कर, असमानता और गरीबी और बढ़ेगी।

अपेक्षाकृत लम्बी अवधि में राजनीतिक दृष्टि से इसके क्या प्रभाव होंगे यह मेरी मूल्यांकन क्षमता के बाहर की बात है—उन्हीं कारणों से जिनका मैंने दक्षिण एशिया सम्बन्धी अध्याय-14 के अन्त में उल्लेख किया है।

लेटिन अमरीका के देशों के राजनीतिक विकास का अध्ययन राजनीति विज्ञानियों को न्यूनतम अवसरवादी पूर्वाग्रह के साथ करना चाहिए—अर्थात् इस सम्वन्ध में उन प्रचलित और सरकारी विश्वासों के अनुरूप अनुसन्धान कार्य को नहीं ढालना चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका और इन देशों के शासक समूहों के हित क्या हैं।

इस बीच, हम अर्थशास्त्रियों को इन देशों की राजनीतिक गतिशीलता के मोटे तथ्यों से अवगत कराने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा इन देशों की विकास समस्याओं का अध्ययन करने का प्रत्येक प्रयास निश्चय ही पूर्णतया सतही और भ्रामक होगा। इस परिशिष्ट और दक्षिण एशिया सम्बन्धी अध्याय लिखने का यही कारण है।

सम्भवतः यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि कैथोलिक धर्मावलम्बी फिलीपीन, स्पेन के उपनिवेशी शासन की कई शताब्दियों की विरासत और आधी शताब्दी के संयुक्त राज्य अमरीका के प्रभुत्व के कारण अनेक कारणों से दक्षिण एशिया की अपेक्षा लेटिन अमरीका का देश अधिक है। पर इसका विकास लेटिन अमरीका की अनेक वर्तमान प्रवृत्तियों से एक पहले के युग का है।[29]

अमरीकी युग में नियमित चुनावों और इन चुनावों के परिणामों के आधार पर भविष्य की सरकार के निर्णय फिलीपीन में लेटिन अमरीका के प्रायः किसी भी देश से अधिक दृढ़ता से कायम हो गया। यद्यपि अब तक इन चुनावों में उन मुद्दों को नहीं उठाया गया है जो जन-सामान्य के लिए वस्तुतः महत्त्वपूर्ण हैं, पर इसका यह निश्चित अर्थ नहीं होता कि इस दिशा में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके बाद सुधार, और आमूल परिवर्तनवादी सुधार, शान्तिपूर्ण तरीके से हो सकते हैं। पर यह निश्चित नहीं है।

लेटिन अमरीका की तरह ही अमरीका विरोध बढ़ रहा है और मोटे तौर पर इसका वही आधार है, यद्यपि अभी तक यह बहुत कमजोर है। यहाँ एक बार फिर एक ऐसे अमरीकी साप्ताहिक—यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट—का उद्धरण देना आवश्यक होगा जिसके ऊपर अमरीका के व्यापारिक प्रतिष्ठानों

अथवा वर्तमान प्रशासन का आलोचक होने का सन्देह नहीं किया जा सकता :

"ऐसे लक्षण अधिकाधिक मात्रा में दिखायी पड़ रहे हैं कि एशिया में पूर्व और पश्चिम की सर्वाधिक चिरस्थायी साझेदारी—फिलीपीन और संयुक्त राज्य अमरीका के घनिष्ठ सम्बन्ध—समाप्ति की ओर बढ़ रही है।......अब आपको राष्ट्रपति फर्डिनाण्ड मार्कोस से लेकर छोटे-से-छोटा फिलीपीनी नेता यह कहता हुआ सुनायी पड़ेगा कि अमरीकियों को यहाँ अपने वायुसेना और नौसेना के अड्डे छोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए, जो सन् 1945 से एशिया में अमरीका की सैनिक कार्रवाइयों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूण रहे हैं।......कुछ अधिकारी तो संयुक्त राज्य अमरीका से हुई सब सन्धियों की 'सूक्ष्म समीक्षा' करने की माँग कर रहे हैं, जिनमें फिलीपीन द्वीप समूह में विशाल अमरीकी निजी पूंजी निवेश की सुरक्षा की सन्धियाँ शामिल हैं।"[30]

पर अमरीकी सैनिक अड्डों और वहाँ तैनात सैनिकों से फिलीपीन की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग पाँच प्रतिशत प्राप्त होता है, जो इसकी निर्यात आय का लगभग अट्ठारह प्रतिशत है।

अतः यह सम्भव दिखायी पड़ता है कि कम-से-कम निकट भविष्य में फिलीपीन सरकार निरन्तर बढ़ रही अमरीका विरोधी भावनाओं का उपयोग संयुक्त राज्य अमरीका सरकार के ऊपर इस दृष्टि से दबाव डालने के लिए करेगी कि वह फिलीपीन को और अधिक लाभ पहुँचाने में उदारता बरते।

●
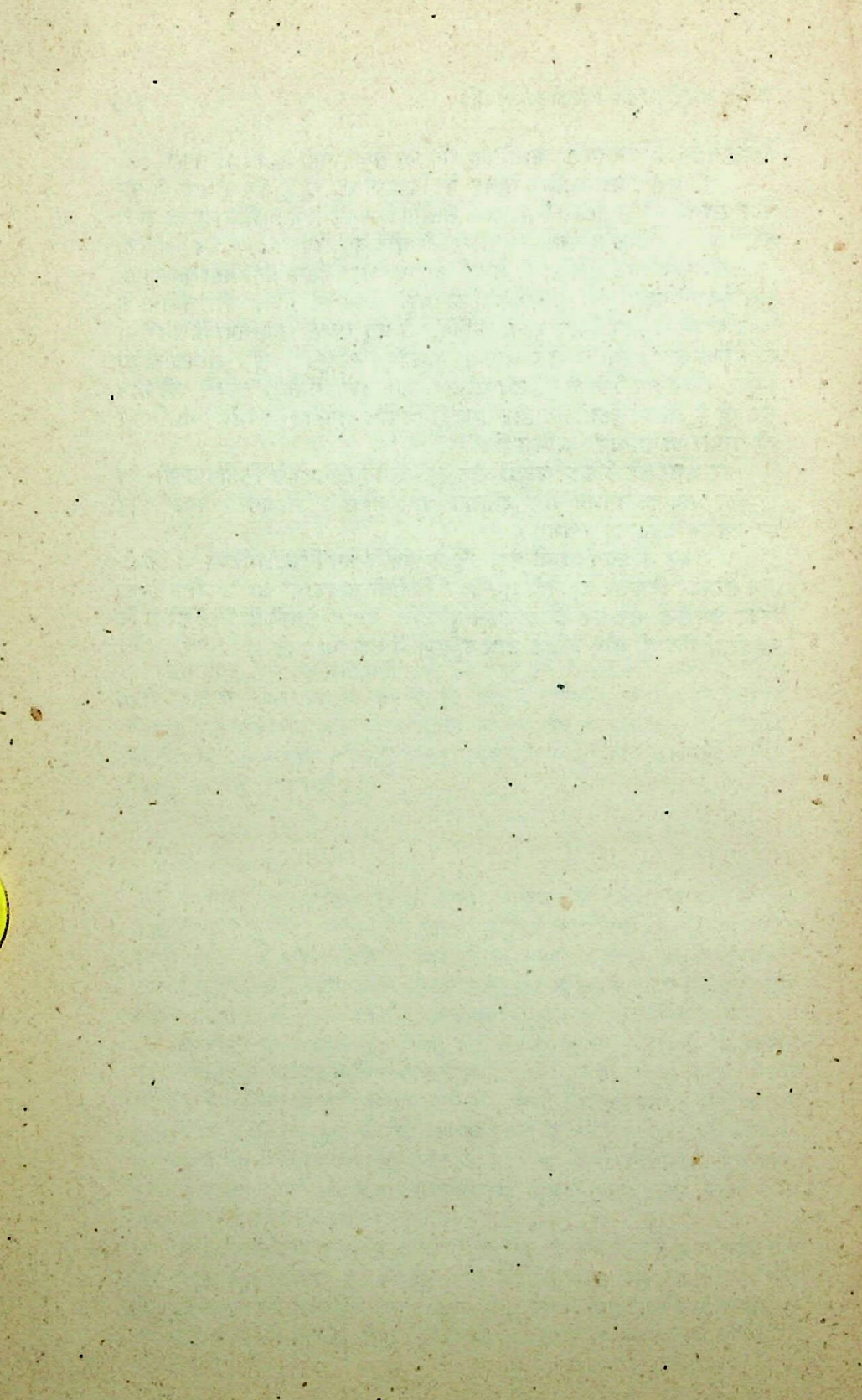
सन्दर्भ

प्राक्कथन

1. इस पुस्तक में दक्षिण एशिया और जिन अन्य क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है, उनकी परिभाषा के लिए देखिए एशियन ड्रामा : एन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी आफ नेशन्स (एलेन लेन दि पेनगुइन प्रेस एण्ड पेनगुइन बुक्स, 1968), अध्याय-1, अनुभाग-1, पृष्ठ 41

अध्याय 1

दृष्टिकोणों को पूर्वाग्रहों से मुक्त करने का प्रयास

1. पिछड़ेपन और विकास की परिभाषाओं के लिए, देखिए, एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-I (पृष्ठ 1839 और आगे) तथा परिशिष्ट-2, अनुभाग 5-7 (पृष्ठ 1859 और आगे), 12 (पृष्ठ 1878 और आगे)। विकास के लिए आयोजन की समस्याओं पर अध्याय-15 और परिशिष्ट-2, खण्ड-3 और 4 में विचार किया गया है।
2. इस पहले अध्याय के विचार के पूर्ण विवेचन के लिए देखिए, एशियन ड्रामा, आमुख, अध्याय-2
3. मिर्डल, आब्जेक्विटी इन सोशल रिसर्च (न्यूयार्क : पोन्थियन बुक्स, 1969) और वे अन्य सन्दर्भ जिनका इस पुस्तक में उल्लेख हुआ है।
4. एशियन ड्रामा, अध्याय-21, अनुभाग 6-7 (पृष्ठ 977 और आगे)
5. वही, आमुख, अनुभाग-2 (पृष्ठ 8 और आगे)
6. वही, अध्याय-21, अनुभाग-8 (पृष्ठ 984 और आगे, विशषकर पृष्ठ 989)
7. वही, आमुख, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 10 और आगे)
8. वही, परिशिष्ट-1 (पृष्ठ 1839), 'शब्दावली के माध्यम से राजनय'। राजनयिक शब्दावली का यही एकमात्र उदाहरण नहीं है। कभी-कभी आवश्यकता से अधिक बोझिल 'स्वतन्त्र संसार' जैसे प्रचारात्मक शब्द वैज्ञानिक साहित्य में घुस आते हैं; देखिए, एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-4 (पृष्ठ 12 और आगे)
9. एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-5 (पृष्ठ 16 और आगे)
10. वही, आमुख, अनुभाग-7 (पृष्ठ 24 और आगे)
11. एशियन ड्रामा में मैंने 'आधुनिक दृष्टिकोण' शब्द का इस्तेमाल किया है (अध्याय-21, अनुभाग-1, पृष्ठ 961 और आगे). और इसका प्रयोग यही भाव प्रकट करने के लिए किया गया है।

12. वही, अध्याय 21 और परिशिष्ट-6
13. एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-5 (पृष्ठ 16 और आगे), अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे); परिशिष्ट-2, अनुभाग 8-11 (पृष्ठ 1870 और आगे), अनुभाग 19-20 (पृष्ठ 1901 और आगे); परिशिष्ट-3, अनुभाग-3, (पृष्ठ 1946 और आगे)
14. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1912 और आगे)
15. वही, आमुख, अनुभाग-6 (पृष्ठ 20 और आगे)
16. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 20-21 (पृष्ठ 1903 और आगे)
17. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 12-15 (पृष्ठ 1878 और आगे); परिशिष्ट-3, विशेषकर अनुभाग-8 (पृष्ठ 1961 और आगे)
18. वही, अध्याय-21; परिशिष्ट-6; परिशिष्ट-2, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1901 और आगे)
19. वही, अध्याय-21, अनुभाग 10-13 (पृष्ठ 995 और आगे)
20. वही, अध्याय-21, खण्ड-3
21. वही, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे)
22. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-20 (पृष्ठ 1903 और आगे)
23. वही, अध्याय-24, अनुभाग-7-9 (पृष्ठ 1184 और आगे); अध्याय-25, अनुभाग-5, (पृष्ठ 1225 और आगे)
24. वही, अध्याय-21, अनुभाग-7-9 (पृष्ठ 981 और आगे, 989 और आगे)
25. वही, अध्याय-14, अनुभाग-2 (पृष्ठ 677 और आगे) परिशिष्ट-10
26. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 19-20 (पृष्ठ 1901 और आगे)
27. मिर्डल, इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डिवेल्प्ड रिजन्स (डकवर्थ एण्ड कम्पनी 1957) संयुक्त राज्य अमरीका में रिचलेंड्स एण्ड पूअर (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1958) शीर्षक से प्रकाशित, पृष्ठ 129 और आगे (यह और बाद के पृष्ठों के उद्धरण इंग्लैण्ड में प्रकाशित संस्करण की पृष्ठसंख्या के अनुसार दिये गये हैं।)
28. एशियन ड्रामा, भूमिका; आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे)
29. एशियन ड्रामा में दो ऐसी बातों पर विशेष रूप से जोर दिया गया है, जिनसे इस पुस्तक का अध्ययन कुछ कठिन हो सकता है। लेकिन ये ऐसी बातें थीं, जो लेखक के लिए अनिवार्य थीं और इनमें संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण और उपलब्ध आँकड़ों की आलोचना प्रस्तुत की गयी है; ये दोनों बातें उन कारणों से जिनका पुस्तक में उल्लेख किया गया है, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, देखिए, वही, अध्याय-11, अनुभाग 1-4 (पृष्ठ 474 और आगे); अध्याय-12, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 529 और आगे); अध्याय-13, अनुभाग-1 (पृष्ठ 581 और आगे); अध्याय-14, अनुभाग-1 (पृष्ठ 674 और आगे); अध्याय-17, अनुभाग 1-3 (पृष्ठ 799 और आगे); अध्याय-18, अनुभाग-1 (पृष्ठ 849 और आगे); अध्याय-19, अनुभाग-1 (पृष्ठ 902 और आगे); अध्याय-21; अध्याय-27, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1387 और आगे); अध्याय-29, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1533 और आगे); अध्याय-30; अनुभाग-1 (1553 और आगे); और परिशिष्ट 1-8

30. सामाजिक अनुसन्धान में निरपेक्षता, अनुभाग-8
31. एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे)
32. वही, अध्याय-29, अनुभाग-4-7 (पृष्ठ 1540 और आगे)
33. वही, परिशिष्ट-4; देखिए, परिशिष्ट-2, अनुभाग-22 (पृष्ठ 1919 और आगे)
34. वही, परिशिष्ट-2, खण्ड-2
35. वही, परिशिष्ट-2, विशेषकर अनुभाग 5-11, 19-21 (पृष्ठ 1859 और आगे 1901 और आगे)
36. वही, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 31 और आगे)
37. देखिए, वही, परिशिष्ट-2 और 3
38. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-19 और 20 (पृष्ठ 1901 और आगे); परिशिष्ट-3, विशेषकर अनुभाग-3 (पृष्ठ 1946 और आगे)
39. वही, आमुख, अनुभाग-9 (पृष्ठ 31 और आगे); अध्याय-2, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 50 और आगे)। मैंने सामाजिक अनुसन्धान में निरपेक्षता में निहित प्रमुख विचारों को विशेषकर अनुभाग 11-14 में सरल शब्दावली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और अपनी पहले की रचनाओं का हवाला दिया है।
40. एशियन ड्रामा, अध्याय-2, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 54 और आग); खण्ड-4
41. अपने व्यक्तिगत मूल्यांकनों के आधार पर लेखक को यह चिन्ताजनक लगता है कि उसके निष्कर्ष के अनुसार राजनीतिक लोकतन्त्र आधुनिकीकरण के आदर्शों का एक आवश्यक तत्त्व नहीं है। अन्य मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के विपरीत यह आदर्श एक ऐसी प्रणाली के लिए अनिवार्य नहीं है, जिसमें अन्य सब आधुनिकीकरण आदर्श मौजूद हों। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि लोकतन्त्री शासन के स्थान पर एकतन्त्री शासन की स्थापना इस बात का अधिक आश्वासन प्रदान करती है कि नीतियों को इन आधुनिकीकरण आदर्शों की प्राप्ति की दिशा में निर्देशित किया जायेगा अथवा इस प्रकार निर्देशित होने की स्थिति में ये अधिक प्रभावशाली हो सकेंगे। देखिए, एशियन ड्रामा, पृष्ठ 67 और आगे।
42. एशियन ड्रामा, अध्याय-2, अनुभाग-3 (पृष्ठ 54 और आगे)
43. वही, पुनश्च: अनुभाग-2 (पृष्ठ 1834 और आगे)
44. मैंने सामान्य शब्द 'मूल्य' का उन कारणों से प्रयोग नहीं किया है, जिनका स्पष्टीकरण एशियन ड्रामा, पृष्ठ 32, पाद टिप्पणी-2 में दिया गया है।
45. एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग-1 (पृष्ठ 71 और आगे)
46. वही, अध्याय-3, विशेषकर अनुभाग-2 (पृष्ठ 74 और आगे)
47. वही, अध्याय-3, अनुभाग-3 (पृष्ठ 81 और आगे); अध्याय-33, अनुभाग-3, 4, 6 (पृष्ठ 1728 और आगे, 1743 और आगे, 1768 और आगे)

अध्याय 2
परिस्थितियों का अन्तर

1. 'निषेध' और 'अवरोध' की परिभाषा के लिए और विकास के किसी नमूने

में इन दोनों संकल्पनाओं के योगदान के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग-1 (पृष्ठ 71 और आगे); परिशिष्ट-2, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1878 और आगे)
2. एशियन ड्रामा, अध्याय-14, अनुभाग-5 (पृष्ठ 688 और आगे)
3. वही, अध्याय-14, अनुभाग-9 (पृष्ठ 700 और आगे)
4. वही, अध्याय-14, अनुभाग-2 (पृष्ठ 676 और आगे); अध्याय-11, अनुभाग-7 (पृष्ठ 510 और आगे)
5. वही, अध्याय-14, अनुभाग-2 (पृष्ठ 677 और आगे); परिशिष्ट-10
6. वही, अध्याय-14, अनुभाग-3 (पृष्ठ 681 और आगे)
7. वही, अध्याय-27, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1389 और आगे); परिशिष्ट-11
8. वही, अध्याय-28, अनुभाग-1-3 (पृष्ठ 1464 और आगे)
9. इसके लिए देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-14, अनुभाग-4 (पृष्ठ 682 और आगे); अध्याय-13, विशेषकर अनुभाग 1, 5, 6 (पृष्ठ 581 और आगे, 595 और आगे, 603 और आगे)
10. एशियन ड्रामा, अध्याय-10, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 442 और आगे)
11. वही, अध्याय-13, अनुभाग 12-15 (पृष्ठ 640 और आगे)
12. वही, अध्याय-13, अनुभाग-14 (पृष्ठ 649 और आगे)
13. वही, अध्याय-13, अनुभाग-16 (पृष्ठ 661 और आगे)
14. वही, अध्याय-13, अनुभाग-17 (पृष्ठ 669 और आगे); अध्याय-19, अनुभाग-7 (पृष्ठ 926 और आगे); अध्याय-24, अनुभाग-2 (विशेषकर 1158 और आगे परिशिष्ट-8, खण्ड-1)
15. वही, अध्याय-14, अनुभाग 6-7 (पृष्ठ 691 और आगे)
16. वही, अध्याय-14, अनुभाग 8-9 (पृष्ठ 697 और आगे)
17. वही, अध्याय-14, अनुभाग 9 (पृष्ठ 700 और आग)
18. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 19-20 (पृष्ठ 1901 और आगे)
19. वही, अध्याय-14, अनुभाग-1 (पृष्ठ 674 और आगे)
20. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1847 और आगे)
21. वही, आमुख, अनुभाग-6 (पृष्ठ 22)

अध्याय 3
समानता का प्रश्न

1. एशियन ड्रामा, अध्यांय-16, अनुभाग-10 (पृष्ठ 769 और आगे)
2. दक्षिण एशिया की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-12 विशेषकर अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 563 और आगे), परिशिष्ट-14, अध्याय-15, अनुभाग-8 (पृष्ठ 737 और आगे), अध्याय-16, अनुभाग 6-10 (पृष्ठ 756 और आगे), अध्याय-18 विशेषकर अनुभाग-12 (पृष्ठ 883 और आगे), अध्याय-19, अनुभाग 6 (पृष्ठ 926 और आगे), अध्याय-22, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1052 और आगे), अध्याय-26, अनुभाग 12-20 (पृष्ठ 1301 और आगे), अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1790 और आग)

3. मैंने इस विषय पर विस्तार से विचार 'दि पालीटिकल एलीमेंट इन दि डेवेल्पमेण्ट ऑफ इकानामिक थ्योरी' (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1953, संयुक्त राज्य अमरीका में 1965 में हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित), और इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डिवेल्प्ड रिजन्स के खण्ड-2 (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1957, संयुक्त राज्य अमरीका में 1969 में हार्पर एण्ड रो द्वारा रिचलैंड्स एण्ड पूअर नाम से प्रकाशित) में किया है। देखिए, आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च, अनुभाग 17-23
4. (जियांड दि वैलफेयर स्टेट डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1960), खण्ड-1
4क. गुस्ताव आर० पापानेक, पाकिस्तान डेवेल्पमेण्ट : सोशल गोल्स एण्ड प्राइवेट इन्सेंटिव्स (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968), पृष्ठ 178, 242
5. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-3 (पृष्ठ 745 और आगे)
6. वही, अध्याय-16, अनुभाग-1 (पृष्ठ 741 और आगे)
7. वही, अध्याय-15, अनुभाग-2 (पृष्ठ 712 और आगे)
8. वही, अध्याय-16, अनुभाग-2 (पृष्ठ 743 और आगे)
9. जवाहरलाल नेहरू, दि डिस्कवरी आफ इंडिया (चौथा संस्करण, मेरीडियन बुक्स, 1956), पृष्ठ 513
10. 'स्ट्रेटेजी आफ दि थर्ड प्लान', प्राब्लम्स इन दि थर्ड प्लान—ए क्रिटीकल मिसलेनी (नई दिल्ली, 1961), पृष्ठ 50
11. ऊपर उद्धृत
12. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-4, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 2005 और आगे)
13. वही, अध्याय-16, अनुभाग-3 (पृष्ठ 745 और आगे)
14. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1912 और आगे)
15. 'रिसेन्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फार ईस्ट, खण्ड-19, संख्या-1 (जून 1968), पृष्ठ 58
16. एशियन ड्रामा, अध्याय-22, अनुभाग-5, 10 (पृष्ठ 1052 और आगे, 1083 और आगे)
17. एशियन ड्रामा, अध्याय-12, अनुभाग-7 (पृष्ठ 567 और आगे)
18. वही, पृष्ठ 1806
19. वही, अध्याय-3, अनुभाग 5-7 (पृष्ठ 93 और आगे)
20. वही, अध्याय-16, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 741 और आगे)
21. 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एक डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया' ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 57
22. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-9 (पृष्ठ 765 और आगे)
23. दक्षिण एशिया में विकास के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-12, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 563 और आगे); अध्याय 16, अनुभाग-6 (पृष्ठ 756 और आगे); और सर्वत्र; देखिए, इस अध्याय की पाद टिप्पणी संख्या-2
24. वही, अध्याय-16, अनुभाग-8 (पृष्ठ 763 और आगे)
25. उदाहरण के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-6 (पृष्ठ 756 और आगे); अध्याय-22, अनुभाग-5, पृष्ठ 1052 और आगे)
26. उदाहरण के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-18-20 (पृष्ठ

1334 और आगे); देखिए 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', ऊपर उद्धृत, विशेषकर पृष्ठ 49 और आगे
27. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-9 (पृष्ठ 765 और आगे)
28. वही, अध्याय 16, अनुभाग 7-9 (पृष्ठ 761, 765 और आगे)
29. वही, अध्याय-6
30. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12, (पृष्ठ 1301 और आगे)
31. वही, अध्याय-16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 779 और आगे)
32. वही, अध्याय-8, अनुभाग 3-6, (पृष्ठ 315 और आगे)
33. देखिए, गुस्ताव एफ० पापानेक, पाकिस्तान्स डेवेल्पमेण्ट : सोशल गोल्स एण्ड प्राइवेट इन्सेण्टिव्ज़
34. जोसिफ लेलीवेल्ड, 'डिफीकल्टीज़ इन पाकिस्तान काज़ रिएसेसमेण्ट आफ हर "सकसेस",' न्यूयार्क टाइम्स, 9 मार्च 1969
35. एशियन ड्रामा, अध्याय-8, अनुभाग-9 (पृष्ठ 338 और आगे)
36. वही, अध्याय-8, अनुभाग-3 (पृष्ठ 315 और आगे)
37. वही, अध्याय-8, अनुभाग-9 (पृष्ठ 338 और आगे)
38. वही, अध्याय-4, अनुभाग-12(पृष्ठ 169 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-13 (पृष्ठ 221 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 398 और आगे)
39. वही, अध्याय-4, अनुभाग-4, 5, 7, 13 (पृष्ठ 138 और आगे, 149 और आगे, 173 और आगे)
40. वही, अध्याय-7, अनुभाग 3-7, (पृष्ठ 273 और आगे); देखिएं अध्याय-4,
41. वही, अध्याय-4, अनुभाग-11 (पृष्ठ 162 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-11-12 (पृष्ठ 213 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-9-10 (पृष्ठ 373 और आगे)
42. वही, अध्याय-9, अनुभाग-10 (पृष्ठ 376 और आगे)
43. ब्रॉन फेन ब्रेनर, 'दि अपील आफ कनफिसकेशन इन इकानामिक डेवेल्पमेण्ट', इकानामिक डेवेल्पमेण्ट एण्ड सोशल चेंज, अप्रैल 1955
44. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-9, (पृष्ठ 2112 और आगे)
45. न्यूज़ वीक, 30 दिसम्बर 1968
46. एशियन ड्रामा, अध्याय-17, अनुभाग-9, विशेषकर पृष्ठ 823, पाद टिप्पणी-4
47. वही, अध्याय-16, अनुभाग-1, 2, 4, 5 (पृष्ठ 741 और आगे, 749 और आगे)
48. वही, अध्याय-16, अनुभाग-6 (पृष्ठ 756 और आगे)
49. मिर्डल, इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स, खण्ड-2
50. आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च, अनुभाग 3-5
51. दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में उदाहरणों के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-7 (पृष्ठ 761 और आगे) देखिए 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 49 और आगे
52. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-9 (पृष्ठ 765 और आगे)

अध्याय 4
खेती

1. जहाँ तक दक्षिण एशिया का सम्बन्ध है, इस अध्याय की पृष्ठभूमि एशियन ड्रामा, अध्याय-22, 26 में मिल सकती है।
2. वही, अध्याय-10, अनुभाग-2 (पृष्ठ 417 और आगे)
3. खाद्य और कृषि संगठन, दि स्टेट आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (रोम, 1968) रेखाचित्र 3-3, पृष्ठ 78; खाद्य और कृषि संगठन की अन्य वर्षों की रिपोर्ट भी देखिए जो इसी नाम से प्रकाशित हुई हैं।
4. एशियन ड्रामा, अध्याय-11, अनुभाग 5-6 (पृष्ठ 546 और आगे); अध्याय-10, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 442 और आगे); अध्याय-17, अनुभाग-3 (पृष्ठ 808 और आगे)
5. वही, अध्याय-26, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1278 और आगे)
6. वही, अध्याय-26, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1244 और आगे)
7. वही, पृष्ठ 1245, पाद टिप्पणी-5
8. खाद्य और कृषि संगठन, दि स्टेट आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968), पृष्ठ 9 और आगे
9. वही, पृष्ठ 75 और आगे
10. वही,
11. दक्षिण एशिया के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-12, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 568 और आगे, अध्याय-30, अनुभाग-11, पृष्ठ 160 2 और आगे) शेष कम-विकसित संसार के लिए दि स्टेट आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर के विभिन्न वर्षों की रिपोर्टों के अलावा खाद्य और कृषि संगठन के अन्य अनेक प्रकाश देखिए विशेषकर थर्ड वर्ल्ड फूड सर्वे (रोम, 1963 और अमरीकी राष्ट्रपति की विज्ञान सलाहकार समिति द्वारा तैयार अत्यधिक उपयोगी रिपोर्ट द वर्ल्ड फूड प्राब्लम, वाशिंगटन, 1967) जो एशियन ड्रामा के लेखन के समय उपलब्ध नहीं थी।
12. एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग 11-13 (पृष्ठ 1602 और आगे)
13. वही, अध्याय-3, अनुभाग-5 (पृष्ठ 93 और आगे); अध्याय-30, अनुभाग-11, 13 (पृष्ठ 1602 और आगे, 1616 और आगे)
14. मिर्डल, 1965 के मैकडोगल स्मारक भाषण में उद्धृत। यह भाषण 24 नवम्बर 1965 को रोम में खाद्य और कृषि संगठन के सम्मेलन में हुआ था।
15. दि स्टेट ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968) पृष्ठ 78 और आगे
16. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 1-3 (पृष्ठ 1241 और आगे, 1251 और आगे) अध्याय-10, अनुभाग 3-5 (पृष्ठ 417 और आगे)
17. श्रम के कम उपयोग और यहाँ वर्णित अन्य संकल्पनाओं की परिभाषा के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय 21, विशेषकर अनुभाग-15 (पृष्ठ 1012 और आगे), वही, परिशिष्ट-6
18. एशियन ड्रामा, अध्याय-21 और परिशिष्ट-6
19. वही, अध्याय-22

20. वही, परिशिष्ट-2, अध्याय-1 और 2
21. वही, अध्याय-29, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1251 और आगे)
22. वही, अध्याय-21, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1007 और आगे); परिशिष्ट-6, अनुभाग-6-7 (पृष्ठ 2050 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग-3, 11 (पृष्ठ 1251 और आगे, 1294 और आगे)
23. वही, अध्याय-26, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1356 और आगे)
24. वही, अध्याय-26, अनुभाग-11 और अनुभाग 6-10 (पृष्ठ 1294 और आगे, 1261 और आगे)
25. लेटिन अमरीका आर्थिक आयोग, इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमरीका 1966 (संयुक्त राष्ट्र संघ, न्यूयार्क, 1968), खण्ड-3, विशेषकर पृष्ठ 351 और 352
26. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 11-25 (पृष्ठ 1294 और आगे, 1377 और आगे)
27. वही, अध्याय-26, अनुभाग-6-11 (पृष्ठ 1261 और आगे)
28. वही, अध्याय-24, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1150 और आगे)
29. वही, परिशिष्ट-1
30. वही, अध्याय-24, अनुभाग-2, 11 (पृष्ठ 1155 और आगे, 1202 और आगे)
31. वही, अध्याय-17, अनुभाग-6-10, 14, 15 (पृष्ठ 715 और आगे, 840 और आगे)
32. वही, अध्याय-24, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1153 और आगे); परिशिष्ट-6, विशेषकर अनुभाग-10 (पृष्ठ 2061)
33. वही, अध्याय-24, अनुभाग-1, 5 (पृष्ठ 1153 और आगे, 1172 और आगे)
34. वही, अध्याय-24, अनुभाग-5, 10, 11
35. वही, अध्याय-24, अनुभाग-6; अध्याय-21, अनुभाग-1
36. वही, अध्याय-10, अनुभाग-11
37. वही, अध्याय-11, अनुभाग-4; अध्याय-23, अध्याय-4=9; अध्याय-26 अनुभाग-1
38. वही, अध्याय-23, अनुभाग-4-5 (पृष्ठ 1112 और आगे)
39. इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमरीका, 1966, तालिका 283, पृष्ठ 326
40. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-2 (पृष्ठ 444 और आगे); परिशिष्ट-4, अनुभाग-2 (पृष्ठ 2008 और आगे)
41. वही, परिशिष्ट 2, अनुभाग-18, 20 (पृष्ठ 1897 और आगे)
42. वही, अध्याय-24, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1168 और आगे); अध्याय-14, अनुभाग-6 (पृष्ठ 691 और आगे)
43. वही, अध्याय-25, विशेषकर अनुभाग-3, 5-9 (पृष्ठ 1217 और आगे, 1225 और आगे)
44. वही, अध्याय-26, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1241 और आगे)
45. वही, अध्याय-14, अनुभाग-7 (पृष्ठ 696 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1251 और आगे)

46. वही, अध्याय-26, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1253 और आगे); अध्याय-14, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 696 और आगे)
47. वही, अध्याय-21; अध्याय-22, अनुभाग 7-9 (पृष्ठ 1070 और आगे)
48. वही, अध्याय-26, अनुभाग-10 (पृष्ठ 1288 और आगे)
49. वही, अध्याय-22, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1047 और आगे)
50. वही, अध्याय-22, विशेषकर अनुभाग-5, 11 (पृष्ठ 1052 और आगे)
51. 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फार ईस्ट, जिल्द 19, संख्या-1 (जून 1968), पृष्ठ 51
52. इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमरीका, 1966, खण्ड-3 (संयुक्त राष्ट्र, न्यूयार्क, 1968)
53. वही, पृष्ठ 312
54. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 12-17 (पृष्ठ 1301 और आगे)
55. इकानामिक सर्वे आफ लेटिन अमरीका 1967, पृष्ठ 334 और आगे
56. वही, पृष्ठ 338
57. वही, पृष्ठ 353 और आगे
58. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 18-20 (पृष्ठ 1334 और आगे); देखिए अध्याय-18 भी, विशेषकर अनुभाग-12-13 (पृष्ठ 883 और आगे); देखिए 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', पृष्ठ 52
59. 'सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', पृष्ठ 52
60. एशियन ड्रामा, अध्याय-18, विशेषकर अध्याय-12 (पृष्ठ 883 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग 18-19 (पृष्ठ 1334 और आगे)
61. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1339 और आगे)
62. भारत सम्बन्धी कुछ अनुमानों के लिए देखिए एशियन ड्रामा, पृष्ठ 1344, पाद टिप्पणी-4
63. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-25 (पृष्ठ 1377 और आगे)
64. वही, अध्याय-22
65. वही, अध्याय-19
66. वही, पृष्ठ 1352, 1382 और आगे
67. वही, अध्याय-26, अनुभाग 22-24 (पृष्ठ 1366 और आगे)
68. वही, अध्याय-26, अनुभाग-20 (पृष्ठ 1346 और आगे)
69. वही, अध्याय-26, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1255 और आगे)
70. वही, अध्याय-21 और परिशिष्ट-6
71. वही, अध्याय-21, अनुभाग-12-14 (पृष्ठ 1001 और आगे); परिशिष्ट-6, अनुभाग 8-9 (पृष्ठ 2055 और आगे)
72. वही, अध्याय-25, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1210 और आगे) अध्याय-26, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1356 और आगे)
73. वही, अध्याय-26, अनुभाग 22-24 (पृष्ठ 1356 और आगे)
74. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1304, पाद टिप्पणी-2)
75. वही, अध्याय-26, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1255 और आगे)
76. वही, अध्याय-26, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1259 और आगे)

77. वही, अध्याय-26, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1257 और आगे) और अध्याय-22, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1064 और आगे)
78. दि स्टेट ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968), पृष्ठ 81 और आगे
79. ऊपर उद्धृत
80. 'अब तक विभिन्न किसानों द्वारा बीज के चुनाव पर निर्भरता का यह अर्थ होता था कि एक ही फसल उगाने वाले आसपास के खेतों में एक ही फसल की दो या इससे अधिक किस्में उगाई जाती थीं। एक ही फसल की किस्मों की यह विविधता पौधों के व्यापक रोगों से स्वाभाविक सुरक्षा प्रदान करती थी, क्योंकि पौधों की सब किस्मों पर एक ही रोग का समान प्रभाव नहीं होता। लेकिन जहाँ कहीं एक ही क़िस्म के पौधे बहुत बड़े इलाके में लगातार बोये जाते हैं, वहाँ रोग के फैलने का बहुत अधिक खतरा मौजूद रहता है..... एक ऐसे किसी भी बड़े रोग के लिए दोष भाग्य को नहीं, बल्कि अद्भुत बीज उगाने वालों और इसे बोने की सिफारिश करने वालों को दिया जायेगा जो हजारों किसानों की फसल को बर्बाद कर डाले। इस स्थिति में कृषि विकास अनेक दशक पीछे पड़ जायेगा।' (विलफ्टन आर० व्हार्टन, जूनियर, 'दि ग्रीन रिवोल्यूशन, कोनूकोपिया और पण्डोरोज़ वाक्स' फारेन अफेयर्स, अप्रैल 1969, पृष्ठ 468 और आगे)
80क. दि स्टेट ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968), पृष्ठ 81 और आगे
81. हेरोशी कितामरा 'इकानामिक सिचुएशन इन एशिया' इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फारइस्ट, खण्ड-19, अंक-1 (जून 1968), पृष्ठ 41
82. लेस्टर आर ब्राउन, 'न्यू डायरेक्शन इन वर्ल्ड एग्रीकल्चर,' स्टडीज़ इन फैमिली प्लानिंग अंक-31 (जून 1968) लीले शेर्टज चैलेन्ज ऑफ दि सैवेनटीज़ : इम्प्रूव एग्रीकल्चर इन दि लैस डिवेल्प्ड कन्टरीज़, संयुक्त राज्य सरकार का कृषि विभाग (पृष्ठ 435-69) 11 फरवरी 1969, साइक्लोस्टाइल प्रति।
83. 'दि एग्रीकल्चरल रिवोल्यूशन इन एशिया', फारेन एफेयर्स, जिल्द 46, अंक-4, जुलाई 1968
84. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1342 और आगे)
85. वही, अध्याय-26, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1345 और आगे)
86. इस सम्मेलन में पढ़े गये लेखों को डेवेल्पमेण्ट एण्ड चेंज इन ट्रेडिशनल एग्रीकल्चर : फोकस आन साउथ एशिया (साइक्लोस्टाइल प्रति) शीर्षक से प्रकाशित किया गया है (ईस्ट लांसिंग, मिशिगन, नवम्बर 1968)
87. वही, पृष्ठ 59
88. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था, प्राइमर आन टाइटिल-9 ऑफ दि यूनाइटेड स्टेटस फारेन असिस्टेन्स एक्ट वाशिंगटन, 1968
89. दि रोल आफ पापुलर पार्टिसिपेशन इन डेवेल्पमेण्ट, अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र, मेसाचूसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टैक्नालॉजी (कैम्ब्रिज, मेसाचूसेट्स) : नवम्बर 1968
90. वही, पृष्ठ 1
91. गुन्नार मिर्डल, चेलेंज ऑफ एफ्लूएंस (न्यूयार्क : पानथियन बुक्स, 1963;

विनटेज बुक्स संस्करण, 1965), अध्याय-10, विशषकर पृष्ठ 144। यह और बाद की पृष्ठ संख्याएँ विंटेज संस्करण के अनुसार हैं।
92. देखिए, रिपोर्ट आफ दि वर्ल्ड लैण्ड रिफार्म कान्फ्रेंस, 1966, संयुक्तराष्ट्र 1968, विशेषकर भाग 3, 'एन एनेलाइसिस ऑफ दि मेन इशूज़ आफ दि कान्फ्रेंस' लेखक इरिच एच० जैकोबी और जान हिग्ज़।
93. संयुक्त राष्ट्र का खाद्य और कृषि संगठन, प्रोविजनल, इन्डीकेटिव वर्ल्ड प्लान फार एग्रीकल्चरल डेवेलपमेण्ट ए सिन्थेसिस एण्ड एनीलासिस ऑफ फैक्टर्स रेलीवेंट टू वर्ल्ड, रिजनल एण्ड नेशनल एग्रीकल्चरल डेवेलपमेण्ट, रोम, अगस्त, 1969, 3 खण्ड। प्रमुख रिपोर्ट के अलावा पश्चिम एशिया, लेटिन अमरीका, सहारा के दक्षिण के अफ्रीका के देश, और दक्षिण तथा पूर्व एशिया के बारे में प्रायः इतने ही वृहद चार और अध्ययन भी।
94. 1965 रिपोर्ट आन दि वर्ल्ड सोशल सिचुएशन (संयुक्तराष्ट्र, न्यूयार्क 1966)
95. वही, पृष्ठ 79 और आगे
96. संयुक्तराष्ट्र, 1963, साइक्लोस्टाइल प्रति, ए।7248, ई। सी एन० 5।417

अध्याय 5
आबादी

1. देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-27 और 28। आबादी की सम्भावनाओं और आबादी सम्बन्धी नीति के लिए
2. एशियन ड्रामा, अध्याय-11, विशेषकर अनुभाग-1 (पृष्ठ 474 और आगे)
3. वही, अध्याय-12, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 529 और आगे)
4. अध्याय-21 और परिशिष्ट-6
5. वही, अध्याय-27, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1387 और आगे)
6 वही, अध्याय-27, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1389 और आगे)
7. वही, अध्याय-27, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1448 और आगे)
8. वही, अध्याय-27, अनुभाग-4-6 (पृष्ठ 1402 और आगे)। अध्याय-30, अनुभाग 5-6 (पृष्ठ 1567 और आगे)
9. वही, अध्याय-27, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1402 और आगे)
10. वही, अध्याय-27, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1408 और आगे)
11. वही, अध्याय-27, अनुभाग-7-11 (पृष्ठ 1422 और आगे)
12. वही, अध्याय-27, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1443 और आगे)
13. वही, अध्याय-27, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1391 और आगे)
14. वही, अध्याय-28, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1470)
15. वही, अध्याय-30, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1554 और आगे)
16. वही, अध्याय-28, अनुभाग-9 (पृष्ठ 1496 और आगे)
17. उदाहरण के लिए देखिए जान टिनबर्जेन, दि डिज़ाइन आफ डेवेलपमेण्ट (बाल्टीमोर, जान हापिकन्स प्रेस, 1958), पृष्ठ 14
18. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-7, अनुभाग-1 (पृष्ठ 2063 और आगे)
19. पापुलेशन ग्रोथ एण्ड इकानामिक डेवेलपमेण्ट इन लो इनकम कंट्रीज़ (आक्स-

फोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1958
20. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1464 और आगे)
21. वही, अध्याय-28, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1465 और आगे)
22. वही, पृष्ठ 1469, पाद टिप्पणी 1
23. 1968 एनुअल मीटिंग आफ दि बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, समरी प्रोसीडिंग्स (वाशिंगटन, 1969)
24. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1467 और आगे)
25. वही, परिशिष्ट-11
26. वही, अध्याय-28, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1471 और आगे)
27. वही, परिशिष्ट 7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 2066 और आगे)
28. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1513 और आगे)
29. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1473 और आगे)
30. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1523)
31. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1473 और आगे)
32. वही, अध्याय-28, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1505 और आगे)
33. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1474 और आगे)
34. वही, अध्याय-28, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1507 और आगे)
35. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1515 और आगे); परिशिष्ट-12
36. वही, अध्याय-28, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1512 और आगे)
37. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1518 और आगे)
38. इन्टरनेशनल प्लांड पेरेंटहुड फेडरेशन, फैमिली प्लानिंग इन फाइव कांटीनेंट्स (लन्दन : अगस्त 1969)
39. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-15 (पृष्ठ 1526 और आगे); परिशिष्ट-12, अनुभाग-4 (पृष्ठ 2161)
40. वही, अध्याय-28, अनुभाग-15 (पृष्ठ 1526 और आगे); पुनश्चः, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1831 और आगे)
41. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1582 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 1593 और आगे)
42. वही, पुनश्चः, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1831)। देखिए सजलवसु और शंकरराय भी, इमपैक्ट ऑफ इन्ट्रा-यूटेरीन कन्ट्रासेप्टिव डिवाइसेज़, इकानामिक एण्ड पालिटिकल वीकली (8 जून 1968)
43. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1473 और आगे) उपनिवेशी युग के लिए देखिए, अनुभाग 6-8 (पृष्ठ 1480 और आगे)
44. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1475 और आगे)
45. वही, अध्याय-28, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1489-95, विशेषकर पृष्ठ 1494 और आगे)
46. वही, अध्याय-28, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1507-13), विशेषकर पृष्ठ 1509
47. कार्ल ई० टेलर, 'हेल्थ एण्ड पापुलेशन', फारेन एफेयर्स (अप्रैल 1965) और 'फाइव स्टेजेज इन ए प्रैक्टिकल पापुलेशन पालिसी,' इन्टरनेशनल डेवेलपमेण्ट रिव्यू (दिसम्बर, 1968)

अध्याय 6
शिक्षा

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1670 और आगे)
2. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (रेखाचित्र 32--2, पृष्ठ 1677 और पृष्ठ 1671, पाद टिप्पणी-2)
3. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1671, पाद टिप्पणी-3)
4. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1714 और आगे)
5 वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1715, पाद टिप्पणी 4 और 6)
6. वही, अध्याय-11, अनुभाग 1-2 (विशेषकर तालिका 11-1, पृष्ठ 477); परिशिष्ट 13, (पृष्ठ 2165 और आगे)
7. वही, अध्याय-29, अनुभाग-4 (विशेषकर पृष्ठ 1544)
8. वही, अध्याय-29, अनुभाग 4-7 (पृष्ठ 1540 और आगे)
9. वही, परिशिष्ट-3, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1956 और आगे)
10. वही, अध्याय-29, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1567 और आगे)
11. इन अध्यायों के 250 से अधिक पृष्ठों में मैंने दक्षिण एशिया में शिक्षा की समस्याओं के नये विश्लेषण का प्रयास किया है। ये अध्याय मेरे अध्ययन का एक ऐसा अंग हैं, जिनके बारे में मेरा विचार है कि मैंने कोई 'सिद्धान्त' प्रस्तुत करने और एक भिन्न दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने से कहीं अधिक गहराई से इस विषय का अध्ययन किया है। यदि शिक्षा विशेषज्ञों का ध्यान इस ओर नहीं जाता, तो मुझे निराशा होगी। यदि उनका ध्यान केवल इस कारण से इस ओर नहीं जाता कि यह हिस्सा एक ऐसी पुस्तक का अन्तिम भाग है, जिसकी विषयवस्तु अधिक सामान्य है और जिसका शीर्षक भी इसी प्रकार व्यापक अर्थ रखता है, और जिसका लेखक एक अर्थशास्त्री है, तो मुझे निराशा होगी।
12. एशियन ड्रामा, अध्याय-31, अनुभाग-3-4 (पृष्ठ 1632-1650)
13. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1632 और आगे)
14. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1641) और अनुभाग-4
15. वही, अध्याय-33, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1757 और आगे)
16. वही, अध्याय-10, अनुभाग-9 (पृष्ठ 454 और आगे)
17. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1640 और आगे); अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1806 और आगे)
18. वही, अध्याय-32, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1653 और आगे)
19. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1659); अध्याय-33, अनुभाग-8, (पृष्ठ 1810 और आगे)
20. वही, अध्याय-33, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1703 और आगे; विशेषकर तालिका 33-2)
21. वही, अध्याय-33, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1708 और आगे), विशेषकर तालिका 33-3)
22. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1670 और आगे, विशेषकर तालिका

32-3, पृष्ठ 1672 पर)
23. वही, अध्याय-11, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 474-492)
24. इस पुस्तक में मैंने निरन्तर मलाया का हाल में निर्मित एक कहीं बड़ी इकाई मलयेशिया के एक अधिक हमवार भाग के रूप में उल्लेख किया है।
25. एशियन ड्रामा, अध्याय-32, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1655 और आगे)
26. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1657 और आगे)
27. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1666 और आगे)
28. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1687)
29. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1657 और आगे)
30. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1685 और आगे)
31. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1724 और आगे) और अनुभाग-7 (पृष्ठ 1801 और आगे)
32. डब्लू एस वोयतिन्स्की, इण्डिया : दि अवेकनिंग जायंट (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1957, पृष्ठ 137)
33. एशियन ड्रामा, अध्याय-23, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1124-1131)
34. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (विशेषकर पृष्ठ 1690 और आगे)
35. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1657 और आगे)
36. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (विशेषकर तालिका 32-1, पृष्ठ 1660); अध्याय-33, अनुभाग-4, 6 (पृष्ठ 1743 और आगे, 1768 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 1778 की तालिका), और 7 (पृष्ठ 1803 और आगे)
37. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1666)
38. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1665 और आगे)
39. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1712 और आगे, विशेषकर तालिका 33-4 पृष्ठ 1718 पर) देखिए अनुभाग 4, 6 (पृष्ठ 1743 और आगे 1768 और आगे)
40. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (विशेषकर पृष्ठ 1659)
41. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 और 7 (पृष्ठ 1791 और आग)
42. भारत के लिए देखिए नयी दिल्ली विश्वविद्यालय के कृषि अर्थशास्त्र अनुसन्धान केन्द्र का प्रकाशन प्राइमरी एजुकेशन इन रूरल इण्डियन : पार्टीसीपेशन एण्ड वेस्टेज, नयी दिल्ली, मई 1968 (साइक्लोस्टाइल प्रति)
43. एशियन ड्रामा, अध्याय-33, अनुभाग-2 (विशेषकर पृष्ठ 1724 और आगे)
44. वही, अध्याय-33, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1702 और आगे) और 2 (पृष्ठ 1725 और आगे)
45. वही, अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1728 और आगे)
46. वही, अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1730 और आगे) और 5 (पृष्ठ 1766 और आगे) देखिए, अध्याय-31, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1644 और आगे)
47. वही, अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1741 और आगे); अध्याय-3, अनुभाग-3 (पृष्ठ 81 और आगे)
48. वही, अध्याय 3, अनुभाग 3 (पृष्ठ 81 और आगे)
49. वही, अध्याय-32, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1655 और आगे) और अध्याय-33,

अनुभाग-3 (पृष्ठ 1737 और आगे)
50. वही, अध्याय-33, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1743 और आगे)
51. वही, अध्याय-33, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1756 और आगे)
52. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1642 और आगे)
53. 'शिक्षित बेरोजगारों' की सामाजिक समस्या के बारे में देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-23, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1124 और आगे)
54. एशियन ड्रामा, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1768 और आगे)
55. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1781 और आगे)
56. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1784 और आगे)
57. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1774 और आगे)
58. वही, अध्याय-33, अनुभाग 6 (पृष्ठ 1776 और आगे)
59. वही, अध्याय-33, अनुभाग 6 (विशेषकर रेखाचित्र 33-5, पृष्ठ 1778)
60. वही, अध्याय-33, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1760, अन्यत्र भी) अनुभाग-6 (पृष्ठ 1776 और आगे) अनुभाग-7 (पृष्ठ 1792 और आगे)
61. वही, अध्याय-9, अनुभाग-5-9 (पृष्ठ 360)
62. वही, अध्याय-30, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1565 और आगे); अध्याय ३१, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1633 और आगे); अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1691 और आगे); और अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1739)
63. वही, अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1798 और आगे)
64. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1774 और आगे)
65. वही, अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1801 और आगे) इसी अध्याय के पहले अनुभागों में अन्यत्र भी।
66. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 113 और आगे); अध्याय-15, अनुभाग-6 (पृष्ठ 730) अध्याय 16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 781 और आगे) तथा अनुभाग-19 (पृष्ठ 796)
67. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1827 और आगे)
68. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1810 और आगे)
69. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1811 और आगे)
70. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1813 और आगे)
71. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1658 और आगे) और अध्याय-33, अन्यत्र भी, विशेषकर अनुभाग-8 (पृष्ठ 1814 और आगे)
72. वही, अध्याय-33, अनुभाग-८ (पृष्ठ 1816 और आगे)
73. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1814 और आगे तथा पृष्ठ 1826)
74. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1685 और आगे) और अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1809)
75. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1822 और आगे)
76. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1820 और आगे)
77. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1824 और आगे)
78. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1659 पाद टिप्पणियों सहित)
79. वही, अध्याय-31, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1622 और आगे)

अध्याय 7
नरम राज्य

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-2, अनुभाग-4 (पृष्ठ 66 और आगे) ; अध्याय-3, अनुभाग-8 (विशेषकर पृष्ठ 117 और आगे); अध्याय 16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 779 और आगे); अध्याय-18, अनुभाग-13 और विशेषकर अनुभाग-14 (पृष्ठ 895 और आगे); परिशिष्ट 2, अनुभाग-20 (विशेष-कर पृष्ठ 1908 और आगे)
2. वही, परिशिष्ट-2, भाग 2 (पृष्ठ 1859 और आगे)
3. वही, अध्याय-8, अनुभाग-4-9 (पृष्ठ 319 और आगे)
4. वही, अध्याय-9, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 365 और आगे)
5. वही, अध्याय-16, अनुभाग 12-13 (पृष्ठ 775 और आगे), विशेषकर पृष्ठ 780
6. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-6 (विशेषकर पृष्ठ 1866), अन्यत्र भी
7. वही, अध्याय-18, अनुभाग-5 (पृष्ठ 859 और आगे), अनुभाग-१४ (पृष्ठ 895 और आगे), देखिए अध्याय-22 और 23 भी (तथा अन्यत्र भी)
8. वही, अध्याय-18, अनुभाग-14 (पृष्ठ 897 और आगे)
9. वही, अध्याय-18, (अन्यत्र भी), देखिए, अध्याय-2, अनुभाग-2, (पृष्ठ 51 और आगे)
10. वही, अध्याय-19, अनुभाग-3 (विशेषकर 1910 और आगे), विशेषकर (पृष्ठ 1912 और आगे)
11. वही, अध्याय 16, अनुभाग-7 (पृष्ठ 761 और आगे) ; अध्याय-26, अनु-भाग-18-20 (पृष्ठ 1334 और आगे); अन्यत्र भी
12. वही, अध्याय-18, अनुभाग-12 (पृष्ठ 883 और आगे)
13. वही, अध्याय-18, अनुभाग-13 (पृष्ठ 891 और आगे), विशेषकर (पृष्ठ 894 और आगे)
14. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-20 (पृष्ठ 1903 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 1909 और आगे)
15. वही, अध्याय-16, अनुभाग-8 (पृष्ठ 763 और आगे) ; अध्याय-7, अनुभाग-5 (पृष्ठ 292 और आगे)
16. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1303 और आगे) ; अध्याय-22, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1052 और आगे)
17. वही, अध्याय-26, अनुभाग 12-17 (पृष्ठ 1301 और आगे)
18. वही, परिशिष्ट-8, अनुभाग-8 और 9 (पृष्ठ 2096 और आगे), विशेषकर (पृष्ठ 2098 और आगे)
19. वही, अध्याय-15, अनुभाग-8 (पृष्ठ 737 और आगे); अध्याय 1-6, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 761 और आगे) ; अध्याय-26, अनुभाग 12-20 (पृष्ठ 1301 और आगे) तथा अध्याय-18, अनुभाग-12 (पृष्ठ 883 और आगे)
20. वही, अध्याय-16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 780 और आगे)

21. वही, अध्याय-19, अनुभाग-4 (पृष्ठ 916 और आगे) ; अध्याय-23, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1103 और आगे)
22. वही, अध्याय-10, अनुभाग-7 (पृष्ठ 445) ; अध्याय-11, अनुभाग-5 (पृष्ठ 506 और आगे)
23. वही, अध्याय-11, अनुभाग-9 (पृष्ठ 521 और आगे)
24. सकारात्मक नियन्त्रणों—अथवा प्रलोभनों—और नकारात्मक नियन्त्रणों—अथवा प्रतिबन्धों और कटौतियों के बीच अन्तर करता हूँ। नियन्त्रण अधिकारियों के विवेक पर आधारित हो सकते हैं। यह उस स्थिति में होगा, जब प्रशासनिक अधिकारियों के व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर ही उन्हें लागू करने अथवा लागू न करने की बात हो। ये नियन्त्रण उस समय किसी के विवेक पर आधारित नहीं होंगे, जब किसी निश्चित नियम के अनुसार इनका स्वत: पालन करना अनिवार्य हो अथवा दामों में प्रेरित परिवर्तनों, तटकर अथवा उत्पादनशुल्क लगाकर यह कार्य किया जाना हो अथवा इस सम्भावना के बिना कि किसी खास कम्पनी के साथ पक्षपात किया जायेगा, उद्योग की किसी शाखा को सहायता दी जाये। यह अन्तिम अन्तर समग्र दृष्टि से, 'प्रत्यक्ष' अथवा 'भौतिक' के बीच तथा नियन्त्रणों और 'अप्रत्यक्ष' नियन्त्रणों के बीच है, जैसाकि सम्बन्धित साहित्य में विवरण दिया गया है। देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-19, अनुभाग-1 (पृष्ठ 903 और आगे)।
25. एशियन ड्रामा, अध्याय-19, अनुभाग-2 (पृष्ठ 905 और आगे)
26. वही, परिशिष्ट-5 (पृष्ठ 2031)
27. वही, अध्याय-19, अनुभाग 5-6 (पृष्ठ 919 और आगे, अन्यत्र भी); परिशिष्ट-8 (पृष्ठ 2077 और आगे) ; परिशिष्ट-5 (पृष्ठ 2031 और आगे)
28. वही, अध्याय-19, अनुभाग-4 (पृष्ठ 918 और आगे)
29. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-23 (पृष्ठ 1923 और आगे)
31. वही, अध्याय-19, अनुभाग-7 (पृष्ठ 926 और आगे); परिशिष्ट-8 (पृष्ठ 2077, अन्यत्र भी)
32. वही, अध्याय-13, अनुभाग-17 (पृष्ठ 669 और आगे) तथा अध्याय-24, अनुभाग-2, (पृष्ठ 1158 और आगे)
33. देखिए, विशेषरूप से वही, अध्याय-19, अनुभाग-7(पृष्ठ 930, पाद टिप्पणी 6)
34. वही, अध्याय-20, (पृष्ठ 937 और आगे)
35. वही, अध्याय-20, अनुभाग-1 (पृष्ठ 939)
36. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 951 और आगे)
37. सैकेण्ड पब्लिक सर्विसेज इन्टरनेशनल एशियन रिजनल कान्फ्रेंस, 14 नवम्बर, 1968, साइक्लोस्टाइल प्रति
38. एशियन ड्रामा, अध्याय-20, अनुभाग-2 (पृष्ठ 940 और आगे)
39. वही, अध्याय-20, अनुभाग-3 (पृष्ठ 942 और आगे)
40. वही, अध्याय-20, अनुभाग-4 (पृष्ठ 947 और आगे)
41. वही, अध्याय-18, अनुभाग-5 (पृष्ठ 869 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 861);

अध्याय-20, अनुभाग-3 (पृष्ठ 949, पाद टिप्पणी-3)
42. वही, अध्याय-20, अनुभाग-2 (पृष्ठ 941)
43. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 951 और आगे)
44. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 953 और आगे)
45. वही, अध्याय-20, (पृष्ठ 937 और आगे)
46. वही, आमुख, अनुभाग-9 (पृष्ठ 31 और आगे)
47. मिर्डल, एन अमरीकन डीलेमा, दि नीग्रो प्राब्लम एण्ड माडर्न डेमोक्रेसी, लन्दन (हार्पर एण्ड रो, 1962), अध्याय-1, अनुभाग 6-12 (पृष्ठ 12 और आगे) मैंने दूसरे अध्यायों में भी इस समस्या पर फिर विचार किया है।
48. मिर्डल एन इन्टरनेशनल इकानामी, प्राब्लम्स एण्ड प्रासपेक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1956), पृष्ठ 204 और आगे, बियांड दि वैलफेयर स्टेट (न्यू हावेन : येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1960), पृष्ठ 99 और आगे
49. मिर्डल, चैलेंज टू एफ्लुऐंस (न्यूयार्क : विंटेज बुक्स, 1965), पृष्ठ 96 और आगे ; देखिए अमेरीकन डीलेमा, अध्याय-33 (पृष्ठ 709 और आगे)
50. एशियन ड्रामा, अध्याय-11, अनुभाग-4 (पृष्ठ 502 और आगे) ; अध्याय-23, अनुभाग-9 (पृष्ठ 1145 और आगे) ; अन्यत्र भी
51. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 953 और आगे)
52. एशियन ड्रामा, अध्याय-20, अनुभाग-6 (पृष्ठ 955 और आगे)

अध्याय 8

अन्यत्र स्थिति की दलील नहीं बल्कि एक चुनौती

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-30 (पृष्ठ 1553 और आगे)
2. वही, अध्याय 24-25 (पृष्ठ 1149 और आगे)
3. वही, परिशिष्ट-2, खण्ड-2, विशेषकर 5 (पृष्ठ 1859 और आगे) और अनुभाग-7 (पृष्ठ 1866 और आगे)
4. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1868 और आगे)
5. वही, अध्याय-11, अनुभाग-1 (पृष्ठ 447 और आगे)
6. वही, अध्याय-11, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 392 और आगे)
7. वही, अध्याय-12, अनुभाग-2 (पृष्ठ 530 और आगे)
8. वही, अध्याय-11, अनुभाग-1 (पृष्ठ 482); परिशिष्ट-13 (पृष्ठ 2165 और आगे)
9. वही, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 30 और आगे)
10. वही, अध्याय-27, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1387 और आगे)
11. मोर्गेनस्टर्न, आन दि एकुरेसी ऑफ इकानामिक आब्जरवेशन्स (दूसरा संस्करण ; आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1965)
12. वही, पृष्ठ 282
13. वही, पृष्ठ 300
14. 'कम्पेरेटिव सोशल रिसर्च इन दि यूनाइटेड नेशन्स' कम्पेयरिंग नेशन्स : दि यूज आफ क्वांटिटिव डाटा इन क्रास-नेशनल रिसर्च, सम्पादन मेरिट और

रोवकन (लन्दन : येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1966) पृष्ठ 528, 535

अध्याय 9

व्यापार और पूँजी का प्रवाह

1. यहाँ जो अत्यधिक सरलीकृत तर्क दिया गया है, उसे मेरी पुस्तक इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्ड रीजन्स (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1957) में अधिक विस्तार से विकसित किया गया है। अमरीका में इस पुस्तक का प्रकाशन रिचलैण्ड्स एण्ड पूअर (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1958) शीर्षक से हुआ है। विशेषरूप से देखिए, अध्याय-1 (पृष्ठ 3 और आगे) और 11 (पृष्ठ 147 और आगे)। यहाँ और इसके बाद पाद टिप्पणियों में जो पृष्ठसंख्या दी गयी है, वह अंग्रेजी संस्करण के अनुसार है।
2. इकानामिक थ्योरी, अध्याय-10 (पृष्ठ 135 और आगे)
3. वही, अध्याय-1 और 11
4. वही, अध्याय-3 (पृष्ठ 23 और आगे)
5. वही, अध्याय-2 (पृष्ठ 11 और आगे) और विशेषकर अध्याय 5 (पृष्ठ 50 और आगे)
6. एशियन ड्रामा, अध्याय-5, अनुभाग-4 (पृष्ठ 188 और आगे)
7. एशियन ड्रामा, में वस्तुतः दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में अधिक विशिष्ट प्रेक्षण किये गये हैं। देखिए, विशषकर अध्याय-10, अनुभाग-7-9 (पृष्ठ 442 और आगे)
8. कम-विकसित देशों के विदेश व्यापार का संयुक्त राष्ट्र के विश्व आर्थिक सर्वेक्षणों, क्षेत्रीय आर्थिक आयोगों, व्यापार और तटकर सम्बन्धी सामान्य करार और इधर संयुक्त राष्ट्र के विकास और व्यापार सम्मेलन के सचिवालय द्वारा किये गये अनेक अध्ययनों में विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

   निर्यात और आयात, अन्य आर्थिक संकल्पनाओं, जैसे राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन, बचत आदि की तुलना में कहीं अधिक स्पष्ट संकल्पनाएँ हैं। इनके बारे में सांख्यिकी सम्बन्धी प्रेक्षण भी अधिक सही और व्यापक हैं। देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-1 (पृष्ठ 583)

   दक्षिण एशिया के देशों के व्यापार के विकास और उसकी सम्भावनाओं के बारे में देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13 (पृष्ठ 581 और आगे) विशेषकर अनुभाग-5 (पृष्ठ 595 और आगे) और अनुभाग 12-15 (पृष्ठ 640 और आगे)
9. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-5 (पृष्ठ 595 और आगे); अनुभाग-12 (पृष्ठ 640 और आगे)
10. दक्षिण एशिया के लिए देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-13,14, 15 (पृष्ठ 643 और आगे)
11. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-17 (पृष्ठ 669 और आगे); अध्याय-24, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1160 और आगे);, परिशिष्ट-8, अनुभाग-3
12. वही, अध्याय-13, अनुभाग-9 (पृष्ठ 621 और आगे) और अनुभाग-16,

पृष्ठ 661 और आगे)

13. उदाहरण के लिए देखिए, संयुक्त राष्ट्र, प्राबलम्ज़ आफ पालीसीज़ ऑफ फाइनेंसिंग, संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन, दूसरा अधिवेशन, नयी दिल्ली, खण्ड-4 (न्यूयार्क, 1968, पृष्ठ 28 और आगे)
14. वही, पृष्ठ 33, देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-16 (पृष्ठ 664 और आगे)
15. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी : प्राब्लम्स एण्ड प्रासपेक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1956), अब हारपर टार्च बुक द्वारा प्रकाशित (1969) अध्याय-13, (विशेषकर पृष्ठ 288 और आगे)
16. मिर्डल, बियाण्ड दि वैलफेयर स्टेट (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1960), अध्याय-5 (पृष्ठ 77 और आगे); देखिए इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प रीजन्स भी, अध्याय-4, (विशेषकर पृष्ठ 47 और आगे)
17. मिर्डल, बियांड दि वैलफेयर स्टेट, अध्याय-10 (पृष्ठ 77 और आगे), अन्यत्र भी
18. मिर्डल, चैलेंज टू एफ्लूएंस; (न्यूयार्क : विन्टेज बुक्स, 1965), अध्याय-7, (पृष्ठ 95 और आगे); मिर्डल, एन अमेरिकन डीलेमा (लन्दन : हारपर एण्ड रो 1962), अध्याय 33
19. संयुक्त राष्ट्र, दि सिगनीफिकेंस आफ दि सैकण्ड सैशन आफ दि यूनाइटेड नेशन्स कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डेवेल्पमेंट, सम्मेलन के महामन्त्री की रिपोर्ट (न्यूयार्क 1968, पृष्ठ 1)
20. वही, पृष्ठ 20
21. परिणाम के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए वही और ग्रामिस्लाव गोसोविक, संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास सम्मेलन : नार्थ-साउथ एनकाउण्टर, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए कारनेगी संस्थान की अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव पुस्तकमाला के अन्तर्गत प्रकाशित (मई 1968), संख्या 568, (पृष्ठ 51 और आगे)
22. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-15 (पृष्ठ 656 और आगे)
23. संयुक्त राष्ट्र, यूनाइटेड नेशन्ज़ कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डिवलेपमेंट, दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड-1, रिपोर्ट और परिशिष्ट (न्यूयार्क 1968), प्रस्ताव 23 (2), पृष्ठ 51.
24. वही, प्रस्ताव 27 (2), पृष्ठ 38
25. वही, प्रस्ताव 29 (2), पृष्ठ 40 और आगे
26. वही, प्रस्ताव 30 (2) और 31 (2), पृष्ठ 42 और आगे
27. वही, प्रस्ताव 32 (2)
28. एल्विन हानसेन, दि डालर एण्ड दि इन्टरनेशनल मानीटरी सिस्टेम (न्यूयार्क : मैक्ग्रा-हिल बुक कम्पनी, 1965); विशेषरूप से देखिए, गुन्नार मिर्डल द्वारा लिखित भूमिका (पृष्ठ 9 और आगे; देखिए मिर्डल, 1965 मैकडागल मेमोरियल लेक्चर, रोम : खाद्य और कृषि संगठन 1965), पृष्ठ 10 और आगे
29. संयुक्तराष्ट्र, यूनाइटेड नेशन्ज़ कान्फ्रेंस आन एड एण्ड डिवेलप्मेंट, दूसरा

अधिवेशन, ऊपर उद्धृत प्रस्ताव 16 (2), 17 (2), 18 (2), 19 (2), 20 (2), पृष्ठ 34 और आगे

30. वही, प्रस्ताव 2 (2), 14 (2), पृष्ठ 45 और आगे
31. वही, प्रस्ताव 9 (2), पृष्ठ 30
32. दि सिगनीफीकेंस आफ दि सैकण्ड सैशन आफ दि यूनाइटेड नेशन्ज़ कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डिवलेपमेंट, सम्मेलन के महासचिव की रिपोर्ट, ऊपर उद्धृत पृष्ठ 3
33. संयुक्त राष्ट्र, यूनाइटेड नेशन्ज़ कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डिवलेपमेंट, दूसरा अधिवेशन, ऊपर उद्धृत प्रस्ताव 21 (2), पृष्ठ 38
34. जब संसद के चुनाव के दौरान युवक-युवतियों की एक टोली ने प्रधानमन्त्री और अन्य पार्टियों के नेताओं से इस सम्बन्ध में सवाल पूछा तो यही उत्तर दिया गया, डाजेन्स नीहेतेर, 6 सितम्बर 1968

अध्याय 10

सहायता सम्बन्धी आँकड़ों का अवसरवादी उपयोग : 'वित्तीय प्रवाहों' का प्रश्न

1. स्टाकहोम इन्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट (एस० आई० पी० आर० आई) एस० आई० पी० आर० आई ईयर बुक आफ वर्ल्ड आर्मिमेंट्स एण्ड डिस आर्मामेंट्स 1966।9 (स्टाकहोम : आंक्विस्ट एण्ड विकसेल्ज़, 1969)
2. आर्गनाइजेशन और इकानामिक कोआपरेशन एण्ड डेवेल्पमेंट, डेवेल्पमेंट असिस्टेंट कमेटी, स्टेटिस्टीकल टेबल्स फार दि 1969 एनुअल एंड रिव्यू, पेरिस, 17 जुलाई, 1969
3. स्वीडन के वित्त मन्त्रालय का समाचारपत्रों को भेजा गया समाचार, 14 फरवरी, 1969
4. वही,
5. विकास सहायता समिति (69) 32, पेरिस, 4 जून 1969
6. स्वीडन—और स्विट्जरलैंड ने भी,—लम्बे अरसे तक विकास सहायता समिति में हिस्सा नहीं लिया। स्वीडन इस सिद्धान्त पर कायम था कि विकास सहायता की समस्याओं का समाधान क्षेत्रीय और विश्वव्यापी संगठनों के अन्तर्गत किया जाना चाहिए, जहाँ स्वयं कम-विकसित देश अपनी आवाज़ उठा सकते हैं। इसने विकास सहायता समिति की गतिविधियों की आलोचना की और विशेषकर उन आँकड़ों की जिनका संकलन समिति का सचिवालय करता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, स्वीडन ही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ विकास समिति के आँकड़ों की आलोचना की जाती है। यह आलोचना लोकप्रिय पत्रिकाओं और दैनिक समाचारपत्रों में भी होती है। इस प्रकार और अन्य दृष्टियों से भी, स्वीडन एक अपवाद है।

    विकास सहायता समिति के आँकड़ों के प्रति कम-विकसित देशों की प्रतिक्रिया के लिए आगे देखिए।

7. मिर्डल, 'दि इन्टर गवर्नमेंटल आर्गनाइजेशन्स एण्ड दि रोल आफ देयर सेक्रेटेरियट्स,' कैनेडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, 1969
8. इस श्रृंखला के अन्तिम प्रकाशन में जिसे इन्टरनेशनल फ्लो आफ लांगटर्म कैपीटल एण्ड आफिशियल डोनेशन, 1962-1966 (न्यूयार्क 1968) उपशीर्षक से प्रकाशित किया गया है, एक अध्याय 'उलटे प्रवाह की समस्या' शामिल किया गया है, देखिए, पृष्ठ 50 और आगे।
9. यूनीवर्सिटी आफ मेरीलैंड समर स्कूल में 22 जुलाई, 1969 को सिनेटर चार्ल्स मैक मेथियाज जूनियर का भाषण हुआ।
10. संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास सम्मेलन, व्यापार और विकास मण्डल, रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन इनविजिवल्स एण्ड फाइनेंसिंग रिलेटेड ट्रेड, परिशिष्ट संख्या 2 (संयुक्त राष्ट्र, न्यूयार्क, 1969), परिशिष्ट डी, दो, पृष्ठ 20
11. जार्ज डी० वुड्स, संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के समक्ष भाषण, 9 फरवरी 1968, पृष्ठ 12; देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-9, (पृष्ठ 623 और आगे)
12. संयुक्त राष्ट्र, संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास सम्मेलन, दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड 1, रिपोर्ट और परिशिष्ट (न्यूयार्क, 1968), प्रस्ताव 33 (2, पृष्ठ 44 और आगे)
13. संयुक्त राष्ट्र पैनल आन फारेन इनवेस्टमेंट इन डेवेलपिग कन्ट्रीज़, एम्स्टर्डम 16 (20) फरवरी 1969 (न्यूयार्क 1969)
14. चार्ल्स ए मीयर, 'लेटिन अमरीका, व्हट आर योर प्रायरटीज़ ?,'. दि डिपार्टमेंट आफ स्टेट बुलेटिन, खण्ड-60, संख्या 1561 (26 मई 1969), पृष्ठ 442
15. पैनल आन फारेन एनवेस्टमेंट इन डवेलिपग कन्टरीज़, पृष्ठ 5
16. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-9 (पृष्ठ 621 और आगे)
17. मीयर, लेटिन अमरीका, व्हट आर योर प्रायरटीज़ ? ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 440
18. क्वालिटी आफ लाइफ इन दि अमेरीकाज़, पश्चिमी गोलार्द्ध सम्बन्धी अमरीकी राष्ट्रपति के एक प्रतिनिधिमण्डल की रिपोर्ट, नेलसन ए० रॉकफेलर, 1969 (साइक्लोस्टाइल प्रति, पृष्ठ 80)
19. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, प्राब्लम्स एण्ड प्रास्पैक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1965, पृष्ठ 117)
20. हाल में पाल स्ट्रीटन ने 'सेरीज,' खाद्य और कृषि संगठन द्वारा प्रकाशित पत्रिका, खण्ड-2, संख्या, 2 (मार्च-अप्रैल 1969) में 'इम्प्रूविंग दि क्लाइमेट,' शीर्षक लेख में इस बात पर फिर विचार किया है।
21. उदाहरण के लिए देखिए, भारत के योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी० आर० गाडगिल का वक्तव्य, एशियन ड्रामा, अध्याय-17, अनुभाग-9 (पृष्ठ 823 और आगे, पाद टिप्पणी 4)

अध्याय 11
सहायता

1. इस अध्याय में लेखक ने जो दृष्टिकोण अपनाया है और जिन समस्याओं पर विचार किया है, उनका विस्तार से अनुशीलन 'एन इन्टरनेशनल इकानामी : प्रॉब्लम्स एण्ड प्रास्पेक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1956) में किया गया है। यह पुस्तक 1954 में लिखित एक प्रबन्ध पर आधारित है। हार्पर टार्चबुक के रूप में 1969 में इसका पुनरप्रकाशन हुआ। देखिए, पृष्ठ 111 और आगे; 119 और आगे। दि अमेरिकन स्कालॅर, खण्ड 26, अंक 2 (वसन्त 1957), में प्रकाशित लेख 'ट्रेड एण्ड एड' भी देखिए पृष्ठ, 137 और आगे; देखिए, 'चैलेन्ज टू एन्फ्लुएन्स' (न्यूयार्क; विण्टेज बुक्स, 1965), पृष्ठ 193 और आगे
2. गुन्नार एडलर-कार्लसन, वेस्टर्न इकानामिक वारफेयर 1947-1967 ए केस स्टडी इन फारेन इकानामिक पालिसी (स्टाकहोम : आमक्विस्ट एण्ड विकसेल, 1968), भूमिका, पृष्ठ 11, अन्यत्र भी
3. वही
4. वही
5. दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग 10-11 (पृष्ठ 625 और आगे), अन्यत्र भी। एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-9 (पृष्ठ 119 और आगे) भी देखिए।
6. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-9 (पृष्ठ 124 और आगे); एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-11 (पृष्ठ 635) भी देखिए।
7. टेलर, दि स्ट्रगल फार मास्टरी इन यूरोप, 1918-1948 (ऑक्सफोर्ड : क्लारेनडन प्रेस, 1954)
8. एशियन ड्रामा, अध्याय-9, अनुभाग-7 (पृष्ठ 398 और आगे); देखिए, अध्याय-4, अनुभाग-12 (पृष्ठ 169 और आगे) और अध्याय-5, अनुभाग-13 (पृष्ठ 221 और आगे)
9. यूजीन स्टेली, दि फ्यूचर ऑफ अन्डर डेवेल्प्ड कन्ट्रीज (लन्दन : हार्पर एण्ड रो, 1961), पृष्ठ 362 और आगे
10. एडली ई० स्टीवेनसन, कॉल टू ग्रेटनेस (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1954), पृष्ठ 92
11. एशियन ड्रामा, अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 398 और आगे)
12. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-9, पृष्ठ 127
13. वही, पृष्ठ 329
14. देखिए, मिर्डल एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-8 (पृष्ठ 112 और आगे)
15. सेरीस, खाद्य और कृषि संगठन की समीक्षा, खण्ड-2, अंक 2 (मार्च-अप्रैल 1969)
16. हाल में वीना देल मार, चिली में मन्त्री-स्तर पर एक बैठक हुई, जिसमें लेटिन अमरीका के मंत्रियों ने यह निर्णय लिया कि वे संयुक्त राज्य अमरीका की वाणिज्य और वित्त नीतियों के प्रति समान रूप से विरोध प्रकट करेंगे।

देखिए, दि लेटिन अमेरिकन कन्सेन्सस ऑफ वीना देल मार, 7 मई 1969, साइक्लोस्टाइल प्रति।

17. डेवेल्पमेण्ट एसिस्टेन्स इन दि न्यू एडमिनिस्ट्रेशन, रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसिडेन्ट्स जनरल एडवाइज़री कमेटी ऑन फॉरेन एसिस्टेन्स प्रोग्राम्स, 25 अक्तूबर 1968, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था द्वारा पुनर्मुद्रित (वाशिंगटन, 1969) पृष्ठ 1। जेम्स ए पर्किन्स इस समिति के अध्यक्ष थे।
18. 'डेवेल्पमेण्ट—ए बैलेन्स शीट', विदेश विभाग की बुलेटिन, खण्ड-59, अंक-1540 (30 दिसम्बर 1968), पृष्ठ 705
19. विलियम एस० गाड, 'फारेन एड : व्हट् इट इज़; हाउ इट वर्क्स; व्हाई वी प्रोवाइड इट', विदेश विभाग की बुलेटिन, खण्ड-59, अंक-1537 (9 दिसम्बर 1968), पृष्ठ 605
20. डेवेलपमेण्ट एसिस्टेन्स इन दि न्यू एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ 1
21. वही, पृष्ठ 6
22. विलियम एस० गाड, 'फारेन एड : व्हट इट इज़; हाउ इट वर्क्स; व्हाई वी प्रोवाइड इट', ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 603
23. डेवेलपमेण्ट एसिस्टेन्स इन दि न्यू एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ 6
24. न्यूज़ बुलेटिन, यूनाइटेड स्टेट्स इन्सर्मेशन सर्विस, स्टाकहोम कार्यालय, 2 जून 1969
25. ओवरसीज़ डेवेल्पमेण्ट (नवम्बर 1768) में प्रकाशित, पृष्ठ 9
26. सर्वे आफ इन्टरनेशनल डेवेल्पमेण्ट, खण्ड-6, अंक-1 (15 जनवरी 1969)
27. संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के समक्ष 9 फ़रवरी 1968 को नई दिल्ली में विश्व बैंक समूह के अध्यक्ष जार्ज डी० वुड्स का भाषण।
28. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-2, अनुभाग-18 (पृष्ठ 1897 और आगे); अनुभाग-3 (पृष्ठ 1847 और आगे) भी देखिए
29. टुअर्ड ए प्रिडामिनेण्टली मल्टीलेटरल एण्ड प्रोग्राम (वाशिंगटन, डी सी : दि ब्रूकिंग्स इंस्टिट्यूशन, मार्च 1969), साइक्लोस्टाइल प्रति
30. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, पृष्ठ 133 और आगे
31. स्वीडन सरकार का विधेयक संख्या 100, स्टाकहोम, 1962
32. एशियन ड्रामा, अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 398 और आगे)
33. यूनाइटेड नेशन्स कान्फेरेन्स आन ट्रेड एण्ड डेवेलपमेण्ट, दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड-1, रिपोर्ट और परिशिष्ट (न्यूयार्क : यूनाइटेड नेशन्स, 1968), प्रस्ताव-24 (2), पृष्ठ 54
34. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक, 1968 की संचालक मण्डल की बैठक, संक्षिप्त विवरण (वाशिंगटन, 1968), पृष्ठ 11
35. विकासशील देशों में सबसे कम-विकसित देशों का पता लगाने की समस्या : संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के सचिवालय की रिपोर्ट (टी डी/17/परिशिष्ट-1), दूसरा अधिवेशन नई दिल्ली, खण्ड-5, स्पेशल प्राब्लम्स इन दि वर्ल्ड एण्ड डेवेलपमेण्ट (न्यूयार्क : संयुक्त राष्ट्र, 1968)
36. विकासशील देशों में से सबसे कम विकसित देशों के हित के लिए की जाने वाली विशेष कार्रवाई : संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के

सचिवालय की रिपोर्ट; दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड-5, स्पेशल प्राब्लम्स इन वर्ल्ड ट्रेड एण्ड डेवेलपमेण्ट (न्यूयार्क : संयुक्त राष्ट्र, 1968)
37. टू वुड्स ए प्रिडोमिनेण्टली मल्टीलेटरल एण्ड प्रोग्राम, पृष्ठ 2
38. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक, यूजीन आर० ब्लैक का विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था के संचालक मण्डल समक्ष 28 सितम्बर 1962 को वाशिंगटन में भाषण, पृष्ठ 8
39. जे० विलियम फुलब्राइट, दि एरोगेन्स आफ पावर (जोनायन केप, 1967), पृष्ठ 238 और आगे
40. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की 1968 की संचालक मण्डलों की वार्षिक बैठकें, संक्षिप्त विवरण, वाशिंगटन (1968), पृष्ठ 91 और आगे
41. मिर्डल, चैलेन्ज टू एफलुएन्स, पृष्ठ 131 और आगे
42. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, पृष्ठ 130 और आगे
43. टूवर्ड ए प्रिडोमिनेण्टली मल्टीलेटरल एड प्रोग्राम, पृष्ठ 1
44. मिर्डल, एन अमेरिकन डिलेमा : दि नीग्रो प्राब्लम एण्ड माडर्न डेमोक्रेसी (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1944), पृष्ठ 1020

अध्याय 12

एक बोझिल भ्रान्ति

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-19 (पृष्ठ 795 और आगे)
2. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 114 और आगे); अध्याय-16, अनुभाग-19 (पृष्ठ 795 और आगे); अन्यत्र भी
3. वही, अध्याय-16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 780 और आगे)
4. वही, अध्याय-16, अनुभाग-19 (पृष्ठ 796 और आगे)

अध्याय 13

एक निर्णायक घटना

1. एरिच एच० जैकोबी इन दिनों इसी दृष्टिकोण से स्टाकहॉम विश्वविद्यालय की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अध्ययन संस्था में एक अध्ययन में लगे हैं। मैन एण्ड लैण्ड, दि की इश्यू इन डेवेलपमेण्ट शीर्षक से इसका प्रकाशन लन्दन में आन्द्रे दूयूत्श करेंगे। उनका इरादा लेटिन अमरीका की परिस्थितियों पर विशेष ध्यान देने का है।
2. वही, अध्याय-24, अनुभाग-9 (पृष्ठ 1196 और आगे), अन्यत्र भी
3. मिर्डल, दि पॉलिटिकल एलिमेण्ट इन दि डेवेलपमेण्ट ऑफ इकानामिक थ्योरी (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1953), अध्याय-3 (पृष्ठ 61 और आगे)
4. मिर्डल, चलेन्ज टू एफलुएन्स (न्यूयार्क : विण्टेज बुक्स, 1965), अध्याय-3 (पृष्ठ 40 और आगे), अन्यत्र भी, और एन अमेरिकन डिलेमा रिविज़िटेड : दि रेशियल क्राइसिस इन पर्सपेक्टिव (न्यूयार्क : पान्थियन बुक्स, 1970)
5. एन अमेरिकन डिलेमा रिविज़िटेड
6. वही, परिशिष्ट-2, भाग दो (पृष्ठ 185 और आगे)

7. यूनाइटेड नेशन्स, सामाजिक नीति और आयोजन के विशेषज्ञ मण्डल की बैठक की रिपोर्ट, इक्कीसवाँ अधिवेशन, जिनीवा, 4-10 मार्च 1970 (ई/सी एन 5/445, 21 अक्टूबर 1969), साइक्लोस्टाइल प्रति

अध्याय 14

दक्षिण एशिया में राजनीतिक गतिशीलता

1. एशियन ड्रामा, अध्याय 7-9 (पृष्ठ 257 और आगे)
2. वही, अध्याय-7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 280)
3. वही, अध्याय-7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 273 और आगे); अनुभाग-6 (पृष्ठ 296 और आगे)
4. वही, अध्याय-8, अनुभाग-7 (पृष्ठ 325 और आगे)
5. वही, अध्याय-8, अनुभाग-9 (पृष्ठ 338 और आगे)
6. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 115), परिशिष्ट-2, अनुभाग-18-20 (पृष्ठ 1897 और आगे; विशेषकर पृष्ठ 1910, पाद टिप्पणी-1)
7. बेंजामिन हिगिन्स, इकानामिक डेवेलपमेण्ट: प्रिंसिपल्स, प्राब्लम्स, एण्ड पालिसीज़, संशोधित संस्करण (कान्स्टेबल एण्ड कम्पनी, 1968), पृष्ठ 262
8. वही, पृष्ठ 265 और आगे
9. एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 116 और आगे)
10. वही, अध्याय-24, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1184 और आगे); अन्यत्र भी
11. वही, अध्याय-24, अनुभाग 7-9 (पृष्ठ 1184 और आगे); अन्यत्र भी
12. वही, अध्याय-18, अनुभाग-14 (पृष्ठ 895 और आगे)
13. वही, अध्याय-18, अनुभाग-12 (पृष्ठ 885, पाद टिप्पणियाँ 3 और 4)
14. वही, अध्याय-7, अनुभाग-6 (पृष्ठ 296 और आगे)
15. वही, अध्याय-7, अनुभाग-7 (पृष्ठ 301 और आगे); पुनश्च:, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1831 और आगे)
16. वही, अध्याय-7, अनुभाग 3-7, (पृष्ठ 273 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 295 और आगे)
17. वही, अध्याय-22, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1061 और आगे)
18. वही, अध्याय-9, अनुभाग-11 (पृष्ठ 381 और आगे)
19. वही, अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1791 और आगे); देखिए अनुभाग-2 (पृष्ठ 1716 और आगे)
20. वही, अध्याय-17, अनुभाग-16 (पृष्ठ 86 और आगे); देखिए अनुभाग-5 (पृष्ठ 51 और आगे)
21. वही, अध्याय-7, अनुभाग-6 (पृष्ठ 299 और आगे)
22. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1301 और आगे)
23. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1301 और आगे); देखिए, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1311 और आगे)
24. वही, अध्याय-23, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1121 और आगे)
25. वही, अध्याय-7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 273 और आगे); अन्यत्र भी

26. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1787 और आगे)
27. वही, अध्याय-4, अनुभाग-12 (पृष्ठ 169 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-13 (पृष्ठ 221 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 389 और आगे)
28. वही, अध्याय-4, अनुभाग-11 (पृष्ठ 162 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-12 (पृष्ठ 217 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग 9-10 (पृष्ठ 374 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 379 और आगे)
29. वही, अध्याय-2, अनुभाग-4 (पृष्ठ 65, पाद टिप्पणी 2)
30. वही, अध्याय-9, अनुभाग-8 (पृष्ठ 369 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 374 और आगे)

अध्याय 15

अर्थशास्त्र का दायित्व

1. मिर्डल, इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1957), पृष्ठ 120; संयुक्त राज्य अमरीका में रिच लैण्ड्स एण्ड पूअर शीर्षक से प्रकाशित (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1958)
2. मिर्डल, दि पालिटिकल एलिमेण्ट इन दि डेवेल्पमेण्ट ऑफ इकानामिक थ्योरी (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1953; कैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1954), अध्याय-3 (पृष्ठ 56 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 78 और आगे); देखिए इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स, भाग-2 (पृष्ठ 107 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 114 और आगे)
3. मिर्डल, दि पालिटिकल एलिमेण्ट इन इकानामिक थ्योरी, अध्याय-4 (पृष्ठ 80 और आगे)
4. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-3, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1944, पाद टिप्पणी 3); परिशिष्ट-7, अनुभाग-1 (पृष्ठ 2063, पाद टिप्पणी 1); देखिए, परिशिष्ट-2, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1884 और आगे)
5. वही, आमुख, अनुभाग-1 (पृष्ठ 5 और आगे)
6. मिर्डल, आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च (न्यूयार्क : पान्थियन बुक्स, 1969), अनुभाग-8 (पृष्ठ 39 और आगे)

परिशिष्ट

लेटिन अमरीका की विस्फोटक स्थिति

1. नेलसन ए० रॉकफेलर, क्वालिटी ऑफ लाइफ इन अमेरिकाज, अमरीकी राष्ट्रपति की ओर से भेजे गये एक प्रतिनिधि मण्डल की पश्चिमी गोलार्द्ध के बारे में रिपोर्ट (वाशिंगटन, 1969), साइक्लोस्टाइल प्रति।
2. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-2, अनुभाग-24 (पृष्ठ 1932 और आगे)
3. यू० एस० न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, 14 जुलाई 1969, पृष्ठ 68
4. जुआन बोश, पेंटागनिज्म : ए सब्सटिट्यूट फार इम्पीरियलिज्म, अनुवादक हेलेन आर० लेन (न्यूयार्क : ग्रोव प्रेस, 1969)
5. मिर्डल एन अमेरिकन डिलेमा रिविज़िटेड : दि रेशियल क्राइसिस इन

पर्सपेक्टिव (न्यूयार्क : पान्थियन बुक्स, 1970)

6. यू० एस० न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, 14 जुलाई 1969, पृष्ठ 68-9
7. क्वालिटी आफ लाइफ इन दि अमेरिकाज़, पृष्ठ 5, 14, 25, 80
8. वही, पृष्ठ 80
9. रिचर्ड जे० बार्नेट, इण्टरवेंशन एण्ड रिवोल्यूशन : दि यूनाइटेड स्टेट्स इन दि थर्ड वर्ल्ड (न्यूयार्क : दि वर्ल्ड पब्लिशिंग कम्पनी, 1968), पृष्ठ 19, पाद टिप्पणी-8
10. उदाहरण के लिए देखिए, अन्तर-अमरीकी मामलों के सहायक मन्त्री, चार्ल्स ए० मीयर की विदेश सम्बन्धों की सीनेट समिति की पश्चिमी गोलार्द्ध के मामलों सम्बन्धी उपसमिति के समक्ष 8 जुलाई, 1969 को दी गई साक्षी, जिसे दि डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टेट बुलेटिन, खण्ड-59, अंक-1571, में 'यू० एस० मिलिटरी एसिस्टेन्स पॉलिसी टुवर्ड लेटिन अमेरिका' शीर्षक से 4 अगस्त 1969 को प्रकाशित किया गया।
11. वही, पृष्ठ 100
12. वही, पृष्ठ 101
13. डेक्लेरेशन ऑफ लेटिन अमेरिकन स्पेशलिस्ट्स आन प्रोफेशनल रेसपोन्सिबिलिटी, जनवरी 1969, साइक्लोस्टाइल प्रति। यह उल्लेखनीय है कि अमरीका की विदेश नीति और विदेशों में तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों से समाज विज्ञानियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल लेटिन अमरीका तक ही सीमित नहीं है। भारत की सरकारी पत्रिका, इण्डियन एण्ड फारेन रिव्यू, खण्ड-6, अंक-10, 1 मार्च 1969 में 'एकेडेमिक इम्पीरियलिज्म' शीर्षक से एक हस्ताक्षरित और सम्भवतः सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें भारत में इसी प्रकार की शिकायतों के बारे में बड़ी कड़ाई से विचार प्रकट किये गये थे।
14. क्वालिटी ऑफ लाइफ इन दि अमेरिकाज़, पृष्ठ 49
15. वही, पृष्ठ 25
16. वही, पृष्ठ 21
17. वही, पृष्ठ 45
18. वही, पृष्ठ 14 और 22
19. वही, पृष्ठ 61 और आगे
20. वही, पृष्ठ 72 और आगे
21. वही, पृष्ठ 42 और आगे
22. चार्ल्स ए० मीयर, 'यू० एस० असिस्टेंस पालिसी टुवर्ड लेटिन अमेरिका', ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 102
23. क्वालिटी ऑफ लाइफ इन दि अमेरिकाज़, पृष्ठ 46
24. वही, पृष्ठ 18
25. वही, पृष्ठ 17 और आगे
26. वही, पृष्ठ 15 और आगे
27. बैरिंगटन मूर, जूनियर, सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी : लार्ड एण्ड पेजेण्ट इन दि मेकिंग ऑफ दि माडर्न वर्ल्ड (एलेन लेन

दि पेन्गुइन प्रेस, 1967), पृष्ठ 505

28. मेरे लिए यह सम्भव नहीं हुआ कि मैं वैज्ञानिक विश्लेषण में एक तकनीकी शब्द के रूप में 'मार्क्सवाद' का उपयोग करूँ (एशियन ड्रामा, अध्याय-15, अनुभाग-5, पृष्ठ 726, पादटिप्पणी 1, अन्यत्र भी)। अनेक प्रकार के सिद्धान्तों और विचारधाराओं को अभिव्यक्ति देने के लिए सामान्यतया इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, जबकि इनमें से अनेक सिद्धान्तों और विचारधाराओं को अस्पष्ट छोड़ दिया जाता है।

(1) 'मार्क्सवाद' का एक स्पष्ट अर्थ निश्चय ही स्वयं मार्क्स की अपनी संकल्पनाओं में निहित होगा। यदि इस शब्द का यही एकमात्र अर्थ लिया जाय, तो मैं उद्धरण चिह्न हटा देने के लिए तैयार हो जाऊंगा। कुछ दृष्टियों से मार्क्स के अपने विचारों को मूर्तरूप देना कठिन है, और कालान्तर में इनमें कुछ परिवर्तन भी हुआ है। लेकिन मार्क्स ने जो कुछ लिखा उसे ध्यान में रखते हुए, सिद्धान्तरूप में, 'मार्क्सवाद' का विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। समकालीन लेखन में 'मार्क्सवाद' का शायद ही कभी यह अर्थ दिया जाता है अथवा कभी भी यह अर्थ नहीं दिया जाता, केवल कुछ ऐसे लोगों को छोड़कर जो स्वयं को मार्क्सवादी कहते हैं; नीचे (5) देखिए।

(2) जैसाकि मैंने इस पुस्तक में और अपनी अन्य रचनाओं में अक्सर कहा है, पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने बहुत अधिक सीमा तक मार्क्स के सिद्धान्तों को अंगीकार किया पर उन्होंने इसके उद्‌गम की बात नहीं कही अथवा उन्हें इस बात की जानकारी ही नहीं थी। अब क्योंकि यह कार्य अनजाने में और अक्सर मार्क्स की रचनाओं के अधिक ज्ञान के बिना हुआ, इन सिद्धान्तों को उस रूप में परिष्कृत और स्पष्ट नहीं किया जा सका जिस रूप में मार्क्स इनका अर्थ लेते थे। अक्सर इन्हें अन्तर्निहित मान्यताओं के रूप में छोड़ दिया गया। जब अन्तर्भूत समालोचना के द्वारा इनका स्वरूप स्पष्ट किया गया तो ये: मार्क्स के विचारों का भदेस स्वरूप दिखायी पड़े। इसी कारण से इन सिद्धान्तों को स्वयं पश्चिम के लेखक अथवा अन्य कोई भी मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार नहीं करता। इस छिपे 'मार्क्सवाद' को ढूंढ़ निकालना और इसकी सैद्धान्तिक विरासत को उजागर कर देना अनेक शोध-प्रबन्धों का विषय बन सकता है।

(3) इसके अलावा कम्युनिस्ट देशों के लेखकों और पश्चिम के देशों की विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों से सम्बद्ध लेखकों ने भी अपने लेखन में सिद्धान्तों और विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है। ये लेखक स्पष्ट रूप से और जोर देकर अपनी रचनाओं को 'मार्क्सवादी' घोषित करते हैं। और वे यह सिद्ध करने के लिए कठोर अध्यवसाय करते हैं। पर वास्तव में इन लोगों का 'मार्क्सवाद' अनेक दृष्टियों से पश्चिम के अर्थशास्त्रियों के छिपे 'मार्क्सवाद' से कहीं अधिक मार्क्स की अपनी विचारधारा से दूर है।

(4) संयुक्त राज्य अमरीका में विशेषरूप से 'गैर मार्क्सवादी' अत्यधिक विस्तृत और व्यापक अर्थों में हर प्रकार की वामपन्थी विचारधारा को दर्शाने के लिए 'मार्क्सवाद' का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार कम-विकसित

देशों में भी यह प्रयोग होता है, उदाहरण के लिए एशिया के देशों में 'मार्क्सवाद' के बारे में जो साहित्य उपलब्ध है उसका अधिकांश भाग इसी कोटि के अन्तर्गत आता है, विशेषकर अमरीकी साहित्य। यह सर्वाधिक अस्पष्ट संकल्पना है।

(5) अन्त में अनेक वामपन्थी लेखकों की विचारधारा हमारे सामने आती है जो स्वयं को मार्क्सवादी बताते हैं, पर ये जरूरी नहीं कि वे कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का अनुसरण करते हों। इनमें से कुछ ही लेखकों के विचार स्पष्ट और स्थिर हैं। जब कभी यह होता है तब अनेक दृष्टियों से उनकी विचारधारा स्वयं मार्क्स की अपनी विचारधारा से बहुत भिन्न होती है। इनमें से कुछ लेखक इस बात को समझते हैं और अपने प्रतिपादनों को मार्क्स के विचारों का विकसित स्वरूप बताते हैं।

इस तथ्य के कारण इस विचार की आवश्यकता हुई क्योंकि लेटिन अमरीका के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की साम्राज्यवादी नीतियों के वे आलोचक जो यह कल्पना करते रहते हैं कि जनता और संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा समर्थित शासक समूहों के बीच मुठभेड़ किसी भी क्षण होने वाली है, स्वयं को मार्क्सवादी कहते हैं।

मैं उनकी इन आशाओं से सहमत नहीं हूँ कि लेटिन अमरीका में जनता जल्दी विद्रोह करेगी। लेकिन मैं यह भी ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि पूँजीवादी समाज की 'गतिशीलता के नियमों' के अमूर्त नमूने तैयार करने में अपनी समस्त दिलचस्पी के बावजूद बुनियादी तौर पर अनुभव के अनुसार काम करने में आस्था रखते थे। अतः वे यथार्थ के स्वरूप के बारे में निष्कर्ष निकालने के लिए किसी भी व्यक्ति के अधिकारिकता के विरुद्ध थे। अपनी रचनाओं में कम-से-कम दो बार उन्होंने अपने युग के 'मार्क्सवादियों' के खिलाफ घृणा प्रकट की। यह सम्भव दिखायी पड़ता है कि सौ वर्ष बाद वे अपने विचारों क व्याख्याकारों की कहीं कड़ी भर्त्सना करते।

यदि आज मार्क्स जीवित होते तो वे उन सब बातों पर विचार करते जिनकी अब हमें जानकारी है पर एक शताब्दी से अधिक समय पहले जिन बातों की जानकारी उन्हें नहीं हो सकती थी। यह भी निश्चय है कि वे हीगल और अन्य जर्मन दर्शनिकों के ऊपर निर्भरता से मुक्त होते जो प्रायः उनके समकालीन थे।

मेरा विश्वास है कि यह बात कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती कि वे स्वयं को परिणाम-परक सिद्धान्त के नैसर्गिक-नियम दर्शन की शक्तिशाली परम्परा के प्रभाव से मुक्त कर लेते जिसके प्रभाव के अन्तर्गत वे स्वयं और उनके प्रतिद्वन्द्वी (संस्थापित उदारतावादी विचारक) कार्य कर रहे थे यद्यपि मार्क्स और उनके प्रतिद्वन्द्वियों दोनों ने सिद्धान्तरूप में इनका खण्डन किया था। यह अन्तिम और प्रमुख दार्शनिक प्रभाव मार्क्स सम्बन्धी लेखन में शायद ही कभी दिखायी पड़ता है क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में 'मार्क्स विरोधी' और 'मार्क्सवादी' भी आज तक इसके प्रभाव में हैं।

यह निश्चित है कि मार्क्स आजकल के 'मार्क्सवादियों' की विभिन्न कोटियों में से किसी भी कोटि में न होते। मार्क्स किस प्रकार काम करते थे उसका अध्ययन करने के बाद मैं यह विश्वास करने के लिए कारण देखता हूँ कि लेटिन अमरीका के सम्बन्ध में वे जो निष्कर्ष निकालते, वे इस परिशिष्ट में दिये गये निष्कर्षों से अधिक भिन्न न होते, पर जैसाकि स्पष्ट है मैं यह बात निर्णायक रूप से नहीं कह सकता।

मार्क्स और 'मार्क्सवाद' के बारे में यह संक्षिप्त विवेचन एक अतिरिक्त टिप्पणी के रूप में दिया गया है। इन विचारों को सूक्ष्म बनाने और प्रमाणित करने के लिए बहुत अधिक विस्तृत विवेचन की आवश्यकता होगी।

29. एशियन ड्रामा, अध्याय-4, अनुभाग-6 (पृष्ठ 147 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-12 (पृष्ठ 386 और आगे)
30. यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, 27 जनवरी 1969, पृष्ठ 63

●●●

प्रोफेसर गुन्नार मिर्डल

डॉ० गुन्नार मिर्डल का जन्म १८९९ में हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त अर्थशास्त्री तथा समाजशास्त्री, डॉ० मिर्डल स्टॉकहोम विश्वविद्यालय में अन्तः-र्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के प्रोफेसर और स्वीडन के इन्स्टीट्यूट फॉर इण्टरनेशनल इकानॉमिक स्टडीज के निदेशक हैं। उन्होंने स्वीडन सरकार के आर्थिक, सामाजिक तथा मुद्रा नीति सम्बन्धी सलाहकार के रूप में कार्य किया; और स्वीडन की संसद तथा जनसंख्या, आवास और कृषि आयोग के वे सदस्य रहे हैं। उन्होंने स्वीडन सरकार के वाणिज्य मन्त्री के रूप में भी कार्य किया। १९४७ से १९५७ तक वे 'संयुक्त राष्ट्र के यूरोपीय आर्थिक आयोग' के कार्यकारी सचिव रहे। अमरीकी जातीय सम्बन्धों पर उनका मौलिक ग्रन्थ ऐन अमेरिकन डाइलमा १९४४ में प्रकाशित हुआ था। उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं: ऐन इण्टरनेशनल इकनॉमी (१९५६), बियॉण्ड द वैलफेयर स्टेट (१९६०), चैलेंज टु एफ्लुएंस (१९६३), तथा आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च (१९६९)। सम्प्रति वे दो नये शोध संस्थानों के अध्यक्ष: 'स्टॉकहोम इण्टर-नेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट' तथा 'लेटिन अमेरिकन इन्स्टीट्यूट'